भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

वाणी प्रकाशन

भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

डॉ० श्रुतिकान्त

वाणी प्रकाशन
६१-एफ, कमलानगर, दिल्ली-११०००७
द्वारा प्रकाशित

 : मूल्य ४५·०० रुपये

रमेश कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
चौधरी प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२
द्वारा मुद्रित

BHARATIYA DEO BHAVANA AUR MADHYA KALEEN
HINDI SAHITYA

(Concept of Diety in Medieval Hindi Poetry); Thesis : Agra University, Agar. Written by Dr. Shruti Kant. Published by Vani Prakashan, 61-F, Kamla Nagar, Delhi-110007.

Price Rs. 45·00

समर्पण

शिक्षा-शास्त्री, प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ, प्रेरणा-प्रद एव
आकर्षक व्यक्तित्व से विभूषित अपने अनन्य
मित्र श्री कुलतारचन्द राणा, अध्यक्ष,
विधान-सभा, हिमाचल प्रदेश,
के कर-कमलों मे सादर
सप्रेम समर्पित

—श्रुतिकान्त

द्यौष्पिता पृथिवी-माता

कथा का आरम्भ उस दिन हुआ था जिस दिन कि मानव ने धरती पर अपना विकसित रूप पाकर अपनी इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से काम लेना आरम्भ किया था। समय गुजरा, और यम-यमी दो बन गये। दो का मिथुन फला-फूला, कुनबा पनपा, और मानव ने डेरा डालकर एक जगह बसना आरम्भ कर दिया। एक जगह ठहर जाने पर कुनबा जल्दी फल-फूल उठता है। निदान गाँव बस गये, और धीरे-धीरे नगर आबाद होने लगे।

खेती का सूत्रपात हो चुका था; अब कपड़ा भी बुना जाने लगा। आदमी ने लोहे को साध अपना हल बनाया और अपनी तथा अपने भाई-बन्दों की रक्षा के लिये हथियार घड़े। गाँव की सीमा खिचते ही 'मैं-मैं-तू-तू' पर उभरी सभ्यता अपना रंग दिखाने लगी।

अब आदमी कृषक बन गया और फसलें काटकर अपना और अपने कुनबे का भरण-पोषण करने लगा। प्रेयसी, जो कि अब तक उठाऊ-चूल्हा रति-तस्कर की यामासंगिनी थी, बँधकर बस जाने पर एक ग्रामीण की जीवन-संगिनी बन गई। इस कण्ठलंबिनी के प्रणय-प्रसर के साथ-साथ प्रसाधन के तौर-तरीकों ने जोर पकड़ा।

सावनी और साढ़ी आते ही किसान खेतों में बीज ओरता; किंतु अनेक बार बोये-बीज जमते नहीं थे; उगते थे तो गाभे नहीं आते थे, गाभे भी आ जाते तो खेत निसरते नहीं थे, निसर कर लहलहाती फसलें भी अनेक बार, झोला निकल जाने पर मड़क जाती थीं; तब किसान का किया-कराया चौपट हो जाता था। समस्या गाढ़ी थी—इससे त्रस्त हो किसान घिघिया उठा और माथे पर हाथ मारकर बोला, "धरती माता नाराज है। फसल होवे तो कैसे होवे ? इसे खुश करना आवश्यक है।"

बाहरी खेती के साथ-साथ घरेलू फसल जोरों पर थी। कहावत चल पड़ी थी, 'पतिमेकादशं कृधि'। एक जननी ने यदि ग्यारह न जने तो उसकी कोख क्या सुच्ची हुई ? किंतु अनेक बार किसान की जोरू जननी ही नहीं बन पाती थी। तब वह चौपाल पर पंचों के बीच सिर नीचा करके फरियाद कर उठता था :

> "किंतु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
> न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥"

फसलें काटकर क्या करूँगा जब घर में खाने वाले ही न होंगे ? तब पंच ढाढ़स बँधाते बोलते, "दूध और पूत तो ऊपर वाले के हाथ में हैं, उसी से मिन्नत माँग।" बस, किसान को सन्तान का असली बाप--'द्यौष्पिता'--दीख गया; और समझ लिया उसने कि सब-कुछ कर लेने पर भी यदि ऊपर वाले 'द्यौस्' का वरद हाथ न हो तो काम बनता नहीं है।

अब धरती 'माता' के रूप में और द्यौस् 'पिता' के रूप में मानव की पूजा के भाजन बन गये।

किंतु आदिम मानव तो जन्मना सूझ का पुतला था। उसने अपने पड़ाव महान् नदों के दोआबों में डाले थे। सिन्ध, व्यास, जमना और गंगा ऐसे ही प्रभूत नद थे। फिर सिन्ध और गंगा के बीच का क्षेत्र तो नदों और नदियों के जाल से चमन बना हुआ था। इडा और भारती के रूप में सरस्वती इसी क्षेत्र में अपनी लीला विशद बना रही थी। अब थी आँखों-आगे धरती माता और सिर पर 'द्यौस्' पिता; रह गये नदी और नद; इनकी ऊर्मियों में बाँसों उछलता तीसरा देवता वरुण भी आ पहुँचा, जिसका नाम हमारे भाई ग्रीक किसानों ने 'ओउरनोस' रखा हुआ था। वरुण के उदय होते ही पुराने किसान की देवत्रयी सम्पन्न हो गयी; इस देवत्रयी से उसका सारा क्रियाकलाप चारु रूप से चलने लगा।

किंतु बढ़ने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही थी। बाहर कबीला फल रहा था और घर में गृहिणी की चाह-चसक जोरों पर थी। गाँव के भाई-बन्द गोयरा पार करके छदिस् (छान) छाने लगे थे। जब सभी कुछ आगे बढ़ रहा था, तब देवता ही क्यों पीछे रह जाते; लगी इनकी संख्या में भी बढ़ती होने।

स्मरण रहे कि संख्या की वृद्धि के साथ-साथ उत्पात भी तूल पकड़ने लगता है। निदान आपसी संघर्ष विकराल बनकर सामने आये। गाँव आपस में टकराने लगे और अब आ पहुँचा ऋग्वेद का वह प्रख्यात दाशराज्ञ युद्ध, जिसमें आर्यों एवं अनार्यों का विवेक खोकर, दस राजा आपस में भिड़ गये थे। इन्होंने अपनी धारा से पूर्ववर्ती आर्य-धारा में आकर बसे आर्यों को मध्यक्षेत्र से बाहर फेंक दिया; परिणाम इसका आगे चलकर भारत की बाह्य सीमाओं पर बोली जाने वाली आर्य-भाषाओं में विकराल बनकर उभरा, जो भाषाएँ कि कतिपय भाषाशास्त्रीय तत्त्वों में सबकी सब--काश्मीरी, पहाड़ी, आसामी, बंगाली, उड़िया, मराठी और सिन्धी आदि--आपस में मिलती हैं, और उन्हीं तत्त्वों में आज की हिन्दी से भिन्न दिखायी पड़ती हैं। इस मौलिक तथ्य को १९०८ में हर्नले ने देखकर भारत के तटवर्ती कबीलों और मध्यवर्ती हिन्दी-भाषा-भाषियों के मौलिक भेद का स्रोत ढूँढ़ निकाला था। शोक ! यह भेद आज भी इस भारत को घुन की न्याईं कतर-कतरकर खा रहा है !

हाँ, तो कह रहा था कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ गाँव आपस में टकराने लगे। इन संघर्षों में विजय-लाभ के लिये आवश्यक था कि एक देवता की शरण ली

जाय। संघर्षों में विजय-लाभ का यही देवता 'इन्द्र' है, जिसकी स्तुति में ऋग्वेद ने संख्या में सबसे अधिक और तत्त्व में सबसे भारी २५० सूक्त गाये हैं। समर का यही देवता इन्द्र देवता है जो आकाश में बादलों को घेरकर पड़े, वृत्र, अहि अथवा शंबर से लोहा लेता और सोम के मद में मस्त होकर उनका काम तमाम कर देता है। नद और नदियों को जीवनदान देने वाले इन्द्र देवता का उदय होते ही, द्यौस् पिता, धरती माता और अधिष्ठाता वरुण' तीनों निस्तेज पड़ गये और अब आ गया एकमात्र इन्द्र का युग, जिसमें प्रधानतया उसी का विजय-घोष सुनायी पड़ता है।

हाँ, तो कह रहा था कि 'द्यौस् पिता, पृथ्वी माता, वरुण अधिष्ठाता, और विजयसनि इन्द्र'—ये चारों ही असली अर्थ में देवता थे : ये दीप्यमान थे, ये भ्राजमान थे, लीलामय थे। इनका रूप एवं क्रिया-कलाप ठीक ऐसा ही था जैसा कि एक देवता का होना चाहिये। किंतु इन्द्र के बाद युग करवट लेता है। इसमें देवता भी इतने ही उभर आते हैं जितने कि चूल्हे। इस धरती की वही कदीमी बीमारी 'चूल्हे-रोटी' की। धीरे-धीरे इन देवताओं की संख्या बीस से ऊपर जा पहुँची ; यहाँ तक कि भावमय तत्त्व भी—जैसे कि श्रद्धा—अब देवता बनकर सामने आये। किंतु, क्योंकि हरएक का अपना देवता सब गुणों से पूर्णतया सम्पन्न था, इसलिये सभी देवता तत्त्वतः एक बन गये। यही बात वेद ने (ऋग्वेद १।१६४।४६) इन शब्दों में ख्यापित की है—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥"

यही बात दूसरे शब्दों में ऋग्वेद (३।५।४) ने यों कही है :—

मित्रो अग्निर्भवति यत् समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः।
मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्रः सिन्धूनामुत पर्वतानाम्॥

फल इस धारणा का यह हुआ कि सब देवता मूलतः तदात्म बन गये और सबके शारीरिक एवं क्रियाकलाप-सम्बन्धी भेद छँटते-छँटते सर्वात्मना लुप्त हो गये। और इसके साथ ही हम आ पहुँचते हैं 'मौलिक एकेश्वरवाद' पर, जो हमें उपनिषदों के 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' आदि सारगर्भित कथनों में पूर्णरूपेण संतत हुआ मिलता है।

कहना न होगा कि उपनिषदों का ब्रह्मदेव नितरां निस्तर होने के कारण मानव के लिये अतीव निष्ठुर एवं नीरस बनकर सामने आया। उसे लगा कि तमोमयी यामिनी में सामने एक भीषण-प्रचण्ड महावैताल मुँह-बाए उसकी ओर बढ़ रहा है। इसकी मिन्नत-समाजत में मानव ने अपने द्यौस्, पृथ्वी, वरुण और इन्द्र, चारों ही खो दिये और अब वह रह गया निपट अकिंचन, जिसका दिल खाली था, और जिसके हाथ रीते थे।

खुले-आम अकिंचन बन जाने पर भी मानव ने अपना साहस न छोड़ा, अपने आलम्बन की खोज में वह हाथ-पैर मारता ही रहा। परिणाम इसका यह हुआ कि व्यापक विष्णु के दस अवतार सामने आये; वेद का प्रार्थनार्थक 'ब्रह्मन्' ब्रह्मा का रूप

धारण करके उभरा और वेद का रुद्र-शिव, (तैत्तिरीय उपनिषद् के माध्यम से) बाद के युग में महादेव-रुद्र के रूप में पूजा का भाजन बना। भक्तों ने तीनों के काम भी बाँट दिये। ब्रह्मा को स्रष्टा, विष्णु को भर्ता और रुद्र को संहर्ता बताया गया। निदान, सभी प्रकार के भक्तों को अपना-अपना आराध्यदेव मिल गया। किंतु ये तीनों ही भगवान् द्यौस् पिता, पृथ्वी-माता, वरुण-अधिष्ठाता, और इन्द्र-विजयदाता से सुतरां भिन्न प्रकार के थे।

द्यौस्, वरुण, और इन्द्र मानव के अत्यन्त निकटवर्ती होने पर भी, मानव बन कर उसकी चौपाल पर कभी नहीं आये थे, भले ही बाद के वैदिक सप्ततन्तु-वितान में वेद के सारे ही देवता, यज्ञ-वेदी में अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर, उसके आसात् बर्हि पर आसीन हो, अग्नि में प्रक्षिप्त हवि को ग्रहण करने के लिये आने लगे थे। यह सब-कुछ करते रहने पर भी वैदिक देवता मानवों के मध्य मानवी लीला का स्वाँग नहीं भरते थे। विष्णु के दस अवतारों में हमें विष्णु मानवों के मध्य मानवी लीला का स्वाँग भरते दीख पड़ते हैं और यह संदेश देते सुनायी पड़ते हैं कि "मर्दो! तुम मर्द हो, मर्द होकर भी मेरी तरह यतिधर्मा बनकर काम करो। बस, मैं तुम्हें गले लगा लूँगा।" पश्चोपनिषत्कालीन राम-भक्त राम से गले लगकर धरती का नहीं रह जाता, वह आकाश में बदल जाता—कुछ धूप-छाँह के समन्वय-सा—सुतरां तरल एवं सूक्ष्म बनकर राम की परिधि में सरक जाता है। तब वह व्यक्तिक रूप को तज राम-समष्टि में विलीन हो जाता है। विलय की यह भावना उपनिषदों से पहले युग के मानव को नहीं रुची थी: वह मर्द पैदा हुआ था, मर्द बने रहकर बाहर धरती से और घर में गृहिणी से इस संसरणशील संसार को चार चाँद लगाना अपना कर्तव्य समझता था। वैदिक और औपनिषदिक विचारधारा में यह एक भेद है, और यह मौलिक भेद है।

पुराणों के मधुमय पुटपाक में ब्रह्मा, विष्णु और महेश पकते-पकते एकतार बन जाते हैं, और सब पर शांकर अद्वैत का मुलम्मा पूर्णतया चढ़ जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, और महेश पुराणों के प्रोज्जृम्भमाण जलप्लावन में यहाँ-वहाँ अपना-अपना सिर उठाते दीख पड़ते हैं—किन्तु इस अपार जलौघ में, इस असीम कल्लोल-झांकार में उनका व्यक्तित्व डूब जाता है और ये तीनों उसी एक रूप में तदात्म बन जाते हैं जो रूप कि इस अपर्यन्त सागर का अपना रूप है, इस अगाध भवसागर का अपना परम आलम्बन है।

रामायण और महाभारत दोनों ही आर्ष-काव्य विष्णु का गुण-कीर्तन करके अमरता-लाभ करते हैं: दोनों एक दूसरे से बढ़कर— शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों में अपने-जैसे आप; सचमुच 'न भूतो न भविष्यति'। किंतु रामायण के राम और महाभारत के श्रीकृष्ण मानव-कुल में जन्मे हैं, मानव-कुल में पले हैं, मानव-कुल में उभरे हैं, मानवों से जूझे हैं, और मानवों के लिये जिये हैं। रामायण के राम और महाभारत के कृष्ण मानव के बहुत अधिक निकट हैं—वे हर घड़ी उसके पहलू में खड़े हैं। वे उसी की तरह रोते और हँसते हैं, वे प्यार भी उसी की तरह करते और खीझ भी

उसी की तरह उठते हैं। वे उसके बहुत अधिक आसात् अथवा निकट हैं; इसीलिये उनसे उसका भय कम हो जाता है, और भय न रह जाने पर भावनावाद (Mysticism) का उदय नहीं हो पाता। फल इसका यह है कि रामायण और महाभारत दोनों ही का मधुपर्क भावनावाद के मधु से वञ्चित रह जाता है; और दोनों रचनाएँ हर तरह पीयूषमयी होने पर भी नमक के लावण्य से रीती ही रह जाती हैं।

आर्षकाव्यों के बाद विष्णु-महेश को चार चाँद लगाने वाले कविसम्राट् कालिदास हुए, जिनकी रचना सचमुच अनुपम है; और जिन्होंने 'रघुवंश' में विष्णु की और 'कुमारसंभव' में महादेव की कुछ ऐसी नीराजना की है जो विश्व के साहित्य में सचमुच अपने-जैसी आप है। रघुवंश के राम-सीता विश्व के दिनमणि एवं दिनमुख उषस् हैं; दोनों किंचित् काल के लिये आमने-सामने होकर रसाप्लावित होते; और फिर, पता नहीं क्यों, और कहाँ उषा तिरोहित हो जाती है, और भुवनभास्कर को अपना अपार देवयान एकाकी तय करना पड़ता है। और जब मैं रघुवंश की दूरेक्षिका लगाकर ध्यान से इस सूर्यदेव के, त्वष्टा द्वारा प्रदत्त लोहित-मुख को देखता हूँ, तब मुझे आज भी इसकी आँखें अश्रुजल-शोण दिखाई पड़ती हैं और इसकी मुखमुद्रा में एक ऐसी वेदना दम तोड़ती दीख पड़ती है जोकि कभी-कभी मुझे हिमालय के प्रोत्तुङ्ग तुङ्गों पर खड़ा होकर उसकी घाटियों में दम तोड़ते बादलों में दीखा करती है। कालिदास का मनस्तोष परमपावन रामायण गाकर ही न हो पाया; वे एक कदम और आगे बढ़े, और जब सारे ही पार्थिव घाट-घाटियों को पार करके वे मेरु-पृष्ठ पर जा लगे, तब मानसरोवर के पार्श्व में उन्होंने 'द्यौस्' पिता और हैमवती माता के परम पावन सहचरी-धर्म को वह अनुत्तर शाश्वत वाणी प्रदान की जो आज भी उनके 'कुमारसंभव' में गूँजती सुनायी पड़ती है। और जब मैं तपोनित्य द्यौष्पिता के ज्वलन्त मुख-मण्डल के संमुख स्नानशाटी में विभक्त, पीयूषवदना—कुछ कहती और आँखों से कुछ माँगती—धरती माता को अशरीरी मन्मथ के शरों से व्याहत होने पर महाकाल की ओर एकटक खड़ी पाता हूँ, तब मुझे कालिदास की याद सताने लगती है जिसने कि द्यौष्पिता-पृथिवी माता के इस दिव्य महानाटक को अपने कुमारसंभव में शाश्वत वाणी प्रदान करने का परम श्रेयस् उपलब्ध किया है। किंतु कालिदास की लोकातिवाही लेखनी ने राम और महेश दोनों ही को चमचमाती मट्टी में बाँधकर भी उनके तरल-पारद रूप को ही उनका यथार्थ रूप बताया है—उनके निर्गुण रूप को ही यथार्थतः गुणवान् रूप ख्यापित किया है। अद्वैत वेदान्त का पीयूष कालिदास की पोरी-पोरी में उछला पड़ता है और उनकी अपनी परिनिष्ठा भी सब भोग भोग लेने के बाद भोगातीत बने परब्रह्म में ही मुखरित होती दीख पड़ती है।

भारत के देववाद की भी प्रौढ़ गाथा कालिदास पर मूक हो जाती है, किंतु धरती चलती है, और अम्बर का चर्ख घूमा ही करता है। हमारे राम और श्याम भी चलते रहते हैं; या यों कहिये कि वे इस अनाद्यनन्त चर्ख को चलाते ही रहते हैं।

हिन्दी में राम का अयन तुलसी ने बड़े ठाट-बाट के साथ निकाला है, उस दैवी अयन के सामने चक्रवर्तियों ने अयन थोथे पड़ जाते हैं : अनोखी शान, बेजोड़ ठाट, अनन्य सौन्दर्य, अनुपम आत्मिक वैभव, अद्वितीय शालीनता, अनुत्तम विनय सारे ही अतिमानव गुणों के आकर राम भुवन-भास्कर की न्याईं दशरथकुल में अवतार लेते और कुछ काल के लिए धरती पर सौदामनी की लवणिमा प्रवाहित करके, जानकी की रूपातीत सुरूपगुणराशि को प्रोद्भासित करके वैकुण्ठ लौट जाते हैं। राम का यह अयन सचमुच अनोखा अयन है। इसके दोनों पार्श्व सिद्धदेवों के मधुवर्षी मुखाम्भोजों से समुद्भासित हैं, पदे-पदे इस अयन पर सुर-वनिताओं का स्मित-पीयूष क्षारित होता दीख पड़ता है। यहाँ वाल्मीकि आदि अक्षयवर्चस् सुरमुनियों के आंगण देवकुमारों से आकीर्ण दीख पड़ते हैं—रामायण सचमुच एक पावन अयन है। किंतु इस अयन के राम भी हर समय तुलसी के पार्श्व में रहते हैं, और पास रहनेवाले चन्दन को भी लोग ईंधन बना लिया करते हैं।

तब मिला हिन्दी को एक 'वामन सन्त', जिसे लोग 'कबीर जुलाहा' कहकर पुकारा करते थे। आकार-प्रकार में छोटा, नाटा-सा, किन्तु आन्तरिक ज्योति की सघन चिनगारी, आत्मिक उल्लास की दूरदीपी टार्च-लाइट। दृष्टलोक-परावर का यह जुलाहा, कोशकार कृमि की न्याईं, हर घड़ी, मन-ही-मन, उन तन्तुओं का कलन किया करता था, जिन तन्तुओं से हमारा 'सप्ततन्तु' 'ऋतु' बना है, जिन तन्तुओं से विश्व का यह असीम तान्तव पट बुना दीख पड़ता है। इस जुलाहे को साक्षात् दीख पड़े 'द्यौष्पिता' के अगणित-असीम, शबल-कर्बुर तन्तुजाल आसमान में उतराते; जिन्हें इसने बुन दिया अपनी उस खड्डी पर, जो पता नहीं क्यों, सदा के लिये इस धरती से किनारा कर गयी। इस जुलाहे ने फिर से देखा पृथिवी माता को माता के रूप में, और गाये उसकी वन्दना में वे बेजोड़ कलाम जो, जब तक यह माता रहेगी, तब तक इस पर गूँजते रहेंगे; और जब कहीं मेरे कान में यह धुन पड़ जाती है—

चलती चाकी देखि के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

तब मेरे सामने वह विशाल चक्की उभर आती है जिसे द्यौष्पिता और पृथिवी माता अनादि काल से चलाते आ रहे हैं।

कहे कुछ कलाम कबीर ने राम और श्याम के बारे में भी; किन्तु कबीर के राम और श्याम तुलसी के राम और श्याम से सुतरां भिन्न कोटि के हैं। वे हैं सूक्ष्म, तरल, पतले, भावमय। जो हैं भी; और नहीं भी, गुणों से बहुत दूर, निर्लेप और बेलाग; वे कबीर के रोम-रोम में थे, पर फिर भी उससे बहुत दूर रहते थे— बस इस सान्निध्य और सुदूरता में ही भावमयता उदय होती है— कबीर की कविता भावमय है, मिस्टिक है, और इस दृष्टि से भारतीय साहित्य में वह अपने-जैसी आप है।

यह हुई भारतीय देवशास्त्र की धुँधली-सी, छितराई-सी, छोटी-सी रूपरेखा!

प्रिय प्रो० श्रुतिकान्त ने प्रस्तुत पुस्तक में इसी देवशास्त्र की आराधना की है; इस आराधना से उनके जीवन को चार चाँद लगे हैं।

श्रुतिकान्त का जीवन नितान्त ऋजु एवं पोरी-पोरी में नित्तर है, उनकी लेखनी में उनकी ऋजुता छलक आयी है। जीवन छोटा है, संकीर्ण है, कण्टकों से आकीर्ण है; इस जीवन में देवशास्त्र की तनिक-सी भी चर्चा रामायण बन जाती है। लेखक को प्रशस्त पन्था पर आगे बढ़ा देती है।

श्रुतिकान्त की रचना एक थीसिस के रूप में लिखी गयी है; फलतः इसमें से बहुत-कुछ निकाला जा सकता है और बहुत-कुछ इसमें डाला भी जा सकता है। किंतु आप ही बताइये, आज के प्रबन्धों में कौन-सा प्रबन्ध ऐसा है जो इन दोषों से दूर हो?

देवशास्त्र-सम्बन्धी यह रचना उच्च कोटि की रचना है। यह विदग्ध है, पर फिर भी चलने में सशक्त है। यह श्रुतिकान्त को चार चाँद लगायेगी, ऐसी धारणा पक्की है।

सरसावा, सहारनपुर, —सूर्यकान्त
(एफ-७५, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली)
३. ८. १९७३

प्राक्कथन

मानवीय इतिहास के उषःकाल में जिन देशों की सांस्कृतिक चेतना का आभास मिलता है, उन सबमें देव-भावना का इतिवृत्त भी निश्चित रूप से प्राप्त होता है। देवों की सत्ता, उनकी अतिमानवीय क्षमता, उनकी प्रभविष्णुता व व्यापकता, विविध प्रकार की पूजा-अर्चा द्वारा उनकी सन्तुष्टि और सम्यक् श्रद्धा-भावना व भोग आदि के अभाव में उनकी असन्तुष्टि व कोप का विवरण उन सब देशों में समान रूप से मिलता है। भारत इस क्षेत्र में विशिष्ट है। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय देव-भावना भी अतिशय समृद्ध है। यहाँ तैंतीस करोड़ देवताओं व उनके साथ यक्ष-किन्नरादि अर्द्ध-देवताओं एवं पितरों, प्रेतात्माओं आदि अनेक देव-कोटियों की कल्पना की गयी है। इतना विशद देव-मण्डल किसी अन्य देश का नहीं है। इन समस्त तैंतीस करोड़ देवों की नामावलि, रूपाकृति व कार्य-कुशलता, क्षमता आदि का निरूपण किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता और यह संख्या बहुलता की ही प्रतीक जान पड़ती है, तथापि बहुत कम अन्य-देशीय देवता ऐसे हैं जिनके समरूप किसी देवता की कल्पना यहाँ न हो—और इस प्रकार भारतीय देव-भावना विश्व-देव-भावना का विश्वकोश मानी जा सकती है।

अध्यात्म-चिन्तन व वैज्ञानिक विकास-क्रम ने सर्वत्र देव-भावना को उच्छिन्न किया है। आत्म-साक्षात्कार द्वारा जब मानव ने अपनी सत्ता को सच्चिदानन्द-रूप परम सत्ता से एकाकार किया और वह अपनी अनन्त शक्तिमत्ता से परिचित हुआ, तो उसे किसी अन्य सत्ता की प्रतीति नहीं रह गयी जिससे भयभीत रहने अथवा उसके पूजन-अर्चन या भोग-समर्पण की अनिवार्यता हो। समस्त भौतिक सत्ता की असत्ता का ज्ञान उसे हो गया। सृष्टि के परम रहस्य से परिचित हो जाने पर सामान्य देव-कल्पना उसे अज्ञान की विजल्पना-मात्र मालूम दी। अत: व्यवहार के स्तर पर देवपरक आस्था भारत में निरन्तर बनी रहने पर भी यहाँ के विशिष्ट दर्शनों में उसके लिए कोई अवकाश नहीं रहा। उपनिषद्-काल में देव-भावना को पोषण नहीं मिला। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त-प्रतिपादन में देव-भावना का क्षय हुआ। बौद्ध, जैन आदि दर्शनों में तो उसका प्रबल विरोध हुआ ही। बाद में कुछ दर्शनों व धर्मों में मूल चिति-शक्ति के वैखरी वाणी में स्वरूप-निदर्शनादि के लिए व उसे सामान्य जनग्राह्य बनाने के लिए प्रतीकतः उसे देवता-रूप में स्थूल आकार दे

दिया गया। इस प्रकार की देव-निष्ठा में तो देव-भावना की मूल कल्पना में ही अन्तर आ गया। इस प्रकार देव-भावना के दर्शन-सम्मत न होने पर भी भारतीय जन-मानस में वह इतनी निष्ठा से बद्धमूल थी कि स्वयं शंकराचार्य ने तात्त्विक पक्ष से इतर व्यवहार में अपने काव्यों में बहुविध देव-वन्दना व स्तुतियाँ की हैं। मध्य-कालीन भारतीय काव्य को तो वे गहन रूप से प्रभावित करती ही रही हैं।

देव-भावना पिछली कतिपय शताब्दियों से क्रमशः क्षीण होती हुई भी अपने अस्तित्व को अपनी अन्तःशक्ति से सँभाले रही है। उसे सबसे बड़ा झटका अब लगा है, जिससे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व खतरे में पड़ गया है। आज के उद्योगपरक वैज्ञानिक चिन्तन ने देव-भावना को मानव के आदिम, अविकसित चिन्तन व जड़-अन्ध आस्थाओं की उद्‌भूति कहकर उसके मूलोच्छेद की घोषणा की है। मध्यकालीन अध्यात्म-दर्शन व आज के विज्ञान के इस दम्भ-घोष के कारण विपन्न होने पर भी उसके मोहक स्वरूप ने सामान्य भावनाशील मानव-समुदाय के अतिरिक्त चिन्तकों के एक बड़े वर्ग को भी आसक्त कर रखा है। इस प्रकार देव-भावना-परक चिन्तन के इस संक्रान्ति-काल में उसकी उपादेयता का मूल्यांकन एकदम अपरिहार्य हो गया है और तदर्थ उसके उद्‌भव से सम्बद्ध मनोविज्ञान व तत्परक आस्था-वृत्ति के मूल कारणों तथा देव-भावना के स्वरूप व उसके विकास-क्रम का अध्ययन अपेक्षित है। समस्त देव-भावना क्या अल्प चिन्तन पर आधृत किसी अश्रेयस्कर मनोवैज्ञानिक भीति से उत्पन्न मनोदुर्बलता की प्रतीक—अतः सर्वथा तिरस्करणीय—है; अथवा वह अपने सम्पूर्ण रूप में, या अंशतः, रक्षणीय है ? —यही विचिकित्सा इस अध्ययन की मूल प्रेरणा है।

स्पष्टतः भारतीय देव-भावना के इस अध्ययन का कारण हमारा संस्कारगत मोह नहीं है। शोध के क्षेत्र में इस प्रकार की दुर्बलता के लिए कोई स्थान भी नहीं है। भारतीय देव-भावना का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है, वह अतीत व वर्तमान को मिलाने वाली कड़ी है। उसमें हमारे सांस्कृतिक विकास-क्रम का अकृत्रिम इति-वृत्त मिलता है। मिस्र, सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, ईरान, मैसोपोटामिया की संस्कृतियों से भिन्न भारत की प्राचीन संस्कृति अविच्छिन्न रूप से आज की संस्कृति से जुड़ी है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में जिन देव-मूर्तियों की खोज हुई है, उनकी पूजा इस देश में आज भी प्रचलित है। अपने उस इतने प्रभावी प्राचीन रिक्थ से परिचय, उसका इतिहास-ज्ञान स्वयं उपयोग-सिद्ध है और किसी अन्य श्रेय के अभाव में भी उसका अध्ययन अपेक्षित है।

मैं हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी हूँ। आधुनिक काल से पूर्व का हिन्दी-साहित्य देव-भावना से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। हिन्दी का मध्यकाल, विशेषतः भक्ति-काल, तो प्रायः उसकी छाया में ही विकसित हुआ है। भक्ति-काल के काव्य में देव-भावना की चरम परिणति मिलती है। तथ्य यह है कि इस काव्य का बृहदंश

मूलतया उसी से प्रेरित है। कहीं-कहीं तो उसका साहित्यिक मूल्य उसमें व्यक्त देव-भावना की तुलना में गौण रह गया है। इसी से देव-भावना के चित्रण की दृष्टि से हिन्दी के भक्ति-काल का, जिसे विद्वानों ने प्राय: उसका स्वर्ण-काल भी कहा है, अध्ययन, विवेचन व मूल्यांकन अनिवार्य है।

भारत की समस्त अर्वाचीन भाषाओं का साहित्य देव-भावना से अनुस्यूत है। प्राय: सब भाषाओं, विशेषत: बँगला, मलयालम और कन्नड़ में देव-भावनापरक साहित्य विपुल मात्रा में मिलता है। भारतीय साहित्य की यह आश्चर्यजनक समानता है कि तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक लगभग सभी भाषाओं के साहित्य में 'भक्ति-काल' पाया जाता है जिसमें कुछ भिन्नता के साथ समानरूप से देव-भावना मुख्य प्रेरिका रही है। इस प्रकार यदि भारत की सब भाषाओं में चित्रित देव-भावना के स्वरूप का तुलनात्मकअध्ययन किया जाये तो वह अत्यन्त रोचक, ज्ञान का विकास करनेवाला तथा भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का दिग्दर्शक हो सकता है। परन्तु इस कार्य से पहले समस्त भाषा-साहित्यों में चित्रित देव-भावना के स्वरूप का पृथक्त: परीक्षण अनिवार्य है, तभी उसके विशिष्ट संग्रहणीय तत्त्व हाथ आयेंगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय संस्कृति में देव-भावना की प्रतिष्ठा व मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में व्यक्त उसके विशिष्ट रूप से अध्ययन प्रारम्भ किया गया है। द्वितीय अध्याय में देवों के सामान्य स्वरूप-निदर्शन के साथ देव-भावना के उदय के मूल मनोविज्ञान की चर्चा की गयी है। देव-भावना का उद्‌भव विश्व-संस्कृति में सब जगह लगभग एक-सी प्रेरणाएँ होने के कारण समान रूप से हुआ, परन्तु भिन्न सांस्कृतिक व भौगोलिक स्थितियों के कारण विविध स्थानों में विकास की कथा भिन्न रही है—सब संस्कृतियों में देव-भावना का विकसित व्यक्तित्व पूर्णत: पृथक् है। अत: प्रबन्ध में प्राचीन संस्कृति-सम्पन्न प्रत्येक देश की देव-भावना की उद्‌भव-प्रक्रिया दिखायी गयी है और भारतीय देव-भावना पर प्रभाव डालनेवाले उनके विशिष्ट तत्त्वों का ही उल्लेख किया गया है—विश्लिष्ट विकास-क्रम केवल भारतीय देव-भावना का ही दिखाया गया है। तृतीय अध्याय में भारतीय देव-भावना का यही विकास-क्रम दिखाया गया है। चतुर्थ अध्याय में भारतीय देव-भावना को प्रभावित करने वाले आन्तर व बाह्य उपादानों का विवेचन हुआ है। पंचम, षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम अध्यायों में भक्तिकालीन, क्रमश: ज्ञानाश्रयी, प्रेमाश्रयी, राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति शाखा में अभिव्यक्त देव-भावना के स्वरूप का निदर्शन हुआ है। मुझे विनम्र विश्वास है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में चित्रित भारतीय देव-भावना के स्वरूप का इतना विशद आख्यान अभी तक नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहासों, विविधयुगीन विशिष्ट काव्यधाराओं व पृथक्त: कवियों पर लिखे जाने वाले कतिपय समीक्षात्मक ग्रन्थों में तत्सम्बद्ध देव-भावना का गौणतः उल्लेख मिलता है। इतिहास-ग्रन्थों में तो यह उल्लेख स्वभावत: सीमित हुआ है—कवियों के साहित्यिक व्यक्तित्व से सम्बद्ध

पृथक् ग्रन्थों में भी इस भावना का दर्शन व विवेचन अप्रमुख रह जाता है। भक्ति-काल की विभिन्न धाराओं व प्रवृत्तियों के इस दृष्टि से आलोचन के साथ ही हमने विभिन्न कालों में देव-भावना में जो अन्तर आया है, उसका स्पष्ट निर्देश करने का प्रयत्न किया है। साथ ही विभिन्न देवों के स्वरूप व उनकी स्थिति में जो परिवर्तन या उतार-चढ़ाव आया है उसका उल्लेख भी तत्तत् स्थानों पर कर दिया है।

नवम अध्याय में रीति-काल व रीतिकालोत्तर देव-भावना के स्वरूप का परीक्षण हुआ है। रीतिकाल श्रृंगार-काल है, जिसमें काव्य के प्रेरक तत्त्व के रूप में देव-भावना बिल्कुल नहीं है। जहाँ वह प्रस्तुत हुई भी है वह केवल रूढ़िगत है, उन्मेष-रहित है। उसके कवियों को देव-भावना में विश्वास नहीं था, इसी से दृष्टि से वह कहीं गहरी नहीं है। आधुनिक काल में तो देव-भावना अपने मूल में मिलती हीं नहीं—कहीं परम चेतना के प्रतीक रूप में किसी देवता की चर्चा भले हो गयी हो।

इस शोध-प्रबन्ध के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण अनिवार्य हैं। पहला यह है कि, इसमें बहुत-से स्थलों पर विस्तार में जाने का लोभ संवरण करना पड़ा है। उदाहरण के लिए, सिन्धु-घाटी की सभ्यता आर्य है या आर्येतर, यह स्वयं अपने में शोध का विषय है। इस पर बहुत विस्तार के साथ लिखा जा सकता था, पर हमें अपने प्रबन्ध के सीमित आकार को ध्यान में रखते हुए रुककर चलना पड़ा है। अन्य देशों की देव-भावना के प्रकरण में हमने जिन देशों की देव-भावना का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक पर, स्वतंत्र रूप से शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। यहाँ पर भी केवल तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कतिपय अति-विशिष्ट व ज्वलन्त तथ्यों की ओर इंगित कर हम आगे बढ़ गये हैं। बौद्ध, जैन, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के प्रभाव के विषय में भी सब अनिवार्य तथ्यों का आकलन व विवेचन करते हुए भी संक्षिप्त रूप में ही अपनी बात कहनी पड़ी है।

दूसरा यह है कि, प्रबन्ध में कतिपय देवताओं से सम्बद्ध बहुश्रुत व लोक में जानी-मानी विशेषताओं व कथाओं को स्थान नहीं दिया गया है। ये कथाएँ अपनी परम्परा व लोकप्रियता में कुछ प्राचीन व विशिष्ट होते हुए भी प्रमाण-पुष्ट नहीं थीं। किसी भी आकर-ग्रन्थ में इनका आज मिलने वाला या उससे कुछ भी मिलता-जुलता रूप प्राप्त नहीं होता। लोक-हृदय में इनके मूल्य की अवहेलना मैं नहीं करता, परन्तु प्रबन्ध में इनकी प्रस्तुति मुझे उचित नहीं लगी। प्रबन्ध में विशिष्ट, व्यवस्थित, तर्क-निष्ठ व प्रमाण-पुष्ट सामग्री का ही चयन किया जा सकता है।

तीसरा यह है कि मध्यकालीन साहित्य के विवेचन-क्रम में देव-भावना के चित्रित स्वरूप की दृष्टि से जो कवि महत्त्वपूर्ण रहे हैं उनको अधिक महत्त्व व स्थान दिया गया है। साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से यह निर्धारण भ्रमपूर्ण लग सकता है, परन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से मेरा यह सानुपतिक विवेचन अनुचित न होगा।

इस विषय के अध्ययन के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के श्रेष्ठ ग्रन्थों का आश्रय

लेना पड़ा है—उनका निर्देश प्रबन्ध में यथास्थान किया गया है। कतिपय विबुधों के सीधे सम्पर्क में आने का भी मुझे अवसर मिला, उनमें विशेष रूप से डॉ० सूर्यकान्त, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, अलीगढ़-विश्वविद्यालय; आचार्य विश्वबन्धु, अध्यक्ष वैदिक अनुसन्धान संस्थान, होशियारपुर (पंजाब) और डा० मंगलदेव शास्त्री, (वाराणसी) का उल्लेख करना आवश्यक है, जिन्होंने अपने अमूल्य परामर्शों से इस प्रबन्ध को इतना उपयोगी बनाया। अपने अधीक्षक प्रो० महेन्द्रप्रताप, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के प्रति हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उन्होंने न केवल मार्ग-प्रदर्शन ही किया है अपितु प्रबन्ध को अक्षरश: पढ़कर बीच-बीच में अनेक अमूल्य सुझाव भी दिये हैं। उन्होंने अधीक्षक और मित्र दोनों ही के कर्त्तव्य को बहुत सुन्दर ढंग से निभाया है। इसके अतिरिक्त डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०, (अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, डी० ए० वी० कालेज, देहरादून,) श्रीपूरणचन्द्र शर्मा, असिस्टेन्ट डायरेक्टर पटना; राणा कुलतारचन्द, अध्यक्ष, विधानसभा, हिमाचल प्रदेश (पंजाब); श्री ज्ञानचन्द्र शर्मा, एम० ए० इण्टरटेनमेंट टैक्स अधिकारी, तथा प्रिय प्रदर्शन गुप्त (मुरादाबाद) ने भी विविध प्रसंगों में मेरी सहायता की। इन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। कुमारी ऊषा मेहरा एवं बहिन आशा पंडित को भी धन्यवाद देना आवश्यक है जिनके विशिष्ट सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य पूरा हुआ। इन सबके बाद अपने अग्रज श्री केशवचन्द्र, डिप्टी-कलक्टर, अपनी पत्नी सीतादेवी और पुत्री कुमारी सरोज का स्मरण भी आसमयिक न होगा। वे यद्यपि आत्मीय हैं और उन्हें धन्यवाद देना औपचारिता ही होगी, फिर भी उनका सहयोग किसी प्रकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

मेरे बाल-साथी और सहाध्यायी श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने इसके प्रकाशन में जो सहयोग दिया, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक है।

अपने अध्ययन के सिलसिले में मुझे अनेक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों की यात्रा करनी पड़ी है। इनमें विशेषत: राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर; हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी; नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; वैदिक अनुसन्धान संस्थान, होशियारपुर; के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद आदि के अधिकारियों ने बड़े ही सौजन्य एवं तत्परता से अपने पुस्तकालयों से लाभ उठाने की सुविधा देकर इस कार्य को इतना सरल बनाया। इन सबके प्रति मैं हार्दिक रूप से आभार-नत हूँ।

राजकीय महाविद्यालय, —श्रुतिकांत

रोपड़ (पंजाब)

स्वतंत्रता-दिवस, १९७३

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति का स्वरूप : उसकी धर्म-परायणता

प्रत्येक युग कुछ नवीन मान्यताओं को लेकर आता है। जीवन के प्रचलित विश्वासों और मापदण्डों में वह क्रान्ति पैदा करता है और इस प्रकार प्रत्येक युग को किसी सीमा तक संक्रान्ति-युग कहा जा सकता है। परन्तु जिस प्रकार के संक्रान्ति युग में से हम गुज़र रहे हैं वैसा इससे पूर्व कभी देखने में नहीं आया। नवीन चमत्कार-पूर्ण वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आज अखिल विश्व की परिस्थितियों में एक-सा प्रकार की जो व्यापक हेर-फेर और उथल-पुथल हुई है, उससे समाज का चित्र बदल गया है। नवीन मान्यताओं की नींव सुदृढ़ भले ही न हो पायी हो पर प्राचीन मान्यताओं की जिस भित्ति पर समाज खड़ा था उसमें भारी दरारें अवश्य आ गई हैं। यह परिवर्तन अपनी गहराई और विस्तार में अपूर्व है। यूरोपीय जातियों के निकट-सम्पर्क के कारण ये नवीन मान्यताएँ अपनी संवेदना में तीव्रतर हो उठी हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में पाश्चात्य विचारों का जिस तेज़ी से अनुसरण हो रहा है वह अन्धानुकरण की सीमा तक जा पहुँचा है। भारतीय संस्कृति का सबसे प्रमुख तत्त्व धर्म आज उपेक्षित सा है। यदि मानवीय विकास की स्वस्थ आवश्यकता की प्रेरणा से ऐसा हो रहा है तो किसी संस्कारजन्य मोह के कारण इस परिवर्तन के क्रम में अवरोध उत्पन्न करना ठीक न होगा, पर पहले इसका निर्णय ज़रूर कर लेना होगा कि जो हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा निर्णय हम कर सकें, इसके लिए भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप और उसकी विशिष्ट प्रवृत्तियों का आकलन करके विकास की नयी अपेक्षा की पृष्ठभूमि में हमें उसका मूल्यांकन करना होगा। प्रसन्नता की बात है कि इस दिशा में प्रयत्न हुआ भी है। पर इसे शायद इस युग का विशेष प्रभाव ही माना जायेगा कि भारतीय संस्कृति, और उसके सर्वप्रमुख अवयव धर्म में देवभावना का जो अन्यतम स्थान और महत्त्व है, उसकी ओर हमने इन दिनों पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। इस प्रतीति से प्रेरित होकर ही भारतीय देव-भावना के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न इस प्रबन्ध में किया गया है।

संस्कृति और धर्म दोनों ही बहुप्रयुक्त शब्द हैं। कदाचित् इसी कारण इनके

अभिप्राय के सम्बन्ध में एक तरल अनिश्चय की स्थिति पायी जाती है। अतएव कुछ और कहने के पहले इनके सम्बन्ध में अपना आशय स्पष्ट कर देना ठीक होगा।

भारत में संस्कृति शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। तथ्य तो यह है कि अंग्रेजी भाषा के कल्चर शब्द के भाव को व्यक्त करने के लिए ही इसे गढ़ा गया है। पहले जिस शब्द का प्रयोग होता था वह है संस्कार और उसका अर्थ है शुद्धि करना, परिष्कार करना और माँजना। इन संस्कारों का विशेष सम्बन्ध मानसिक शुद्धि से था। उसमें क्रिया-पक्ष गौण था और मानसिक पक्ष प्रधान। वैसे संस्कार और संस्कृति में केवल प्रत्यय का अन्तर है, दोनों की व्युत्पत्ति एक ही है। कुछ विद्वानों ने संस्कृति की व्युत्पत्ति भूषणार्थक कृ-धातु से सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर की है। उनके अनुसार इसका अर्थ हुआ—भूषणभूत सम्यक् कृति।[१] करणार्थक कृ धातु से भाव-अर्थ में क्तिन् प्रत्यय लगाकर भी संस्कृति की व्युत्पत्ति की जा सकती है। इसके अनुसार अर्थ हुआ—परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। भाव इसका भी वही है। प्रचलित और मान्य अर्थ में संस्कृति का अर्थ है : जीवन के प्रति हमारा दृष्टि-कोण। स्वभावत: इसमें परम्परा का, प्राचीन विचारों का सहयोग पर्याप्त मात्रा में रहता है। किसी विचारधारा का निर्माण एक ही दिन में नहीं होता, उसमें सहस्रों वर्षों तक की गई सहस्रों मनीषियों की साधना छिपी रहती है।

धर्म के भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न लक्षण किये हैं। वैशेषिक दर्शनकार ऋषि कणाद ने धर्म उन नियम-समूहों के नाम को कहा है जिनके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है।[२] एक अन्य मनीषी के अनुसार, जो प्रेरणा करने वाले नियम हैं वे ही धर्म हैं।[३] व्यास मुनि का कथन है कि संसार को धारण करने वाले नियमों का नाम ही धर्म है।[४] विधिशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मनु ने वेद, स्मृति, सदाचार और अपने को (आत्मा को) प्रिय लगने वाले नियमों को धर्म की संज्ञा दी है।[५] संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् श्री ए० ए० मैक्डानल ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—धर्म के अन्दर उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में एक ओर तो मानव द्वारा समादृत दिव्य अथवा अतिभौतिक शक्तियों के विषय में उसकी भावनाएँ आती हैं और दूसरी ओर मानव-कल्याण के उन शक्तियों पर निर्भर होने की अभिभावना, जिसकी अभिव्यक्ति पूजा के विविध रूपों में होती है।[६]

---

१. 'कल्याण-हिन्दू' संस्कृति-अंक'। वर्ष २४, सं० १

२. यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

३. चोदनालक्षणो धर्मः।

४. धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।

५. वेदस्मृतिसदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

६. वे० दे० शा०, पृ० १

कहना न होगा कि इसमें धर्म के प्रचलित अर्थों को भी ग्रहण कर लिया गया है। धर्म शब्द की व्युत्पत्ति धरणार्थक धृञ् धातु से मन् प्रत्यय लगाने से होती है। इस व्युत्पत्ति के भी तीन प्रकार हैं : (१) ध्रियते लोक: अनेन स धर्मः ; (२) धरति धारयति वा लोकान् ; (३) ध्रियते यः स धर्मः। अर्थ तीनों का वही है। ऊपर दिए गए लक्षणों से इसमें विशेष विभिन्नता नहीं। निरुक्तकार ने धर्म का अर्थ नियम किया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि धर्म उन शाश्वत एवं चिरन्तन तथ्यों तथा नियम-समूहों का नाम है जिनके आधार पर मानव-समाज परिचालित हो रहा है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में धर्म के दो अर्थ हैं : (१) परम्पराप्राप्त आचार, समयाचार या रिवाज जो धर्मसूत्रों में है। जैसे ४।४।४७ सूत्र में (तस्य धर्म्मम्, धर्म्य: आचार-युक्तः, काशिका) जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे (धर्मादनयेतम् ४।४।९२)। ६।२।६५ में धर्म्य शब्द का यही अर्थ है—(धर्म्यमित्याचारनियतं देयमुच्यते, काशिका)।

धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिए है, जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है, जैसे—धर्मं चरति धार्मिकः (धर्मं चरति ४।४।४१)।[१]

यह तो हुआ धर्म का तात्त्विक रूप। पर यह अपने में बहुत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी एकांगी है। सामान्यतया उपासना को ही धर्म का परिचायक माना जाता है। उपासना-परायण व्यक्ति को ही साधारणतया धार्मिक कहने और मानने की प्रथा है। तत्त्वज्ञान यदि आत्मा है तो उपासना उसका शरीर है। पहला अमूर्त है तो दूसरा मूर्त। मूर्त सब कुछ भले ही न हो, पर भाव को अभिव्यक्ति प्रदान करने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। वैसे भी विभिन्न धर्मों में जो पृथक्ता दृष्टिगोचर होती है वह उपासना-पद्धति की विभिन्नता के कारण ही। जहाँ तक हमारे प्रस्तुत विषय का प्रश्न है उसमें निश्चित रूप से धर्म के उपासना-पक्ष को ही प्रधानता मिलेगी। अतः हमारे लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि इस पक्ष पर विचार करके ही हम अपने विषय को स्पष्ट करने का यत्न करें।

उपासना-पद्धति में आराध्य के साकार रूप की प्रधानता रहती है। बात यह है कि तत्त्व-पक्ष का चिन्तन सर्व साधारण की पहुँच के बाहर है। यह गौरीशंकर की वह चोटी है जिस पर पहुँचना विरलों का ही काम है। साधारण व्यक्ति अपने लिए ऐसे आराध्य की सृष्टि करना चाहता है कि जो इन्द्रियगम्य हो, उसकी तरह सांसारिक कार्य करता हो और जो अपनी साधारणता में भी असाधारण हो। उसके हृदयपक्ष की संतुष्टि इससे कम में नहीं होती। यही कारण है कि मानव ने ज्ञानोन्मेष के प्रथम क्षण से ही अपने आराध्य को किसी न किसी मात्रा में आकार देने की, उसे विग्रह-वान् बनाने की चेष्टा की है। वेदों में विभिन्न देवों की साकार रूप की पूजा का

---

१. पा० का० भा०, पृ० ३८०

विधान भले ही न मिलता हो पर वहाँ भी इन देवों को शरीरी बनाने का यत्न एकदम स्पष्ट है। भावाकुल हृदय ने वहाँ भी इन देवों को विविध वस्त्रों से सुसज्जित कर विभिन्न यानों पर सवार होकर आते दिखाया है।

भारतवर्ष में उपासना का आरम्भ ठीक-ठीक किस समय में हुआ, इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कह सकना हमारे लिए आसान नहीं, पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यहाँ बसने वाली द्रविड़ जाति का जीवन धर्म-प्रधान था। उनका लिखित साहित्य तो हमें उपलब्ध नहीं, पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में शिव और देवी की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उस समय देवी-देवताओं की पूजा विधिवत् प्रचलित थी। वैसे इसके बीज हमें वेदों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। अपने आराध्य से विविध सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाभाविक आकांक्षा से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने अपने आराध्य को कहीं पिता कहा है, कहीं माता, कहीं सखा और कहीं पति। एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सुख का ज्ञान रखने वाली एक मार्ग से बढ़ने वाली प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं। जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती है वैसे ही मेरी बुद्धि प्रभु की ओर धावित हो रही है—

अच्छाम इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उषतीरनूषव।
परिष्वजनतो जनयो यथा पतिं मर्यंन शुन्ध्युं मघवानभूतये ।। ऋक् १०।४३।१

बृहदारण्यक उपनिषत् में आराध्य और आराधक के बीच के अन्तर को, द्वैत को मिटाने की बात कही है। वहाँ कहा गया है कि जो देवता और अपने में अन्तर समझता है वह पशु ही है (अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न सवेद यथा पशुरेव स देवानाम्)।

मुण्डकोपनिषत् में आराधक से कहा गया है कि उसे अपना नाम और रूप मिटा देना चाहिए, ऐसा करने पर ही वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त कर सकता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

हृदय की इस तीव्र भावाकुलता ने परवर्ती काल में विभिन्न देवों की मूर्तियाँ स्थापित कीं, उनके निवास-स्थान बनाये, उनकी पूजा और अर्चना प्रारम्भ की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जबसे भारत का इतिहास मिलता है तभी से यह देश धर्मप्राण रहा है। धर्म यहाँ के जीवन का अंग रहा है और भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता उसका धर्मप्राण होना ही है।

भारतीय धर्म और परोक्ष सत्ता या देव-भावना का अविच्छिन्न सम्बन्ध

भारतीय संस्कृति धर्मप्राण है इसकी चर्चा हमने अभी-अभी की है। धर्म जीवन के प्रत्येक पक्ष को आत्मसात् करते हुए अवश्य चलता है पर किसी न किसी

रूप में उसमें परोक्ष सत्ता की स्वीकृति अनिवार्य है। सभी धर्मों की यही स्थिति है, फिर भारतीय धर्म तो विशेष रूप से परोक्षवादी है। सामान्य भारतीय के लिए इस प्रत्यक्ष जगत् का महत्त्व केवल इसलिए है कि उसमें रहकर इस अपरोक्ष सत्ता के दर्शन और उपलब्धि का अवसर प्राप्त होता है। उसके लिए भौतिक जगत् साधन है, साध्य तो वह अदृश्य सत्ता ही है। इस अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जगत् पड़ाव भर है, इससे अधिक कुछ नहीं। अपने-आप में तो यह "धुआँ के से धोरहर" मात्र है, इसमें नित्यत्व तो उसी की झलक के कारण दीख पड़ता है। इस देश का सर्वप्रथम लिखित साहित्य हमें वेदों के रूप में उपलब्ध होता है, उसमें स्थान-स्थान पर उस सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, अनादि, अनन्त और स्वयं में परिपूर्ण सर्वोपरि देव की सत्ता की स्वीकृति है और उसकी प्रार्थना में सुन्दरतम ऋचाओं और मंत्रों का निर्माण हुआ है। उपनिषत्कार उस परोक्ष सत्ता का वर्णन करते-करते थकते नहीं। वहाँ अनेक तर्कों एवं उपाख्यानों के द्वारा परो क्षसत्ता की स्वीकृति पर बल दिया गया है।

जो भावना अतिप्राचीन काल से चली आ रही थी वही हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में भी परिव्याप्त दिखायी पड़ती है। यही कारण है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य प्रत्यक्ष जगत् से ही सन्तुष्ट न होकर किसी अदृष्ट सत्ता को लक्ष्य मानकर चलता दिखायी देता है। कुछ कवियों ने इस सत्ता को इन्द्रियातीत माना है और कुछ ने अवतार के रूप में उसे भौतिक इन्द्रियों द्वारा प्राप्य। यह सत्ता चाहे साकार हो या निराकार, पर जीवन का लक्ष्य यही है। कबीर को असीम का रूप को सीमा में बाँधा जाना अच्छा नहीं लगा और उन्होंने—दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का भरम है आना—कहकर साकार का खण्डन किया है। तुलसी ने शिव-पार्वती-संवाद में 'अवध-नृपति-सुत' को ही शिव के मुख से श्रुतियों के गान का और मुनियों के ध्यान का विषय कहा है। इन दोनों कथनों में कोई विशेष विरोध नहीं। निराकार की सत्ता दोनों ही को स्वीकार है, मतभेद केवल उसके आकार के विषय में है। तुलसी के राम का भी न जन्म होता है न मरण, उनका तो केवल प्राकट्य होता है—"जग निवास प्रभु प्रकटे अखिल लोक विश्राम।"

रसखान जिस कृष्ण की लकुटी और कामरिया पर तीनों पुरों के राज्यों, आठों सिद्धियों और नौ निधियों को वारने को तैयार हैं, जिसके साहचर्य के लिए ग्वाल-बाल, गाय-बैल, पक्षी और पाषाण तक होने को तैयार हैं, सूरदास जिस बाल-कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन करते समय अघाते नहीं, जो गोपियों और ब्रज-वासियों के परमाराध्य हैं वे कृष्ण जगन्नियन्ता साक्षात् परब्रह्म हैं जो भक्तों के प्रेम से विवश होकर नर-रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। यही कारण है कि मीरा यदि एक साँस में—"गगन मंडल पर सेज पिया की किस बिध मिलना होय"—कह कर उस सर्वव्यापक सत्ता से मिलने के अपने असामर्थ्य का वर्णन करती हैं तो दूसरी ही साँस में साँवरे-सलौने नराकार कृष्ण को पतिरूप में स्वीकार कर लेती हैं। यदि किसी कवि ने राधा और सीता की स्तुति की है तो वह भी जगदाराध्या देवी के रूप में। शिव, सूर्य,

गणेश, सरस्वती तथा पार्वती आदि की आराधना भी उन्हें देव और देवी के रूप में मानकर ही की गई है ।

धर्म एवं संस्कृति से साहित्य का सम्बन्ध

साहित्य की चाहे जो परिभाषा की जाये और उसका उद्देश्य चाहे जो भी माना जाय, उसका समाज के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है, यह सभी को समान रूप से मान्य है । धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी धारणाएँ भी समाज में ही उत्पन्न और परिपुष्ट होती हैं । साहित्य का सृजन करने वाला व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज से अनेक प्रभाव ग्रहण करता है और उन प्रभावों की गहरी छाप अनायास ही उसके साहित्य पर आ जाती है। समाज का दर्पण होने के नाते साहित्य धर्म एवं संस्कृति सम्बन्धी उन सभी मान्यताओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है जो तत्कालीन समाज में किसी न किसी रूप में मान्य रहती हैं ।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में निर्गुण और सगुण की जो धाराएँ मिलती हैं उनका कारण सामाजिक प्रभाव ही है । पौराणिक काल में ईश्वर के निराकार रूप की स्वीकृति तो थी पर व्यावहारिक रूप में ईश्वर के साकार रूप की ही पूजा और उपासना होती थी । पर मुसलमानों के आगमन से परिस्थिति में भारी परिवर्तन आ गया । महमूद गजनवी और मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण के बाद मूर्ति-पूजा पर से लोगों का विश्वास भले ही एकदम न हट गया हो पर उसे भारी धक्का अवश्य लग गया था । सोमनाथ मन्दिर में स्थित भगवान् को लुटेरों के हाथ से लुटता देखकर श्रद्धालु जनता की श्रद्धा अस्थिर होने लगी थी, गजेन्द्र की एक ही टेर सुन कर नंगे पाँव दौड़े आने वाले विष्णु, प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भा चीरकर प्रगट होनेवाले नृसिंह और द्रौपदी की लाज बचाने के लिए चीर बढ़ाने वाले कृष्ण को संकट के समय चुपचाप बैठा देख कर जनता का मन शंकाकुल हो उठा था । मुसलमान विजेता था और जनता का थोड़ी बहुत मात्रा में उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था । कबीर ने दशरथसुत राम को भगवान न मानकर घट-घट-व्यापी सत्ता को जो राम माना उसका कारण तत्कालीन सामाजिक प्रभाव ही है । यदि इन विषम परिस्थितियों में भी सूर और तुलसी सगुण की लीला का गान करते हैं तो उसका कारण भी यही है कि पौराणिक काल में व्याप्त सगुण रूप की उपासना किसी न किसी रूप में चल अवश्य रही थी । जिस प्रकार समाज में निराकार और साकार दोनों प्रकार की विचारधारा प्रचलित थी, साहित्य में भी उसी प्रकार दोनों धाराएँ समानान्तर रूप में प्रवाहित होती रहीं ।

कबीर के साहित्य में जाति-प्रथा के विरुद्ध यदि तीव्र आक्रोश मिलता है तो उसका कारण भी समाजगत प्रभाव ही है। भगवान् बुद्ध ने अत्यन्त तीव्र शब्दों में जाति-पाँति की निन्दा की थी, अपनी अधोगति के दिनों में भी बौद्ध धर्म ने कभी जाति प्रथा के साथ समभौता नहीं किया । इधर इस्लाम में भ्रातृ-भाव का नवीन जोश था । इन सब बातों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था । स्वामी रामानन्द,

तुलसीदास और सूरदास जैसे व्यक्तियों ने भक्ति के क्षेत्र में जिस उदारता का परिचय दिया है वह तत्कालीन सामाजिक माँग का ही परिणाम है। यों तो विश्व-बन्धुत्व की भावना भारत के लिये नयी नहीं—"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"—के मानने वालों के लिए मानव-मात्र की एकता में कोई अनोखापन नहीं था पर कबीर ने राम और रहीम की एकता पर जो बल दिया है उसके मूल में तत्कालीन समाज का प्रभाव ही काम कर रहा था, यह एकदम स्पष्ट है। यदि कबीर की वाणी में पंडितों और मुल्लाओं के कृत्यों की निन्दा मिलती है तो उसका कारण यही है कि धर्म के नाम पर पाखण्ड का साम्राज्य फैला हुआ था। स्पष्ट है कि उस समय का धर्म-कार्य कर्मकाण्ड तक ही सीमित हो गया था। इसी प्रकार यदि साखी, सबदी, दोहरा के द्वारा वेदों और पुराणों की निन्दा करने वालों को तुलसी ने आड़े हाथों लिया है तो यह भी समाज में कर्मकाण्ड के विरुद्ध जिहाद करने वालों के बढ़ते हुए प्रभाव को देख-कर ही। कहना न होगा कि साहित्य रूपी पौधा समाज से ही रस ग्रहण करता है। समाज में प्रचलित धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी परिणामों का समावेश साहित्य में अनिवार्य रूप से होगा। इस तथ्य के समर्थन के लिए अपने मध्यकालीन साहित्य से ही शतशः उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

भारतीय संस्कृति में देव-भावना की प्रतिष्ठा और उसका महत्त्व

इस अध्याय के एकदम आरम्भ में ही हम भारतीय संस्कृति के स्वरूप की विशेषता उसका धर्मप्राण होना कह चुके हैं। वहीं हम यह भी कह चुके हैं कि धर्म एवं देवोपासना मूलतः दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं। भारतीय धर्म और परोक्ष-सत्ता के अविच्छिन्न सम्बन्ध की चर्चा भी पीछे हो चुकी है। हम कह आये हैं कि किसी अलौ-किक शक्ति में विश्वास और उसकी उपासना से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। इस अदृष्ट शक्ति को समझ पाना, उससे तरह-तरह के सम्बन्धों की स्थापना, यही भार-तीय मनीषी का लक्ष्य रहा है। भारतीय जीवन की आधार-शिला ही देव-भावना है। विविध देवताओं एवं देवियों की पूजा के विविध प्रकारों से भारतीय साहित्य भरा पड़ा है। इन देवों और देवियों की उपासना तथा पूजा से किस तरह के लाभ होते हैं, इन बातों का भी स्पष्ट उल्लेख भारतीय साहित्य में है। भारत में वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व देवी और देवताओं की पूजा होती थी, यह मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों से सिद्ध हो चुका है। विक्रम सम्वत् से ५०० वर्ष पूर्व आचार्य पाणिनि के समय में इन देवताओं की पूजा विधिवत् प्रचलित हो चुकी थी। इन दिनों वासुदेव, संकर्षण, महाराज (कुबेर), राम, विष्णु और शिव आदि की मूर्तियां बनती थीं एवं मंदिरों का निर्माण भी होता था।

वस्तुतः पाणिनि-काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दों से अभिहित नये देवताओं की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। 'कालेभ्योऽभवत्' (४।२।३४) में सास्य देवता-प्रकरण के अन्तर्गत अनेक

कालवाची शब्दों को देवता माना गया है : मासिक, आर्धमासिक, सांवत्सरिक। उस काल में ऋतुओं को भी देवता माना जाता था।[1]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में विष्णु-मन्दिर के निर्माण की आज्ञा का उल्लेख है। देवों की प्रसन्नता से पुत्रों की प्राप्ति होती थी और इन पुत्रों के नाम देवों के नाम पर ही रखे जाते थे, इसका प्रमाण भी आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध होता है : जैसे इन्द्रदत्त, वरुणदत्त, देवदत्त[2]। नक्षत्रों के नाम पर भी नाम रखे जाते थे, नक्षत्रों की पूजा होती थी—पुष्यदत्त, स्वातिदत्त, तिष्यरक्षित[3] आदि। विविध राजाओं के सिक्कों पर जो विविध देवों के चित्र मिलते हैं उनसे भी यह स्पष्ट है कि देवोपासना भारतीय जीवन का अंग बन चुकी थी। पौराणिक काल तक आते-आते तो उपासना का पक्ष अत्यधिक प्रबल हो उठा था, इसमें संदेह नहीं।

धर्म की यह अजस्र धारा भारतीय जीवन को सदैव आप्लावित करती रही है, इस विषय में दो मत नहीं हैं। अद्यावधि कोटिशः मानव इसमें स्नान कर पूतात्मा हुए हैं, उनके जीवन का समस्त कालुष्य अपहृत हुआ है और उन्हें ऐसे आनन्द की उपलब्धि हुई है कि जिसकी अन्यथाप्राप्ति असम्भव थी। यही कारण है कि इस देश में धर्म जीवन का अनिवार्य एवं स्वाभाविक अंग मान लिया गया है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक नर और नारी के जितने संस्कार होते हैं उन सब पर धर्म का रंग चढ़ा हुआ है। जीवन का कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कि जिसके साथ धर्म का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध न हो। आज भी प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं। कवि-सम्मेलनों और वादविवाद-प्रतियोगिताओं का आरम्भ आज भी सरस्वती देवी की स्तुति के साथ किया जाता है। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में किसी देवता या देवी की स्तुति की जो प्राचीन प्रथा चली आ रही है वह आज भी लुप्त नहीं हुई है। देवी-देवताओं के मन्दिरों के निर्माण की प्रथा भी बन्द नहीं हो गयी है।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस देश में धर्म व्यावहारिक जीवन का अंग रहा है, प्रदर्शनी की वस्तु नहीं। उसने जीवन के आदर्शों को सजाया और सँवारा है तथा उसके आगे बढ़ने में सहायता दी है। बलिवैश्व देव यज्ञ में पक्षियों तक के लिए भाग निकालना "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः" के सिद्धान्तों को प्रयोगात्मक रूप देने का सफल प्रयास है। पर्व और त्यौहार किसी देश की परम्परागत संस्कृति के प्रतीक होते हैं और जीवनादर्शों के सूचक भी। भारत में इन पर्वों और त्यौहारों को धार्मिक रूप दे देना उसकी धर्मप्रियता का सूचक है। सभी पर्वों का सम्बन्ध आरम्भ में ऋतुओं से था, पर धीरे-धीरे उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप

१. पा० का० भा०, पृ० ३५०-१
२. वही, पृ० १८५
३. वही, पृ० ३५१

में धर्म के साथ जोड़ दिया गया है। दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा होने लगी, विजयादशमी रावण पर राम की विजय की सूचक बनी, मकर-संक्रान्ति के दिन गर्म कपड़ों के दान का महत्व बढ़ा और वसन्त-पंचमी की प्रकृतिगत मादकता कामदेवता की पूजा के रूप में परिणत हुई। होली का त्यौहार शीत के अन्त और ग्रीष्म के आगमन का सूचक था पर धार्मिक भावना ने उसके साथ प्रह्लाद और होलिका (कंस की बहिन) की कहानी को जोड़े बिना सन्तोष का अनुभव नहीं किया।

यही कारण है कि वैदिक काल से अद्यावधि जितने भी महान् सुधारक हुए हैं सभी ने धर्म के प्रति महान् आस्था प्रदर्शित की है। यहाँ जितनी भी क्रान्तियाँ हुई, धर्म के द्वारा ही हुई हैं। यहाँ धर्म प्रगति में बाधक कभी नहीं हुआ, वह सदैव जीवन का प्रेरक ही रहा। भारतीय जीवन के लिए धर्म अमृत ही रहा है, विष नहीं बना। धर्म के नाम पर कभी-कभी पाखण्ड भी फैला, हिंसा का ताण्डव नृत्य भी हुआ, स्वार्थी पुरोहित वर्ग ने अपना उल्लू भी सीधा किया, पर दूरदर्शी नेताओं ने धर्म के ही द्वारा उसे सुधार लेने में प्रशंसनीय सफलता भी प्राप्त की। भगवान् बुद्ध और महावीर स्वामी ने धर्म के नाम पर प्रचलित हिंसा का तीव्र विरोध किया, उसमें अन्य आवश्यक सुधार किये, पर धर्म के मूल रूप पर कभी कुठाराघात नहीं किया। शरीर के किसी अंग के रोग-ग्रस्त या विकृत हो जाने पर हम उसका उपचार करते हैं, उसे काट नहीं फेंकते। स्वच्छ जलाशय पर यदि काई आ जाय तो हम उसे दूर भर करते हैं, जलाशय का ही परित्याग नहीं कर देते। शंकर, रामानुज, रामानन्द, कबीर और दयानन्द ने जो कुछ भी किया वह धर्म के माध्यम से ही किया। आज का युग राजनीतिक और आर्थिक चेतना का युग है। इनके प्रबल प्रभाव में धार्मिक भावना कुछ धूमिल पड़ गई है। उसके विरोध में कुछ कहना और उसकी छोटी से छोटी कमी को बड़ा बनाकर दिखाना आज के युग का फैशन बन गया है। पर खुर्दबीन से धर्म की कमियों को देखने की यह प्रवृत्ति कल्याणकर तो है ही नहीं, अपने में दोषपूर्ण भी है। प्रजातंत्र पद्धति शासन की सबसे अच्छी पद्धति समझी जाती है पर इसमें भी शतशः दोष हैं। पर इससे अधिक अच्छी शासन-प्रणाली कोई नहीं, इसलिए हमने इसके दोषों के रहते हुए भी इसे बनाये रखा हुआ है। यही बात धर्म की भी है। जब तक धर्म का स्थानापन्न तत्त्व हमें नहीं मिल जाता—और वह कभी शायद मिलेगा भी नहीं—तब तक हमें उसे बनाये रखना है। सामाजिक रोगों का एकमात्र उपचार धर्म ही रहा है, और रहेगा भी। आज की भौतिकता, भ्रष्टाचार, अधिकार-लिप्सा और सामाजिक उच्छृंखलता की रोकथाम के लिए किसी न किसी रूप में धार्मिक भावना और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव सभी करने लगे हैं। नियामक तत्त्व के रूप में उस पर सबकी आँखें फिर से जाने लगी हैं। हवा बदल रही है और हम समझते हैं कि बदलती हुई हवा का रुख धर्म के अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं।

हिन्दी साहित्य में देवभावना : परम्परा-प्राप्त स्वरूप और उसका विकास

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ, काल विक्रम सम्वत् ७०० तक, भारतीय जीवन की अधिकांश मान्यताएँ स्थिर हो चुकीं थीं। यवन, शक और हूण आदि जातियों के आक्रमणों से उत्पन्न हलचल शान्त हो गई थी। ये आक्रान्ता या तो भगाये जा चुके थे या यहाँ के जीवन में आत्मसात् किये जा चुके थे। मुसलमानों का आगमन तब तक इस देश में नहीं हुआ था। धार्मिक क्षेत्र में वातावरण शान्तप्राय था। पुराण-ग्रन्थों के अधिकांश का निर्माण हो चुका था। विभिन्न धर्मों के मिलन-स्वरूप जनजीवन रूपी समुद्र में जो लहरें उठी थीं, वे अब बैठ गई थीं। देवी-देवताओं के रूप स्थिर हो चुके थे। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को पकी-पकाई खिचड़ी मिली थी। इस काल के कवियों को सामान्यतया उपलब्ध स्वरूप का चित्रण भर करना था, अपनी ओर से नवीन निर्माण के लिए प्रयास करने की आवश्यकता उन्हें नहीं थी।

इस काल तक प्रमुख देवी-देवताओं का स्वरूप स्थिर हो चुका था। विष्णु जो वेद-काल में सूर्य का वाचक था और साहित्य में उपेन्द्र (इन्द्र का छोटा भाई) के नाम से अभिहित होता था, इस समय तक सर्वाधिक शक्तिशाली देवता के रूप में अपनी सत्ता स्थापित कर चुका था। लक्ष्मी उसकी पत्नी के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। वह देवों का सहायक और असुरों का संहारक समझा जाने लगा था। देवों का एक-मात्र शरण्य और वरेण्य वही था। परात्पर ब्रह्म के रूप में उसकी मान्यता प्रचलित थी। विष्णु, श्रीकृष्ण और वासुदेव तीनों अलग-अलग न रहकर एकत्व या अभिन्नत्व को प्राप्त कर चुके थे।[१] रुद्र, जो किसी समय भयंकर समझा जाता था, और शिव की एकता स्थापित हो चुकी थी। उसके भव, शर्व और मृड इत्यादि विविध नाम प्रचलित हो चुके थे।[२] यक्षों और राक्षसों के ऊपर कृपालु होते हुए भी वे आर्य देवता के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। शिव के रूप में असभ्य, ग्राम्य तथा जंगली तत्त्वों का समावेश अब भी था पर वह दूषण न होकर उनका भूषण समझा जाने लगा था। जो भी हो, अब वे आर्य-परिवार के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। ब्रह्मा की मान्यता इस समय तक कम हो चुकी थी। यों कहिये कि पितामह के हाथ से घर की प्रभुता निकल कर पुत्रों और पौत्रों के हाथों में जा चुकी थी। उनके प्रति पूज्य भाव अब भी था, पर उनकी पूछताछ बहुत नहीं थी।

इन्द्र, जो किसी समय सूर्य का ही एक रूप था और दूसरों के अनुसार तूफान का देवता था, वैदिक युग में देवों के सेनापति के रूप में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर चुका था। स्वर्ग के अधिपति के रूप में उसके अपने पार्षद थे, उसकी पत्नी शची थी और उर्वशी आदि अप्सराएँ उसके मनोविनोद के साधन के रूप में विद्यमान थीं; पर

---

१. अमरकोष—प्रथम सर्ग, स्वर्गकाण्ड।

२. वही।

पौराणिक काल के अन्त में उसका महत्त्व धीरे-धीरे कम होने लगा था और हिन्दी के उद्‌भव-काल तक वह प्रायः विलीन हो चुका था। अब वह सीता के चरणों में चोंच मारकर आये हुए अपने पुत्र को शरण देने में असमर्थ है। यही नहीं, वह घोर स्वार्थी है। दूसरों का हित उससे नहीं देखा जाता। उसकी स्वार्थान्धता के कारण ही उसे तुलसी ने—कुचाली और कपटी की सीमा—कहा है। यम, जो विवस्वान् का पुत्र था और स्वर्ग में जाने वाला आदि मर्त्य था, अब स्वर्ग और नरक के अधिष्ठाता तथा नियन्ता के रूप में आसन ग्रहण कर चुका है साथ ही उसे धर्मराज की महत्त्वपूर्ण उपाधि से भी विभूषित किया जा चुका है।[१]

वेदों में जो असुर शब्द प्राणवान् अर्थ का द्योतक था और कभी महान् देवता वरुण के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था, अब देवों के विरोधी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। देवों और असुरों के पार्थक्य-स्वरूप, दोनों में निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। दैत्य, दानव और राक्षस पर्यायवाची समझे जाने लगे थे। कुल मिलाकर वे अब एक ही परिवार के सदस्य बन गये थे, कम से कम आर्य उन्हें ऐसा ही मानने लगे थे। आर्यों ने उन्हें घृणास्वरूप क्रव्याद जैसे घृणा-सूचक शब्दों से पुकारना आरम्भ कर दिया था। यास्क के समय जिन आश्विन देवों की व्याख्या दिन-रात, पृथ्वी-आकाश, उषा-सन्ध्या, सूर्य-चन्द्रमा आदि कितने ही रूपों में की जाती थी, वे इस समय तक देवों के वैद्य माने जाने लगे थे। कुबेर यक्षों के राजा और धनाधिप के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को एक समृद्ध देव-परम्परा मिली। हिन्दी-साहित्य में इस देव-परम्परा को ज्यों का त्यों सम्मान मिलता रहा। पौराणिक काल में ही कृष्ण और राम का महत्त्व विष्णु की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था, अब इनके महत्त्व का स्वर कुछ और अधिक स्पष्ट हो गया है। विष्णु-लोक से पृथक् यहाँ साकेत लोक और गो-लोक की मान्यता कुछ और अधिक बढ़ गई है। सीता और राधा का समावेश देवी-रूप में हो गया है। मंगलाचरण तथा अन्य स्थानों पर देवियों की स्तुति की गई है। रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय में तो सीता ही सब-कुछ है। रामानन्द द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में भी सीता का महत्त्व अत्यधिक है। इसी प्रकार राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का महत्त्व सर्वोपरि है, वह कृष्ण से भी बढ़कर है। कविवर बिहारी भव-बाधा-हरण की प्रार्थना राधा से करते हैं, कृष्ण से नहीं। हनुमान के पद की भी उन्नति हुई है। उनके देवरूप के संकेत यों तो महाभारत में भी मिलते हैं, पर अब वे खुलकर देवता के पद पर आसीन हो गये हैं। अब वे सहस्र-सहस्र भक्त-जनों के आराध्य हैं। स्वामी रामानन्द के अनुसार, जो कोई हनुमानजी की आरती गाता है वह सीधे वैकुण्ठ को जाता है।

देव-त्रयी के स्थान पर अब पंच देवों की उपासना होने लगी। इस देव-त्रयी

---

१. अमरकोष—प्रथम सर्ग, स्वर्ग काण्ड।

में से ब्रह्मा का महत्त्व पौराणिक काल में ही कम हो गया था, अब उनकी चर्चा और भी कम हो गई है। लगता है कि उनका स्थान गणेशजी ने ले लिया है। गणेशजी अनार्य देवता थे, वैदिक काल और पौराणिक काल के बीच में वे अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे। हिन्दी-साहित्य में पंच देवों में उनकी गिनती है। प्रत्येक शुभ अवसर पर इष्ट-सिद्धि के लिए उनका स्मरण किया जाता है।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का विशिष्ट रूप : उसकी देवपरायणता

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल से भाव मोटे तौर से विक्रम संवत् १३७५ से १६०० तक के काल से है। इस काल में कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे महान् व्यक्तियों का आविर्भाव हुआ। साहित्य की सम्पन्नता की दृष्टि से इसे हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल कहा जाता है। इन कवियों के श्रद्धा-विगलित हृदय से जो भाव बाहर आये वे निराश और सन्तप्त जन के मानस के लिए चन्दन के अनुलेप के समान शीतल सिद्ध हुए। चिरतृषित व्यक्ति को जो सन्तोष सुस्वादु एवं शीतल जल की धारा से होता है वही सन्तोष जनसाधारण को इनकी रचनाओं से हुआ। जिस प्रकार वैदिक ऋषियों ने प्रार्थना और स्तुति-सम्बन्धी मन्त्रों में अपना हृदय उँड़ेल कर रख दिया था उसी प्रकार इन रचनाओं में इन कवियों ने अपने हृदय की लीनता को हमारे सामने रख दिया। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि वैदिक काल का स्तोता जहाँ अपने देव से धन की, बल की और शत्रुओं के नाश की प्रार्थना करता है, वहाँ इस काल का भक्त उससे कोई सांसारिक पदार्थ नहीं माँगता। उसकी एकमात्र कामना उसके स्वरूप को जानने, उसका सान्निध्य प्राप्त करने और उसके नाम को जपते रहने की है।

इस काल की सर्वप्रमुख विशेषता, जो बलात् सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, देव-परायणता है। इस काल के आरम्भ से अन्त तक का साहित्य देव-भावना से भरा पड़ा है। यों तो प्राग्वैदिक और वैदिक काल से देवोपासना की जो धारा अजस्र रूप से प्रवाहित होती आयी है उसका स्वर हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में भी सुनायी पड़ता है पर इस मध्यकाल में तो उसका स्वर अत्यधिक स्पष्ट हो उठा है। आदि-काल में देव-स्तुति के साथ राजा की भी स्तुति है और आधुनिक काल में राजनीतिक चेतना के कारण साहित्यकार का अधिक ध्यान आर्थिक समस्याओं की ओर है। इन दोनों ही कालों में देव-भावना को आंशिक रूप में ही मान्यता मिली है पर मध्यकालीन साहित्य में तो वही सब-कुछ है। इस काल का कवि, चाहे वह निर्गुणवादी रहा हो या सगुणवादी, परोक्ष सत्ता में विश्वास करता है, उसकी उपासना करता है और भावावेश में उससे विविध प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना करता है। कबीर और नानक उस परात्पर देव की उपासना की शिक्षा देते हैं और उससे माता, पिता, पति तथा बान्धव आदि सम्बन्धों की स्थापना द्वारा एकाकार होना चाहते हैं। दादू की दृष्टि में वह देव सब स्थानों पर उसी तरह व्याप्त है कि जैसे दूध में घी। प्रेम की दीवानी मीरा गगन-मण्डल पर सेज बिछाने वाले अपने देव के विरह में बुरी

तरह व्याकुल है। जहाँ तक सगुण ईश्वर को मानकर चलने वालों का प्रश्न है उनकी देव-भावना भी उतनी ही स्पष्ट है। उनके राम और कृष्ण साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् परब्रह्म हैं। उनकी यह देवोपासना इतनी अधिक स्पष्ट है कि उसके विषय में कुछ कहना पिष्टपेषण मात्र होगा।

जहाँ तक उत्तर मध्यकालीन या रीतिकालीन साहित्य का प्रश्न है, वह भी उतना ही देव-परायण है। वह काल अपनी घोर श्रृंगारिकता के लिए भले ही प्रसिद्ध हो, पर अपनी काव्य-रचना के आरम्भ में प्रत्येक कवि किसी न किसी देवी या देवता की स्तुति अवश्य करता है। उनके काव्य के नायक और नायिका भी सामान्य पुरुष और नारी न होकर कृष्ण और राधा थे। उनके काव्य की रचना का उद्देश्य श्रृंगार-वर्णन भले ही रहा हो पर उसका आवरण धर्म ही रहा है। उस समय के समाज में धर्म और ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास था। इन दोनों के विरुद्ध आवाज उठाने की बात भी कल्पना से बाहर थी। अतः सभी कवियों में किसी न किसी प्रकार की देव-भावना अवश्य पायी जाती है।

भगवान् कृष्ण के रूप-माधुर्य का तो कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि न केवल हिन्दू ही अपितु रसिक मुसलमान कवि भी मन्त्र-मुग्ध से इस ओर खिंच आये। रसखान, रहीम, यारी साहब कृष्ण की रूप-ठगौरी के ऐसे शिकार हुए कि उनके सान्निध्य के लिए, उनकी एक चितवन के लिए सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार थे। इसके अलावा गौरी, गणपति, सूर्य, गणेश और शक्ति की पूजा भी साहित्य में पर्याप्त मात्रा में प्रचलित थी।

यह देव-भावना इतनी अधिक बढ़ी कि सभी महापुरुषों की देव-रूप में पूजा होने लगी। मध्ययुग में—धीरे-धीरे भक्तों के भी अवतार लेने की बात चल पड़ी थी और मध्य युग के प्रायः सभी भक्त प्राचीन भक्तों और महात्माओं के अवतार माने जाने लगे थे। गोस्वामी तुलसीदास वाल्मीकि के, सूरसागर के कर्त्ता सूरदास कृष्ण-सखा उद्धव के, मीराबाई राधा की और स्वामी हरिदास ललिता सखी के अवतार माने जाने लगे थे। इन चेतन भक्तों को अवतार तो माना जाता ही था, जड़ मुरली का भी अवतार लेना प्रसिद्ध हो गया था। स्वामी हितहरिवंश भगवान की वंशी के अवतार माने जाते थे। 'वैश्वानरसंहिता' ने "रामानन्दः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले" लिखकर स्वामी रामानन्द को राम का अवतार माना है। इतना ही नहीं, स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध द्वादश शिष्यों को भी अवतार माना गया है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार अनन्तानन्द ब्रह्मा के, सुखानन्द शंकर के, सुरसुरानन्द नारद के, नरहर्यानन्द सनतकुमार के, पीपा मनु के, कबीर प्रह्लाद के, भावानन्द जनक के, सेन-नाई भीष्मपितामह के, धन्ना जाट राजा बलि के, रैदास यमराज के, गालवानन्द शुकदेव के और योगानन्द कपिल मुनि के अवतार माने गये हैं।[1]

---

१. रा० हि० र०, पृ० ४६

जिस काल में देव-भावना का इतना प्राबल्य हो, संप्रदाय के प्रवर्तकों द्वारा रचित ग्रन्थों तक की पूजा आरम्भ हो गई हो, उस काल में देव-भावना का सर्वप्रमुख विशेषता के रूप में आना स्वाभाविक ही है।

अध्ययन की पद्धति

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का विषय मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में चित्रित भारतीय देव-भावना के स्वरूप को स्पष्ट करना है। इसके स्वरूप और महत्त्व को भली-भाँति हृदयंगम करने के लिए भारतीय देव-भावना के उद्भव और विभिन्न कालों में उसके विकास को ठीक-ठीक रूप से समझ लेना अनिवार्य है। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में हमें जिस देव-भावना के दर्शन होते हैं वह अपने से पूर्ववर्ती युगों की देन है अतः हमने उसको उदय-काल से पौराणिक काल तक के उसके विकास को शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

भारतीय शब्द को भी थोड़ा-सा स्पष्ट कर देना संभवतः अनावश्यक न होगा। जन-साधारण की दृष्टि में प्रायः भारतीय शब्द से भाव उस अर्थ से होता है जो कि वेदों में वर्णित है, पर ऐसा समझना भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय शब्द से भाव आर्य और आर्येतर, दोनों के मिश्रित रूप से है। आज की संस्कृति और देव-भावना अपने विशुद्ध रूप में न वैदिक है और न एकदम अवैदिक। दीर्घ काल तक विभिन्न जातियों के मिश्रण से जो सम्मिलित रूप हमें दीख पड़ता है उसी का नाम भारतीय है और हमने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। आदान-प्रदान जन-जीवन का आधार है। विचारों के जगत् में यह प्रकिया अतिप्राचीन काल से चली आ रही है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया में भारतीय देव-भावना भी प्रभावित हुई है। अतः उचित स्थानों पर हमने इस पर पड़ने वाले प्रभावों की भी चर्चा की है।

या तो वैदिक काल में देव-भावना के विकास के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर वेद-मंत्रों को उद्धृत किया गया है या उनकी ओर संकेत किया गया है अतः यहाँ उन मंत्रों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना उपयुक्त होगा। इन मंत्रों के अर्थों के सम्बन्ध में विद्वानों के दृष्टिकोण में विभिन्नता है। आजकल वेद-व्याख्या के चार प्रमुख प्रकार प्रचलित हैं—

(१) **सायणाचार्य की व्याख्या**—आचार्य सायण का काल १३ वीं शती है। इनकी व्याख्या के प्रकार में निरुक्त का ही नहीं, समस्त वैदिक वाङ्मय का उपयोग किया गया है। इसके साथ ही इन्होंने परम्पराप्राप्त अर्थों को भी मान्यता प्रदान की है। विदेशी विद्वानों को इनकी व्याख्या के विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उन्होंने सभी स्थानों पर एक शब्द का एक ही अर्थ स्वीकृत नहीं किया है—उसी शब्द का एक स्थान पर एक अर्थ है तो दूसरे स्थान पर दूसरा। इसका उत्तर यह है कि

वैदिक वाङ्मय के पूर्ण पंडित होने के कारण आचार्य सायण, प्रकरण और संगति का भी पूरा ध्यान रखते थे। अर्थ-विभिन्नता का कारण यही है।

(२) **स्वामी दयानन्द**—इन्होंने निरुक्त को आधार माना है और शब्द के यौगिक अर्थ पर बल दिया है। इनका स्पष्ट मत है कि वेद अनादि हैं, अपौरुषेय हैं और उनमें किसी प्रकार का इतिहास नहीं है। वेदों में रूढ़ और योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग नहीं। अतः इनके मत में परम्परागत अर्थ का भी कोई महत्त्व नहीं। इन्होंने इन्द्र, अग्नि और विष्णु आदि के अर्थ ईश्वरपरक किये हैं। स्वामी दयानन्द की व्याख्या को ही शुद्ध एवं प्रामाणिक मानकर चलने वाले श्री रघुनन्दन शर्मा ने 'वैदिक सम्पत्ति' नामक अपनी पुस्तक के—"वेदों में इतिहास का भ्रम"—नामक प्रकरण में पृष्ठ ५५ से ५७ तक सविस्तार विचार किया है और कहा है कि इन्द्र, वृत्र, त्रिशंकु, विश्वामित्र, पुरूरवा ऊर्वशी, नहुष, ययाति, शुक्र, देवयानी आदि आकाशीय पदार्थ हैं। स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में इस विषय पर विस्तृत विवेचना की है।

(३) **योगी अरविन्द**—आध्यात्मिक दृष्टि से ये वेदों में अध्यात्मवाद का सन्देश पाते हैं। इनकी दृष्टि में वेद दार्शनिक ग्रन्थ हैं; न तो वे इतिहास हैं और न कर्म-काण्डपरक ग्रन्थ।

(४) **आधुनिक भाषा-विज्ञान के आधार पर**—इसमें किसी भी शब्द के विभिन्न अर्थों की तुलना की जाती है और यदि संभव हुआ तो भारत-यूरोपीय भाषा के अन्य वर्गों में उस शब्द की सत्ता किसी भी रूप में खोजी जाती है। तदनन्तर सम्भाव्य अर्थ-परिवर्तन की पूर्ण परीक्षा करके किसी शब्द का तात्कालिक अर्थ निकाला जाता है।

हमने इन चारों में से आचार्य सायण की व्याख्या को ही आधार माना है। उसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा में अधिक व्यक्तियों द्वारा यही अर्थ स्वीकृत किया गया है और इसी प्रकार को लेकर विभिन्न देवताओं की उपासना शुरू हुई है। स्वामी दयानन्द और योगी अरविन्द की शब्दों की यौगिक व्याख्या मान लेने पर तो वेदों में देव-भावना के विकास के लिए गुंजाइश ही नहीं रह जाती। संभवतः स्वामी दयानन्द की सब शब्दों को यौगिक मानने की पद्धति ठीक हो, कम-से-कम हम उसे अशुद्ध नहीं कहते, पर वह परम्परा-प्राप्त अर्थ के विरुद्ध है। वेदों की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण-ग्रंथों और सूत्र-ग्रंथों में इन्द्र और विष्णु आदि को ईश्वर का विशेषण ही न मानकर पृथक् देवों के रूप में स्वीकृत किया गया है और उसी रूप में उनकी स्तुति भी की गई है। पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का जो भी वर्णन है उसका किसी-न-किसी रूप में आधार वेद ही है, ऐसा साधारण जन का विश्वास है और इन मत-विशेषों के मानने वालों की धारणा भी ऐसी ही है। उन मन्त्रों के अनेक अर्थ हो सकते हैं पर उन अनेक अर्थों में से एक अर्थ वह भी है जिसे मानकर इन देवों का

पृथक्-पृथक् विकास हुआ है। प्रस्तुत विषय के शोध के लिए सायणाचार्य की व्याख्या को मानकर चलने के सिवाय हमारे सामने अन्य कोई मार्ग नहीं। दूसरे शब्दों में, हमारा दृष्टिकोण एकदम यथार्थवादी है; वह 'क्या होना चाहिए' न होकर 'क्या है, यही रहा है।

परवर्ती अध्यायों में हिन्दी साहित्य के आदि-काल की चर्चा अनेक बार होगी अतः इसके सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा आदि ने हिन्दी के आदिकाल का आरम्भ संवत् १०५० वि० से माना है। पर खुमान रासो, बीसलदेव रासो और आल्हा आदि जिन रचनाओं के आधार पर इस काल का आरम्भ माना गया था वे सभी अब परवर्ती रचानाएँ सिद्ध हो चुकी हैं।[१] महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी-साहित्य का आरम्भ वि० सं० ७०० से मानते हैं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी अपभ्रंश को हिन्दी मानते हुए आदि-काल का आरम्भ लगभग यहीं से मानते हैं। आचार्य शुक्ल भी अपभ्रंश को हिन्दी से पृथक् नहीं मानते हैं। अतः हमने आदिकाल का आरम्भ राहुलजी के मतानुसार वि० सं० ७०० से माना है और आदि-काल में देव-भावना के विकास की चर्चा करते हुए अपभ्रंश-रचनाओं से उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। पृथ्वीराज रासो यद्यपि अपने वर्तमान रूप में संदिग्ध रचना है, उसमें बहुत सा अंश प्रक्षिप्त है पर फिर भी कुल मिलाकर वह जाली ग्रन्थ नहीं है। हिन्दी-साहित्य के अधिकांश विद्वान् इसे आदिकाल की ही रचना मानते हैं।[२] यही कारण है कि समस्त रासो-ग्रन्थों में से हमने केवल इसी की देव-भावना की चर्चा की है। वैसे यदि अन्य रासो-ग्रन्थों की देव-भावना की चर्चा की जाती तो भी देव-भावना के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। उन रासो-ग्रन्थों की देव-भावना और पृथ्वीराजरासो की देव-भावना में कोई मौलिक अन्तर नहीं, उसका रूप प्रायः एक-सा ही है।

देवों का चुनाव

देव-भावना अपने-आप में बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत विषय है। सृष्टि के उषः-काल से अब तक देवों और देवियों की संख्या प्रचुर रही है। वैदिक काल में कितने ही स्थलों पर यह संख्या ३३३९ तक पहुँच गई है। वैसे भी वहाँ तैंतीस देवताओं की संख्या तो अधिकांश विद्वानों द्वारा स्वीकृत है ही। ब्राह्मण काल में कुछ नये देवता आ गये हैं। पौराणिक काल में इस संख्या में और वृद्धि हुई है। देवों की चर्चा आते ही इन शतशः देवों का ध्यान हमें आता है, पर इस प्रबन्ध के सीमित आकार में इन सभी देवों के स्वरूप को स्पष्ट करना हमारे लिए संभव नहीं। वैसे भी इनके स्वरूप को चित्रित करते समय हमारी दृष्टि सतत रूप में मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

---

१. हि० सा० आ० का०, पृ० ११०

२. वही, पृ० ५०

की ओर रही है। अतएव हमने उन्हीं देवों को चुना है जो या तो वैदिक काल से हिन्दी के मध्यकाल तक किसी-न-किसी रूप में पूजित होते रहे हैं या जिन्होंने बीच में उदित होकर अपनी गरिमा और महिमा से जन-मानस को आच्छादित कर लिया है। इन्द्र, अग्नि, विष्णु, रुद्र या शिव, शक्ति सर्वाधिक प्रभावशाली देवता रहे हैं। इनमें इन्द्र, अग्नि, रुद्र और विष्णु वैदिक देवता हैं, शक्ति का आगमन बाद में हुआ है। मध्यकाल में अग्नि का महत्त्व धीरे-धीरे कम हो गया। जिन देवों को लेकर विभिन्न मत-मतान्तरों की स्थापना हुई उनमें विष्णु, शिव और शक्ति हैं। मध्यकाल में वैष्णव, शैव और शाक्त, ये ही तीन मत प्रमुख रहे हैं। राम, कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता सिद्धान्त-रूप से प्राय: सभी कवियों और आचार्यों को मान्य रही है, अत: राम और कृष्ण के उपासकों का अन्तर्भाव वैष्णव मत में आसानी से हो सकता है। सूर्योपासना यद्यपि वैष्णवों में प्रचलित रही है और उसे लेकर थोड़ी-बहुत कविताएँ भी लिखी गईं तथापि साहित्य पर उसका प्रभाव उतना व्यापक नहीं। ग्रन्थारम्भ में गणेश की पूजा भी होती थी पर केवल विघ्न-नाश के लिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर मध्यकाल में विष्णु (उनके राम और कृष्ण रूप) शिव और शक्ति, इन तीन देवों की ही प्रधानता है। इनमें भी राम-भक्ति शाखा में सीता और कृष्ण-भक्ति शाखा में राधा को आदि शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे शक्ति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन एकदम बन्द तो नहीं हो गया पर उसकी रचना अत्यल्प मात्रा में हुई है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य में हमने प्रमुख रूप से विष्णु, शिव, राधा और सीता को ही चुना है। इन्द्र, गणेश, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि की भी थोड़ी-बहुत चर्चा कर दी है जिससे इस विस्तृत देव-भावना का थोड़ा सा स्पष्ट रूप सामने आ जाये।

द्वितीय अध्याय

देव-भावना का सामान्य स्वरूप

'देव' शब्द की व्युत्पत्ति और विकास

मूल रूप में 'दिव्' या 'द्यौ' शब्द भारोपीय है और इन सभी भाषाओं में देव शब्द की उत्पत्ति चमकने वाले और कान्तिमान् पदार्थ से ही मानी गई है। संस्कृत में यह शब्द देव है, ग्रीक में द्यूस, लिथुआनियन में डीवस, जर्मनी में ज्यू, आयरिश डिया और कैल्टिक में देवोस। रोम में जो यह ज्यूपिटर कहलाता है वह ज्यू (Ju) और पिटर (Pater) मिलाकर बनता है, ज्यू का अर्थ है द्यौ और पिटर का पितर (द्यौष्पितर—संस्कृत) इसमें भी द्यौ ही मूल है। इस प्रकार इस निर्भ्रान्त व्युत्पत्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यों ने अपनी देवता-सम्बन्धी धारणा प्रकाशमान् आकाश से प्राप्त की थी। द्यौ शब्द भी या तो दिव् धातु से बना है या द्यु धातु से। दोनों में से किसी से भी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय, अर्थ चमकना ही रहेगा। भारोपीय भाषाओं में प्रागैतिहासिक काल में देव शब्द से उन्हीं शक्तियों का बोध होता था जो प्रकाशमान् थीं। धीरे-धीरे अन्य शक्तिमान् पदार्थों के उपास्य बन जाने पर देव शब्द से उनका भी ग्रहण होने लगा और उन सबमें देवताओं के गुणों का आरोप किया जाने लगा। 'अवेस्ता' में देव शब्द भारतीय राक्षस या दुष्टात्मा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने के विद्वानों ने तीन कारण दिये हैं—

(१) ईरानी भाषा में दिव् धातु ही समाप्त हो गई और देव शब्द किसी भी अर्थ का द्योतक बन गया।

(२) राक्षस भाव को व्यक्त करने वाले किसी अन्य शब्द का अभाव।

(३) जरथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति। मुसलमानी साहित्य में इसी के अनुकरण पर देव का अर्थ दानव लिया गया।

आचार्य पाणिनि के अनुसार द्यु धातु के क्रीड़ा, विजगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति आदि अनेक अर्थ हैं और इन सभी अर्थों में देव शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है। पर न तो पाणिनि से पूर्व वेदों में और न पाणिनि के परवर्ती साहित्य में इन सभी अर्थों में देव शब्द को स्वीकृत किया गया

है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने[1] "देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा"—कहकर उसके सर्वाधिक प्रचलित अर्थों के प्रयोग की ओर संकेत किया है। कुछ मनीषियों ने "विद्वांसो वै देवा:"—कहकर सभी विद्वानों को—मानवों को भी—देवों की श्रेणी में रखने का प्रयास अवश्य किया, पर यह अर्थ सबको ग्राह्य नहीं हो सका।

'देव' की एक विज्ञानपरक व्याख्या भी है। इसके अनुसार प्राणों का ही नाम देव है। महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के शब्दों में मुख्य देव प्राण रूप हैं जिसमें शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड का प्रमाण है। वे प्राण जिन प्राणियों में प्रधान रूप से रहते हैं वे सूर्य-मण्डल और उसके समीपवर्ती लोकों के प्राणी भी देव कहलाते हैं। देव-प्राणों की जिनमें विशेषता है वे तारा-मण्डल भी देव और उनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण आदि शब्दों से कहे आते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि देव शब्द से इस पृथ्वी के निवासियों का भी ग्रहण होता था। स्वर्ग, भूमि और पाताल आदि की कल्पना भी इसी लोक पर हुई थी। इनके अतिरिक्त पूर्व युगों में, जब हमारी पृथ्वी में ही त्रिलोकी की कल्पना हुई थी, पृथ्वी पर ही स्वर्ग, भूमि और पाताल आदि के प्रदेश बनाये गये थे। शर्पण पर्वत के उत्तर के सुमेरु तक का प्रदेश 'स्वर्ग' माना जाता था और उस प्रदेश के निवासी प्राणी देव शब्द और उसके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि आदि नामों से अभिहित होते थे। इनके विरोधी असुर, राक्षसादि शब्दों से कहे जाते थे। इनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों में है और भारतीय राजा दुष्यन्त, दशरथ, अर्जुन आदि स्वर्ग-लोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने या जिनके पास अध्ययन किया और जिनसे सत्कार पाया, वे देव इसी उत्तराखण्ड के निवासी हैं।[3]

कारण चाहे जो भी रहे हों, यह निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों, गृह्यसूत्रों और उपनिषदों में देवों का उल्लेख पृथक् जाति के रूप में किया गया है। यद्यपि श्वेताश्वतर उपनिषद् (३।१) में आये हुए इस मन्त्र में—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै र्धावाभूमीं जनयन् देव एक:॥

देव का अर्थ परब्रह्म ही माना है पर अधिकतर उपनिषदों में अधिकांश स्थलों पर देव का उल्लेख मनुष्य से भिन्न जाति के रूप में ही किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में देवताओं और मनुष्यों का अलग-अलग उल्लेख करते हुए कहा गया है कि देवताओं को आज्य प्रिय है और मानवों को घृत। इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि देवता यज्ञ द्वारा स्वर्ग-लोक में पहुँच गये और उन्हें भय हुआ कि कहीं

---

१. साइलेन्ट पास्ट, पृ० १४१
२. वै० वि० भा० सं०, पृ० १६३
३. वही, पृ० १६३-१६४

मनुष्य और ऋषि भी इसी यज्ञ के द्वारा ऊपर न पहुँच जायें।[१] एक अन्य स्थान पर, "तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि" कहकर देव, साध्य, मनुष्य और पशु, इन चार कोटियों को एक-दूसरे से पृथक् प्रदर्शित किया गया है। बृहदारण्यक में "त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः" कहकर देव, मनुष्य और असुर, तीनों की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है।[२] उपनिषत्काल तक आते-आते देव शब्द का अर्थ बहुत-कुछ वही हो गया है जैसा कि हम आजकल समझते हैं।[३] महाभारत में स्वर्ग की चर्चा के अवसर पर कहा गया है कि वहाँ देवता यानों के द्वारा विचरण करते हैं। यहाँ देवों के साथ गन्धर्वों और अप्सराओं का ही उल्लेख है, मानव का नहीं।[४]

देव शब्द का यही अर्थ पुराणों में स्वीकृत हुआ है। वहाँ देव शब्द से उन व्यक्तियों का अभिप्राय है जिनमें अतिमानवीय (Super-human) और अतिप्राकृतिक (Supernatural) शक्तियाँ हैं, जिनका स्थान द्युलोक है और जो स्वेच्छापूर्वक आकाश में यानों पर विचरण करते हैं तथा जिन्हें जरा और मरण की बाधा कष्ट नहीं पहुँचाती। अमरकोश में उन्हें 'अजर'-'अमर' कहकर यही भाव व्यक्त किया गया है।

डा० सम्पूर्णानन्दजी का भी कथन यही है। उनके अनुसार यह स्पष्ट है कि वेद में देव शब्द और चाहे जिन अर्थों में आया हो, परन्तु उसमें किन्हीं विशेष प्रकार की अभिव्यक्तियों को ही अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यों से भिन्न हैं। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दों का व्यवहार भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो परन्तु वह केवल यौगिक नहीं है। उनके द्वारा किन्हीं ऐसे व्यक्ति-विशेषों की ओर संकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।[५]

ये देव बाइबिल और कुरान के फरिश्ता या एंजिल नहीं हैं, उनसे भिन्न हैं। डा० सम्पूर्णानन्द के ही शब्दों में यह अन्तर इस प्रकार है—

"देव शब्द को बाइबिल या कुरान के फरिश्ता या एंजिल शब्द के समानार्थक नहीं माना जा सकता। इस्लाम या यहूदी धर्मों के अनुसार फरिश्तों की सृष्टि ईश्वर ने विशेष कार्यों के लिए की थी। परन्तु देवगण वस्तुतः और जीवों से भिन्न नहीं हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊँचे पद पर पहुँचाया है। वह पद नित्य नहीं है। देवत्व मोक्ष से नीचा है। देवत्व का अन्त होने पर कुछ देवगण, जिन्होंने अपने देवत्व काल में विशेष साधना की है, मुक्त हो जायेंगे। शेष को फिर

---

१. ऐतरेय—अध्याय ६ (खण्ड १)
२. बृहदारण्यक अध्याय ५, ब्रा० २
३. मुण्डकोपनिषत्, २।१।६
४. म० भा०, वनपर्व, अ० २६१, पृ० १६८०
५. हि० दे० वि०, पृ० २७

जन्म लेना होगा। ऐसी ही देवों को आजानदेव या साध्यदेव कहते हैं। कुछ काल के लिए सत्कर्म के बल पर दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनको कर्मदेव कहते हैं। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है। वह अपने तप के बल से जिन शक्तियों का उपार्जन कर चुके हैं उनसे इतर जीवों को लाभ पहुँचा सकते हैं। मुख्यतया यही लोग आर्यों के उपास्य थे और उन्हीं की सूची में काल पाकर परिवर्तन हुए।[1]

साधारण से शब्दों में देव शब्द से अर्थ उन सत्ताओं का लिया जाता है जो अतिमानवीय हैं, मंगलमयी हैं, मानव द्वारा उपास्य हैं, और जन्म-मरण के बन्धन से परे हैं। यही कारण है कि भूत-प्रेत आदि प्राणी अतिमानवीय शक्ति से पूर्ण और बहुत-से व्यक्तियों द्वारा उपास्य होते हुए भी देव नहीं कहलाते। इनसे मानवों को लाभ नहीं होता, हानि ही होती है। इन्हें दुरात्मा या अपदेव कहा जा सकता है। हमारे मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में इन्हें कहीं उपास्य कोटि में रखा भी नहीं गया। पितर भी देवताओं से भिन्न हैं। ये मंगलमय तो होते हैं पर देवलोक में स्थायी रूप से नहीं रहते। अपने कर्मों के अनुसार इनका पुनर्जन्म होता है अतः इन्हें हम अर्द्धदेव कह सकते हैं।

देव शब्द के साथ-साथ देवी शब्द का भी प्रयोग होता है अतः इसके अर्थ पर भी भली भाँति विचार कर लेना आवश्यक है। देवी शब्द का प्रयोग भी उसी अर्थ में होता है जिसमें देव शब्द का। भक्ति-साहित्य में देवी स्वतन्त्र शक्ति के रूप में गृहीत हुई है। वह नित्य है और समस्त संसार उसी से प्रकट होता है—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।

वह जन्म-मरण से परे है। देवताओं के कार्य के लिए उसका आविर्भाव या प्राकट्य होता है और कार्य सिद्ध हो जाने पर तिरोभाव या अन्तर्धान हो जाता है। कितने ही स्थलों पर उसे विश्वेश्वरी, जगद्धात्री और स्थिति-संहार-कारिणी कहा गया है।

देवों की अमरता—आज हम देवों को अजन्मा और अमर मानते हैं। उत्तर-कालीन वेदों और समस्त परवर्ती संस्कृत-साहित्य में उन्हें अमर माना गया है तथापि आरम्भ में उनकी ऐसी ही स्थिति नहीं थी। कहीं-कहीं उन्हें मूलतः मरणशील माना गया है।[2] ऋग्वेद में ऐसे भी मंत्र हैं जिनमें कहा गया कि देवों ने अमरत्व अर्जित किया था।[3] यह भी कहा गया है कि देवताओं ने ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की।

---

१. हि० दे० वि०, पृ० ३२

२. विद्वांसः यदा गुह्या निकर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः। अथर्व० ११।५।१६, ४।११।६।

३. ऋक्, १०।५३।१०

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥[1]

एक मंत्र में इस बात की चर्चा है कि इन्द्र ने तप द्वारा स्वर्ग लोक जीता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भी देवों ने इसी विधि से अमरत्व प्राप्त किया था।[2] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस समय देवता उत्पन्न हुए, उनकी आयु १००० वर्ष की थी।[3] पुराणों में जो यह उल्लेख आता है कि जो राजा सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता था वही इन्द्र पद का अधिकारी हो जाता था, यह भी इसी बात का संकेत करता है कि देवत्व और देवाधिराजत्व श्रम से अर्जित पद था। नहुष ने यह पद प्राप्त भी कर लिया था, अपनी गलती से उसे उसने खो दिया यह और बात है।

ऋग्वेद में यह भी कहा है कि मनुष्य भी अमर हो सकते हैं— "मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।"[4] आगे चलकर कहा है कि अमर होने वाले वे सज्जन ऋभु थे, सुधन्वा उनके पिता का नाम था और ये इस शरीर के रहते हुए ही अमर हो गये थे— सोधन्वेभिः सह मत्स्व नृभिः।[5] इसी तरह के एक और मानव हैं, इनका नाम त्रसदस्यु है, जो अर्द्ध देव हैं और इन्हें विधिवत् बलि का अधिकारी माना गया है—

अस्माकमत्र पितरस्य वा सन्तसप्त ऋषयो दौर्महे बध्यमाने ।
न आयजन्त त्रसदस्युमस्यां इन्द्रं न वृत्रतुरमर्द्धो देवम् ॥[6]

इन चर्चाओं से भी यही ध्वनित होता है कि देवत्व आरम्भ में अर्जित ही था।

देवों का स्वभाव

सभी देवता शक्तिशाली, समर्थ, दाता और उदार हैं। स्थान-स्थान पर यजमान उनकी शक्ति की स्तुति करते हैं, उन्हें दाता और उदार समझ कर उनसे विविध द्रव्यों की माँग करते हैं। स्तोता की प्रार्थना पर वे उसके कष्टों को दूर करते हैं। ये सभी दयालु हैं और दूसरों के प्रति उपकारी हैं। केवल रुद्र इस नियम के अपवाद हैं। इनका कोप अवश्य भयंकर है और उससे बचने के लिए बहुत स्थलों पर प्रार्थना की गई है। वरुण धृतव्रत होने के कारण नियम-विरुद्ध कार्य करने वालों को दण्डित करते हैं; कभी वे उन्हें जलोदर से पीड़ित करते हैं तो कभी पाशों से बाँध देते हैं। पर यह सब कुछ नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया जाता है, किसी बुरे उद्देश्य से नहीं।

---

१. अथर्व ११।५।१९
२. तैत्तरीय ब्रा० ३।१२।३
३. शत० ब्रा० ११।१।२।१२, ११।२।३।६, ११।१।६।१४
४. ऋक्० १।११०।४
५. ऋक्० ३।६०।५
६. ऋक्० ४।८२।८

श्री ए० सी० बोक्रेट ने ओलम्पिक देवो के प्रकरण मे स्थेनियन्स का एक गीत उद्धृत किया है जिसमे कहा है कि "देवता या तो बहुत-बहुत दूर है, या सुनते नही, या वे है ही नही और या फिर उन्हे हमारी परवाह नही"—

Either they are far away or have no ears, or else do not exist or care not a bit about us [1]

या तो वे बहुत दूर है, या उनके कान नही है, या वे है ही नही, या वे हमारा थोडा सा भी ध्यान नही रखते ।

उनका यह गीत उनके लिए सत्य हो तो हो पर प्राचीन वैदिक देवो के विषय मे सत्य नही । वे सदैव बुराई के नाश और भलाई की स्थापना मे सलग्न रहते है । विष्णु का चक्र तो दुष्टो के दमन और सज्जनो की रक्षा के लिए मानो सदा आतुर ही रहता है । अन्य पौराणिककालीन देवता भी सत्-पक्ष के लिए सब-कुछ करने को तैयार रहते है । वे जगत् के प्रति उदासीन नही, न वे अन्धे है, न बहरे और न स्वार्थी । जिस प्रकार मनुष्य परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते है उसी प्रकार देवता भी । जिस प्रकार पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहिन के सम्बन्ध मे बँधा समाज एक दूसरे की सहायता करता है उसी तरह ये देवता भी एक दूसरे की सहायता करते है । वरुण सूर्य का मार्ग तैयार करता है, सूर्य मानवो के पापो के सम्बन्ध मे मित्र और वरुण को सूचना देता है, अग्नि इन्द्र की सहायता करता है और इन्द्र अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करता है । वृत्र के ऊपर विजय प्राप्त करके इन्द्र सभी देवो की सेवा करता है, अग्नि भी सन्देश-वाहक के रूप मे सभी देवो की सेवा करता है । मरुत् सैनिक रूप मे इन्द्र की सहायता करते है, त्वष्टा इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है और बृहस्पति के कुल्हाडे को तेज करता है, सोम इन्द्र को उत्तेजना प्रदान करता है, विष्णु वृत्र से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता करता है । ये देवता एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहते है ।[2]

वास्तविकता तो यह है कि भारत के देव छोटे-से-छोटे कामो मे मानवो का हाथ बँटाते है । श्री कीथ का कहना है कि यह सत्य है कि बहुत से देवताओ का आह्वान मामूली-से-मामूली अवसरो पर भी किया गया है । डतूलपरिमेह मे इन्द्र की सहायता इसलिए माँगी गई है कि कही नौकर न भाग जाय या उसके साथ स्वामित्व का सम्बन्ध न टूट जाये । स्पष्ट है कि देवता अपने भक्तो से इतने मिले-जुले थे कि वे तुच्छातितुच्छ कामो मे भी उनकी सहायता से हाथ नही सिकोडते थे ।[3] यदि रामचरितमानस जैसे ग्रन्थ मे इन्हे (देवो को) स्वार्थी और काम के चेरे कहा गया है तो

---

१ मैन एण्ड डीटि०, पृ० ३१२

२ रिलि० ऋग०, पृ० १०६

३ एपिक मायथोलोजी, पृ० ५७

इसे इस व्यापक मात्रा में फैले हुए बौद्ध धर्म का प्रच्छन्न प्रभाव ही कहा जा सकता है जो देवों की सत्ता स्वीकार नहीं करता।

इन देवताओं का प्रिय पेय सोम है और बलि रूप से दिये गये दूध और अन्न आदि को भी ये ग्रहण करते हैं।

देवताओं के चिह्न

(१) ये अमर्त्य हैं, मानव मर्त्य हैं, (२) वे पैरों से धरती का स्पर्श नहीं करते, मानव करते हैं, (३) वे देवरूप हैं उनका सौन्दर्य अलौकिक है, (४) उन्हें पसीना नहीं आता, (५) उनके अंगों पर धूल नहीं लगती, (६) वे पलकें नहीं झपकाते, (७) उनकी परछाईं नहीं होती।

ये सामान्य नियम है। कभी-कभी इनके अपवाद भी दीख जाते हैं। राम को देवों और राक्षसों की परछाईं दीख पड़ी थी—

छाया च विपुला दृष्टा देवगन्धर्वरक्षसाम्।

देव-यान और पितृ-यान

देवताओं की चर्चा आते ही देव-यान की भी चर्चा आ जाती है अतः इस पर भी थोड़ा-बहुत विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। वैदिक विचारधारा में इसका अर्थ देवताओं के उस मार्ग या उन मार्गों से है जिनसे देवता स्वर्ग और पृथ्वी के बीच आते-जाते हैं। देवयान का एक अर्थ देव की सवारी भी है, पर इस अर्थ में उसका प्रयोग बहुत थोड़ा हुआ है। देवयान से मिलता-जुलता एक और शब्द है—पितृयान, पितरों के आने-जाने का मार्ग। यह शब्द परवर्ती है और देवयान के वज़न पर (अनुकरण पर) बनाया गया है। यह देवयान की अपेक्षा छोटा है।[१] देवयान और पितृयान इन दोनों शब्दों का उल्लेख इस मन्त्र में मिलता है—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।[२]

अर्थात्—हमने मनुष्यों के दो मार्ग ज्ञात किये हैं, एक देवों का और दूसरा पितरों का। एक अन्य मंत्र में भी देवयान और पितृयान को एक दूसरे से पृथक् बताते हुए पितरों को उस मार्ग से जाने के लिए कहा गया है कि जो देवयान से पृथक् है—

परं मृत्यो अनुपरेहि मन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्।[३]

देव-लोक की स्थिति पर तो हम अन्यत्र विस्तार से विचार करेंगे, यहाँ पितृ-यान और पितृ-लोक के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा सा कहना हमारा अभीष्ट है।

पितरों के दो भेद माने गये हैं—दिव्य पितर, और (२) प्रेत पितर। जो

---

१. इन० रि० एथि०, भाग ४, थ पृ० ६७७

२. ऋक्, १०।८८।१५

३. वही, १०।१८।१

चन्द्र-मण्डल या उसके आसपास के लोकों में सृष्टि के आदिकाल से रहते हैं वे दिव्य पितर कहे जाते हैं और जो पितर मनुष्यलोक से मरकर उन लोकों में पहुंचते हैं उन्हें प्रेत पितर नाम से संबोधित किया जाता है। वे वहाँ स्थायी रूप से नहीं रहते, आवा-गमन के चक्र में फँसे रहते हैं। वेदों में ऐसे बहुत से मंत्र हैं जिनमें कहा गया है कि—"हे पितरो ! जिस मार्ग से पिता और पितामह (पूर्व पितर:) गये हैं, उसी मार्ग से तुम भी जाओ"—

प्रेहि-प्रेहि पथिभि: पूर्व्येभिर्यत्रान: पूर्वे पितर: परेयु:।[1]

पितृलोक की स्थिति

पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पंच प्राणों, मन और बुद्धि के सम्मिलन से ही यह जीवन-यात्रा चलती है। इस शरीर में से चेतना-शक्ति के निकल जाने पर भौतिक शरीर शवरूप में या तो जला दिया जाता है या दफना दिया जाता है या कृमियों, कीटों और पक्षियों का भोजन बन जाता है। ऊपर गिनाये गये इन १७ तत्त्वों में मन प्रधान है और वह चन्द्रमा का अंश है अत: सजातीय आकर्षण के वैज्ञा-निक सिद्धान्त के अनुसार यह मन सूक्ष्म शरीर के साथ चन्द्रलोक में चला जाता है। यह चन्द्रलोक ही पितृ-लोक है और चन्द्रमा में ही पितृलोक की स्थिति है। महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा के शब्दों में—मुख्य पितृलोक चन्द्रलोक है किन्तु उसके आस-पास के प्रदेश भी पितृ-लोक कहे जाते हैं। जैसे शुक्ल-मार्ग में तारतम्य बताया गया है कि जिनके कर्म जितने प्रबल हों, उनकी उतनी ही उच्च गति होती है। इसी प्रकार इस मार्ग में भी तारतम्य है कि जितने उच्च कर्म हों उतनी ही उच्च गति मिलती है। सामान्य कर्मों वाले पूर्ण उच्चता नहीं पा सकते, चन्द्र-मण्डल के इर्द-गिर्द ही रह जाते है, इसलिए इर्द-गिर्द के लोक भी पितृ-लोक कहलाते हैं। जिनके पुण्य की अपेक्षा पापकर्म अधिक हैं वे तो पितृलोकों को भी प्राप्त नहीं कर पाते, दक्षिणायन मार्गों से ही शनिग्रह के मण्डल की ओर झुक जाते हैं। शनिमंडल के आस-पास के लोक नरक कहलाते हैं। उसी मार्ग में वैतरणी नदी भी है। वहाँ जाकर पापियों को अपने पापों का फल भोगना पड़ता है।[2]

असुर, राक्षस आदि

समस्त वेदोत्तर साहित्य और हिन्दी-साहित्य में असुर, राक्षस आदि शब्दों का प्रयोग अनेक बार हुआ है। अत: इन शब्दों पर साधारण दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। असुर शब्द ऋग्वेद में प्राणवान् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और वहाँ यह सर्वाधिक शक्तिशाली वरुण देवता का विशेषण है। निषेधार्थक अ-उपसर्ग लगकर

१. अथर्व, १८।१
२. वै० वि० भा० सं०, पृ० १४६

सुरों के विरोध में असुर कालान्तर की देन है, इसके ऐसा होने की एक दीर्घ प्रक्रिया है। वैसे इसके बीज हमें ऋग्वेद में ही मिल जाते हैं। वहाँ यह शब्द (असुर) तीन बार एक असुर विशेष की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। भेड़ियों-जैसे असुर योद्धाओं का जलते हुए पत्थर से भेदन करने के लिए स्तवन किया गया है। यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने मायावी असुर पिप्रु के दुर्गों को ध्वंस किया और इन्द्र-विष्णु ने वर्चिन के १,००,००० योद्धाओं का वध किया। इन्द्र, अग्नि और सूर्य के लिए वहाँ असुरहन् उपाधि का व्यवहार किया गया है।[१] ऐसा लगता है कि इन्द्र और वृत्र की कथा ही बाद के साहित्य में देवों और असुरों की कथा बन गई। यह भी सम्भव है कि वरुण का माया द्वारा शासन करने का जो उल्लेख है वह माया जब अभिचार के अर्थ में प्रयुक्त होने लगी तो वरुण का विशेषण असुर भी बुरे अर्थों में गृहीत होने लगा हो। बाद में जब आर्यों का आर्येतर जनता से संघर्ष हुआ तब उन्हें अपने विरोधी के अर्थों में आर्यों ने दानव, राक्षस आदि सभी को समानार्थक मान लिया।

देवता इन्द्रिय-संयम में विश्वास रखते हैं तथा असुर भोग में। उपनिषदों में कथा आती है कि प्रजापति ने मानवों, असुरों और देवों को समान रूप से 'द' अक्षर का उपदेश दिया। देवताओं ने उसका अर्थ इन्द्रिय-दमन लगाया। वहीं यह भी कहा गया है कि जो दान नहीं देता, किसी में श्रद्धा नहीं रखता, यज्ञ नहीं करता, उसे आज भी असुर कहते हैं। देह को आत्मा कहना असुरोपनिषत् है। असुर लोग शरीर को सजाने से समझते हैं कि उन्होंने इहलोक और परलोक, दोनों को जीत लिया। दृष्टि-कोण की इस विभिन्नता ने भी विरोध-भावना को तीव्र किया हो तो आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार की दृष्टिकोण की अन्य विभिन्नता की ओर श्री जैम्स माउल्टन ने संकेत किया है। उनका कथन है कि प्राचीनतम वैदिक (भारत ईरानी) काल में देव तथा असुर शब्द मूलतः दो प्रकार के उपास्य तत्त्वों से सम्बद्ध थे। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के मानवीकरण से उद्भूत विभिन्न उपास्यों की श्रेणी देव शब्द से अभिव्यक्त की जाती थी और असुर शब्द का मूल अर्थ वीर अथवा साहसी था। यह शब्द मृतात्माओं अथवा पितरों की पूजा से संबद्ध था। असु शब्द प्राण का वाची है अतः प्रतीत होता है कि इस शब्द से व्यक्त उपास्य शक्तियों की मूल धारणा प्रेतात्माओं से अवश्य ही किसी-न-किसी रूप में संबद्ध थी। अमूर्त की पूजा कुछ कठिन थी और स्वभावतः उच्च श्रेणी के लोग वीर-पूजा के कारण असुर की पूजा करने लगे।[२]

कारण जो भी रहा हो, ऋग्वेद के प्रारम्भिक भाग के बाद से असुर शब्द देव-विरोधी अर्थ में ही आया है। रही राक्षस शब्द की बात, देव-विरोधी के रूप में उसका प्रयोग वेदों में ५० से भी अधिक बार ही हुआ है। फिर उसके विषय में असुर जैसी कोई उलझन भी नहीं है। यह भी असुर का समानार्थक ही है।

---

१. वैदिक देवशास्त्र, पृ० १४०

२. वही।

मानव के मन में देव-भावना का उदय : देव-भावना का मनोविज्ञान

हम याज्ञवल्क्य के इन शब्दों "अति प्रश्नं मा प्राक्षीः मूर्धा ते विपतिष्यति" को भले ही बार-बार दुहराते रहें पर आज का तार्किक मन हर प्रश्न की गहराई तक जाना ही चाहता है। धर्म का अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता। उसमें किसी दैवी शक्ति का मानना अनिवार्य है और इस दैवी शक्ति की अनुभूति अतीन्द्रिय है। इस विषय पर धार्मिक व्यक्तियों में भले ही मतैक्य हो पर साधारण जिज्ञासु व्यक्ति का मन इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। उसकी जिज्ञासा अमित है, वह प्रत्येक वस्तु और भाव के मूल कारणों तक पहुँचना चाहता है। गहराई में जाने और तल को हाथ लगाने की उसकी बलवती इच्छा उसे सोचने को विवश करती है। यही कारण है कि आज जो विविध देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित है उसे देखकर वह उसके मूल कारणों को जानने के लिए लालायित हो उठा है। अति प्राचीन काल से—आदि का ठीक-ठीक पता न होने से चाहे तो इसे अनादि भी कह सकते हैं—चली आती हुई यह देव-भावना कैसे शुरू हुई, इसका प्रारम्भिक रूप क्या था, आदि विषयों की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इस पर विद्वान् पुरुषों ने अनुसन्धान किया है। पाश्चात्य देशों में यह जिज्ञासा अधिक उद्दाम है और इन्होंने ही इस विषय में श्रम भी अधिक किया है। उनके द्वारा संस्थापित सिद्धांत और मत अधिक समादृत हैं अतः संक्षिप्त रूप से हम उन्हीं को आधार बनाकर इस विषय पर चर्चा करेंगे।

प्रकृति-पूजा (Worship of Nature)

इस मत के मानने वालों का कथन है कि प्राकृतिक शक्तियों को देखकर मानव के हृदय में आश्चर्य, आदर और भय की भावना का संचार होता है। आदिकाल का मानव आज के मानव के समान विकसित नहीं था। उसकी बुद्धि भी आज के मानव की बुद्धि की तुलना में एकदम अपरिपक्व थी। जैसा कि स्वाभाविक है, उसने भी अपने चारों ओर की प्रकृति को कभी विस्मय से और कभी भयाकुल नेत्रों से देखा होगा। ग्रीक भाषा में इसे ही एडोस (Aidos) कहा है, अंग्रेजी में इसे ही Awe कहा है। भाव है भय। उसने किसी शक्ति को देखकर इन शक्तियों की पृथक्ता का अनुभव किया होगा। यह भावना और अनुभव ही देव-भावना के मूल कारण हैं।

भय और रहस्य की भावना को बहुत प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि वर्षा के पीछे जो वैज्ञानिक कारण हैं उन्हें न समझने के कारण आदिकाल का मानव प्रकृति को रहस्यमयी समझ बैठा। इस रहस्य की भावना से उसने प्रकृति को पूजना आरम्भ कर दिया। उसने इन सबको अपने से अधिक शक्ति-सम्पन्न समझ कर अपने अनुकूल बनाने के लिए इनका पूजन आरम्भ कर दिया। उसने इसे रूप दिया, आकार दिया। अपने से अधिक शक्ति-सम्पन्न समझ कर उसने इन्हें अपने से बड़ा समझा। इसमें जो शक्तियाँ उसके अनु-

कूल हुईं, इष्टकारी हुईं, उन्हें उसने देव समझा और अनिष्टकारी शक्तियों को उसने विपरीत नाम दिए।

आत्मवाद (Animism)

एनिमिज्म शब्द (Animus) एनिमस से बना है। एनिमस का अर्थ आत्मा है। इस प्रकार जो मत आत्मा की सत्ता में विश्वास रखता हो वह एनिमिज्म कहलायेगा। इसकी परिभाषाएँ दो प्रकार से की गई हैं : दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक ढंग से की गई परिभाषा का भाव यह है कि इसमें शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

Animism is the doctrine which places the source of mental and even physical life in an energy independent of or at least distinct from the body.[१]

अर्थात् आत्मवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो बौद्धिक और शारीरिक स्रोत को ऐसी शक्ति में निहित मानता है जो शरीर से या तो एकदम स्वतन्त्र है या कम से कम उससे पृथक् है।

धार्मिक ढंग से जो परिभाषा दी गई है उसमें भी आत्मा की सत्ता की स्वीकृति है—

To denote the belief in the existence of Spiritual Beings, some attached to bodies of which they constitute the real personality (Souls), others without necessary connection with a determinate body (Spirits).[२]

श्री जार्ज गैलोवे ने भी इसके दो अर्थ स्वीकार किये हैं : (१) मानवेतर पदार्थों में भी उसी प्रकार जीव है कि जिस प्रकार मानव में; (२) प्रकृति के सभी तत्त्वों में आत्मा की सत्ता है। सबमें आत्मा मानने का अर्थ है कि आत्मा उन सब पदार्थों को अपने लिए प्रयुक्त करती है।[३] फ्रायड ने भी एनिमिज्म का अर्थ उस वाद से लिया है जो आत्मा और आत्मवान् प्राणियों की सत्ता को स्वीकार करता हो—

Animism is, in its narrower sense, the doctrine of Souls, and in its wider sense, the doctrine of spiritual beings in general.[४]

भाव यह है कि आत्मवाद अपने संकीर्ण अर्थ में आत्मा का सिद्धान्त है; व्यापक अर्थ में यह वह सिद्धान्त है जो ब्रह्मवाद को स्वीकार करता है।

---

१. इन० रि० ऐथि०, भाग १ पृ० ५३५
२. वही, पृ० ५३५
३. फि० रिलि०, पृ० ६०
४. टो० टे०, पृ० ७५

इन्हीं के कथनानुसार यह एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है। इसकी विशेषता यह है कि यह प्राकृतिक तत्त्वों की व्याख्या तो करता ही है, साथ ही यह सारे ब्रह्माण्ड को एक इकाई मानकर चलता है और एक ही दृष्टिकोण से सबको देखता है—

Animism is a system of thought. It does not merely give an explanation of a particular phenomenon; but allows us to grasp the whole Universe as a single unity from a single point of view.[1]

अर्थात् आत्मवाद एक विचार-पद्धति है। यह केवल कुछ विशेष पदार्थों या तत्त्वों की ही व्याख्या नहीं करता अपितु समस्त जगत्-मण्डल को एक ही दृष्टिकोण से एक ही इकाई के रूप में देखने का आग्रह भी करता है।

यह मत एक प्रकार का ऐसा मत है जिसमें विश्व के सत्य को समझने का प्रयास किया गया है। जो भी असभ्य और पिछड़े व्यक्ति हैं उनमें यह धर्म के रूप में प्रचलित है। लोक-गीतों के रूप में इसका अस्तित्व अब भी प्रचलित है। संभावना यह है कि जब से अन्तः और बाह्य तत्त्व Phenomenon के बिषय में खोज शुरू हुई तब से मानव ने इसे इन क्रियाओं में ढूंढ़ना चाहा जिनसे कि वह प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध था। ये क्रियाएँ इच्छा से संबद्ध थीं। जो पदार्थ चलते थे या चल सकते थे उनके विषय में उसने सोचा कि वे या तो किसी अदृश्य शक्ति से चलते थे या उनमें उसके समान इच्छा और व्यक्तित्व था। भाषा द्वारा इस प्रकार के प्रमाण आसानी से मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि मानव ने प्रकृति की शक्तियों को जीवन, व्यक्तित्व और लिंग दिया।[2]

आदिम काल के मानव ने विश्व के सम्बन्ध में जो कुछ उस समय सोचा था, उससे इस मत की पुष्टि हुई। उसका विश्वास था कि यह ब्रह्माण्ड तरह-तरह की आत्माओं से भरा पड़ा है, उनमें से कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ। पशुओं और जड़ समझे जाने वाले पदार्थों में भी इन आत्माओं का आवास है। उसका ऐसा सोचना अस्वाभाविक भी नहीं था। जीवन की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव सभी पदार्थों में उन गुणों का आरोप करना चाहता है जो उसमें विद्यमान हैं। श्री ह्यूम के विचार उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

There is an Universal tendency among mankind to conceive all beings like themselves, and to transfer to every object those qualities which they are familiarly acquainted and of which they are intimately conscious.[3]

अर्थात्, मानव मात्र में एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वह सभी प्राणियों

१. टो० टे०, पृ० ७७
२. इन० रि० ऐथि०, भाग १, पृ० ५३५
३. टो० टे०, पृ० ७७

को अपने जैसा समझता है। साथ ही वह सभी बाह्य पदार्थों उनमें गुणों का भी आरोप करता है जिनसे उसका घनिष्ठ परिचय है और जिनसे वह भलीभाँति अभिज्ञ है।

कुछ व्यक्तियों के अनुसार यह आत्मवाद देव-भावना के विकास में दूसरा चरण है। उसका संशोधित और परिवर्द्धित रूप है। प्रकृति के तत्त्वों की पूजा के सिद्धान्त को ये भी स्वीकार करते हैं, परन्तु इनका कथन है कि केवल भय या विस्मय के कारण प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा का सिद्धान्त ठीक नहीं। आदिकाल का मानव प्रकृति की पूजा उसके भीतर सम्भावित जीवतत्त्व (आत्मतत्त्व) के कारण करता था। अधिक स्पष्ट करने के लिए कह सकते हैं कि प्रकृति की पूजा इसलिए होती थी कि उसमें जीवतत्त्व (आत्मा) था। कम-से-कम पूजा करने वाला तो ऐसा ही समझता था। जड़ स्वयं गति-शून्य होता है। प्रकृति जड़ है, इसके तत्त्व जड़ हैं, किसी दूसरी शक्ति के बिना वे परि-चालित नहीं हो सकते। इन तत्त्वों को विश्व को चलाने वाली शक्ति का आवास मान कर ही आदिमानव इन प्राकृतिक तत्त्वों की पूजा करता था, इस मत के मुख्य प्रतिपादक श्री ई० बी० टेलर ने प्रतिपादित किया है कि देवों की उत्पत्ति प्राकृतिक आधार पर न होकर उनके भीतर रहने वाले जीवतत्त्व के आधार पर हुई।[१] डा० सम्पूर्णानन्द के मतानुसार, आरम्भ में तो प्राकृतिक दृग् विषय देव थे पर बाद में उन तत्त्वों में निहित शक्ति को ही देव माना जाने लगा। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

"परन्तु कुछ आगे चलकर एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। विचार में और सूक्ष्मता आ गयी। यह प्रतीत होने लगा कि जो भौतिक पिंड या दृग् विषय हमारे सामने आते हैं वे वास्तविक देव नहीं हैं, देव उनके भीतर व्याप्त करके स्थित हैं। विजली या आग स्वयं उपासना की वस्तु नहीं हैं। कोई शुद्ध अदृश्य शक्ति है जो इन स्थूल वस्तुओं के द्वारा काम करती है। इस प्रकार देव शब्द के अर्थ में क्रमिक विकास हुआ है।[२]

जातीय मूल आदर्श या प्रतिमा (Theory of Arch Type)

इस मत के प्रतिपादक जुंग हैं और यह मत एक प्रकार से फ्रायड के मत का परिष्कार है। फ्रायड के अनुसार चेतन मन के नीचे एक अवचेतन मन भी है। उसके अनुसार मानव के ऐसे बहुत से विचार, जो हमें तर्कसंगत नहीं लगते या समाज के विरोध के कारण जिन्हें प्रकट करने का साहस हममें नहीं होता, वहीं जमा रहते हैं। उसने इन भावनाओं को दमित भावनाओं के नाम से पुकारा है। ये दमित वासनाएँ या भावनाएँ एकदम नष्ट नहीं हो जातीं, दब भर जाती हैं और अवचेतन मन में पड़ी

१. प्रि० क०, पृ० ३३४
२. हि० दे० प० वि०, पृ० ६३

रहती हैं। स्वप्न, धोखा, पागलपन, धार्मिक उन्माद, दैवीकरण —सबका निवास-स्थल यह अवचेतन मन ही है। उसके अनुसार दैवीकरण भी दमित वासनाओं का ही ऐसा रूप है जिनपर परदा डाल दिया गया है या जिनका उदात्तीकरण कर लिया गया है। फ्रायड के इस मत को मानते हुए भी जुंग सभी प्रकार के स्वप्नों को इस अवचेतन मन की श्रेणी में रखने के पक्षपाती नहीं। उनके अनुसार कुछ ऐसे भी विचार या स्वप्न हैं जो जातिगत हैं और जिनका व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं। सहस्रों वर्षों से जो पौराणिक गाथाएँ सुनने में आती हैं उनके कारण विचित्र प्रकार की मूर्तियाँ स्वप्न में आती हैं। जुंग ने प्रमाणित किया है कि चेतन और अवचेतन, इन दोनों के बीच एक और स्तर है जिसे पारदर्शी (Transpersonal) का अव्यक्तिगत (Impersonal) कहते हैं। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, जो पौराणिक गाथाओं से सम्बन्धित हैं, अवचेतन मन के इसी स्तर से पैदा होती हैं।

मैकडूगल भी ईश्वर-निर्माण की प्रक्रिया में वैयक्तिक से अधिक सामाजिक मन का हाथ मानता है। उसके मतानुसार यों तो मनुष्य प्रायः ऐन्द्रजालिक और दैवी चमत्कार इन दो साधनों का प्रयोग करता रहा है किन्तु दैवी ईश्वर वैयक्तिक मन की अपेक्षा समष्टिगत या सामाजिक मन की निर्मिति अधिक कहा जा सकता है। उसका विकास भी समष्टिगत मन से ही होता रहा है।[१] श्री जोसेफ कैम्पबेल ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने कुछ उदाहरण इस प्रकार के दिये हैं जिनसे इस मत की पुष्टि होती है। उनके अनुसार समुद्र का एक प्रकार का कछुआ (Turtle) अपने अंडे देने के लिए समुद्र से बाहर निकलकर समुद्र के किनारे गहरा गड्ढा खोदता है, उसमें अंडे रखता है और पूरे अठारह दिन बाद वे अंडे जीव बनकर स्वतः ही समुद्र की ओर भागते हैं। मुर्गा बाज़ को देखकर भयभीत होता है पर किसी अन्य पक्षी को देखकर नहीं। कोयल कौए के घर पलकर भी कोयल के ही घर जाती है, कौए के घर नहीं। इनमें से किसी ने भी व्यक्तिगत रूप से कोई अनुभव नहीं किया। वे जो कुछ करते हैं स्वाभाविक प्रेरणावश ही करते हैं। यह प्रेरणा जातीय संस्कार है जो उन्हें उत्तराधिकार (Inherited Property) में मिले हैं। पर इतने उदाहरण देने के बाद भी कैम्पबेल इस मत को निर्भ्रान्ति मानने को तैयार नहीं। उनका कथन है कि स्वाभाविक व्यवहार और बाह्य दबाव से प्रभावित व्यवहार में अन्तर कर सकना कठिन है—

For the problem of relationship of innate to conditioned behaviour is far from resolved even for animal specis very much less complicated than our own.[२]

---

१. म० सा० अव०, पृ० ६६६

२. मास्क आव गाड, भाग १, पृ० ३५

अर्थात् स्वाभाविक और परिस्थितियों से प्रभावित व्यवहार में कैसा सम्बन्ध है, इसका ठीक-ठीक निर्णय कठिन है। पशु-जाति में भी जिसका जीवन काफी सीधा-सादा है, इसका निर्णय नहीं हो सका।

इसी विषय पर फिर विचार करते हुए आगे चलकर वह कहता है कि पशुओं के उदाहरण के आधार पर मानवों के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का यत्न खतरे से खाली नहीं। पशु प्राकृतिक ज्ञान पर ही निर्भर रहता है। पर मानव जो कुछ सीखता है वह जन्म के बाद ही सीखता है। सीधा खड़ा होना, वाणी और विचार—ये तीन तत्त्व, जो मानव को पशु से श्रेष्ठतर बनाते हैं, उसे जन्म के बाद ही मिलते हैं—

In fact, as adolf poetman of Busel has so well and frequently pointed out, precisely these three endowments of erect posture, speech and thought, which elevate man above the animal sphere, develop only after birth and consequently, in the structure of every individual, represent an indissoluble amalgam of innate biological and impressed traditional factors, we can not think of one without other.[१]

अर्थात् जैसा कि एडोल्फ ने कई बार बताया है कि सीधा खड़ा होना, वाक्-शक्ति और विचार, ये तीन धन (विशेषताएँ) ऐसे हैं जो मानव को पशु के धरातल से ऊपर उठाते हैं। इन विशेषताओं की उपलब्धि मानव को जन्म के बाद ही होती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के निर्माण में शारीरिक और प्रभावित परिस्थितियों का एक ऐसा स्वाभाविक एवं अगलनशील (अभेद्य) मिश्रण रहता है कि जिसमें एक के बिना दूसरे की स्थिति अकल्पनीय है।

आगे चलकर फिर कैम्पबेल उन उदाहरणों पर—कछुआ और बाज—विचार करता है। उसका कहना है कि अब तक जितने भी परीक्षण इस दिशा में हुए हैं उनके आधार पर न तो इस सिद्धान्त का समर्थन ही किया जा सकता है और न खण्डन ही।

No one knows how the hawk got into the nervous system of our burnyard fowl, yet numerous tests have shown to be, Defacto, there. However the human Psyche has not yet been, to any great extent, satisfactorily tested. For such stereotyped, and so, I am afraid, pending further study, we must simply admit that we do not know how far the principle of inherited image can be carried

१. मास्क आव गाड, भाग १, पृ० ३७

interpreting mythological universals. It is no less premature to deny its possibility than to announce it as any thing more than a considered opinion.[1]

यह कोई नहीं जानता कि मुर्गे के नाड़ी-मण्डल पर यह प्रभाव किस प्रकार आया, पर अब तक जो बहुत-से परीक्षण हुए हैं उनसे इतना पता चलता है कि इस प्रभाव का होना एक तथ्य है। यह तो मान ही लेना चाहिए कि मानव की आत्मा के विषय में अब तक संतोषजनक परीक्षण नहीं हुए हैं। जब तक और अधिक परीक्षण न हो जाएँ तो पूर्वग्रह (पूर्व-निश्चित धारणा या अपरिवर्तनीय विचारधारा) के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँचकर यह मान लेना चाहिए कि सार्वजनीन पौराणिक आख्यानों की व्याख्या के लिए उत्तराधिकार-संपत्ति (जातीय संस्कार) के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ भी नहीं जानते। इसकी संभाव्यता और असंभाव्यता दोनों ही पर निर्णय देना कठिन है। कुछ और न मानकर हमें इसे एक मत के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

वृद्ध या मृत पुरुष की पूजा (Ancestor-worship)

इस मत के अनुसार सब देवता मनुष्यों से ही बने हैं। इनके विचारानुसार, शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व किसी मृत व्यक्ति के उदाहरण द्वारा ही समझा जा सकता है। मृत्यु के समय ही शरीर से भिन्न किसी तत्त्व या आत्मा की सत्ता का आभास होता है। इस मत के मुख्य प्रतिपादक श्री हर्बर्ट स्पेन्सर हैं। उनके अनुसार, उस समय के अविकसित मतिवाले मानव ने प्राकृतिक शक्तियों में उन्हीं मृत पुरुषों की आत्मा को समझा। उसे विश्वास हुआ कि ये प्राकृतिक तत्त्व उन्हीं की आत्मा से परिचालित होते हैं, स्वयं नहीं। वृद्ध पुरुष से भाव यहाँ घर के मुखिया से है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयुक्त परिवार-प्रणाली में घर के मुखिया का आदेश सर्वमान्य था। उसकी आज्ञा ईश्वरीय वाक्य के समान तर्क से बाहर की वस्तु थी। उसकी इस सर्वोपरि सत्ता के कारण यदि घर के अन्य सदस्य उसमें दैवी गुणों का आरोप करने लगे हों तो आश्चर्य की बात नहीं।

टेलर के अनुसार, मृत-पूजा ही धर्म का मूल कारण है। इसके अनुसार, मृत व्यक्ति दूसरे लोक में जाने पर भी अपने पूर्व परिवार की रक्षा करता रहता है, शत्रुओं का नाश करता है और इन कार्यों के बदले में वह जीवित व्यक्तियों का श्रद्धा-भाजन बनता है। उसके ही शब्दों में उसका भाव इस प्रकार है—

The worship of the manes or ancestors, is one of the great branches of the religion of mankind. Its principles are not difficult to understand, for they plainly keep up the social relations of the

---

१. मास्क ऑव गाड, पृ० ४४-५

living world. The dead ancestor, now passed in to a deity, simply goes on protecting his own family and receiving service from them as old ; the dead chief still watches over his tribe, still holds his authority by helping his friends and harming enemies, still rewards the right and sharply punishes the wrong.[१]

मृत आत्माओं अथवा पूर्वजों की पूजा मनुष्य के धर्म की एक बड़ी शाखा रही है। इस मत के सिद्धान्त साधारण हैं, उन्हें समझना कठिन नहीं और वे जीवित संसार के साथ मृत व्यक्तियों का सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखते हैं। मृत व्यक्ति, जो अब देव-श्रेणी में आ चुका है, अपने परिवार की रक्षा करता रहता है और बदले में उनसे सेवा प्राप्त करता है। यह मृत प्रधान पुरुष अपनी जाति पर निगरानी रखता है, अपने मित्रों की सहायता करके और अपने शत्रुओं को हानि पहुँचाकर वह अपना अधिकार बनाये रखता है। वह अच्छे आदमियों की रक्षा करता है और बुरों को दण्डित करता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर का कहना है कि आदिम मानव के सामने जब कोई भी असाधारण व्यक्ति आता था – वह चाहे उस जाति का संस्थापक कोई पूर्वज हो, या अपनी शक्ति या वीरता के लिए प्रसिद्ध राजा रहा हो, चिकित्सक हो, या कोई विजेता हो— मरने के बाद और भी अधिक आदर का पात्र हो जाता था—

Using the phrase Ancestor-worship in its broadest sense as comprehending all worship of the dead, be they of the same blood or not, we concude that ancestor-worship is the root of every religion.[२]

भाव यह है कि 'पूर्वज-पूजा' इस शब्द को इसके व्यापक अर्थ में—जिसमें सभी व्यक्तियों का समावेश है, चाहे वे उसी रक्त के हों या न हों—प्रयुक्त करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्वज-पूजा ही सब धर्मों का मूल कारण है।

इस सिद्धान्त के मानने वालों का कथन है कि यह पूजा किसी न किसी रूप में सभी देशों में प्रचलित है। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, अफ्रीका, अमेरिका, भारत और चीन में यह पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। एक अन्य विद्वान् सर चार्ल्स इलियट का मत भी इसी से मिलता-जुलता है। उनके अनुसार मृत व्यक्ति या पूर्वज की पूजा भारत और पूर्वी एशिया में समान रूप से प्रचलित थी। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म दोनों के काल में यह पूजा दब नहीं पायी थी।[३] आगे चलकर इसी बात को समझाते हुए उन्होंने कहा

---

१. इन० कि० ए०, भाग १, पृ० ४२-५

२. वही, पृ० ४२७।

३. हि० बु०, भाग २, पृ० १

है कि दक्षिण भारत और चीन में जो गृहहीन बहुत-से देवता हैं उनका मूल मृत व्यक्ति में, किसी प्राकृतिक तत्त्व में या दोनों में सम्मिलित रूप से ढूँढ़ा जा सकता है[1]—

For instance in China and Southern India most villages have a local deity who is often homeless. The origin of such deities may be found either in a departed worthy or in some striking Phenomena or in the association of the two.[2]

अर्थात्, उदाहरण के लिए चीन और दक्षिण भारत के बहुत से गाँवों में ऐसा स्थानीय देवता मिल जायेगा जो गृह-विहीन है। ऐसे देवताओं का मूल या तो मृतात्माओं में ढूँढ़ा जा सकता है, या किसी आश्चर्यजनक पदार्थ में अथवा इन दोनों के संगम में।

श्री विल डयूरं का मत भी यही है। उनका कहना है कि अधिकांश देवता वे मानव हैं जिन्हें हमने आदर्श का रूप दे दिया है। मृत व्यक्तियों का स्वप्न में प्रकट होना उनकी पूजा के लिए पर्याप्त कारण था। पूजा भय का पुत्र भले ही न हो, पर भाई अवश्य है। जो व्यक्ति अपने जीवन-काल में बड़े शक्तिशाली रहे, जिनसे सबको भय बना रहा, मरने के बाद भी उनकी पूजा का होना स्वाभाविक ही है। बहुत-सी आरम्भिक जातियों में देवताओं के लिए मृत व्यक्ति या (A Dead man) शब्द का प्रयोग होता है। आज भी इंग्लिश भाषा का स्प्रिट और जर्मन के ग्रिस्ट (Gaist) का अर्थ, भूत और आत्मा, दोनों ही हैं। मृत व्यक्ति की अनवरत जीवन-शक्ति में लोगों का ऐसा अटूट विश्वास था कि आदिम व्यक्ति मृत व्यक्ति के लिए सचमुच ही संदेश भेजा करते थे। एक जाति में यह प्रथा थी कि सरदार संदेश भिजवाने के लिए पत्र का एक-एक अक्षर पढ़ता था और फिर उस दास का सिर काट देता था। अगर सरदार कोई बात भूल जाता था तो दूसरे दास के द्वारा इसी प्रकार संदेश भेजा जाता था।[3]

ये शक्तिशाली व्यक्ति मरने पर और भी शक्तिशाली हो जाते थे और इन्हें प्रसन्न रखना अनिवार्य था। वे कोई अनिष्ट न करें इसलिए इन्हें संतुष्ट रखना आवश्यक समझा जाता था। इस पूजा का आरम्भ तो भय से हुआ था, पर अन्त या परिणति हुई प्रेम के रूप में—

It is the tendency of Gods to begin as Ogres and to end as loving fathers ; the idol passes in to an ideal as the growing security, peacefulness and moral sense of the worshipers pucify and transform the features of their once ferocious deities. The slow

---

१. हि० बु०, भाग २ पृ० १०
२. वही, भाग २ पृ० १०
३. स्टो० सि०, पृ० ६३

progress of civilization is reflected in the tardy amibiality of the gods.[1]

अर्थात्—देवों का यह स्वभाव है कि उनका आरंभिक रूप नर-भक्षी (क्रूर) का होता है और अन्तिम रूप प्रेम से परिपूर्ण पिता का। उपासकों की सुरक्षा, शान्त वातावरण और नैतिक बुद्धि किसी समय के भयावह देवताओं को आमूलचूल बदल कर आदर्श रूप में परिवर्तित कर देती है। सभ्यता की गति बहुत मन्द होती है और इसीलिए देवताओं की इस सर्व प्रियता का रूप बहुत मन्द गति से आता है।

इतिहास किसी सीमा तक उनके इस मत की पुष्टि करता है। यूनान में मृत व्यक्ति की पूजा के विषय में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। मृत व्यक्ति लौटकर न आये, इसलिए उसे सन्तुष्ट रखने की भरपूर चेष्ट की जाती थी। उसके घरवाले भोजन की थोड़ी-बहुत सामग्री उसके पास जमा कर दिया करते थे। प्रसाधन की सामग्री भी रखते थे, मिट्टी की बनी औरतें भी साथ ही दबा दी जाती थीं कि जिससे उसे किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति न हो। यदि मृत व्यक्ति कोई राजा, धनी या अन्य किसी प्रकार से बड़ा आदमी होता था, तो उसके बहुमूल्य रत्नों में से कुछ रत्न उसके साथ दबा दिये जाते थे। यदि वह खिलाड़ी था तो शतरंज और किसी खिलाड़ी की मूर्ति, यदि संगीतज्ञ था तो वाद्य-सामग्री और यदि वह समुद्रप्रिय था तो एक नाव, ये वस्तुएँ उसके साथ दफना दी जाती थीं। एक निश्चित समय के बाद भोजन आदि देने के लिए भी कोई व्यक्ति कब्र पर आता रहे, इस बात का भी प्रबन्ध रहता था।[2]

इन व्यक्तियों के अनुसार मृत व्यक्ति को सन्तुष्ट रखने की भावना प्राचीन भारतीय जीवन में भी ढूँढ़ी जा सकती है। वेद के एक मंत्र में मृत व्यक्ति को वस्त्र देने का वर्णन है और यह आशा प्रकट की गई है कि वस्त्र मिल जाने से वह संतुष्ट होगा—

एतत् ते देव सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चिर॥[3]

श्री ए० बी० कीथ ने अथर्ववेद के एक मन्त्र (१३।१।२८) का उद्धरण देते हुए यह संभावना प्रकट की है कि इस मन्त्र में मृत व्यक्तियों को दी जाने वाली दावतों में घुस आने वाले जिन दस्युओं का उल्लेख है वे मृत व्यक्तियों की वे आत्माएँ हैं जो ऐसे अवसरों पर अचानक ही आ जाती हैं।[4]

१. स्टो० सि०, पृ० ६३
२. ला० ग्री०, पृ० १४
३. अथर्व, १८।४।३१
४. रि० फि० वेद० उप०, पृ० ६६

इसी प्रकार गृह्यसूत्रों में भी कुछ विधान हैं जो उन विधानों से मिलते-जुलते हैं जिनका उल्लेख हमने यूनान के प्रकरण में किया है। मृत व्यक्ति के साथ बहुत सा सामान जाता था, वहाँ इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। अनुस्तरणी के प्रसंग में कहा गया है कि मृत व्यक्तियों के साथ गाय या बकरी श्मशान तक भेजी जाती थी। यहीं शव के साथ पत्नी के लिटाये जाने और बाद में देवर द्वारा उसके उठाये जाने का विधान है। यदि मृत व्यक्ति क्षत्रिय होता था तो उसका धनुष भी उसके साथ रख दिया जाता था, जो बाद में वृषल द्वारा उठा लिया जाता था।[१]

जैसा हमने आरम्भ में कहा है, किसी समय यह पूजा अत्यधिक प्रचलित थी। चीन और रोम का जीवन इससे व्याप्त था और वहाँ के धार्मिक जीवन पर इसकी गहरी छाप थी। इसी बात की चर्चा करते हुए श्री जार्ज गैलोवे ने लिखा है—

In the religions of China and ancient Rome the cult of ancestors has left the marks on the whole religious life of the people.[२]

अर्थात्—चीन और प्राचीन रोम के धर्मों में प्रचलित मृत-पूजा का सिद्धान्त वहाँ के धार्मिक जीवन पर अपने स्पष्ट चिह्न छोड़ गया है।

इस मत की समीक्षा

इस मत के पक्ष में इतना कहने के बाद यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त मत सभी को मान्य नहीं है। मृत-पूजा का आधार यह भावना है कि मृत व्यक्ति मरने के बाद अपने घरवालों के प्रति वैसा ही सदय रहता है—वह उनके हित और शत्रुओं के अहित में निरन्तर तत्पर रहता है। पर वेस्टर्न मार्क का कथन है कि मृत व्यक्ति सदैव हितकारी ही नहीं रहते। उसने जो तथ्य इकट्ठे किये हैं वे इस मत के विरुद्ध जाते हैं। उसने 'दि ओरिजन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव दि मोरल आइडियाज़' नामक अपनी पुस्तक में अपने मत का समर्थन इन शब्दों में किया है—

Generally speaking, my collection of facts has led me to the conclusion that the dead are more commonly regarded as enemies than friends, and that Professor Tevons and Mr. Granl Allen are mistaken in their assersion that according to early belief, the melevolence of the dead is for the most part directed against strangers only, whereas they exercise a fatherly care over the lives and fortunes of their descendents and fellow clansmen.[३]

---

१. आ० गृ० सू०, कं० २, सू० ४-१६ (आश्वलायन)

२ फि० रिलि०, पृ० ६६

३. टो० टे०, पृ ५८

अर्थात्, मैंने अब तक जितने तथ्यों का संग्रह किया है उनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मृत आत्माओं को शत्रु-रूप में अधिक ग्रहण किया जाता है, मित्र-रूप में कम। प्रोफेसर टेवन्स और एलेन का यह कथन कि प्रायः मृत व्यक्तियों का क्रोध अपरिचित व्यक्तियों पर ही अधिक उतरता है और उनके उत्तराधिकारियों तथा सजातीयों को पितृसम वात्सल्य मिलता है, भ्रमपूर्ण है।

बोर्नियो की असभ्य जातियों में मृत शत्रु को अभिभावक या मित्र बनाने की प्रथा है। जब वे किसी शत्रु का सिर ले आते हैं तो महीनों तक उसकी बड़ी खातिर करते हैं। उसे प्यार-भरे शब्दों से सम्बोधित करते हैं। स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट भोजन उसके मुख में रखा जाता है, उसे पीने के लिए सिगार भी दिया जाता है। उससे प्रार्थना की जाती है, "क्योंकि अब तुम हममें से ही एक हो गये हो, अतः तुम्हें पहले परिवार को भूल जाना चाहिए, वर्तमान परिवार को अपनाना चाहिए।[१]

अपनी इस पूजा की सार्थकता में उन्हें पूरा विश्वास है। वे ये क्रियाएँ पूरी श्रद्धा के साथ करते हैं। यदि मरने के बाद पूर्वज शत्रु का मित्र बन सकता है तो मित्र का शत्रु स्वतः हौं हो जायेगा। फिर यह पूजा क्यों?

जहाँ तक भारतीय देव-भावना का प्रश्न है, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसकी उत्पत्ति मृत पुरुष की पूजा से नहीं हुई है। यहाँ मृत व्यक्ति की पूजा देवता के रूप में कभी नहीं हुई। पितरों के लिए श्रद्धा का विधान भी बाद में ही हुआ, वैदिक काल में नहीं। उनके प्रति देव-भावना बहुत परवर्ती काल में पैदा हुई। होपकिन्स का भी यही मत है—

It is not denied that the Hindus made gods of departed men. They did this long after the Vedic period, But there is no proof that all the Vedic Gods, as claims Spencer, were the worshipped souls of the dead. No arguments can show in a Vedic dawn-hymn anything other than a hymn to personified Dawn, or make it probable that this dawn was ever a mortal's name.[२]

अर्थात्—हिन्दुओं ने मृत व्यक्तियों को देवता बनाया, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जाता, पर यह मृत-पूजा वैदिक काल के बाद ही हुई शुरू। स्पेन्सर का यह कथन, कि वैदिक काल के सभी देवता मृत व्यक्तियों के रूप हैं, तर्क-संगत सिद्ध नहीं होता। वैदिक उषा की स्तुति प्रातःकालीन स्तुति से भिन्न है। या यह उषा किसी मृत आत्मा का रूप है, इस पक्ष में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है।

---

१. टोटेम एण्ड टेबू०, पृ० ५८
२. इन० रि० ए०, भाग १, पृ० ४५४

वेदों में पितरों और देवों के लोकों का पृथक्-पृथक् उल्लेख है। स्पष्ट है कि मृत व्यक्ति देवों से भिन्न हैं। देवों के जाने के मार्ग का नाम देवयान है और पितरों के जाने का पितृयान। पितर यद्यपि साधारण मानवों से ऊपर हैं, उन्हें आदरपूर्वक याद भी किया गया है पर फिर भी उनमें और देवताओं में अन्तर है। देवताओं को दी जाने वाली आहुति 'स्वाहा' कहलाती है और पितरों के लिए दी गई 'स्वधा'। आश्वलायन ने इस अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अग्निमुखा वै देवा: पाणिमुखा: पितर:।"[1]

श्री कीथ ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि पितर और देव स्पष्टत: दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं। वेदों में कहीं ऐसा वर्णन नहीं जिससे देव-भावना की उत्पत्ति मृत-पूजा से मानी जा सके—

The very clear difference between the form of the worship of the Gods and the reverence paid to the dead indicate beyond possibility of doubt that the attitude of the living to the dead differed in a marked degree from their attitude towards the gods, a fact, which as far as it goes, is doubtless evidence against the view that the worship of the gods sprang from the worship of men who had died.[2]

भाव यह है कि देवताओं की पूजा और मृत व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित आदर की भावना, दोनों के रूपों में जो स्पष्ट अन्तर है वह असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देता है। कि आराधक का दृष्टिकोण देवताओं के प्रति और था तथा मृत व्यक्तियों के प्रति कुछ और। उनका यह भिन्न दृष्टिकोण एक ऐसा साक्ष्य है जो यह स्पष्ट कर देता है कि देव-पूजा को मृत व्यक्तियों की पूजा से नि:सृत मानना अनुचित है।

मृत-पूजा का आधार है मृत व्यक्ति से भय की आशंका और इस प्रकार के भय का कोई भी प्रमाण वेदों में नहीं मिलता। वहाँ भय तो है पर वह मृत्यु से है, मृत की आत्मा से नहीं। इस विषय में भी श्री कीथ के विचार उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

The danger from the dead is, as we have seen, fear of death, not of the spirits of the fathers. Moreover, as we have noted, the Atharwaveda finds for the evils which are practised on men the cause in demons, not in souls of the dead, which again is a strong piece of evidence that the mischievous powers of the dead were not strongly felt in the Vedic period.[3]

---

१. आ० गृ० सू०, ४।८।४

२. रि० फि० वे० उप०, पृ० ४३१

३. वही, पृ० ४२७

भाव यह है कि जैसा हम देख चुके हैं, मृत व्यक्तियों से भय का अर्थ मृत्यु का भय है, अपने पूर्वजों की आत्माओं का भय नहीं। फिर हम यह भी देख चुके हैं। कि अथर्ववेद के अनुसार मानव पर आने वाली क्षतियाँ या अनिष्टों का कारण दुष्ट आत्माएँ (राक्षस) हैं, मृत व्यक्तियों की आत्माएँ नहीं। यह भी एक ऐसा प्रबल साक्ष्य है जो बताता है कि वैदिक काल में मृत व्यक्तियों की शक्तियों का विशेष प्रभाव नहीं था।

प्रतीकवाद (Fetish)

बहुत-से विद्वानों के अनुसार, देव-भावना का आरम्भ फेटिश की पूजा से हुआ है। इसका अर्थ किसी प्रयोजन-विशेष से और किन्हीं निश्चित अवस्थाओं में कुछ वस्तुओं या पदार्थों को दिव्य शक्ति से आविष्ट मानना है। इस आविष्ट देव-भावना में पहले निर्जीव प्रतीक आते हैं, फिर पशु-प्रतीक, तदुपरान्त अर्धमानव—अर्धपशु और सबसे पीछे मानव। किसी समय यह मत अत्यधिक प्रचलित था। प्रसिद्ध जर्मन अध्यापक मैक्समूलर ने हिब्बर्ट-भाषणमाला में अँग्रेज़ जनता के सम्मुख दिए गए अपने द्वितीय भाषण में कहा था कि पिछले सौ वर्षों में जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उन सब में एक आश्चर्यजनक साम्य है और वह यह है कि किसी-न-किसी रूप में फेटिश को धर्म की उत्पत्ति का कारण माना है,[१] अत: किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए इस मत का भली-भाँति विवेचन आवश्यक है।

आरम्भ और व्याख्या—इस मत के प्रवर्तक श्री दे ब्रासेस नामक सज्जन हैं। यह भावना तो प्राचीन है, पर इस शब्द का प्रयोग सन् १७६० ई० से पूर्व कहीं नहीं हुआ। इस शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली शब्द 'Feitic' से हुई है और उस भाषा में यह शब्द लैटिन के 'Factitius' का समानार्थक है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स' में पुर्तगीज फ्रेंच डिक्शनरी में दी गयी परिभाषा को उद्धृत करते हुए इस शब्द को इस प्रकार समझाया गया है—Sortilege (भविष्य-कथन विद्या), Malefic (हानिकर), Enchantment (वशीकरण), Charm[२] (जादू)। वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इसका आरम्भ जादू-टोने से हुआ है, वह जादू-टोना चाहे धर्म से सम्बन्धित रहा हो या न रहा हो। इस शब्द का आरम्भिक अर्थ था 'हाथ से बना हुआ', फिर अर्थ हुआ 'कृत्रिम', फिर 'अप्राकृतिक' और तदनन्तर 'जादू से भरा हुआ'। पुर्तगाली में इसका अर्थ 'अशुभ से बचाने वाली पवित्र वस्तु' है। इसका मूल अर्थ ठोस और निर्जीव वस्तुओं से था, पर दे ब्रासेस ने इसे नदियों, पर्वतों और पशुओं पर भी लागू कर दिया।[३] पुर्तगाल के नाविक जब गोल्डकोस्ट की

१. ओ० ग्रो० रि०, पृ० ५५
२. इन० रि० ऐथि०, भाग ४, पृ० ८९५
३. ओ० ग्रो० रि०, पृ० ६२

ओर गये और उन्होंने वहाँ नीग्रो लोगों को जड़ पदार्थों की पूजा करते देखा तो उन्होंने ही उसकी पूजा के लिए प्रथम बार 'फैटिश' शब्द का प्रयोग किया । अत: हमने उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त अर्थ को ऊपर समझाने का यत्न किया है ।

इस मत के संस्थापक और प्रचारक, श्री दे ब्रासेस के अनुसार, पूजा करने वाला व्यक्ति चाहे जिस वस्तु को पूजास्पद बना सकता है । यह वस्तु वृक्ष, पर्वत, समुद्र, लकड़ी का टुकड़ा, शेर की पूँछ, पत्थर, नमक, मछली, पौधा, फूल, पशु, गाय, बकरी, हाथी आदि में से कोई भी हो सकता है । इसमें वास्तविक बात इस बात का विश्वास है कि उस पदार्थ में कोई विशेष शक्ति है और उसका कारण उसमें आत्मा का निवास है ।[१]

श्री टेलर का विचार भी ऐसा ही है । उनका कथन है कि कोई वस्तु फेटिश उसी समय बनती है जब पूजक उसमें किसी आत्मा का अस्तित्त्व माने; अथवा, यह माने कि इसमें किसी भाव या विचार को भेजने की शक्ति है; अथवा—कम-से-कम देखने में ऐसा प्रतीत हो कि वह उस जड़ पदार्थ को चेतनता और शक्ति से सम्पन्न मानता है—

To class an object as a fetish, demands explicit statement that a spirit is embodied in it, or acting through it, or communicating by it, or at least that the people it belongs to do habitually think this of such objects ; or it must be shown that the object is trated as having personal consciousness and power, is talked with, worshipped, prayed to, sacrificed to petted or ill-treated with reference to its past or future behaviour to its votaries.[२]

अर्थात्—किसी पदार्थ को फेटिश मानने के लिए केवल इतना स्पष्ट वक्तव्य पर्याप्त है कि इसमें शक्ति विद्यमान है, या शक्ति इसके द्वारा काम कर रही है, या इसके द्वारा कोई सन्देश जाता है, अथवा, इसके मानने वालों का ऐसा विश्वास है, या यह प्रदर्शित किया जाय कि इस पदार्थ में ऐसी निजी चेतना और शक्ति है जिससे संभाषण हो सकता है, जिसकी पूजा होती है, जिसके लिए बलि दी जाती है, या अपने समर्थकों के साथ हुए विगत और अनागत व्यवहार के लिए जिसके साथ अच्छा और बुरा व्यवहार हो सकता है ।

फेटिश और उसकी आत्मा में कोई सम्बन्ध हो, यह आवश्यक नहीं । उस फेटिश में आत्मा का सम्बन्ध आकस्मिक है और वह आत्मा उस पदार्थ को छोड़कर किसी भी समय बाहर जा सकती है । उस आत्मा के बाहर जाते ही उस पदार्थ का समस्त

---

१. औ० ग्रो० रि०, पृ० ६३
२. इन० रि० ऐथि०, भाग ४, पृ० ५६६

महत्त्व समाप्त हो जाता है ।[1] नीग्रो इनकी पूजा करते हैं, इनके सामने प्रार्थना करते हैं, बलि देते हैं, इनके जुलूस निकालते हैं, महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इनसे परामर्श माँगते हैं, इनकी शपथ खाते हैं और उन शपथों को कभी नहीं तोड़ते ।

ये देव जातीय भी होते हैं और व्यक्तिगत भी । जातीय देवता सभी की साँझी सम्पत्ति होते हैं और सार्वजनिक स्थान में रखे जाते हैं। व्यक्ति-देवता व्यक्तियों के घरों में रखे जाते हैं । यदि नीग्रो वर्षा चाहते हैं तो खाली घड़ा उस देव के सामने रख देते हैं; जब वे युद्ध-क्षेत्र में जाते हैं तो अपने अस्त्र-शस्त्र उसे समर्पित कर देते हैं; अगर उन्हें मछली या गोश्त की आवश्यकता होती है तो देव के सामने खाली हड्डियाँ रख देते हैं; अगर उन्हें ताड़ी चाहिए तो वृक्षों में छेद करने वाले औजार देव के सामने रख देते हैं । यदि उनकी प्रार्थना नहीं सुनी गयी तो वे समझते हैं कि देवता अप्रसन्न है और वे फिर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं ।[2]

किसी पाषाण या अन्य जड़ पदार्थ में देव-भावना किस प्रकार आती है, इस प्रश्न के समाधन में इस मत वालों का कथन है कि यह एकदम आकस्मिक है । इस बात को हृदयंगम करने के लिए हमें उस काल की कल्पना करनी होगी जब मानव का ज्ञान पंच भौतिक ज्ञानेन्द्रियों तक ही सीमित था । उस समय अचानक ही कोई असाधारण रूप से चमकीला पत्थर मिलने पर वह इस आश्चर्य में पड़ गया होगा । यह पाषाण संभवतः उसे उस समय मिला होगा जब प्रातःकाल के समय वह युद्ध के लिए जा रहा होगा, उसे उस दिन विजय भी मिली होगी । इस प्रकार उसने इस पाषाण-खण्ड को ही विजय का कारण मान लिया होगा । एक-दो अन्य अवसरों पर इसी प्रकार विजय मिल जाने पर उस पाषाण की असाधारणता रूपी शक्ति दिव्य में उसकी आस्था और अधिक बलवती हो गई होगी । इस मत को समझने के लिए वे चार सीढ़ियों या स्थितियों का वर्णन करते हैं । प्रथम है आश्चर्य की भावना । दूसरे, उस पदार्थ की शारीरिक रचना और विचार तथा कारण । तीसरे, इस पदार्थ और उसके प्रभाव के बीच किसी आकस्मिक सम्बन्ध की स्वीकृति—जैसे वर्षा, स्वास्थ्य आदि । चौथे, उस पदार्थ में ऐसी किसी शक्ति का अस्तित्व मानना जिससे हम बलात् उसकी पूजा के लिए प्रवृत्त हों, उसमें श्रद्धा रखें, उसका सम्मान करें । उनका विश्वास है कि इस प्रक्रिया से इस मत को स्पष्ट रूप से हृदयंगम किया जा सकता है ।

इस मत के कुछ चिह्न प्राचीन भारतीय जीवन में भी आसानी से ढूँढ़े जा सकते है । मोहनजोदड़ो की खुदाई से इस बात के प्रमाण मिले हैं जिनसे पता चलता है उस समय फेटिश रूप में वृक्षों की पूजा होती थी । श्री आर० सी० मजूमदार ने लिखा है कि मूर्तियों पर वृक्षों के चित्र इसी ओर संकेत करते हैं—

---

१. फि० रिलि, पृ० ६४

२. ओ० ग्रो० रि०, पृ० ६४-५

The worship of tree, fire and water also seems to have been in vogue. The existence of tree-worship is evidenced by the representation on several scals and sealings.[1]

वृक्ष, अग्नि, और जल की पूजा का भी प्रचलन था। बहुत से पैमानों और मोहरों पर मिले चित्रों से वृक्ष-पूजा का प्रमाण मिलता है।

श्री ओल्डेनबर्ग का विचार है कि गृह्यसूत्रों में यज्ञ-भाग में यूप का प्रसाधन (सजावट) वृक्षोपासना की स्मृति का परिचायक है। कुशासन तथा अन्य यज्ञीय उपादानों में दिव्यत्व की भावना भी फेटिश का ही उदाहरण है। विवाह के समय गृह्यसूत्रों के विधानानुसार वस्त्रावेष्टित एवं सुगन्धित दण्ड को रखने का विधान भी फेटिश ही है।[2] यज्ञ में घोड़े और बकरे को भी अग्नि के प्रतीक-रूप में लिया गया है। वहाँ कहा गया है कि यदि अरणियों से अग्नि का उत्पादन न हो पाया हो तो पुरोहित बकरे के कान में आहुति दे सकता है किन्तु ऐसा करने पर वह उसके मांस को नहीं खा सकता। वह दर्भ पर आहुति दे सकता है, पर ऐसा करने पर वह उस पर बैठ नहीं सकता।[3]

समीक्षा—पर यह मत विद्वानों को मान्य नहीं हुआ। जिन असभ्य या जंगली जातियों को आधार बनाकर इस मत की स्थापना की गयी थी, उनकी बौद्धिक स्थिति की विवेचना करने पर यह मत नहीं टिक पाता। वे जातियाँ बौद्धिक विकास की दृष्टि से शैशवावस्था में थीं और उन्हें किन्हीं वस्तुओं की पहचान ही न थी, यह कहना और मानना भी बुद्धिसंगत नहीं। अध्यापक मैक्समूलर के शब्दों में ऐसा मानना अपने को धोखा देना है। कोई भी असभ्य आदमी इतना मूर्ख नहीं कि वह सर्प और रस्सी में भेद न कर सके या फिर चेतन और अचेतन के अन्तर को न समझ सके। यह कहना कि—पत्थर पत्थर है भी और नहीं भी; पत्थर आदमी भी है और नहीं भी—शब्द-जाल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।[4] इस मत के प्रतिपादन के लिए जो प्रमाण दिये गये हैं उन्हें कोई भी शोधकर्ता या इतिहासज्ञ मानने को तैयार नहीं होगा। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए श्री मैक्समूलर ने कहा है कि, "अब हमें मान लेना चाहिए कि फेटिश ही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं है।"[5]

गणचिह्नवाद (Totemism)

देव-भावना की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस मत की भी चर्चा आती है, अतः

---

१. वैदिक एज, पृ० १८८
२. रि० फि० वेद० उप०, पृ० ६७
३. रि० फि० वेद० उप०, पृ० ६६
४. ओ० ग्रो० रि०, पृ० १२५
५. वही, पृ० १२७

संक्षिप्त रूप में इस पर भी विचार कर लेना उचित है। 'टोटेम' शब्द Ote शब्द से बनता है। इसका अर्थ है: एक ही माँ से उत्पन्न भाइयों और बहिनों में या कुछ व्यक्तियों के ऐसे समाज में रक्त-सम्बन्ध का होना जिन्हें समाज जन्म या किसी अन्य माध्यम से एक ही मानता है और जिनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। अंग्रेजी में सर्वप्रथम इसका प्रयोग जे० लांग द्वारा किया गया। उन्होंने इस शब्द का अर्थ उस आत्मा से लिया था जो चिपवा (Chippewa) और ओजिब्वा (Ojibwa) जातियों के अनुसार प्रत्येक जीव पर अपनी नजर रखती है। श्री लांग ने यह भी लिखा था कि इन जातियों के अनुसार आत्मा पशु की आकृति धारण कर लेती है और इसी कारणवश इन जातियों के लोग उन पशुओं को न तो मारते हैं और न उनका शिकार करते हैं जिनमें उन आत्माओं का निवास प्रतीत होता है। कभी-कभी किसी अवसर पर इनका मांस खाना विहित माना गया है:

A significant counter Phinomenon, not irreconciable with this, is the fact on certain occassions the eating of the totemflesh constituted a par of ceremoneyt.[1]

अर्थात्—इससे उलटा पर महत्त्वपूर्ण एक तथ्य यह है—और यह पहले तथ्य का एकदम विरोधी भी नहीं है—कि कुछ विशेष अवसरों पर टोटेम के मांस का खाया जाना उत्सव के विधान का एक अंग माना जाता था।

'टोटेम' का साधारण अर्थ 'चिह्न' (Emblem) है। इसका भाव यह हुआ कि कुछ व्यक्तियों के लिए कुछ पशु या पक्षी दैवी शक्ति के चिह्न या प्रतीक बन जाते हैं। इस प्रकार कुछ पशु विशेष रूप से पवित्र माने जाने लगे। कुछ ने तो उन्हें खाने का निषेध किया और कुछ ने उनके सिवाय अन्य पशुओं को खाना अपवित्र समझा। कुछ ने अपने टोटेम में ही विवाह के नियम बनाये और कुछ ने विवाह न करने के। मिश्र में श्येन (Hawk), लकड़ी या धातु के टुकड़े (Gibs) आदि को पवित्र माना गया। भारत में गौ को अवध्य माना जाना भी इसी भाव का सूचक है।

सामान्य रूप से यह टोटेम पशु होता है पर कभी-कभी असाधारण स्थिति में पौधा या प्राकृतिक रूप (तत्त्व) भी हो जाता है—

It is as a rule an animal (whether edible and harmless or dangerous and feared) and more rarely a plant or a natural Phenomenon (such as rain or water), which stands in a peculiar relation to the whole class.[2]

सामान्य नियमानुसार यह टोटेम पशु होता था, जो कभी खाद्य और हानि-

---

१. इन० रि० ऐथि, भाग ११, पृ० ३६४

२. टो० टे०, पृ० २

रहित होता था तो कभी खतरनाक और डरावना होता था। विशेष परिस्थिति में यह पौधा या प्राकृतिक तत्त्व होता था, जैसे वर्षा या जल। इस टोटेम का सम्बन्ध सम्पूर्ण जाति से होता था और वह विशिष्ट प्रकार का होता था।

यहाँ पशु व्यक्ति न होकर जाति होता है। यह पूजा उस पूरी जाति की होती है, एक पशु की नहीं। इसीलिए एक पशु का वध होते ही दूसरा पशु उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

यह टोटेम पदार्थों की एक ऐसी श्रेणी है जिसे आदिमकाल का असभ्य मानव सम्मान की दृष्टि से देखता था। उसका विश्वास था कि इस पदार्थ और उसमें कोई विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से दोनों के लिए लाभदायक है। टोटेम अनिष्ट से उसकी रक्षा करता है और बदले में सम्मान का अधिकारी बनता है। यह टोटेम साधारण रूप से उसके लिए अवध्य हो जाता है, वह इसे कभी नष्ट नहीं करता। टोटेम के इस धार्मिक पक्ष के अलावा इसका सामाजिक पक्ष भी है। सामाजिक पक्ष में यह व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है। आरम्भ में टोटेम के ये दोनों पक्ष थे। बाद में एक-दूसरे से पृथक् होते गए, दोनों में अन्तर आ गया।[1] किसी समय इस टोटेम का महत्त्व बहुत अधिक था। इस सम्बन्ध के सामने वंश और रक्त का सम्बन्ध भी कम महत्त्वपूर्ण हो जाता था। फ्रेजर का ऐसा मत है—

The Totem bond is stronger than the bond of blood or family in the modern sense.[2]

आधुनिक परिभाषा के अनुसार जिसे हम परिवार समझते हैं, उसकी अपेक्षा टोटेम का बन्धन अधिक दृढ़ है।

प्रकार-श्रेणियाँ—मोटे तौर से ये टोटेम तीन प्रकार के हैं: १. जातिपरक (Class Totem), २. यौन सम्बन्धी (Sex Totem), ३. व्यक्तिपरक (Individual)। प्रथम उस जाति के सभी व्यक्तियों के लिए समान हैं। ये टोटेम वंशानुक्रम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते हैं। दूसरा एक विशेष लिंग के लिए है—या तो केवल स्त्रियों के लिए या केवल पुरुषों के लिए। दोनों एक ही चिह्न का प्रयोग समान रूप से नहीं करते। तीसरा एक व्यक्ति का होता है, जो उसी तक सीमित रहता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चलता है।[3]

किसी समय इस मत का प्रचलन पर्याप्त मात्रा में था, ऐसा बहुत-से विद्वानों का मत है। श्री जार्ज गैलोवे का कथन है कि किसी समय स्थानीय पदार्थों की पूजा प्रचलित थी, इस बात के प्रमाण, सेमेटिक और आर्य, दोनों ही सभ्यताओं में मिलते

---

१. टो० टे०, पृ० १०३-४
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० १०३

हैं। सभ्य समझी जाने वाली जातियों के बहुत से अन्ध-विश्वासों और मान्यताओं में इनके अवशेष आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं। उनका कहना है कि पशुओं की पूजा उतनी ही पुरानी है कि जितनी प्राकृतिक तत्त्वों की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों प्रकार की ये पूजाएँ साथ-ही-साथ विद्यमान थीं। वे पशु, जो या तो रहस्यात्मक प्रतीत हुए या हानि पहुँचा सकते थे, विशेष रूप से पूजा के पात्र बने। उदाहरण के लिए इन रहस्यपूर्ण जीवों में सर्प को लिया जा सकता है। सर्प की पूजा विश्व के सभी भागों में प्रचलित थी। वेनिन-निवासी नीग्रो लोगों में सर्प (Python) की पूजा अब भी प्रचलित है। मिस्र में मगरमच्छ की पूजा प्रचलित थी और मलाया में शेर की पूजा अब भी प्रचलित है। अब इनकी पूजा भले ही विचित्र लगती हो, पर तत्कालीन व्यक्ति को इसमें कोई विचित्रता नहीं प्रतीत होती थी।[१]

अन्य बहुत-से विद्वान् ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि आरम्भ काल में टोटेम ही देव-भावना का मूल कारण था। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, मानव की मनन-शक्ति बढ़ती गई, वह टोटेम से दूर होता गया। आदिमकाल के मानव और देवताओं की पूजा करने वाले मानव के बीच के काल में टोटेम की प्रमुखता थी, ऐसा श्री बुन्दित का मत है—

In the light of all these facts, the conclusion appears highly probable that at sometime totemic culture everywhere paved the way for a more advanced civilization and thus it represents a transitional state between the age of primitive man and the era of heroes and gods.[२]

अर्थात् इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष संभाव्य प्रतीत होता है कि किसी समय इस टोटम-सभ्यता ने ही अधिक प्रगतिशील सभ्यता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। टोटम-सभ्यता उस संक्रान्ति-काल का प्रतिनिधित्व करती है जो आदिम मानव तथा वीर एवं देव-काल के बीच का है।

समीक्षा—यह मत भी देव-भावना-सम्बन्धी समस्या का ठीक हल उपस्थित नहीं करता। फ्रायड-जैसे विद्वान् का समर्थन पाकर यद्यपि यह मत कुछ दिन चर्चा का विषय रहा, पर उसे सभी विद्वानों ने मान्यता प्रदान नहीं की। श्री इ० ओ० जेम्स ने अपनी पुस्तक में इस मत की चर्चा करते हुए लिखा है कि किसी समय हर प्रकार की पूजा में टोटेम को ही मूल कारण मानने की प्रथा चल पड़ी थी। आरम्भ में जे० एफ० मैक्लिनन के लेखों के आधार पर समाजशास्त्र के विद्वानों के धारणा इस विषय में दृढ़ होने लगी थी। दरखेम और फ्रादर भी इसी मत का प्रतिपादन करने लगे थे।

१. फि० रिलि, पृ० ९१
२. टो० टे०, पृ० १०१

पर यह धारणा निराधार है। ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमें टोटेम का कोई महत्त्व नहीं। उनका मत उनके शब्दों में इस प्रकार है—

For this assumption there is no evidence. A part from the fact that it does not occur at all among such backward tribes as the Andomanese, the Semang, the Punan of Bornio, the Pygmies of the Congo and the Bushman of South Africa, or the clanless non-totemic peoples of the North-west Pacific Coast of North Ametica, isolated from the focus of civilization, where it is established, it seems to combine a number of very different features suggesting a relatively late and multiple origin.[१]

ऐसा मानने के लिए कोई साक्षी नहीं है। अंडमान की पिछड़ी हुई जातियों में, बोर्नियो की सेमंग जाति में, कांगो के पिग्मियों में, दक्षिण अफ्रीका के जंगली लोगों में, सभ्यता के प्रकाश से बहुत दूर, उत्तरी अमेरिका के उत्तर-पश्चिम के किनारों पर रहने वाले व्यक्तियों में, जहाँ कहीं यह मत मिलता है, इसमें ऐसे विभिन्न रूप मिले दीख पड़ते हैं जिनसे यह पता चलता है कि यह मत अपेक्षाकृत नवीन है और इसका आरम्भ अनेक स्रोतों से हुआ है।

रही बात वैदिक देव-भावना की, उसमें इस टोटेम के चिह्न कहीं भी नहीं दीख पड़ते। वैदिक धर्म में ऐसे टोटेम समाज का कोई भी संकेत नहीं मिलता जो प्रतीकभूत पशु या वनस्पति का धार्मिक अनुष्ठान के रूप में भक्षण करता हो —

In the Vedic religion there is not a single case in which we can trace any totem clans which eats sacramentally the totem animal or plant and therefore the most essential feature of tolenıism on R'es theory does not even begin to appear in the Veda.[२]

वैदिक धर्म में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जिसमें टोटेम-पशु या पौधे को धार्मिक पूजा के अवसर पर खाने वाले लोगों के चिह्न मिलते हों। टोटेम के लिए जो चिह्न अनिवार्य हैं, उन चिह्नों का आरम्भिक रूप भी वेदों में नहीं मिलता, यह स्पष्ट है।

प्रकृति-पूजा ही प्रमुख कारण

हो सकता है कि समय-समय पर इन सभी विचारों ने देव-भावना को परि-पुष्ट करने या उसके रूप को सुनिश्चित करने में सहयोग दिया हो, पर वैदिक देव-

---

१. क० डोटि०, पृ० २१

२. रि० वे० उप०, पृ० १९६

भावना की उत्पत्ति प्रकृति-पूजा से हुई है, इसमें संदेह नहीं। श्री मैक्समूलर के शब्दों में, "ऋग्वेदकालीन आर्य सान्त से अनन्त की ओर गया है। प्रकृति के सभी दृश्यमान तत्त्व सान्त हैं, ससीम हैं और इनसे अनन्त भावना की उत्पत्ति देखने में विचित्र भले ही प्रतीत हो, पर उस प्रक्रिया के सही होने में सन्देह का अवकाश नहीं। पत्थर, अस्थियाँ, पुष्प आदि प्रत्यक्ष अनुभव के पदार्थ हैं, ये पूर्णतया ज्ञात थे और सान्त थे ; पर ऐसी भी वस्तुएँ थीं जो उस समय के व्यक्ति में अनन्तता का भाव पैदा करती थीं। वृक्ष देखने में सान्त हैं पर उनकी गहरी जड़ें और ऊँचापन उस समय के मानव में आश्चर्य पैदा करते होंगे। तेज़ हवा के एक झोंके से या कभी जीर्ण होकर स्वतः ही उस महान् वृक्ष का गिर जाना उसके लिए आश्चर्य का विषय अवश्य रहा होगा। वृक्ष के बाद यह कार्य पर्वत ने किया होगा। वृक्ष कितना ही ऊँचा क्यों न हो उसके अन्तिम छोर तक दृष्टि अवश्य पहुँचती है; पर पर्वत ने अपनी लम्बाई और ऊँचाई दोनों ही से मानव के मन में उसकी लघुता और अपनी अनन्तता का भाव पैदा किया होगा। आकाश को स्पर्श करती प्रतीत होने वाली ऊँची भव्य पर्वत-श्रेणियों के सामने तत्कालीन मानव ने अपने को यदि बौने से भी छोटा समझा हो तो आश्चर्य क्या ? हिमाच्छादित पर्वत-श्रेणियों पर प्रातःकालीन और सायंकालीन सूर्य की किरणों से उत्पन्न अद्भुत दृश्य उसके मन में अनन्तता की भावना न जगाते रहे हों, यह कैसे सम्भव है ? ऊषा, सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे पर्वतों से उगते प्रतीत होते होंगे, आकाश उस पर विश्राम करता प्रतीत होता होगा।

नदी, पृथ्वी और अग्नि ने इस भावना को परिपुष्ट किया होगा। नदी का जल हमारे अनुभव की वस्तु है, पर उसका सम्पूर्ण रूप इन्द्रियों के अनुभव से बाहर की वस्तु है। कल-कल वेग से बहता हुआ उसका पानी आदिम मानव के हृदय में यह भावना पैदा करता होगा कि पृथ्वी के जिस भाग पर वह रह रहा है उससे अधिक विशाल वस्तु भी कोई अवश्य है। वह वस्तु अदृश्य है और दैवी शक्ति से भरपूर है। पृथ्वी हमारे लिए सान्त होते हुए भी उस समय के मानव के मन में अनन्तता की भावना पैदा करती रही होगी। यही भावना अग्नि के सान्निध्य से पैदा हुई होगी। बिजली, सूर्य, किन्हीं दो टुकड़ों की रगड़ से उत्पन्न स्फुलिंग, ग्रीष्म ऋतु में जलते हुए जंगल, सूर्य का कभी छिप जाना और कभी प्रकट हो जाना—इन सब बातों से उसके मन में न जाने कितने प्रश्नों की सृष्टि होती रही होगी। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए श्री मैक्समूलर ने कहा है—"मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सान्त से बाहर, उसके नीचे और उसके अन्दर, अनन्त सदैव निहित रहता है। यह हम पर दबाव डालता है और बढ़ाता है। जिसे हम सान्त कहते हैं, वह एक ऐसा पदार्थ है जो हमने अनन्त के ऊपर डाल दिया है। बिना अनन्त के सान्त की सत्ता नहीं और सान्त के बिना अनन्त की नहीं। तर्क स्थूल से सम्बन्धित है, जबकि विश्वास और श्रद्धा अनन्त से सम्बन्धित हैं।"

ऊपर हमने जिस भय और विस्मय की भावना का उल्लेख किया है, उसके

कारण मानव ने प्रकृति के विभिन्न रूपों में दैवी शक्ति का आरोप कर लिया। निरन्तर प्रवहमान वायु, प्रज्वलित सूर्य, शीतल चन्द्रमा, टिमटिमाते तारे, सबको भस्मसात् कर देने की शक्ति रखने वाला अग्नि, ऊपर से पानी की धारा गिराने वाले बादल—इन सभी को देखकर मानव ने अपने को असहाय पाया होगा। उसने इन तत्त्वों को शक्ति का प्रतीक समझकर इनकी स्तुति और पूजा आरम्भ की होगी। आरम्भ में प्रकृति के विभिन्न तत्त्व वैदिक सूक्तों में जैसे स्वयं ही स्तुति, उपासना और प्रार्थना के विषय बन जाते हैं। श्री विंटरनिट्स के शब्दों में, "बहुत धीमे-धीमे, शायद युगान्तर में, प्रकृति के आँगन में हो रहीं ये लीलाएँ सूर्य, सोम, अग्नि, द्यौ, मरुत्, वायु, आपः, उषा, पृथ्वी के रूप में दैवी बन गईं। फिर भी उनका मूल रूप सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सका। इस विषय पर वैमत्य को किंचित् भी अवकाश नहीं कि वैदिक गाथाओं के प्रमुख देवी-देवता इन प्राकृतिक शक्तियों के ही मूर्तीकरण हैं।[१]

वैदिक धर्म पर विचार करते हुए श्री ब्लूमफील्ड ने भी कहा है—"प्रकृति की शक्तियाँ ही मानवाकार में वैदिक ऋषियों द्वारा पूजा का पात्र बनीं, यह मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं।"

In any case enough is known to justify the statement that the key note and engrossing theme of Rigvedic thought is worship of the personified power of nature.[२]

अर्थात्—इस तथ्य को न्यायोचित मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं कि ऋग्वेद की विचारधारा में सर्वप्रमुख और सबसे अधिक ध्यान खींचने वाला तथ्य प्रकृति के मानवीकृत तत्त्वों की पूजा है।

आगे चलकर श्री ब्लूमफील्ड ने कहा है कि ऋग्वेद के पुरोहित कवि प्रकृति के तथ्यों और कार्यों को बड़े ध्यान से देखते थे और अपने कार्य में लगी हुई प्रकृति की शक्तियों की पूजा करते थे। उन्होंने हमें यह भी बताया है कि यहाँ का अत्यधिक चमकीला सूर्य, भयंकर किन्तु जीवन-प्रदायिनी वर्षा, उत्तर के हिमाच्छादित पर्वत और हरीतिमा, इन सबने मिलकर मानव के मन में ऐसी भावना पैदा की कि पहले से चली आती हुई प्राकृतिक तत्त्वों की देव-भावना के साथ इन्हें भी दैवी माना जाने लगा। यही नहीं, इससे नये प्राकृतिक देवताओं की इतनी बड़ी मात्रा में सृष्टि हुई कि उसके दर्शन अन्यत्र दुर्लभ हैं—

What is still important, it could hardly fail to stimulate the creation of nature-gods to a degree unknown elsewhere.[३]

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य (History of Sanskrit Literature), भाग १, प्राकृतिक तत्त्वों का क्रमिक दैवभाव (अस्पष्ट पार्श्व)

२. रिलि० वै०, पृ० ३०

३. वही, पृ० ८२

अर्थात्—"जो बात बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि यह प्राकृतिक देवताओं को इतनी बड़ी मात्रा में सृष्टि करने में सक्षम है कि जो अन्यत्र अज्ञात है।"

श्री ए० ए० मैक्डानल ने भी इस मत का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—"यह इतना आदिकालीन अवश्य है कि इसमें हमें मानवीकरण की वह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से काम करती हुई दीख पड़ती है जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य देवताओं के रूप में परिणत हुए थे।"[१] इसी प्रकरण में उन्होंने फिर कहा है कि "वे बिना किसी अपवाद के प्रकृति की एजेन्सियों के अथवा दृश्यों के दिव्यीकृत प्रतिरूप हैं।"[२] डा० मंगलदेव शास्त्री का मत भी ऐसा ही है। उनका कहना है कि प्राकृतिक शक्तियों का वैदिक देवताओं के रूप में यह वर्णन कितना सुन्दर और ऊँचा है। वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य-जीवन के सामीप्य की ही नहीं, तादात्म्य की भी आवश्यकता को बताता है।[३]

श्री आर० सी० मजूमदार का भी कथन है कि "ऋग्वेद के कवि प्रकृति के रहस्यों से और उनकी भयोत्पादिका शक्ति से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनकी रचना में उस आदिम दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास है जो प्रकृति को चेतनता से भरपूर देवता या आकाश के प्रकाशमय नक्षत्र स्वभावतः उनके लिए देवता बन गये"—

The R.V. Poets were deeply affected by the apparently mysterious working of the awe-inspiring forces of nature. Their hymns reflect in places that primitive attitude of mind which looks upon all nature as a living presence, or an aggregate of animated entities. The luminaries who follow a fixed course across the sky are the devas or gods. Naturally the sense of dependence of human welfare on the powers of nature, the unexplained mysteries of whose working invests them, with almost a "Supernatural" or divine character, finds its expression in various forms of worship.[४]

ऋग्वेद के कवि प्रकृति की रहस्यात्मक कार्य-विधि और भयोत्पादक शक्तियों से बहुत प्रभावित हुए। उनकी ऋचाएँ कितने ही स्थलों पर मस्तिष्क के आदिमकालीन उस दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं जो प्रकृति को या तो जीवित शक्ति के रूप में या फिर जीवित सत्त्वों के समूह के रूप में देखता है। वे चमकीले नक्षत्र, जो आकाश में एक निश्चित क्रम से चक्कर काटते हैं, देवता हैं। मानव-कल्याण का प्रकृति पर निर्भर

---

१. वैदिक देवशास्त्र, पृ० २
२. वही, पृ० ३
३. कल्पना (पत्रिका), जनवरी १९५४
४. वैदिक एज, पृ ३६०

रहना और अव्याख्यात प्राकृतिक रहस्य, जो अति प्राकृतिक और दिव्य रूप वाले हैं, इन सबने पूजा के रूप में अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त की ।

यह तो रही वैदिक देवों की सृष्टि की बात, अन्य देशों में भी प्राकृतिक शक्तियों का दैवीकरण पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है । श्री ए० सी० बोवेकर्ट ने मैसोपोटामिया के देवताओं की चर्चा करते हुए कहा है कि "इनमें से अधिकांश देवता प्रकृति की शक्तियों से ही उत्पन्न हुए हैं और उनके मानवीकरण में सामाजिक व्यवस्थाओं या संगठन का हाथ रहा है । इण्टिल नामक देवता का सम्बन्ध पृथ्वी से है और ईस्टर देवी उत्पादक शक्ति और प्रेम की संरक्षिका है"—

These gods are mostly nature-deities, combined with personifications of the Social organism. Entil, the God of the city of Nippur presided over the earth, while the great goddess Istar, specially worshipped at Uruk was the patron of fertility and love.[१]

अर्थात् अधिकांश में वे देवता प्रकृति के देवता हैं, साथ ही उनमें सामाजिक जीवन के मानवीकरण का भी समन्वय है । इण्टिल, जो निपूर नगर का देवता है, पृथ्वी का प्रतिनिधि है । ईस्टर देवी, जिसकी पूजा विशेष रूप से उर्क में होती थी, उत्पादन-शक्ति और प्रेम की सरंक्षिका है ।

मिस्र की नीलघाटी में यदि सूर्य की पूजा होती थी तो वह भी स्वाभाविक ही थी । वहाँ की प्राकृतिक अवस्था की माँग यही थी---

Since the sun is the Pre-dominant natural feature in the Nile Velley, ripening the crops with the life-giving rays, at a very early period it was worshipped as the Chief God in the pantheon, rising, it was supposed, as a falcon, surmounted by Solar disk and cobra without spread wings playing across the heavens as Re.[२]

क्योंकि नील-घाटी में सूर्य ही सर्वाधिक प्रमुख प्रकृति-तत्त्व है, वह अपनी जीवन-प्रदायिनी किरणों से फ़सलों को पकाता है, इसलिए बहुत पहले ही देव-परिवार में उसकी पूजा मुख्य देवता के रूप में होती थी । अपने उदय के समय यह उस श्येन के समान प्रतीत होता था जिसके चारों ओर सूर्य-चक्र है ; अथवा उस कोबरा सर्प के समान लगता था जिसने उड़ते समय अपने फन फैलाये हुए नहीं हैं ।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दें तो सारा मामला एकदम स्पष्ट हो जायेगा, हमने प्राकृतिक तत्त्वों के देवता बन जाने की जो बात कही है, उसका यह अर्थ कदापि न लगाया जाय कि समस्त देवताओं की उत्पत्ति प्राकृतिक तत्त्वों से ही हुई है । उसे

---

१. मैं० डीटि०, पृ० ११२-३
२. कन० डीटि०, पृ० ३२

एकमात्र कारण मानना बात को बहुत दूर तक घसीटने का प्रयास होगा। कुछ ऐसे भी देवता हैं जिनकी उत्पत्ति का समाधान इस ढंग से नहीं होता। जैसे अदिति, पूषन्, अर्यमा, बृहस्पति, प्रजापति। स्वयं ऋग्वेद में मन्यु, काम आदि अमूर्त देवता उपलब्ध होते हैं। हाँ, अधिकांश देवताओं की उत्पत्ति प्रकृति-तत्त्वों से हुई है, यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए।

मानवीकरण

हम आरम्भ में ही संकेत कर चुके हैं कि देवों के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ ही प्रमुख कार्य करता रहा है। जिस देश की जैसी परिस्थिति और आवश्यकता होगी, उस देश के निवासियों के जैसे आदर्श होंगे, उनके देवों का स्वरूप भी वैसा ही होगा। एक विद्वान् का कथन है कि देवता अपने विचारों के अनुसार ढाले जाते हैं। उनके बनाने वाले हम लोग उन्हें जैसे कपड़े पहना देते है अर्थात् जिस साँचे में ढाल देते हैं वे वैसे ही बन जाते हैं। यदि बैल, घोड़े और शेर हमारे समान कुछ बनाने की शक्ति रखते होते तो उनके देवता ठीक उन्हीं के अनुरूप होते।[1] डा० मंगलदेव शास्त्री ने भी देवों के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मूल में देवतावाद मनुष्य के आदर्शवाद का ही रूपान्तर है। देवताओं में जातीय भावों की छाया स्पष्ट रूप में रहती है। क्रूर कर्मों में निरत जाति के देवताओं और सौम्य जाति के देवताओं में अन्तर का यही कारण है। "यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" के अनुसार देवताओं की कल्पना में परिस्थिति का हाथ रहता है। शीत-प्रधान देश में अग्नि को देवता समझा जाना स्वाभाविक ही है।[2] ग्रीक लोग आरम्भ में कृषक थे, फिर नाविक बने, उनके देवता भी इसी प्रकार के हैं।

मैकडानल की यह निश्चित धारणा है कि स्रष्टा ईश्वर की जो रूपरेखा निर्धारित की गयी है उसके मूल में मनुष्य की रूपरेखा का हाथ अवश्य है।[3] एक अन्य विद्वान् का भी यही कथन है कि देव-समाज का निर्माण पुरुष-समाज के अनुकरण पर ही होता है। मानव जैसा खाते-पीते हैं, वैसे ही रूप में देवों को भी चित्रित करते हैं। देवता आभूषण पहनते हैं, घोड़े जुते हुए रथ में बैठते हैं, उनके अपने भवन हैं, जिस प्रकार आर्य असुरों से लड़ते थे उसी प्रकार ये राक्षसों से लड़ते हैं। वे ऊँचे प्रकार के क्षत्रियों में से हैं। कुछ पुरुष-देवता हैं, कुछ स्त्री-देवता। वीर इन्द्र पुरुष-देवता हैं, ऊषा स्त्री-देवता है, इन देवों के परस्पर विवाह भी होते थे।[4] श्री विल ड्यूराँ का भी मत ऐसा

---

१. दि रिलीजन आव ग्रीसः 'दि ह्यू मेनाइजिंग ऑव दि गॉड्स' नामक प्रकरण
२. 'कल्पना' (१९५५) में 'वैदिक धर्म की दार्शनिक भूमिका' लेख।
३. म० सा० अव०, पृ० ६९६
४. रिलि० ऋग्०, पृ० १०५

ही है। उनके अनुसार, देवों की वेशभूषा तथा भोजन उस देश के मानवों के स्वभावानुसार ही होता है। सुमेरियन देवों के रूप में वहाँ के जीवन की ही झाँकी दीख पड़ती है—

The Tallest of Guedea list of objects which the gods preferrerred, oxen, goats, sheep, doves, chickens, ducks, fish, dates, figs, cucumbers, butter, oil and cakes. We may judge from the list that the well-to-do sumerion enjoyed a plentiful cuisine.

भाव यह है कि देवता जिन खाद्य पदार्थों को सबसे अधिक पसन्द करते थे उनमें बैल, भेड़, बकरी, कबूतर, मुर्गा, बतख, मछली, खजूर का फल, अंजीर, खीरा, ककड़ी, मक्खन, तेल और रोटी के नाम प्रमुख हैं। इस सूची से पता चलता है कि सुमेरिया-निवासी सम्पन्न थे और वे पाक-विद्या में निपुण थे।

ग्रीस के देवता यद्यपि अमर थे और अपार शक्ति से सम्पन्न थे, पर फिर भी उनमें सभी मानवीय दुर्बलताएँ थीं। वे अनिश्चित-मति थे और एक युद्ध में कभी किसी का साथ देते थे, तो कभी किसी का। इन सब बातों का कारण यही है कि उस समय का मानव-चरित्र इसी प्रकार का था। श्री ई० ओ० जेम्स के विचार उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

Though immortal and possessed of unlimited power the Homeric Gods were subject to all the faults and frailities of human beings, They were capricious so that in battle between the Acheans and the Trojans, Zeus changed sides twice in one day. They discwssed their plans thwarted and conqured one another. They ate, drank, danced, married and gave in marriage—in short they were simply glorified and none too edifying mortals.[२]

अर्थात् होमरकालीन देवता यद्यपि अमर थे और अपार शक्ति से सम्पन्न थे तो भी उनमें मानवों के सभी अवगुण और दुर्बलताएँ विद्यमान थीं।

वे अनिश्चित मति वाले थे। इसलिए ज्यूस देवता ने ट्रोजन-युद्ध में एक दिन में दो बार अपना पक्ष बदला था। सामान्य सेनापतियों के समान वे युद्ध-योजनाओं पर विचार-विनिमय करते थे, शत्रु-योजनाओं को विफल करते थे और एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करते थे। वे खाते थे, पीते थे, नाचते थे और विवाह करते थे। संक्षिप्त रूप में वे मानव का उदात्तीकृत रूप थे।

एक अन्य प्रकरण में आगे चलकर उन्होंने कहा है कि मानव का यह स्वभाव

१. स्टो० सिवि०, भाग १, पृ० १२८
२. कन० डीटि, पृ० ४०

रहा है कि उसमें जो भी सर्वश्रेष्ठ गुण होते हैं, वह उन्हें अपने देवों में दिखलाने या चित्रित करने का यत्न करता है। यद्यपि इन देवों का स्थान आकाश होता है पर उनमें इस धरती के पुत्र की ही विशेषताएँ रहती हैं—

In the west the tendency has been to adopt an anthropomorphic rather than the cosmic view, making "man the measure of all things", from time immemorial the human mind has transferred to the objects of its veneration the qualities it recognizes in itself so that as we have seen the idea of a "megnified non-natured man" having his abode in the sky and sharing the attributes and limitations of earthly chiefs and medicinemen.[१]

अर्थात् पश्चिम में यह प्रवृत्ति रही है कि वहाँ प्रत्येक पदार्थ को जागतिक दृष्टिकोण से न देखकर मानवाकार रूप में देखा गया है। वहाँ सब पदार्थों का मापदण्ड मानव ही रहा है। अतिप्राचीन काल से मानव ने अपने पूजास्पद पदार्थों में वे सब गुण स्थानान्तरित कर दिये हैं जो उसमें विद्यमान थे। परिणाण यह हुआ है कि आकाश में हमें एक ऐसे अप्राकृतिक बृहत्तर मानव के दर्शन होते हैं जिसमें धरती-पुत्र के सभी गुण विद्यमान हैं।

देव-लोक की स्थिति : पृथ्वी पर या कहीं अन्यत्र ?

'देव शब्द की व्युत्पत्ति और उसके अर्थ' नामक प्रकरण के आरम्भ में हम कह आये हैं कि देव शब्द का अर्थ कान्तिमान् और चमकनेवाला है और द्यु-लोक इनका निवास-स्थान था। इस देव शब्द के धातुगत अर्थ से ही पता चल जाता है कि इन देवों का निवास पृथ्वी नहीं, आकाश-लोक है। परवर्ती संस्कृत-साहित्य में ब्राह्मणों को 'भू-सुर' या 'भू-देव' कहना भी यही सिद्ध करता है कि ये लोग भू-निवासी हैं और वास्तविक देव किसी अन्य लोक में निवास करते हैं। देवयान भी आकाश में ही है। देव अपनी इच्छानुसार अपने यानों पर अपने लोक में विचरण करते हैं, यह भी इस बात का संकेत करता है कि वे इस पृथ्वी के निवासी नहीं। देवों का अधिपति इन्द्र है और वह स्वर्ग का राजा है। देव-लोक और स्वर्ग, दोनों पयार्यवाची हैं। वेदों में जहाँ कहीं स्वर्ग की चर्चा है, वहाँ-वहाँ उसकी स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। जिस पितृ-लोक का उल्लेख वेदों में है वह भी देव-लोक के पास ही है। स्थान-स्थान पर परमव्योम के उल्लेख इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं छोड़ते। नीचे हम वेद और परवर्ती साहित्य के आधार पर अपने कथन को सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

१, कन० डीटि०, पृ० ७१

ऋग्वेद में कहा गया है कि वे पितर जो अग्नि से जलाये जा चुके हैं और जो नहीं जलाये गये, वे आकाश के बीच में स्वधा के द्वारा तृप्ति प्राप्त करते हैं [ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिव: स्वधया मादयन्ते (१०।१५।१४)]। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हे पितर ! तुम पितरों के पास आकाश में जाओ—संगच्छस्व पितृभि: सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् । एक दूसरे मन्त्र में ऐसे हितकारी स्वर्गलोक की बात कही गयी है जहाँ निरन्तर प्रकाश कहता है, जो लोक अमर है ।[१] यह सतत ज्योति आकाश में ही रहती है, वही अमर है। स्पष्ट है कि यहाँ स्वर्गलोक की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है । यह भी कहा गया है कि अश्व की दक्षिणा देने वाले पितर सूर्य के साथ द्युलोक में रहते हैं ।[२] इसी प्रकरण में कुछ आगे चलकर पितरों द्वारा सूर्य की रक्षा की बात कही गयी है ।[३] अथर्ववेद में पितरों की स्थिति द्युलोक में स्थित स्वर्गलोक के ऊपर के भाग में दिखायी गयी है ।[४] यह भी कहा है कि हे यजमान, तू नाक के उस ऊँचे भाग पर जा जिसे स्वर्गलोक के नाम से अभिहित किया जाता है ।[५] इस मन्त्र में प्रयुत 'अधिरोह' क्रिया स्पष्ट रूप से ऊपर चढ़ने की ओर संकेत करती है । कुछ और आगे चलकर ओदन से कहा गया है कि वह यजमान को स्वर्ग में चढ़ा दे ।[६] एक अन्य मन्त्र में कामना की गई है कि "जिस कर्म के अनुष्ठान से देवता लोग प्रकाशपूर्ण मार्ग से द्युलोक में स्थित स्वर्गलोक में गये हैं, हम भी वहीं जायें ।"[७] अन्य स्थानों पर "अग्निष्वात्त पितरों को निमन्त्रित करते हुए उनके देवमार्ग से आने" की बात कही गई है ।[८] यह भी कहा गया है कि "हे यजमान ! वसु आदि तुझे आकाश में स्थित स्वर्गलोक में पहुँचावें ।"

वेदों में स्थान-स्थान पर देव-मार्ग द्वारा जिस स्वर्ग या सुकृत लोक में जाने की बात कही गयी है वह द्युलोक में ही है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं । पितरों के निवासस्थान जिस पितृलोक की बात कही गयी है वह भी आकाश में ही स्थित है—यह वेदों में आये उल्लेख से एकदम स्पष्ट है । ब्राह्मण-ग्रंथों में भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं । यज्ञ का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि यज्ञ द्वारा देवता ऊपर-स्थित स्वर्गलोक में गये ।[९] यह भी कहा गया है कि मरुत् देवों के सेनापति हैं,

१. ऋक्, ६।११३।७
२. वही, १०।१०७।२
३. वही, १०।१५५।५
४. अथर्व०, १२।८।४७
५. वही, ११।१।७
१. वही, ११।१।३०
३. वही, ११।१।३७
३. यजु: १६-५८
४. यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वा स्वर्गं लोकमायन् ।। ऐतरेय, ६।१

उनका स्थान अन्तरिक्ष है और उनसे निवेदन किये बिना जो स्वर्ग जाता है उन्हें वे रोक देते हैं ।[1]

स्वर्ग का रूप

मानव-कल्पना की उड़ान जिन-जिन सुखों तक पहुँच सकती थी, उन सब सुखों की उपलब्धि इस स्वर्ग में ही होती है । इस स्वर्ग में सब-कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है, असुन्दर या कुरूप नहीं । यहाँ अक्षय यौवन है, अम्लान कुसुम हैं, इच्छानुसार सब-कुछ देने वाली कामधेनु है । वहाँ कहा गया है कि स्वर्ग में किसी तरह के रोग नहीं होते—

यात्रासु हार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वाया ।[2]

वहाँ जाने पर शरीर की सभी व्याधियाँ जाती रहती हैं, और शरीर के अवयवों की न्यूनताएँ भी दूर हो जाती हैं । वहाँ कोई लूला-लँगड़ा भी नहीं होता ।[3] यह भी कहा गया है कि वहाँ शरीर एकदम शुद्ध हो जाता है, वहाँ सुन्दर स्त्रियों का समूह है, लैंगिक संतुष्टि के सभी साधन वहाँ उपलब्ध हैं और विशेषता यह है कि संभोग-जन्य कष्टों का भी एकदम अभाव है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यान्ति लोकम् ।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम् ॥[4]

वहाँ आनन्द ही आनन्द है, मोद है, उल्लास है और सभी कामनाओं की तृप्ति आसानी से हो जाती है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।[5]

एक अन्य मन्त्र के अनुसार वहाँ दही, घी और मधु आदि रसों की नदियाँ बहती हैं ।[6] वहाँ विविध रंगों वाली और उज्ज्वल वर्ण वाली गौएँ भी हैं जो इच्छानुसार सब-कुछ देती हैं ।[7] इस बात का भी उल्लेख है कि वहाँ न शोषण है और न कोई शोषक ।[8] स्वर्ग में कोई कमी न रह जाय, इसलिए यह भी कहा गया है कि वहाँ पुरुष का अपनी पत्नी तथा सन्तान से मेल हो जाता है ।[9] वहाँ अजस्र ज्योति चमकती

---

१. यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वा स्वर्गं लोकमायन् ॥ ऐतरेय, २।४
२. अथर्व०, ६।१२०।३
३. वही, ३।८।२५
४. वही, ४।३४।२
५. ऋक्०, ९।११४।११
६. अथर्व,० ४।३५।६
७. वही, ४।३४।८
८. वही, ३।२९।३
९. वही, १२।३।१७

रहती है, सलिल अनवरत गति से प्रवाहित होता रहता है। सभी व्यक्ति स्वेच्छा से इधर-उधर घूमते हैं और किसी प्रकार की अतृप्ति का अनुभव उन्हें नहीं होता। यह भी कहा गया है—"देवताओं में न कोई बूढ़ा है, न कोई शिशु है, सभी युवा हैं और युवा ही रहते हैं।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, स्वर्ग में पहुंचने वाले भाग्यशालियों को जो सुख प्राप्त होता है वह पृथ्वी पर मिलने वाले सुख की अपेक्षा सौ गुना अधिक है।[2]

स्पष्ट है कि इस लोक की कल्पना पृथ्वी से भिन्न किसी और लोक को लक्ष्य में रखकर की गयी है।

परवर्ती साहित्य में भी स्वर्ग का रूप इसी से मिलता-जुलता है। वहाँ कहा गया है कि स्वर्ग में न किसी को भूख लगती है और न प्यास। गर्मी और सर्दी से भी वहाँ कोई कष्ट नहीं होता। वहाँ न शोक है, न बुढ़ापा; न थकावट है और न करुणाजनक विलाप। वहाँ के निवासियों की उत्पत्ति माता-पिता के रजोवीर्य से नहीं होती। उनके शरीर से पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं होती और वहाँ मल-मूत्र का भी अभाव ही है। उनके पहनने की मालाएँ कभी नहीं कुम्हलातीं और उनसे निरन्तर सुगन्ध फैलती रहती है।[3]

वेदों के अनुकरण पर ही परवर्ती संस्कृत-साहित्य में भी स्वर्ग की स्थिति आकाशलोक में ही मानी गयी है। वाल्मीकि-कृत रामायण में इस बात का उल्लेख है कि पृथ्वी के सब वीरों को पराजित करने के बाद भी जब रावण की रण-कण्डूषा न मिटी तो उसे मिटाने के लिए वह पुष्पक विमान में बैठकर यम के पास गया। स्वर्ग के अधिपति यम जब उससे युद्ध करते हैं तो अन्य देवता भी साथ आ जुटते हैं—

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य समेतास्तद् रणाजिरम्॥[4]

महाभारत में कहा गया है कि स्वर्ग नामक जो लोक है वह ऊपर है, वहाँ देवता यान द्वारा सवारी करते हैं—

उपरिष्टादसौ लोकोऽयं स्वरिति संज्ञितः।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शाश्वद् देवयानचरो मुने॥[5]

यहाँ पर यह भी कहा गया है कि वहाँ के निवासी देव, साध्य, गन्धर्व तथा

---

१. ऋक्०, ८।५।३१
२. शत०, १४।७।१
३. महा०, वनपर्व, अध्याय ४४, पृ० १६८३
३. वा० रा०, उत्तरकांड, पृ० १४६७ (पंडित पुस्तकालय, काशी)
५. महा०, वनपर्व, अध्याय २६१, पृ० १६८० (गीता प्रेस)

अप्सरा, इन नामों से पुकारे जाते हैं। दूसरे स्थान पर वर्णन है कि अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र अर्जुन को लिवा लाने के लिए जिस रथ को भेजते हैं वह आकाश के अन्धकार और बादलों के समूह को चीरता हुआ नीचे आता है—

नभो वितिमिरं कुर्वन् जलदान् पाटयन्निव ।[१]

भूमि-पुत्र नरकासुर द्वारा छीने गये देव-माता अदिति के कुण्डलों को वापस लाने के लिए जब कृष्ण स्वर्ग जाते हैं तो वे मेरु पर्वत पर खड़े होकर (मेरोः शिखर-मासाद्य) विभिन्न देव-स्थानों के दर्शन करते हैं। यहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मेरु पर्वत स्वर्ग में स्थित है। एक अन्य स्थल पर भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि मनुष्य लोक और यमलोक का अन्तर ८६ हजार योजन है। इसी ग्रन्थ में पुण्यकर्मा व्यक्तियों के निवास-स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ तारे हैं, सूर्य है और चन्द्रमा है।[२] एक स्थान पर तो स्वर्ग का लक्षण ही स्पष्ट रूप से प्रकाशमान किया गया है—

स्वर्गं प्रकाशमित्याहुस्तमो नरक एव च ।

पुराणों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में मानी गयी है। भागवत में कहा गया है कि जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से वर प्राप्त कर स्वर्गलोक को जीत लिया, तब वह वहीं इन्द्र के महल में रहने लगा। इन्द्र के महल का वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि वहाँ की विद्रुम पर सीढ़ियाँ थीं, मरकतमणियों का फर्श था, वहाँ की शय्याएँ दुग्धफेन के समान श्वेत थीं।[३] एक अन्य स्थान पर स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के अन्तर को २५ करोड़ योजन बताया है और कहा है कि स्वर्गलोक जाने के लिए सूर्यलोक होकर जाना पड़ता है।[४] विष्णुपुराण में भी स्वर्ग की अवस्थिति आकाश-लोक में ही मानी गयी है। श्री मैत्रेय के प्रश्नों के उत्तर में सात ऊर्ध्वलोकों का वर्णन करते हुए श्री पाराशर का कहना है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच में जो सिद्धगण और मुनिगण-सेवित स्थान है, वही दूसरा भुवलोक है। सूर्य और ध्रुव के बीच में जो चौदह लक्ष योजन का अन्तर है, उसी को लोक-स्थिति पर विचार करने वालों ने स्वर्लोक कहा है—

भूमिसूर्यान्तरं यच्च सिद्धादि-मुनि-सेवितम् ।
भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम ।।
ध्रुवसूर्यान्तरं यच्च नियतानि चतुर्दश ।
स्वर्लोक सोऽपि गदितो लोकसंस्थानचिन्तकैः ।।[५]

१. महा०, वनपर्व, अध्याय ४२, पृ० १०७० (गीता प्रेस)
२. वही, आश्वमेधिक पर्व, पृ० ६१३९ (गीता प्रेस)
३. भागवत, ७।४।९-११
४. वही, ५।२०।४३
५. वि० पु०, २।७।१७-१८

अन्य पुराणों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। इनमें इन्द्र आदि देवों को आकाशगामी कहा गया है।[१] एक और दूसरे स्थान पर वर्णन करते हुए कहा गया है कि नदी के किनारे गन्धर्व, किन्नर, यक्ष आदि अपने विमानों में बैठकर अपनी पत्नियों-सहित विहार करते हैं।[२] भगवान् कृष्ण इस भूलोक को छोड़कर जब स्वधाम चले गये तो द्युलोक में दुन्दुभि बजने लगी, आकाश से पुष्प-वृष्टि हुई—

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसस्व खात् ।[३]

यहाँ पर 'ख-आकाश' और द्यु-स्वर्ग' को एक ही माना गया है।

मर्त्यलोक और स्वर्गलोक में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "वहाँ किसी को भूख-प्यास नहीं लगती, गर्मी-सर्दी से कष्ट नहीं होता। वहाँ न शोक है न बुढ़ापा; वहाँ न थकावट है और न करुणाजनक विलाप है। वहाँ के निवासियों की उत्पत्ति माता-पिता के रजोवीर्य से नहीं होती। उनके शरीर में पसीना नहीं होता, दुर्गन्ध नहीं होती और मलमूत्र का भी अभाव रहता है। उनके पहनने की मालाएँ अम्लान रहती हैं और उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है।"[४]

कविकुल-चूड़ामणि कालिदास भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानते हैं। दिलीप जब ९९ अश्वमेध यज्ञ पूरे करके १०० वें यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ते हैं, तो उनके पुत्र रघु और इन्द्र में युद्ध होता है। कवि ने कहा है कि स्वर्ग में चढ़ने की इच्छा रखने वाले (दिवमारुरुक्षुः) दिलीप ने ९९ यज्ञों द्वारा मानो ९९ सोपानों की पंक्ति तैयार कर दी—

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ।।[५]

एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी को अलग-अलग मानकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्वर्ग इस पृथ्वी पर नहीं है। स्वयंवर के समय वेत्रवती द्वार-पालिका इन्दुमती से कहती है कि अंगदेश का राजा पृथ्वी पर भी स्वर्ग के ही समान भोग भोग रहा है—

जगाद चैनामयमेकनाथः सुरांगना-प्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ।।[६]

राक्षसों का विनाश कर जब राजा दुष्यन्त स्वर्ग से लौटते हैं तो आकाश-मार्ग

१. म० पु० म०, ३९
२. का० पु० अ०, १९१
३. नाग०, ११।३०।७
४. महाभारत, वनपर्व, अ० १६१, पृ० १६८३
५. रघुवंश, ३।६९
६. वही, ६।२७

से लौटते हैं। राजा द्वारा मार्ग के विषय में पूछे जाने पर इन्द्र के सारथि मातलि उन्हें सारी बातें सविस्तार समझाते हैं। यहाँ पहले परिवह नामक छठे वायुमार्ग का वर्णन है और फिर मेघमण्डल का।[1]

महाकवि भारवि के मत में भी स्वर्ग आकाश में ही स्थित है। शिव को प्रसन्न करने के लिए अर्जुन हिमालय पर्वत पर घोर तप कर रहे हैं। उनकी परीक्षा के लिए इन्द्र स्वर्ग से अप्सराओं को भेजते हैं। जब ये अप्सराएँ स्वर्ग से चलती हैं तो उनके रथ उस मार्ग से होकर आते है जिसमें सूर्य आदि ग्रह विचरते हैं, उनके रथ के पहिये बादलों को रगड़ते हुए चलते हैं—

क्रान्तानां ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम्।
निःसंगं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः संपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु॥[2]

रथ के पहियों ने तो रगड़ कर ही छोड़ दिया था, परन्तु देव-हाथियों ने अपने दाँतों के प्रहार से उन बादलों को क्षत-विक्षत ही कर दिया—

तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्नाः प्रह्लादं सुरकरिणां घनाः क्षरन्तः।
युक्तानां खलु महतां परोपकारे कल्याणी भवति रुजस्त्वपि प्रवृत्तिः॥[3]

कवि हर्ष के वर्णनों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। दमयन्ती के स्वयंवर के अवसर पर इन्द्र-आदि चार देवता नल का रूप धारण करके आते हैं, पर दमयन्ती असली नल को पहचान लेती है। पहचान हो जाने पर ये देवता अपने कृत्रिम रूप को छोड़कर स्वर्ग को जाते हैं तो आकाश-मार्ग से ही जाते हैं—

इत्थं वितीर्य वरमम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुलः प्रणादः।
उत्तिष्ठतां परिजनालयनैर्नृपाणां स्ववासि वृन्दहतदुन्दुभिनादसान्द्रः॥[4]

प्रसंगवश हम यह भी कह देना चाहते हैं कि अन्य धर्मों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। जापान में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। उनके विश्वास के अनुसार इजानागी, जो एक साधारण प्राणी था, मृत्यु के बाद स्वर्ग गया और वहाँ सूर्य के महल में निवास करने लगा। स्वर्ग वह स्थान है जहाँ महान् व्यक्ति —पीर, मिकाडो जाते हैं और देवताओं के साथ रहते हैं।[5] मुसलमानों में भी बहिश्त का ऐसा रूप है जिसमें आनन्द ही आनन्द है। इसमें शान्ति का आवास है, सुन्दर महल हैं, प्रवाहशील नदियाँ है, कोमल रेशमी शय्या हैं। वहाँ

१. अभिज्ञानशकुन्तलम्, सर्ग ७
२. किरातार्जुनीयम्, ७।१२
३. वही, ७।१३
४. नैषधचरितम्, १४।९२
५. इन० रि० ऐथि०, भाग २, पृ० ७००

का भोजन, पेय पदार्थ, सभी अलौकिक हैं, वहाँ सुन्दर नेत्रों वाली युवतियाँ हैं, पवित्र पत्नियाँ हैं।[१] कहना न होगा कि यह बहिश्त आकाश में है।

वैकुण्ठ

देवलोक या स्वर्ग के साथ वैकुण्ठ की चर्चा भी प्राय: आती ही रहती है और इसकी स्थिति और स्वरूप के विषय में पाठकों की जिज्ञासा का यत्किंचित् समाधान प्रसंगानुकूल ही रहेगा। भगवान् विष्णु का नाम वैकुण्ठ है और उनके नाम पर उनके लोक का नाम वैकुण्ठ पड़ा है, ऐसा पुराणों में कहा गया है।[२] एक अन्य स्थान पर एक कथा द्वारा और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है कि भगवान् विष्णु के निवास-स्थान का नाम ही वैकुण्ठ है। कथा इस प्रकार है कि एक बार सनकादि मुनि आकाश-मार्ग से विचरण करते हुए सर्वलोक-नमस्कृत वैकुण्ठलोक में गये। वहाँ आदि-नारायण सदैव विराजमान रहते हैं। वहाँ 'नैश्रेयस' नामक वन है, उसमें कामदुघ वृक्ष हैं, वहाँ हर समय छः ऋतुएँ बनी रहती हैं। लक्ष्मी भी वहीं रहती हैं। भगवद्दर्शन की लालसा से वैकुण्ठधाम की छह ड्यौढ़ियों को पार करके जब सनकादि सातवीं ड्यौढ़ी पर पहुँचे तो वहाँ हाथ में गदा लिये समान आयु वाले दो देव-श्रेष्ठ दिखलायी पड़े जो बाजूबन्द, कुण्डल और किरीट आदि अनेकों अमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे। रोके जाने पर सनकादि ने उन्हें वैकुण्ठ से निकालकर उन पापमय योनियों में जाने का शाप दिया जहाँ काम-क्रोध-लोभ आदि निवास करते हैं।[३] यद्यपि इस लोक के सुख स्वर्ग के सुख के समान हैं पर कुछ बातों में यह स्वर्ग से श्रेष्ठतर है। कहा गया है कि स्वर्ग में रहने की अवधि एक कल्प की होती है। वहाँ भोगों की अधिकता है अत: प्राणी भगवान् का स्मरण नहीं करते, इस दृष्टि से यह वैकुण्ठ स्वर्ग की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।[४] एक अन्य पुराण में भी वैकुण्ठ को श्रीकृष्ण का निवास-स्थान बताया गया है। विष्णु और कृष्ण अभिन्न हैं यह भी सब जानते हैं। भगवान् कृष्ण कहते है कि मैं न वैकुण्ठ में रहना पसन्द करता हूँ, न गोलोक में और न राधा के समीप ही; मैं तो वहीं रहना पसन्द करता हूँ जहाँ मेरे भक्त रहते हैं—

> न मे स्वास्थ्यं च वैकुण्ठे गोलोके राधिकान्तिके।
> यत्र तिष्ठन्ति भक्ताः मे तत्र तिष्ठाम्यहर्निशम्॥[५]

वैकुण्ठ की अवस्थिति भी स्वर्ग के समान आकाशलोक में है, इसमें सन्देह

---

१. मुह० हिस्टा० सर्वे०, पृ० ५४

२. भागवत, १५।१६।६

३. भागवत, ३।१५

४. वही, ३।१४।३

५. वही, ४।१२।३०-३२

नहीं। कहा गया है कि जब विष्णु के पार्षदों के साथ ध्रुव विष्णुलोक को गये तो मार्ग में उन्होंने सूर्य-आदि ग्रह देखे और देवता भी उन्हें मिले। यह सब तभी संभव है कि जब इस वैकुण्ठ की स्थिति आकाश में हो।

परमपद, परमधाम (नित्यधाम)

इन दोनों शब्दों से विष्णुलोक ही अभीष्ट है– यह वैदिक एवं वैदिकोत्तर साहित्य से एकदम स्पष्ट है। वेदों में कहा गया है कि विशेष रूप से स्तुति करने वाले और जागरूक व्यक्ति जिस पद को प्राप्त करते हैं वह विष्णु का परमपद ही है। विष्णु-लोक का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि विष्णु के उस परमपद में मधु का निष्यन्द है तथा वहाँ क्षुधा और तृषा का भय नहीं। यह भी कहा गया है कि विष्णु के इस परमपद में प्रिय लोक को प्राप्त करने की अभिलाषा सभी करते हैं। उपनिषदों में भी विष्णु के धाम को परमधाम कहा गया हैं। वहाँ कहा गया है कि जिस व्यक्ति का सारथि विज्ञान है और जिसने अपने मन पर निग्रह कर लिया है वह विष्णु के उस परमपद को प्राप्त करता है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ कठोपनिषत् ३।९

पुराणों में भी इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं। कहा गया है कि वहाँ मन को सब विषयों से हटा लेना चाहिए। वह अन्य किसी वस्तु का स्मरण न करे। जहाँ मन प्रसन्न होता है वह विष्णु का स्थान ही परम पद है।[१] इस लोक की प्राप्ति सभी को सुलभ नहीं। विरले भाग्यशाली व्यक्ति ही इसे प्राप्त कर पाते हैं। ब्रह्मा ने भी जब कठिन तपस्या की तभी उन्हें इस लोक के दर्शन हुए थे। भागवत में वर्णन है कि ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें अपने लोक के दर्शन कराये। यह लोक सब लोकों से श्रेष्ठ है, इससे परे कोई दूसरा लोक नहीं। इस लोक में किसी प्रकार का क्लेश, मोह और भय नहीं। जिन्हें एक बार भी इसके दर्शन का सौभाग्य मिल जाता है, देवता उसकी स्तुति करते हैं। वहाँ रज, तम, सत्त्व कुछ भी नहीं है; वहाँ न काल है और न माया है। वहाँ वे व्यक्ति रहते हैं जिनका पूजन सुर और असुर दोनों करते हैं, वही विष्णुलोक है।[२] अन्य पुराणों में भी विष्णु के पद को ही परमपद कहा गया है। उसके स्वरूप को समझाते हुए कहा है कि जो न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न किसी अन्य विशेषण का विषय है वही भगवान विष्णु का परमपद है।[३] जो विशुद्ध बोधस्वरूप, नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय और अविकारी है, वही

---

१. भागवत, १।१७।३८
२. वही, २।६
३. विष्णुपुराण, ६।५२

विष्णु का परमपद है ।[1] योगीगण अपने पुण्यपापादिका क्षय हो जाने पर ओंकार द्वारा चिन्तनीय जिस अविनाशी पद का साक्षात्कार करते हैं, वही भगवान् विष्णु का परम-पद है ।[2]

जो परमधाम है वही नित्यधाम भी है ।

एकदेववाद तथा अनेकदेववाद

देवों की चर्चा आते ही वैदिक साहित्य के प्रत्येक अध्येता के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वेदों में और उससे सम्बन्धित परवर्ती साहित्य में एक ही देवता की स्वीकृति है या अनेक देवताओं की । इस विषय में मतैक्य भले ही न हो पर अधिकांश विद्वानों के मत में वेदों में अनेक देववाद को ही मान्यता प्राप्त है । हमारे अपने मत में वेदों में अनेक देवों की स्वतन्त्र सत्ता का उल्लेख स्थान-स्थान पर है और यह निःसन्दिग्ध रूप में अनेकदेववाद की ही स्वीकृति है । जैसा कि हमने 'देव-भावना का मनोविज्ञान' नामक प्रकरण में कहा है, वेदों में देव-भावना की उत्पत्ति प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर हुई है । भय और विस्मय आदि अनेक भाव-तत्त्वों के कारण हमने प्रकृति के इन तत्त्वों को शक्ति का प्रतीक मानकर देवरूप में ग्रहण किया है । यही कारण है कि प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र रूप में देवता बन गया है । वास्तविक बात यह है कि कोई देवता अपनी सत्ता और शक्ति के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता । यही कारण है कि वैदिक ऋषि जब किसी देवता की स्तुति करता है तो उसे सर्वाधिक शक्तिशाली मानकर ही ऐसा करता है ।

विकास की स्वभाविक प्रक्रिया भी यही है । अनेकत्व में एकत्व ढूंढ़ना उसी समय संभव है कि जब मानव की बुद्धि का पर्याप्त विकास हो चुका हो । परिवारों के लिए व्यक्ति का, ग्राम के लिए परिवार का और देश के लिए ग्राम का बलिदान या त्याग करने की बात का सोचना तभी संभव हुआ जब मानव की उदात्त भावनाएँ परिपुष्ट हो चुकी थीं तथा परहित और राष्ट्रहित की बात वह समझने लगा था । यदि कई सहस्र वर्षों के इतिहास के बाद आज के युग में ही किसी ऐसी विश्व-सरकार की सूझ हमारे मस्तिष्क में आयी है तो इसका कारण भी स्पष्ट है । बात यह है कि प्रारम्भिक अराजकता ने राजा को जन्म दिया, उसके बाद प्रजातन्त्र का विचार आया और अब विश्व की किसी ऐसी मिली-जुली सरकार का स्वप्न हम ले रहे हैं कि जो सभी राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का शान्तिपूर्वक निपटारा करने में समर्थ हो सके । भाषा के विकास की भी यही प्रक्रिया है । पहले अनेक स्थानीय भाषाएँ पैदा हुई होंगी और तदनन्तर ही किसी राष्ट्रीय भाषा का निर्माण सम्भव हुआ होगा । अध्यापक मैक्समूलर ने भी अनेकदेववाद के गर्भ से ही एकदेववाद के जन्म को इन

१. विष्णुपुराण, ६।५४
२. वही, ६।५४

शब्दों में स्वीकार किया है, "एकदेववाद और बहुदेववाद को समझाने के लिए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्यवस्थित राज्य-प्रणाली से पूर्व किसी प्रकार की अराजकता रही होगी, उसी प्रकार एकदेववाद से पूर्व बहुदेववाद का होना अनिवार्य है। भाषा के निर्माण में भी यही सिद्धांत लागू होता है। एक राष्ट्रीय भाषा से पूर्व अनेक स्थानीय भाषाएँ रहती हैं। धर्म की उत्पत्ति भी हर घर में होती है, उसका हर घर का अपना रूप होता है। जब सब परिवार जाति में मिल जाते हैं तो वह एक स्थान ग्राम का पवित्र स्थान (बलिस्थान) बन जाता है। जब भिन्न जातियाँ राष्ट्र के रूप में संगठित होती हैं तो विभिन्न बलि-स्थान मन्दिर बन जाते हैं, यह प्रक्रिया स्वाभाविक है और विश्वजनीन है, सब पर समान रूप से लागू होती है। वेदों में यह एकदम स्पष्ट है।[1]

हमने अभी ऊपर विकासवाद की प्रक्रिया की चर्चा की है। अन्य देशों का धार्मिक इतिहास भी हमारे इस कथन की पुष्टि करता है। बेबीलोनिया का आरम्भिक इतिहास बहुदेववाद की भावना से परिपूर्ण है। जैसी उनकी अनन्त अभिलाषाएँ थीं, वैसी ही अनन्त संख्या उनके देवों की भी थी। अनन्तर इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनन्त देवताओं की स्वीकृति स्वाभाविक ही थी। ईसा-पूर्व नवम शताब्दी में वहाँ देवों की जो गिनती की गई थी, उसमें उनकी संख्या ६५,००० थी। मिस्र की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। वहाँ भी अनेक देवों का साम्राज्य था। वहाँ वृषभ,मकर, मेष, बिल्ली, कुत्ता आदि पशुओं की पूजा प्रचलित थी।

मिस्र में एक राजा ने अनेकदेववाद के स्थान पर एक देव सूर्य की पूजा का प्रचलन किया। उनका यह देव सभी देशों का था। वह सर्वव्यापक था, वनस्पतियों और पुष्पों में उसका आवास था। पर यह मत मान्य न हो सका। लोग लुके-छुपे अनेक देवतारों की पूजा करते रहे और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने पुनः अनेक देवताओं की स्थापना की।[2] यूनान में ज्यूस, पैसिडोन, हैडस, अपोलो, अरटेमिस आदि अनेक देवों की पूजा का विधान था। वहाँ हर परिवार का पृथक् देवता होता था। ईरान और भारत के आर्यों का परिवार एक है अतः जो यहाँ का इतिहास है, वही वहाँ का भी है।

ऐसे भी बहुत से विद्वान् हैं जो एकदेववाद और पुनर्जन्मवाद को व्रात्यों (द्रविडों) की देन मानते हैं। इनका कथन यह है कि आर्यों और द्रविड़ों के पर्याप्त साहचर्य के बाद आर्यों ने एकदेववाद की भावना द्रविड़ों से ग्रहण कर ली। यही कारण है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही, जो निश्चित रूप से परवर्ती रचना है, प्रथम बार एकदेववाद की झाँकी देखने को मिलती है। इस प्रकार के बहुत-से नामों

---

१. ओ० ग्रो० रि०, २८६

२. स्टो० सिवि०, पृ० २१०-१

का उल्लेख न कर हम यहाँ श्री ए० पी० करमरकर के नाम का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त समझते हैं। उनका कथन है कि वास्तविकता यह है कि एकेश्वरवाद का आरम्भ, कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त, योग और भक्ति, तपश्चर्या और कर्मकाण्ड को व्रात्यों की देन माना जा सकता है।[1]

अन्त:साक्ष्य के आधार पर भी वेदों में अनेकदेववाद ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में देवताओं की संख्या अधिकांश स्थलों पर तैंतीस मानी गयी है। 'देवताओं की संख्या' और 'देव-कोटियाँ' नामक प्रकरणों में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार वहाँ स्थान-स्थान पर कहा गया है कि ११ देवता द्युलोक में रहते हैं, ११ अन्तरिक्ष में और ११ पृथ्वी पर। एक मन्त्र में कहा गया है—

त्रयस्त्रिंशद् देवास्त्रीणि च वीर्याणी प्रियायमाण जुगुपुरस्वन्त: ॥

यद्यपि देवता तैंतीस हैं, पर उनमें भी तीन अधिक वीर्यवान् हैं। शौनक के अनुसार देवता तीन हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। इन्हीं तीन का वर्णन विभिन्न नामों और प्रकारों से किया गया है। देवता इन्हीं के आश्रित हैं—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ॥
एतेषामेव माहात्म्यात् नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते ॥
तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकश:।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम् ॥

एक स्थान पर तो यह संख्या ३३३९ तक पहुँच गयी है। वैदिक संहिताओं में ३५०० मन्त्र इन्द्र के सम्बन्ध में हैं और २५०० के लगभग अग्नि के सम्बन्ध में हैं। इसी प्रकार अन्य देवों की स्तुति में भी बहुत से मन्त्र हैं। जैसा हम इस प्रकरण में आरम्भ में ही कह आये हैं, उन सबमें उनकी स्तुति उन्हें स्वतन्त्र देव मानकर ही की गयी है।

बहुत-से विद्वान् इन देवों के स्वरूप की व्याख्या करते समय इन शब्दों का अर्थ ऐश्वर्यशाली, परम प्रकाशमान्, अग्रणी, राजा आदि करके इन्हें एक ही देवता सिद्ध करने का यत्न करते हैं, पर यह उनका पूर्वाग्रह ही है। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर डा० मंगलदेव शास्त्री के इन शब्दों को ही उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं, "इस सम्बन्ध में एक और बात की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक है। आजकल वेद-व्याख्याता अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्वरूप की व्याख्या प्रकाशमान् ईश्वर, परमैश्वर्यशाली, परमेश्वर इत्यादि प्रकार से कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। पर क्या उनका प्रयोग वेद में विशेषण रूप में ही है? ऐसा तो प्रतीत नहीं

---

१. रि० आ० इ० (भूमिका भाग), पृ० ६

होता। तत्तद्देवता के लिए निश्चित रूप से विभिन्न नाम स्थिर कर देने का अभिप्राय उनके लिए स्वरूप प्रदान करना होना चाहिए।"[१]

हमारे उपर्युक्त कथन का यह भाव कदापि नहीं कि वेदों में एकदेववाद है ही नहीं। हम तो केवल यह कहना चाहते हैं कि वेदों में एकदेववाद की उत्पत्ति अनेक-देववाद के बाद ही हुई है। हम तो ऊपर कह आये हैं कि ऋग्वेद के दशम मण्डल तक आते-आते एकदेववाद की विचारधारा स्फुट हो चुकी है। इस मंत्र में—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाजगे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः॥[२]

स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वास्तविक ब्रह्म को और तैंतीस देवताओं को एक ही समझना चाहिए। एक अन्य मंत्र—

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[३]

में भूत और भविष्य तथा अन्य सब वस्तुओं को उसी एक शक्ति का रूप मानकर नमस्कार किया गया है। यजुर्वेद में तो यह भावना और भी स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि वही शक्ति अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही आपः है और वही प्रजापति है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म स आपः स प्रजापतिः॥[४]

एक अन्त्र मन्त्र में कहा गया है—"सृष्टि के आदि में केवल वह हिरण्यगर्भ ही विद्यमान था, वही समस्त भूतों का अधिपति है, वही द्युलोक और पृथ्वीलोक को धारण करता है, और उसे हम नमस्कार करते हैं"—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि उनका स्पष्ट झुकाव एकदेववाद की ओर है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि और वायु एक होते हुए भी नाना भूतों में समाविष्ट होने के कारण नानारूप में दिखायी देते हैं पर हैं वास्तव में वे एक ही; इसी प्रकार वास्तव में एक ही देव है और वही विभिन्न प्राणियों में विभिन्न रूपों में दिखायी देता है। कुछ और आगे चलकर परम सत्ता के स्वरूप को समझाते

१. कल्पना (जनवरी-फरवरी १९५४)
२. ऋग्वेद, १०।७।२७
३. वही, १०।९।१
४. यजु० ३२।१

हुए कहा है कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि मे अपना कोई प्रकाश नही, वे तो उसी की कान्ति से प्रकाशित होते है। उपनिपदो मे उसे स्थान-स्थान पर 'एक' कहकर पुकारा गया है, एक उपनिषद् मे देवो की सख्या पूछी जाने पर याज्ञवल्क्य पहले तो ३३०६ बताते है, फिर ३३, फिर ६, फिर ३ और अन्त मे १ पर आ जाते है।[1] हमारा अनुमान है कि यह वह प्रक्रिया है कि जिसके द्वारा बहुदेववाद से एकदेववाद तक पहुँचा गया है। केनोपनिषद् मे कहा गया है कि "अग्नि और वायु उस परमशक्ति के बिना एक छोटे-से तिनके को न जला सके और न उडा सके। उनमे अपनी कोई शक्ति नही।" जैमिनीय ब्राह्मण मे भी याज्ञवल्क्य से जब यह पूछा गया कि कुल कितने देवता है, तो आरम्भ मे उन्होने ३३२६ बताये, फिर पूछे जाने पर ३ बताये, फिर २, अन्त मे १ पर आ गए।[2] उद्धरण इस प्रकार है—

त ह पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति। स होवाच त्रयश्य, त्रिशच्च,
त्रयश्च, त्री च शता, त्रयश्च त्री च सहस्रा, यावन्तो निविदाम्यदृता
इति। ओम इति होवाच कत्य एव देवा इति। त्रय इति। ओमिति
होवाच। कत्य एव देवा इति। द्वावेति कत्य एव देवा एक इति।

इस प्रकार हम देखते है कि अनेकदेववाद और एकदेववाद की धाराएँ समानान्तर रूप मे प्रवाहित होती रही है। यहाँ प्रसगवशात् यह कह देना आवश्यक है कि अध्यापक मेक्समूलर अनेकदेववाद के गर्भ से एकदेववाद की उत्पत्ति मानते हुए भी इसे 'हीनोथीज्म' कहना पसन्द करते है। 'हीनोथीज्म' का अर्थ है एक-एक देवता को बारी-बारी से सर्वोच्च मानकर उसकी स्तुति करना। दूसरे शब्दो मे, इसे यो कहा जा सकता है कि वैदिक ऋषि जब किसी देवता की स्तुति करता है तो उसके लिए सर्वोच्च विशेषणो का प्रयोग करता है। परिणाम यह होता है कि एक देवता के लिए प्रयुक्त बहुत-से विशेषण ठीक उसी रूप मे दूसरे देवता के लिए भी प्रयुक्त किये जाते है। यदि कही इन्द्र को सब देवताओ मे श्रेष्ठ कहा गया है तो कही सोम को मनुष्यो, देवो और स्वर्ग का राजा कहा गया है। श्री मैक्समूलर के शब्दो मे, कहा जा सकता है कि अगर वैदिक धर्म को कोई नाम देना ही है तो उसे 'हीनोथीज्म' ही कहना ठीक है। इसका अर्थ उपासको के उस विश्वास से है जिसमे वे किसी एक वस्तु को, जो देखने मे सान्त है, अनन्त मानकर उसकी पूजा करते है। इसमे वह वस्तु धीरे-धीरे असुर (प्राणवान्), देव (चमकीली) और अमर्त्य बन जाती है। चाहे तो कह सकते है कि वह स्वय ईश्वर बन जाती है। उसकी स्तुति वहाँ इसी रूप मे की गयी है।

देव-कोटियाँ

हम मनुष्यो मे किसी-न किसी तरह का श्रेणी-विभाजन चलता ही रहता

---

१ बृहदारण्यक ३।३९

२. जैमिनीय ब्राह्मण, ७७।१।८०

है। वैदिक काल में चार वर्ण थे। आरम्भ में कर्म और तदनन्तर जन्म के आधार पर वर्णों का विभाजन हुआ था। वर्ण-व्यवस्था के अपने उस रूप में लुप्त हो जाने के बाद भी आज के समाज को व्यवसायों के आधार पर विभाजित किया जा सकता है। साम्यवादी रूस में भी धनी और निर्धन या शोषक और शोषित का विभाजन स्वीकृत ही है। वर्गहीन समाज की कल्पना में भी वर्ग का अस्तित्व है ही। वर्ग या श्रेणी-विभाजन की यह स्वाभाविक स्पृहा हमें देवों में भी श्रेणी-विभाजन की जिज्ञासा के लिए बलात् प्रवृत्त करती रहती है।

विद्वान् आलोचकों ने देवों को जिन भिन्न-भिन्न कोटियों में विभाजित करने का यत्न किया है उनमें से किसी एक को ही सबने समान रूप से स्वीकृत नहीं किया। किसी देवता के नाम का उल्लेख कितनी बार हुआ है, इसके आधार पर भी इनका वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया है; अर्थात् जिस देवता का नाम जितनी अधिक बार आया है वह देवता उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस आधार पर इन सभी देवों को इन पाँच श्रेणियों या कोटियों में विभाजित किया गया है—

(१) इन्द्र, अग्नि, सोम।
(२) अश्विनौ, मरुत्, वरुण।
(३) उषस्, सविता, बृहस्पति, सूर्य, पूषा।
(४) वायु, द्यावापृथिवी, विष्णु, रुद्र।
(५) यम, पर्जन्य।

पर संख्या के आधार पर किया गया यह विभाजन न तो न्यायसंगत ही है और न वांछनीय ही। इन्द्र के लिए २५० सूक्त कहे गये हैं। सूक्तों की दृष्टि से वह द्वितीय कोटि में आता है। यदि किसी देवता का अनेक बार उल्लेख हुआ है तो ऐसा उसके अपने निजी महत्त्व के कारण ही हुआ हो, यह आवश्यक नहीं। अनेक बार उल्लेख होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, मरुत का अनेक बार उल्लेख इन्द्र के साहचर्य के कारण ही हुआ है, कोई अपनी महत्ता के कारण नहीं। सोम का सीधा सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया से है अतः यज्ञ के प्रकरण में उसका उल्लेख अनिवार्य है। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर श्री ए० ए० मैक्डानल तथा अन्य विद्वानों ने इस वर्गीकरण को अस्वीकृत कर दिया है।

इन देवताओं में बहुत-से देवता भारोपीय हैं। ये देवता भारत के अलावा अन्य यूरोपीय देशों में भी पाये जाते हैं। कुछ ऐसे देवता हैं जिनका विकास पूरी तरह हुआ है और कुछ ऐसे भी हैं कि जिनका विकास आधा ही हुआ है। इन सबके आधार पर श्री मौरिस ब्लूमफील्ड ने इन देवों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(१) प्रागैतिहासिक (प्री-हिस्टोरिकल)—जिन देवताओं का उल्लेख 'अवेस्ता' में भी प्राप्त होता है। इनमें से कुछ का मूल स्पष्ट है और कुछ का नहीं। जैसे द्यौ, वरुण, मित्र, अर्यमा।

(२) पारदर्शी अथवा स्पष्ट देवता (एन्थ्रोपोफैलिक Anthropofelic)—जिनका व्यक्तित्व पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ और जो देवता होने के अतिरिक्त किसी विशेष प्राकृतिक तत्त्व को भी सूचित करते हैं।

(३) अल्प-पारदर्शी, अर्धस्पष्ट (ट्रान्सलूसेण्ट Translucent)—जिनकी प्रकृति के मूल को ढूंढ़ने का कार्य शोधक को करना पड़े। उनका प्रकृति का रूप कुछ अवशिष्ट है यद्यपि वैसे पूर्ण विकास हो चुका है। जैसे विष्णु।

(४) अपारदर्शी अस्पष्ट (ओपेक Opeque)—जिनका मूल रूप स्पष्ट नहीं और जो अपने मूल रूप में बहुत दूर जा चुके हैं। जैसे इन्द्र, वरुण, अश्विनौ।

(५) अमूर्त्त (Abstract)—जो आकार-रहित हैं और किसी कार्य, इच्छा या भय आदि की भावना को व्यक्त करते हैं। जैसे प्रजापति, विश्वकर्मा।[१]

पर यह विभाजन भी दोषपूर्ण है। जब तक प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल का ठीक-ठीक निर्णय न हो जाये, तब तक किसी को प्रागैतिहासिक कह सकना कठिन है। इन्द्र अवेस्ता में आता है, वह प्रागैतिहासिक भी है और चूंकि उसके मूल रूप की ठीक-ठीक खोज नहीं की जा सकती, अतः वह अपारदर्शी देवों की श्रेणी में भी आता है। यही बात वरुण पर भी लागू होती है। वह प्रागैतिहासिक है क्योंकि 'अवेस्ता' में अहुरमज्द की चर्चा सहस्रशः स्थानों पर है पर साथ ही वह अस्पष्ट देवताओं में भी आता है क्योंकि उसके उद्भव का निर्णय ठीक-ठीक ढंग से नहीं हो सका। वात देवता का अन्तर्भाव भी प्रागैतिहासिक और पारदर्शी दोनों ही में हो सकता है।

कुछ व्यक्तियों ने इन्हें कार्यों के अनुसार बाँटने का प्रयास किया है। जिस प्रकार भारतीय समाज में चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे, इसी प्रकार इन कवियों ने देवों को ब्राह्मण-आदि चार वर्णों में विभाजित किया है। जिस प्रकार वैदिक समाज में पुरोहित, क्षत्रिय और साधारण आदमी थे, उसी तरह अग्नि और बृहस्पति पुरोहित-वर्ग के थे। इन्द्र और मरुत क्षत्रिय थे। त्वष्टा और ऋभु शिल्पी थे। खेती करने वालों के, चाहे वे वैश्य थे या शूद्र, अपने अलग-अलग देवता थे—क्षेत्रपति, ऊर्वरा, सीता, पूषण आदि।[२]

स्पष्ट है कि यह विभाजन चल नहीं सकता।

इन तीनों प्रकार के वर्गीकरण के अलावा एक चतुर्थ वर्गीकरण और है, वह है **स्थानगत**। निरुक्तकार यास्क को यही वर्गीकरण स्वीकृत है। उनके अनुसार सभी देवताओं का आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी, इन तीनों में अन्तर्भाव हो जाता है।

द्युःस्थानीय—द्यौ, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषा, अश्विनौ। (११)।

---

१. रिलि० ऋग्०, पृ० ९६-७

२. वही, पृ० १०३

२. अन्तरिक्ष स्थानीय—इन्द्र, त्रित, आपः, अपांनपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अजएकपाद, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य (११)।

३. पृथिवीस्थानीय—नदियाँ, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति, सोम।

निरुक्तकार ने सम्भवतः यह वर्गीकरण वेदों के आधार पर किया है। वेद में एक मंत्र में कहा गया है—"द्युलोकवासी सूर्य, अन्तरिक्षवासी वायु और पार्थिव लोकवासी अग्नि हमारी रक्षा करें"—

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्, अग्निर्नः पार्थिवभ्यः।[1]

अथर्ववेद में तो बहुत-से स्थलों पर उनका विभाजन इसी ढंग के किया गया है। यजमान से कहा गया है कि "जो देवता द्युलोक में रहते हैं, जो अन्तरिक्ष में रहते हैं और जो भूमि में रहते हैं, उन्हें तू क्षीर, सर्पि और मधु प्रदान कर"—

ये देवा दिविसदो अन्तरिक्षसदो ये चैमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु॥[2]

एक अन्य मन्त्र में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "ग्यारह देवता द्युलोक में रहते हैं, ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह पृथिवी पर"—

ये देवा दिव्येकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्।
ये देवा अन्तरिक्ष एकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्।
ये देवा पृथिव्यामेकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥

कहीं-कहीं वेदों में ही आयु के अनुसार भी देव-कोटियों की चर्चा की गई है। एक मंत्र में बच्चे, बड़े, युवा और वृद्ध—सभी प्रकार के देवताओं को नमस्कार किया गया है—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्यः॥

व्यान्तर देवता

ऊपर हमने प्रमुख वैदिक देवताओं की कोटि की चर्चा की है, इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के भी देवता हैं जिन्हें व्यान्तर देवता के नाम से पुकारा जाता है। आर्यों की राजनैतिक विजय के पश्चात् अनार्य जातियों के बहुत-से देवता अपना महत्त्व खो बैठे, वे द्वितीय श्रेणी के रह गये। ये द्वितीय श्रेणी के देवता अपना महत्त्व खो जाने के बाद भय का कारण बन जाते हैं। इनकी पूजा तो होती है, पर प्रेम के कारण नहीं; उसके पीछे भय का हाथ रहता है। इसी भाव को बुण्डत्त ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

It is general law of Mythology that a stage which has been passed, for the very reason that it has been over come and driven

---

१. ऋग्०, १०।१५८।१

२. अथर्व०, १०।६।१२

under by a superior stage, permits in an inferior form alongside the later one, so that the objects of the veneration turn into objects of horror.[1]

देवी-देवता-सम्बन्धी परम्परा का एक सामान्य नियम है कि अपने से अधिक शक्तिशाली देवों से पराजित होकर जो देवता अतीतकाल में हो जाते हैं वे बने तो रहते हैं पर पूजा के स्थान पर भय का कारण बन जाते हैं।

इन्हें जैन धर्मवालों ने व्यान्तर देवता के नाम से अभिहित किया है। कालान्तर में जो बहुत-से मतमतान्तर पैदा हुए, उनके पीछे इन देवताओं का ही प्रमुख हाथ था। ये देवता या तो प्रमुख देवताओं के सहायक के रूप में आ गए थे या उनके विरोधियों के रूप में। जैन ग्रन्थों में इन देवताओं के नाम इस प्रकार है : पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग (नाग), गन्धर्व आदि। हिन्दू ग्रन्थों में इन नामों के अतिरिक्त जो अन्य नाम आते हैं, वे इस प्रकार हैं : कुम्भेनद, कबन्ध, दैत्य, दानव, अप्सराएँ, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, प्रमथ, गण आदि। बौद्ध ग्रन्थों में भी ये नाम मिलते हैं—देव, यक्ष, नाग, राक्षस, गन्धर्व, असुर, गरुड, किन्नर, महोरग। इनमें से यक्ष और गन्धर्व को अर्द्धदेव माना गया है। यक्षों के राजा कुबेर दिक्पाल हैं और ब्रह्मा द्वारा इन्हें देव-कोटि मिली है। गन्धर्व अप्सराओं के साथी हैं। अतः प्रथम हम यक्षों और गन्धर्वों का वर्णन करेंगे, तदनन्तर अपदेवों का।

यक्ष

जिन व्यान्तर देवताओं की चर्चा हमने पीछे की है, उनमें यक्ष प्रमुख हैं। इसका धात्वर्थ चाहे जो हो, पर वैदिक साहित्य में इसका प्रयोग एक ऐसी विशिष्ट जाति के रूप में हुआ है जो मानवोत्तर शक्ति से परिपूर्ण है पर वैदिक देवताओं से भिन्न श्रेणी की है। अथर्ववेद में इन्हें 'इतरे जनाः' कहा गया है। परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त 'इतरे जनाः' और 'पुण्यजनाः' का अर्थ भी यक्ष ही है, ऐसा विद्वानों का मत है।[2] यक्षों का अधिपति कुबेर है और उसे यक्षेश, यक्षराज और यक्षसेन्द्र नामों से पुकारा गया है। 'उत्तरादिक्पति' शब्द से भी यक्षराज का ही भाव लिया गया है। पतंजलि के महाभाष्य में यक्षपति और गुह्यकपति वैश्रवण का उल्लेख है।[3] 'देवता द्वन्द्वे च' (५।३।२६) इस वार्तिक की व्याख्या में उन्होंने देवताओं के दो भेद किये हैं—वैदिक और लौकिक। लौकिक देवताओं के उदाहरणों में 'शिववैश्रवणौ' तथा 'स्कन्द-विशाखौ' को गिनाया है। एक अन्य सूत्र 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' (५।२।१२९) में

१. टो० टे०, पृ० २५
२. डेव० हि० इक०, पृ० ३३७
३. वही, पृ० ३३७

कहा है कि वैश्रवण के सहायक जिन पिशाचों का उल्लेख है उनसे भाव यक्षों का है।[1] 'अष्टाध्यायी' में इस बात का उल्लेख है कि मुंजवान और राजगृह में यक्षिणी के ऐसे मन्दिर थे जिनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी और जिनमें उनकी नैत्यिक पूजा होती थी।[2] किस देवता की मूर्ति किस दिशा में हो, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि यक्ष और गुह्य (कार्तिकेय) की मूर्तियाँ नगर के उत्तर में हों।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी, एक सूत्र में (५।३।८४) का उल्लेख करते हुए शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा, इन पाँच यक्षों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि कुछ यक्ष-विशेष भी पूजा के अधिकारी माने जाते थे।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है, "लोक में यक्ष-पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ था। चारण-परिषद् में विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रियदर्शन रूप से की गयी है—उपेत्याचार्यपरिषदं प्रेक्षेद् यक्षमिव।"... इन्द्र-वरुण आदि वैदिक देवताओं को भी यक्ष-रूप में मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। 'दीर्घ-निकाय' में वरुण, इन्द्र, सोम, प्रजापति को यक्षों में प्रधान कहा गया है।[3] इसी भाव को डा० नलिनाक्ष दत्त ने बुद्ध के पूर्व की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का विवेचन करते हुए दुहराया है।[4] ये विशालकाय होते थे। महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद में यक्ष को 'महाकाय', 'तालसमुच्छ्रित', 'ज्वलनार्कप्रतीकाश', 'अदृश्य' और 'पर्वतोपम' कहा गया है।

कुबेर

ये यक्षों के राजा हैं और इस रूप में साहित्य में इनकी चर्चा बहुत बार हुई है। विश्रवस् का पुत्र होने से इनका एक नाम वैश्रवण भी है। धनद भी इन्हीं का नाम है। इनका एक नाम महाराज भी है। पाणिनि ने महाराज को देवता कहा है। महाराज को जो हवि दी जाती थी वह माहाराजिक कहलाती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में ही एक और स्थान पर महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख है। महाराज देवता के भक्त महाराजिक कहलाते हैं।[5] पर आरम्भ से ही कुबेर की यह स्थिति नहीं थी। शतपथब्राह्मण में ये राक्षसों, डाकुओं एवं दुष्कर्मियों के स्वामी हैं। सूत्रों में ईशान के साथ इनका आह्वान विवाह-कर्म में वर के निमित्त किया गया है। यह भी कहा गया है कि कुबेर के गण शिशुओं को दबोचते हैं।[6]

---

१. डेव० हि० इक०, पृ० ३३८
२. वही, पृ० ३३८
३. पा० का० भा०, पृ० २५९
४. उत्त० बौ० ध० वि०, १६-१७
५. पा० का० भा०, पृ० ३५५
६. रि० फि० वेद० उप०, पृ० ३०१

जो भी हो, धीरे-धीरे ये देवता बन गये या मान लिये गये। पुराणों में उल्लेख है कि इनकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने इन्हें उत्तर का दिक्पाल बनाया, कोष के अधिपति का पद दिया, पुष्पक विमान दिया और देवताओं के समान पद दिया। उनकी पत्नी का नाम ऋद्धि है और उसके साथ इनका ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रभा के साथ सूर्य का। ऋद्धि का अर्थ सम्पत्ति है और यह इनके धनपति होने की ओर संकेत करता है।

कैलास और गन्धमादन पर्वत पर इनका निवास है। यक्षों के अलावा राक्षस, गन्धर्व, किन्नर और गुह्यक भी इनके अधीन हैं। इनके वन का नाम नन्दन है, कुञ्ज का चैत्ररथ। मन्दाकिनी नामक नदी में स्वर्ण के कमल खिलते हैं। इनकी झील भी स्वर्ण-कमलों और सुन्दर पक्षियों से भरपूर है तथा मणिभद्र की अध्यक्षता में राक्षसों द्वारा सुरक्षित है। इनकी राजधानी अलकापुरी है, यह तोरणों-वंदनवारों से सजी रहती है और वहाँ स्त्रियों का नृत्य चलता रहता है। उसके आस-पास सर्पों से सुरक्षित शहद का एक कलश है। अगर कोई मर्त्य इसे चख ले तो वह अमर हो जायेगा, अंधे को नेत्र मिल जायेंगे और वृद्ध फिर से युवा हो जायेगा।[1]

वेश-भूषा—सामान्यतया दो हाथ, कभी-कभी चार भी, दायें हाथ में गदा और माला, बायें में रत्न और कलश, तोंद निकली हुई, मूँछें, गोद में बाईं ओर बैठी हुई पत्नी—ऋद्धि, हाथों में निधि, मदपान के कारण आकृति में कुछ भयंकरता।

अस्त्र-शस्त्र—अन्तर्धान नामक अस्त्र। यह वही अस्त्र है जिसके द्वारा पहले कभी शिव ने राक्षसों के पुरों को नष्ट किया था। गदा भी प्रमुख अस्त्र है।

गन्धर्व

इनकी आकृति अस्पष्ट है। आरम्भ में विश्वावसु—सारी सम्पत्ति का स्वामी—इनका विशेषण था। परवर्ती काल में यह शब्द संज्ञा बना और गन्धर्व-विशेष के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ। ऋग्वेद में दूसरे से सातवें मण्डल तक इसकी चर्चा नहीं। बाद में इस शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। फिर भी गन्धर्व शब्द पुराना है और 'अवेस्ता' में इसका प्रयोग राक्षस (Dragon like Monster) के रूप में हुआ है। यह स्वर्गीय प्राणी है, इसका आवास उच्च आकाश में है। सूर्य के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक स्थान पर इन्हें इन्द्र-धनुष के साथ तदाकार किया गया है। सोम के साथ भी इनका सम्बन्ध है और यह सोम स्थान तथा देवताओं की रक्षा करते हैं। इनके अस्त्र-शस्त्र उत्तम हैं और वस्त्र सुगन्ध से भरपूर हैं।[2] वैसे यह गान-विद्या के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी आवाज मीठी है, ये 'वल्गुवादिनः' हैं और सूर्य के समान

---

१. इंडि० माइ०, पृ० १५८
२. वही, भाग ६, पृ० ५८-५९

तेजस्वी हैं (सूर्यवर्चसः)। ब्राह्मण-काल में इन्हें अप्सराओं के प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। अग्रायु नामक गन्धर्व अप्सराओं के मध्य बैठता है और उनका प्रेम पा लेता है।[१] अथर्ववेद (८।१०) में भी गन्धर्वों की चर्चा अप्सराओं के साथ है। वहीं चित्ररथ, वसुरुचि, सूर्यवर्चस् जैसे विशेषण-शब्द आते हैं जो बाद में इनके नाम के रूप में प्रयुक्त हुए।[२] ऋग्वेद के बाद के काल में गन्धर्वों की स्थिति के बारे में विचार करते हुए श्री कीथ ने लिखा है कि परवर्ती संहिताओं में उनका वर्णन विशद रूप में मिलता है। यहाँ उनका एक वर्ग बन गया है, जो देवों, पितरों और असुरों के साथ आता है। देवों और पितरों की तरह गन्धर्वों का भी अपना एक लोक है जिसे कोई मनुष्य भी प्राप्त कर सकता है। इनकी संख्या कहीं कुछ है और कहीं कुछ।[३]

इन गन्धर्वों को कहीं-कहीं लम्पट भी बताया गया है। ये सोम के रक्षक हैं और इनके द्वारा अभिरक्षित सोम का पान करने के लिए वाक् स्त्री का रूप धारण करती है और सोम का पान करने में समर्थ होती है।[४]

जो भी हो, इन्हें चाक्षुषी विद्या प्राप्त है और इस कारण ये मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं। चित्ररथ नामक गन्धर्व अर्जुन से इस बात को स्वयं कहता है :

> विद्यया ह्यनया राजन् ! वयं नृभ्यो विशेषिताः।
> अविशिष्टाश्च　　देवानामनुभावप्रदर्शिनः॥[५]

रात्रि के समय इनका बल और बढ़ जाता है और उस समय छेड़े जाने पर इनका क्रोध एकदम भड़क उठता है। चित्रसेन नामक गन्धर्व अर्जुन से इस बात को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

> नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्द्धते।
> यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत्॥[६]

देवों के साथ इनकी तुलना की चर्चा भी महाभारत में आती है। चित्रसेन इन्द्र के दरबार में आता है। अर्जुन के विषय में विचार-विमर्श होता है और इन्द्र के कहने पर चित्रसेन उर्वशी नामक अप्सरा को अर्जुन के पास भेजता है।[७] गन्धर्व इन्द्र के सखा हैं। वे उसके कहने पर अर्जुन के तपोभंग के लिए अप्सराओं को भेजते हैं, इसका उल्लेख भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' में भी किया है।[८]

---

१. रि० फि० वेद० उप०, पृ० २२३
२. डेब० हि० इक०, पृ० ३५१
३. रि० फि० वेद० उप०, पृ० २२२
४. वही, पृ० २४७
५. म० भा०, अं० ३, वर्ष १, अध्याय १६०, श्लोक ४७, पृ० ४९९
६. वही, अ० १६९, पृ० ५०१
७. वही, वर्ष १, सं० ६, वनपर्व, ४६, पृ० १०७९
८. किरातार्जुनीयम्, ८।३०

एकाध स्थान पर इनके विषय में निम्न कोटि के विचार भी पाये जाते हैं। वहाँ इन्हें 'विषमलोम' और 'अर्द्धपश्वाकृति' बताया गया है और बन्दर, कुत्ता, लोमश शिशु या मित्र के छद्म वेश में इन्हें स्त्रियों का घातक कहा गया है।[१] फिर भी कुल मिलाकर इनके शुभ रूप की चर्चा अधिक है। इनसे अपत्य के लिए प्रार्थना की गयी है।[२] उपयुक्त यही जान पड़ता है कि इन्हें देवों और मानवों के बीच की कड़ी, अर्द्धदेव, माना जाये।

अप्सराएँ (अप्सरसः)

इनकी भी आकृति अस्पष्ट है। शाब्दिक अर्थ है : जल में रहने वाली (अप्सु सरांसि)। अथर्ववेद में जल के साथ अप्सराओं को आमतौर से संबद्ध किया गया है। वहाँ उनसे यह भी अनुरोध किया गया है कि वे मनुष्यों से दूर जाकर नदियों और नालों के किनारों पर रहें। इससे अप्सराओं की घातक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है।[३] स्थान-स्थान पर इन्हें गन्धर्वों की प्रेयसी के रूप में चित्रित किया गया है। वैसे उन्हें मर्त्य मानव भी जीत सकते हैं। उर्वशी और पुरूरवा की कहानी इस बात का प्रमाण है। उर्वशी ने उससे इस शर्त पर विवाह किया था और प्रतिज्ञा-भंग होने पर वह उसे छोड़कर चली जायेगी। बाद में एक जलाशय में वह फिर पुरूरवा से मिलती है, वर्ष में एक बार उससे मिलने का वायदा करती है और अन्त में गन्धर्वों से उसे गन्धर्व विद्या सिखवाकर गन्धर्व ही बना लेती है।[४]

परवर्ती साहित्य में ये अपनी शारीरिक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। जब कोई ऋषि या राजा उग्र तपस्या करता है तो उसमें विघ्न डालने के लिए स्वर्ग के राजा इन्द्र किसी अप्सरा को ही मर्त्यलोक में भेजते हैं। शकुन्तला मेनका नाम की अप्सरा की कन्या थी। इनमें मेनका, शकुन्तला और उर्वशी के नाम ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

राक्षस

'राक्षस' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। क्षत्यर्थक रक्ष् धातु से इसकी निष्पत्ति हो तो सकती है परन्तु यह अर्थ सामान्यतया विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति रक्षार्थक रक्ष् धातु से ही मानी जाती है। ऐसी अवस्था में यह उस सत्त्व का द्योतक है जिससे रक्षित होना है।[५] ऋग्वेद की लगभग १०० ऋचाओं में राक्षसों

---

१. रि० फि० वेद० उप०, पृ० २२३
२. वही, पृ० २२३
३. वही, पृ० २२५
४. इंडि० माइ०, पृ० ९५
५. रि० फि० वेद० उप०, पृ० २९६

का उल्लेख है । इन्द्र और उसके अतिरिक्त उसके साथी अन्य देवों से प्रार्थना की गयी है कि वे राक्षसों का विनाश करें ।[१] स्पष्ट है कि राक्षस अशुभ और अहितकारी सत्त्व का वाचक था । इसी लेख में आगे चलकर कहा गया है कि उस समय राक्षस का अर्थ निन्दाजनक हो गया था । राक्षस कहलाना एक प्रकार की गाली थी । इनके लिए तरह-तरह के विशेषणों का प्रयोग किया गया है । इनका रंग लाल (पिशंग) है, ये मायावी हैं, अदेव हैं । ईश्वर को न मानने वाले (तमोवृध) हैं । रात्रि के अन्धकार में शक्ति पकड़ने वाले हैं, पीड़ा पहुँचाने वाले हैं (यातुधानः) ।[२] श्री कीथ ने भी इनके विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं । उनका कहना है कि बहुसंख्यक पिशाचों के समान राक्षस भी रात्रि से अनुराग रखते हैं— मुख्यतः अँधेरी रात से क्योंकि पूर्व की ओर का सूर्य तो उन्हें तितर-बितर कर देता है । रात्रि के साथ अपने इस सम्बन्ध से ही ये प्रेतात्माओं के सजातीय ठहरते हैं और हो सकता है कि इसी कारण टूटे हुए तारे को विग्रहवान् राक्षस कहा गया है ।[३] महाभारत में भी राक्षसों के रात्रि में सबल हो जाने का उल्लेख है । रात्रि-युद्ध में ये बड़े प्रबल हो उठते हैं ।

किसी समय राक्षस और पिशाच समानार्थक हो गये थे । महाभारत में राक्षसों द्वारा कच्चा मांस खाने का उल्लेख है । भीम आदि पाँचों भाइयों और कुन्ती को देखकर हिडिम्ब के मन में उन्हें खा जाने की इच्छा पैदा होती है—

असौ दंष्ट्राः सुतीक्ष्णाग्राश्चेरस्यापात दुस्सहा ।
देहेषु मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च ।।[४]

भीम जब हिडिम्ब की इस भावना को जान लेता है तो वह उसे ललकारता है और 'नराशन' शब्द से संबोधित करता है—

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ।।[५]

इनके लाल बाल हैं और लाल आँखें, मुँह एक कान से दूसरे कान तक फैला हुआ । ये विशालकाय हैं और बलवान् हैं । महाभारत में राक्षसों का वर्णन ऐसा ही है । उनके कान उठे हुए हैं, दृढ़ अवयव हैं । ये अन्धकार में घूमते-फिरते हैं और अर्द्धरात्रि के समय अपराजेय हो जाते है । ये जादूगर होते हैं और इच्छानुसार आकृति बदल सकते हैं । ये स्वेच्छानुसार आकाश में विचरण कर सकते हैं । द्रौपदी के थक

---

१. ए० भं० रि० इ०, अंक ३७, पृ० ३०६
२. वही० पृ० ३१०-११
३. रि० फि० वेद० उप०, पृ० २६५
४. म० भा०, वर्ष १, सं० ३, अ० १५१, श्लोक ६
५. वही, अ० १५२ श्लोक, २३

जाने पर भीम अपने पुत्र घटोत्कच का स्मरण करता है और वह द्रौपदी को आकाश-मार्ग से ले जाता है। अन्य राक्षस अन्य पाण्डवों को आकाश-मार्ग से ले जाते हैं।[१] सामान्य रूप से ये जंगलों में रहते हैं। पर्वत भी इनका आवास-स्थान माना जाता है। इन्हें मनुष्य का मांस बड़ा प्रिय है और उसकी गन्धमात्र से इन्हें अपार प्रसन्नता होती है। महाभारत में विरथ राक्षस प्रतिदिन नरमांस खाता था और गुफा में रहता था।

इन राक्षसों का एक विशेषण विरूपाक्ष भी है जिससे लगता है कि ये शारीरिक दृष्टि से असुन्दर होते थे। गन्धर्वों के साथ इनके वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, इस बात का भी उल्लेख है। विभीषण की पत्नी सरमा शैलूष गन्धर्व की पुत्री थी।

नाग

इनकी पूजा भी प्राचीन है। नाग और नागिनी, दोनों ही की पूजा पर्याप्त दिनों तक होती रही है। ऋग्वेद का अर्बुह्निय अहि के लाभकारी पक्ष का द्योतक है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसके सुन्दर और भयप्रद रूप तथा शक्ति की चर्चा हुई है। अथर्ववेद (२२६-२७) में इनके जिन अनेक नामों का उल्लेख है उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—तिरश्चिराजी, असिता, स्वाज, बभ्रु, पृदाकु, कंकपर्वन, कैरात।[२] इनमें तिरश्चिराजी, पृदाकु, स्वाज, कल्माषग्रीव और नामक नाग दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, पूर्व और अन्तरिक्ष के रक्षक हैं।[३] परवर्ती साहित्य में इन नामों का उल्लेख नहीं है। महाभारत और पुराणों में वासुकि आदि नये नाम हैं। अथर्ववेद में ही उनका संबन्ध गन्धर्वों, अप्सराओं और पुण्यजनों (यक्षों) के साथ दिखाया गया है।[४]

इनकी पूजा काफी प्राचीन है। भगवान् बुद्ध से पहले और उनके समय में भी ये पूजा के अधिकारी समझे जाते थे। इनकी यह पूजा इनके अपने रूप में भी होती थी और मानवाकार में भी। डा० नलिनाक्ष दत्त का मत उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"वृक्षों के अतिरिक्त साधारण लोगों में नाग-पूजा भी प्रचलित थी। ये नाग जल के निवासी और प्रभूत संपत्ति के स्वामी माने जाते थे। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागों की सर्प-विग्रह तथा मानव-विग्रह इन दोनों रूपों में पूजा होती थी।"[५]

गृह्यसूत्रों में सर्प-बलि की चर्चा है। यह विधि वर्षा ऋतु में चार मास तक चलती थी। इसके दो उद्देश्य थे : सर्पों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, और (२) उन्हें

---

१. म० भा०, वनपर्व, अ० १४५, पृ० १२४६-५०
२. डेव० हि० इक०, पृ० ३४५
३. वही, पृ० ३४५
४. वही, पृ० ३४५
५. उत्तर० बौ० ध० वि०, पृ० १६

दूर रखना । बौद्धों और जैनों के पवित्र ग्रन्थों में भी इनकी पूजा का उल्लेख है । वहाँ उन नागराजों का उल्लेख है जो बुद्ध के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए आया करते थे ।

हिन्दू पौराणिक कथाओं में बलराम अनन्त के अवतार माने जाते हैं । लक्ष्मण भी अनन्त के अवतार के रूप में स्वीकार किये गये हैं । मानवों के साथ उनके मैत्री और शत्रुता, दोनों प्रकार के सम्बन्ध थे । अर्जुन की पत्नी उलूपी नागजाति की ही थी । उससे बभ्रुवाहन नामक पुत्र भी पैदा हुआ था । जरत्कारु ऋषि की पत्नी भी नागिनी थी और उससे आस्तीक नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई थी, जिसने सर्प-यज्ञ में तक्षक की रक्षा की थी । कुल मिलाकर इनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

इनका एक नाम सर्प है । इनके रहने के स्थान बहुत हैं और बहुत प्रकार के हैं । ये पृथ्वी के नीचे नागलोक में रहते हैं, वहाँ इनके महल हैं, स्तूप हैं और आनन्दपूर्वक भ्रमण के लिए उद्यान हैं । इनके लोक का नाम पाताल और निरय भी है । इनका प्रधान नगर या राजधानी भोगवती है जहाँ सर्पों का राजा वासुकि निवास करता है । इसके अलावा ये गुफाओं में और अगम्य पर्वतों पर भी मिलते हैं । इक्षुमती नदी के किनारे कुरुक्षेत्र में, नैमिषारण्य में, गंगा और गोमती के किनारों पर तथा निषध देश में भी ये पाये जाते हैं । इनकी शक्ति महान् है, इनका आकार बहुत विशाल है, ये हिंसात्मक हैं और आक्रमण करने में तेज हैं, इनमें भयानक विष भरा होता है । इनका आकार सुन्दर भी होता है, आकृति भी अनेक प्रकार की होती है, कानों में कुण्डल पहनते हैं । इनके बहुत-से भेद हैं, वासुकि जति के सर्पों में कुछ का रंग नीला होता है, कुछ का लाल और कुछ का श्वेत । कुछ के तीन सिर होते हैं, कुछ के सात और कुछ के दस ।

भूत

यह देव-कोटि का न होकर दुरात्मा कोटि का है । साधारण रूप से इसका अर्थ प्राणी है पर इसका प्रयोग दुरात्मा के लिए ही होता है । यह आकाशचारी प्राणी है और विशेषतः रात्रि में भ्रमण करता है । यह विशालकाय और मजबूत होता है । इसकी पहचान यह है कि इसकी छाया नहीं होती । जिन व्यक्तियों की असामयिक मृत्यु हो जाती है, हिंसात्मक ढंग से होती है, जो विकृतांग हैं, मूर्ख या पागल हैं, जिन्हें मूर्च्छा आती है, असाधारण रोग है, जो शराब में धुत रहते हैं, जीवन में दुष्ट कार्य करते हैं, कामुक हैं, वे मरने के बाद भूत बनते हैं ।[१] दक्षिण भारत में यह विश्वास है कि ये वृक्षों, खाली मकानों, पुराने कुओं में रहते हैं । वे कभी बैल या बकरी के रूप में प्रकट होते हैं । यदि कोई व्यक्ति भूतवाले वृक्ष के नीचे सोता है, उस वृक्ष की टहनी

१. रि० फि० वेद० उप०, पृ० ६०२

काटता है, भूतों के निवास की अवज्ञा करता है तो या तो वह बीमार हो जाता है या दुर्भाग्य का शिकार होता है ।[1]

कहीं-कहीं (विशेषतः गुजरात में) यह भी विश्वास है कि भूत शवों पर अधिकार कर लेते हैं और उनके मुख से अपनी बात करते हैं । कभी-कभी वे आग की लपटें पैदा करते हैं और उनमें विलीन हो जाते हैं । वे जो कुछ बोलते हैं, कानाफूसी के रूप में होता है । ये गन्दगी का भक्षण करते हैं, अशुद्ध पानी पी लेते हैं । ये पृथ्वी पर नहीं ठहरते अतः इनके लिए ईंट या बाँस का खम्भा गाड़ दिया जाता है जिस पर वे आराम कर सकें । सामान्य रूप से ये दिन में अशक्त रहते हैं । हाँ, भरी दोपहरी में ये शक्तिशाली हो उठते हैं । इसीलिए दोपहरी में स्त्रियों का अकेले जाना वर्जित है । इन्हें डराने या भगाने के लिए आग जलाने की प्रथा है । काली, दुर्गा और शिव के जाप या स्तुति से ये भाग जाते हैं । ये स्पष्ट नहीं बोल पाते, नाक से बोलते हैं ।

प्रेत-परेत

जो बच्चा शैशव में ही मर जाता है, जो विकृतांग या अपूर्ण पैदा होता है वह प्रेत बनता है ।[2] कुछ के अनुसार मृत्यु के बाद प्रत्येक मानव थोड़ी देर के लिए प्रेत रहता है और फिर पितर बन जाता है । पर साधारणतया इस शब्द के द्वारा गृहीत अर्थ कुछ और ही है । इसका प्रचलित अर्थ उस आत्मा से है जिसे अन्य कोई शरीर नहीं मिलता और इसीलिए जो इधर-उधर भटकती रहती है । इसका सम्बन्ध भूतों और पितरों से है । ऐसा विश्वास है कि यह पुरुष के अंगुष्ठ-मात्र शरीर धारण करके अपने घर के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहता है ।

पिशाच

पिशाच शब्द का अर्थ कच्चा मांस खाने वाला है । परवर्ती काल में यह राक्षसों और असुरों का पर्यायवाची हो गया । ऋग्वेद में इसका उल्लेख केवल एक बार हुआ है । परवर्ती संहिताओं में ये बहुवचन में आते हैं और पितरों के प्रतिद्वन्द्वी हैं जिस प्रकार असुर देवों के और राक्षस मनुष्यों के ।[3] पागल, शराबी, धोखेबाज और हिंसात्मक रुचिवाला व्यक्ति मरने के बाद पिशाच बनता है । राक्षसों के समान ये भी मनुष्य का मांस खाते हैं और रक्त पीते हैं । इनकी आकृति घृणाजनक है ।

चुड़ैल

यह भूत प्रत से भी अधिक भयानक होती है । अपने आरम्भिक रूप में यह

१. रि० फि० वेद० उप०, ६०२

२. वही, पृ० ६०२

३. वही, पृ० २९६

निम्नजाति की ऐसी आत्मा का नाम था जो द्वेषपूर्ण रही है और जिसके शरीर को दबाते समय मुँह इसलिए नीचे की ओर कर दिया जाता है कि जिससे उसकी दुष्टात्मा को बाहर जाने का अवसर न मिले। आजकल चुड़ैल उस औरत के भूत को कहते हैं जो गर्भावस्था या प्रसव के समय मर जाती है और जिसकी उचित क्रियाएँ नहीं हो पायी हैं। इसकी पहचान यह है कि इसके पैर के पंजे पीछे की ओर होते हैं और एड़ी आगे की ओर। कहा जाता है कि यह सुन्दर पुरुषों को फँसाने की शक्ति में प्रवीण है। उन्हें अपने घर ले जाती है, खाद्य पदार्थ देती है, जिन्हें खाकर पुरुष वहाँ से तभी निकल पाता है जब उसके केश श्वेत हो जायं, पहले नहीं। किसी की आत्मा चुड़ैल न बन जाय, इसके लिए बहुत सी क्रियाएँ की जाती हैं।

देवताओं की संख्या

इनकी संख्या के विषय में वेदों में और परवर्ती वैदिक साहित्य में ऐकमत्य का अभाव है। वैसे अधिकांश स्थानों पर ऋक् और अथर्व, दोनों संहिताओं में इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है। एक मंत्र में कहा गया है कि देवता तीस और तीन हैं, अर्थात् कुल मिलाकर तैंतीस हैं और इनमें भी तीन अधिक वीर्यवान् हैं—

त्रयस्त्रिंशद् देवास्त्रीणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्त:।[1]

अथर्व के इसी सूक्त में आगे चलकर तीन मन्त्रों में कहा गया है कि देवता तैंतीस हैं, इनमें से ११ द्युलोक में रहते हैं, ११ अन्तरिक्ष में और ११ पृथ्वी पर।[2] इन मन्त्रों में देवों के नाम नहीं गिनाये गये, पर उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे हवि को ग्रहण करें। अन्य कई स्थानों पर भी इन देवताओं को तैंतीस ही माना गया है। एक स्थान पर तो यह संख्या ३३३९ तक पहुँच गई है।[3]

शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में भी देवों की संख्या ३३ ही बताई गई है— इनमें ८ वसु, ११ रुद्र, ११ आदित्य हैं। शतपथ के अनुसार शेष दो में द्यौ और पृथ्वी को या इन्द्र और प्रजापति को गिना जा सकता है जबकि ऐतरेक इन्हें वषट्-कार और प्रजापति मानता है। निरुक्त के टीकाकार यास्क ने देवताओं की संख्या तीन ही मानी है। देवतकाण्ड में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि देवता तीन ही हैं और अब हम उनके भाग-साहचर्य की व्याख्या करेंगे—

अथ तिस्र एव देवतास्तासां भक्ति-साहचर्यं व्याख्यास्याम:।

उनकी इस संख्या का आधार स्थानीय वर्गीकरण है। उन्होंने इन देवताओं को द्यु:स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथिवी-स्थानीय वर्गों में विभक्त कर दिया है। सूर्य द्युस्थानीय है, वायु या इन्द्र अन्तरिक्ष-स्थानीय है और अग्नि पृथिवी-स्थानीय है।

---

१. अथर्व १९।२०।१०
२. वहीं, १९।२७।११-१२-१३
३. ऋग्०, १३।३।९

टाउनहाल के रूप में हैं, स्नानघर हैं, नालियाँ हैं, पाँवदान हैं। वहाँ एक बड़ा भारी तालाब है, जो ३९ फुट लम्बा और २३ फुट चौड़ा है और उसकी दीवार ८ फुट ऊँची है तथा उसमें ऊपर चढ़ने और उतरने के लिए सीढ़ियाँ हैं। वहाँ जीवन की वे सब सुख-सुविधाएँ हैं जो आधुनिक नागरिक जीवन में उपलब्ध हो सकती हैं। स्पष्टतः यह सभ्यता ग्राम-प्रधान आर्य-सभ्यता से भिन्न है।

(२) आर्य स्वर्ण, पीतल, ताँबा और लोहे से परिचित थे, जबकि सिन्धु घाटी के इन अवशेषों में लोहे का एकदम अभाव है। सिन्धुघाटी वाले चाँदी का प्रयोग अधिक करते थे। उनके बरतन पत्थरों के बने हुए हैं जो स्पष्टतः पाषाण-युग के सूचक हैं।

(३) आर्यों के साहित्य में घोड़े का उल्लेख है, यह उनकी प्रिय सवारी है, परन्तु सिन्धुघाटी के अवशेषों में कहीं इसका नाम भी नहीं।

(४) आर्य कवच और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे, सिन्धुघाटी वाले इनसे अपरिचित हैं।

(५) आर्यों के यहाँ गौ का महत्त्व अधिक था और सिन्धुघाटी में बैल का।

(६) सिन्धु घाटी में शिश्न-पूजा (लिंग की पूजा) प्रचलित थी। वेदों में 'शिश्नदेवाः' कहकर विरोधियों का परिहास किया गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वे इन शिश्नदेवों को ऋत अर्थात् यज्ञ के समीप न फटकने दें।[1] साथ ही यह भी बताया गया है कि सौ फाटकों वाले दुर्ग को दलते समय इन्द्र ने शिश्नदेवों का भी वध किया था।[2] लिंग-पूजा आर्यधर्म के एकदम विरुद्ध है।

(७) मातृ-शक्ति की पूजा भी सिन्धु घाटी की सभ्यता को आर्य-सभ्यता से अलग करती है। आर्यों के धर्म में पुरुष देवताओं की ही प्रधानता है। सिन्धुघाटी में मातृ-शक्ति की पूजा के साथ योनि-पूजा भी प्रचलित थी।

(८) सिन्धु घाटी में शिव की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति में वे योगी की मुद्रा में हैं, सिंहासन के ऊपर नासाग्र पर ध्यान लगाये सिद्धासन से बैठे हैं, गले में बहुत-सी मालाएँ हैं। मूर्ति के चारों ओर हाथी, व्याघ्र, महिष और गैंडा हैं। मस्तक के ऊपर दो सींग हैं। सिंहासन के नीचे हरिण है। इस मूर्ति के अतिरिक्त अन्य कई शिव-लिंग भी पाये गये हैं। इस सभ्यता में शिव की पूजा होती थी। आर्यों के यहाँ शिव को बहुत परवर्ती काल में पूजा का अधिकारी माना गया है। डा० मंगलदेव शास्त्री भी शिव को परवर्ती देवता मानते हैं—"पुराणों में शिव का जैसा वर्णन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वर्णन से बहुत-कुछ भिन्न है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्षों-राक्षसों आदि के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं।"[3] इससे यही

१. ऋग्वेद ७।२।५
२. वही, १०।९९।३
३. भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० ९-१०

सिद्ध होता है कि शिव अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था, जिसका पीछे से शनैःशनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया।" वेदों में मूर्ति-पूजा का विधान कहीं नहीं मिलता, जब कि सिन्धु घाटी में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था।

(६) मोहनजोदड़ो में जो किला है उसकी बाहर की दीवार तीन बार बनी है। इसकी पहली दीवार और अन्तिम दीवार की बनावट में भारी अन्तर है। अन्तिम दीवार एकदम रक्षात्मक ढंग से बनी है, आक्रमण की दृष्टि से नहीं। लगता है, उस समय उन पर आर्यों का आक्रमण हुआ होगा। सर मार्टीमेर व्हीटर ने एक और सम्भावना का उल्लेख किया है कि ऋग्वेद (६/२३/५) में जिस 'हरियुपाय' नामक स्थान का उल्लेख है और वहाँ अभयावर्तिन द्वारा जिन 'वृषिवंतः' की पराजय की चर्चा हैं, वे इन्द्र के शत्रु वर्षित हैं। उनके अनुसार, हड़प्पा ही वह स्थान है जहाँ अनार्यों पर आर्यों की विजय हुई थी।

सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविड़ जाति की सभ्यता है। वे आर्यों से पहले इस देश में रहते थे। उन्हें खेती आती थी। नदियों पर बाँध बाँधने वाले पहले लोग वे ही थे। किलेबन्दी से भी वे परिचित थे। उनका समाज मातृमूलक था। ऋग्वेद के दास और दस्यु वे ही थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक काल से पूर्व भी इस देश में देव-भावना विद्यमान थी। आज जो शक्ति-पूजा प्रचलित है उसका मूल स्रोत सिन्धु घाटी की ही सभ्यता थी, यह कहना अयुक्तिसंगत न होगा।

भारतीय देव-भावना का विकास-क्रम : वेदपूर्व काल

शिव आरम्भ में आर्येतर देवता थे और बाद में रुद्र के साथ उनका एकीकरण हुआ, इसमें सन्देह नहीं। पौराणिक शिव के जितने नाम हैं और उपाधियाँ हैं, उनका स्पष्टीकरण भी रुद्र और शिव के एकीकरण द्वारा ही सम्भव है। शिव को जटाधारी दिखाया गया है, उसका मूल रुद्र की उपाधि कपर्दिन् है।[1] रुद्र घने बादलों में चमकती हुई विद्युत् और उसके साथ होने वाले घनघोर गर्जन तथा वर्षा के देवता हैं। आकाश में उमड़कर आयी हुई अति काले रंग की मेघमाला जटाओं-जैसी लगती है। इसी के आधार पर शिव की जटाओं की कल्पना की गयी। शिव को वृषभ पर सवारी करते हुए दिखाया गया है, इसका भी मूल रुद्र में ही ढूँढ़ा जा सकता है। रुद्र वर्षा के देवता हैं और इस प्रकार उर्वरता से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद में रुद्र को वृषभ कहा गया है। ऋग्वेद में इसका अर्थ वर्षा करने वाला है। सायण ने इसका अर्थ यही किया है। वर्षा कराने के साथ-साथ इसका अर्थ प्रजनन की शक्तिवाला भी होता है। संस्कृत में आज भी वृषभ का जो अर्थ साँड़ प्रसिद्ध है उसके पीछे वे ही अर्थ काम कर रहे हैं। वेद में रुद्र को वृषभ कहा गया है और कालान्तर में यही

---

१. ऋग्वेद, १।११४।१-५

वृषभ शिव की सवारी हो गया । यजुर्वेद के 'शतरुद्रिय स्तोत्र' में रुद्र के धनुष का नाम 'पिनाक' है, यही पौराणिक काल में शिव के धनुष का नाम है । पुराणों में शिव को जो 'त्र्यम्बक' कहा है, उसका मूल भी रुद्र में ही ढूँढ़ा जा सकता है । वेद में रुद्र को त्र्यम्बक कहा है और इसका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जिसके तीन पिता हैं । वेद में रुद्र का तादात्म्य अग्नि के साथ भी किया गया है । अग्नि ही एक ऐसा पदार्थ है जिसके तीन पिता हैं क्योंकि उसकी उत्पत्ति पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश, तीनों लोकों में होती है । पौराणिक काल तक आते-आते 'त्र्यम्बक' का अर्थ 'त्रिनेत्र' ही रह गया और वह शिव का विशेषण बन गया । शिव का एक विशेषण 'नील लोहित' है, रुद्र का रंग भी 'बभ्रु' कहा गया है । इस प्रकार रुद्र शिव की अन्य विशेषताएँ भी रुद्र में ढूँढ़ी जा सकती हैं ।

रुद्र और शिव के एकीकरण की इस प्रक्रिया का विवेचन डा० यदुवंशी ने विस्तार से किया है । उनके अनुसार अथर्ववेद में उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी दृष्टि-गोचर हो जाता है जिसकी आगे चलकर अनेक बार आवृत्ति हुई और जिसके द्वारा ही अन्त में पौराणिक शिव के स्वरूप का विकास हुआ ।[1] त्र्यम्बक होम और शतरुद्रिय में रुद्र को शिव और शंकर कहकर पुकारा गया है । यहीं उनकी कुछ अन्य नयी उपाधियाँ भी हैं—जैसे गिरिशतं, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिशय । ये सब विशेषण रुद्र का पर्वतों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं । उन्हें यहाँ क्षेत्रपति और 'वणिक्' भी कहा है जो उनकी लोकप्रियता का सूचक है । पर यहीं अचानक उन्हें 'स्तेनानां पतिः' (चोरों का स्वामी), 'स्तायूनां पतिः' (ठगों का स्वामी), 'विकृन्तानां पतिः' (गलकटों का सरदार) ऐसे विशेषणों से भी विभूषित किया गया है और वह भी बड़े स्वाभाविक ढंग से । आगे चलकर—२३वें मंत्र से २७वें मन्त्र तक—रुद्र के नामों का वर्णन है और साथ ही व्रात, व्रातपति, तक्षक, रथकार, निषाद, श्र्वगायु आदि का भी उल्लेख है । लगता है कि इस स्रोत के समय रुद्र की पूजा इन लोगों में प्रचलित थी । यहाँ रुद्र का एक ऐसे आर्येतर देवता के साथ तादात्म्य हो गया है जो यहाँ की आदिम जातियों में पूजा जाता था । इस प्रकार यजुर्वेद में आर्यों के आर्येतर जातियों के साथ सम्मिश्रण का और उनको अपने अन्दर मिला लेने का पहला संकेत मिलता है ।[2]

यह एकीकरण हमेशा दोनों ओर से होता है । इसमें लेना भी है और देना भी । आदान-प्रदान की इस स्वाभाविक प्रक्रिया में कुछ ऐसी भी बातें रुद्र में आ गईं जिन्हें सामान्य आर्यजन और विशेषतः वैदिक पुरोहित पसन्द नहीं करते थे । उनका चमड़े के कपड़े पहनना 'कृत्तिवासा' एक ऐसी ही विशेषता है । इसीलिए बीच-बीच में

---

१. शैवमत, पृ० १०

२. वही, पृ० १७

उनके अशुभ होने और उनसे भय मानने के संकेत मिलते रहते हैं। ऊपर हमने 'त्र्यम्बक होम' का उल्लेख किया है, उसमें भी रुद्र को यज्ञ-भाग दे देने के बाद उनसे 'मूजवत' पर्वत पर चले जाने का अनुरोध कुछ ऐसे ढंग से किया जाता है मानो स्तोता उनसे पीछा छुड़ाना चाहता हो। परवर्ती काल में भी शिव का यज्ञ से बहिष्कृत होना और संघर्ष के बाद अधिकारी बनना इसी ओर संकेत करता है।

शिव के साथ जो गण व गणपति का उल्लेख मिलता है उसे देखकर डा० भण्डारकर ने अनुमान लगाया है कि 'गण' निषाद जातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और गणपति निषादों के अधिपति रहे होंगे। उनके अनुसार उनका भाँग-धतूरा खाना, स्मशान में वास करना, उनके साथ शव, खप्पर और हाथी के चमड़े का सम्बन्ध जंगली जातियों के साथ आया है। दक्षिण में शिव की पूजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा का होना इस बात का द्योतक है कि शिव आरम्भ में द्रविड़ जाति के देवता रहे होंगे।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' भी शिव को आर्येतर देवता मानते हैं। उनके अनुसार, "शिव के प्रसाद का अखाद्य माना जाना, आर्य ऋषियों द्वारा शिव का शापित होना, शिव की पूजा के साथ अवांछनीय रूप का आ मिलना, शिव के रूप में असभ्य, ग्राम्य तथा जंगली तत्त्वों का आरोप एवं सिन्धु नदी के किनारे की सभ्यता में शिव-मूर्तियों का पाया जाना—ये सारी बातें एक ही संकेत देती हैं कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में शिव की पूजा प्रचलित थी।"[१]

अन्य विद्वानों के अनुसार भी शिव अवैदिक देवता हैं। डॉ० साँवलिया-बिहारीमल ने कहा है कि दक्ष के यज्ञ में भी शिव नहीं बुलाये गये और शिवहीन यज्ञ भूत, प्रेत, प्रमथादि द्वारा विध्वस्त हुआ। इसी से जाना जाता है कि शिव उस समय तक आर्येतर जातियों के ही देवता थे। किरातवेशी शिव, शबरी-मूर्ति शिवजी शबर-पूजित थे, ये सब कथाएँ नाना पुराणों में नाना भाव से आती हैं।...विभिन्न राक्षसों को वर देना, राक्षसों के विनाश के लिए विष्णु की शरण में जाना भी इसी तथ्य के समर्थक हैं।[२] श्री आर० सी० मजूमदार शिव तथा उमा को द्रविड़ देवता मानते हैं। शिव के 'नील लोहित' और 'शम्भु' नाम उनके अनार्य होने के समर्थक हैं। तामिल में शिव Sivan, Chivan का अर्थ है : लाल। आरम्भ में शिव का नाम नील लोहित था। पुराणों में भी यह नाम है। दूसरा नाम शम्भु है। यह तामिल के चैम्पर या सेम्पर (Chemper) का अनुवाद है। इस तामिल शब्द का पहला संस्कृत रूप हुआ —रुद्र, लाल।[३]

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ४५२-३
२. विश्व-धर्म-दर्शन, पृ० २०७
३. वैदिक एज, पृ० १६२

निरुक्तकार के अनुकरण पर शौनक भी तीन ही देवताओं को मानते हैं:—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता:॥
एतासामेव माहात्म्यान् नामान्यत्वं विधीयते।
तत्तत्स्थान - विभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते॥[1]

पुराणों में इस संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गयी है। एक स्थान पर वहाँ तीन-करोड़ पाँच सौ देवों का उल्लेख है।[2] साधारणरूप से तैंतीस संख्या अधिक मान्य है।

इस प्रकार कुल मिलाकर मध्यकाल में विष्णु (उनके राम और कृष्ण रूप), शिव और शक्ति, इन तीन देवों की ही प्रधानता है। इनमें भी राम-भक्ति शाखा में सीता और कृष्ण-भक्ति शाखा में राधा को आदिशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे शक्ति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन एकदम बन्द तो नहीं हो गया पर उसकी रचना अत्यल्प मात्रा में हुई है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य में हमने प्रमुख रूप से विष्णु, शिव, राधा और सीता को ही चुना है। इन्द्र, गणेश, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि की भी थोड़ी-बहुत चर्चा कर दी है कि जिससे विस्तृत देव-भावना का थोड़ा-सा स्पष्ट रूप सामने आ जाये।

---

१. बृहद्देवता १।६६-६७
२. ब्रह्मपुराण, पृ० १२०।१४६

तृतीय अध्याय

भारतीय देव-भावना का उद्भव और विकास

भारत में देव-भावना का उदय और उसका मौलिक रूप

क्या वैदिक देव-भावना के पूर्व भी हमारे देश में देव-भावना विद्यमान थी ? मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई ।

गत अध्याय में देव-भावना के मनोविज्ञान पर हम विचार कर चुके हैं । इसके बाद हमारे मन में स्वतः जो प्रश्न पैदा होता है वह यह है कि हमारे इस देश में देव-भावना का उदय वैदिक आर्यों के समय में हुआ था या उससे पूर्व भी किसी प्रकार की देव-भावना यहाँ विद्यमान थी ? इस प्रश्न का 'हाँ' या 'न' में उत्तर देने से पूर्व हम पहले उन प्रश्नों की चर्चा करेंगे जो इसके साथ जुड़े हुए हैं और जिनके सन्तोष-जनक समाधान पर ही इस प्रश्न का समाधान निर्भर करता है । इनमें मुख्य प्रथम प्रश्न है—आर्यों के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में और दूसरा है द्रविड़ जाति की स्थिति के सम्बन्ध में ।

साधारण भारतीय विश्वास के अनुसार पहला युग सतयुग था जिसमें चारों ओर परिपूर्णता थी, मानव सभ्य था और उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था । पर इतिहास की साक्षी इसके विपरीत जाती है । उसके अनुसार, आदिकालीन मानव एकदम असभ्य था । वह अग्नि से भी पूर्णतया परिचित नहीं था । वह या तो गुफाओं में रहता था या पेड़ों पर । कृषि-कला उसे अज्ञात थी । बर्तन बनाना उसे नहीं आता था, जंगली फलों से वह निर्वाह करता था । ऐतिहासिक शब्दावली में आदि-मानव प्रथम पाषाण-युग (Palaeolithic Age) और उत्तर पाषाण-युग (Neolithic Age) में से गुज़रकर ही सभ्यता के युग में प्रवेश कर सका है । यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही वैज्ञानिक प्रक्रिया है और इसी को आधार मानकर चलने से सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है ।

अभी हमने आर्यों के उत्पत्ति-स्थान पर विचार करने और ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की बात कही है । आगे बढ़ने से पूर्व हम

यहीं इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि किन्हीं सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में इतिहासकार भी इस सम्बन्ध में किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ रहे हैं। ऐसे भी विद्वान् हैं जो आर्यों का उत्पत्ति-स्थान इसी देश को मानते हैं और ऐसे विद्वान् भी हैं—इनकी संख्या भी पर्याप्त है—जो आर्यों को इस देश का आदिम निवासी न मानकर कहीं बाहर से आया हुआ मानते हैं। यह प्रश्न विवादग्रस्त है, ठोस प्रमाणों के अभाव में मार्ग उलझा हुआ जान पड़ता है पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर किसी-न-किसी निर्णय पर पहुँचा ही जा सकता है। इतना तो सभी स्वीकार करते हैं कि वेद और अवेस्ता, दोनों की भाषा में आश्चर्यजनक साम्य का कारण दोनों के उद्गम का स्रोत एक ही होना है। कोई एक स्थान ऐसा अवश्य रहा होगा कि जहाँ इन दोनों भाषाओं के बोलने वाले साथ-साथ रहते थे। इसी स्थान से निकलकर किसी परवर्ती काल में एक जाति या शाखा ईरान गयी होगी, दूसरी भारत आयी होगी और तीसरी पश्चिम की ओर निकलकर यूरोप पहुँची होगी। अवेस्ता और वेद, दोनों में ऐसे प्रसंग हैं जिनसे पता चलता है कि यह संयुक्त जाति किसी शीत-प्रधान स्थान पर रहती थी। यद्यपि वेदों में बाद में वर्ष-गणना शरद् के अनुसार होने लगी थी, आरम्भ में हिम से ही गणना होती थी।[1] नावों की चर्चा से अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पानी भी रहा होगा। घोड़ों और रथों की बात भी आती है। वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) की चर्चा है।

हमने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की जो बात कही है उसे हम और आगे बढ़ायें तो स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आदिम देश भारत नहीं था। भाषा के दृष्टिकोण से आज भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत पृथक्-पृथक् हैं। उत्तर में संस्कृत की प्रधानता है और दक्षिण में द्रविड़ भाषा-परिवार की। यदि आर्यों का आदिस्थान यहीं था और वे यहाँ से विजय-दुन्दुभि बजाते हुए बाहर गये थे, तो प्रश्न उठता है कि बाहर जाने से पहले उन्होंने दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त क्यों नहीं की? अपने ही देश में विजय-वैजयन्ती फहराने का लोभ वे कैसे संवरण कर सके? दक्षिण भारत और उत्तर भारत के विकास-क्रम में जो अन्तर है वह भी आर्यों के बाहर से आने की ओर ही संकेत करता है। दक्षिण भारत में उत्तर पाषाण-युग के एकदम बाद लोह-युग आया था, जबकि उत्तर भारत में लोह-युग के पूर्व ताँबे का प्रयोग हुआ और बाद में लोहे का।[2] फिर, यदि आर्य यहीं के निवासी थे तो मोहनजोदड़ो में मिलने वाली भाषा संस्कृत ही होनी चाहिए थी, दूसरी नहीं। इन सब बातों की संगति उसी समय बैठती है कि जब हम आर्यों को बाहर से आया हुआ मानें। भाषा-पार्थक्य तथा विकास-क्रम का अन्तर आदि सभी प्रश्न फिर स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। दो भिन्न जातियों का विकास तो भिन्न प्रकार से होगा ही।

---

१. ऋग्वेद, ५।५४।२५
२. हिस्टरी आफ इण्डिया : रमाशंकर त्रिपाठी, पृ० १४

यदि आर्य यहाँ के आदिम निवासी नहीं तो फिर उनके आगमन से पूर्व यहाँ कौन-सी जाति बसती थी ?—इस विषय में भी सुनिश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस देश में सर्वप्रथम नीग्रो लोग आये थे, फिर ऑस्ट्रिक या आग्नेय और तदनन्तर द्रविड़। उनके अनुसार द्रविड़ भी परवर्ती हैं और आर्यों के समान बाहर से ही आये हुए हैं। अन्य लोगों के मतानुसार, वे इस देश के उत्तराधिकारी हैं और आगे चलकर सभ्यता को उन्नत उन्होंने ही किया। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जिस प्रकार द्रविड़-संस्कृति के अवशेष मिले हैं, उस प्रकार इनसे पूर्ववर्ती जातियों की संस्कृति की जानकारी के लिए कोई साधन हमारे पास नहीं। जब तक कोई निश्चित प्रमाण हमारे सामने नहीं आते, तब तक यही मानना ठीक है कि उपलब्ध संस्कृतियों में द्रविड़ संस्कृति ही प्राचीनतम है। द्रविड़ चाहे बाहर से आये हों या यहीं के निवासी हों, इस झगड़े में पड़े बिना हमारे लिए इतना ही मान लेना पर्याप्त है कि आर्य जाति के आगमन से पूर्व द्रविड़ यहाँ विद्यमान थे और उनकी देव-भावना आर्यों की देव-भावना से प्राचीनतर है। रही बात भारतीय देव-भावना की मौलिकता की, इस विषय में यही कहा जा सकता है कि आज तक जितना भी अन्वेषण हुआ है, उसमें इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि भारतीय देव-भावना का कहीं से आयात हुआ है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसे सर्वथा मौलिक मानना ही उपयुक्त होगा।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई

इस खुदाई में जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं, वह आर्य है या आर्येतर, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य भले ही न हो, पर अधिकांश के अनुसार वह आर्येतर है। विभिन्न मतों का अध्ययन करने के पश्चात् हम स्वयं इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। इस निष्कर्ष के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) आर्य-जाति कृषि-प्रधान थी। पशु-पालन उसका व्यवसाय था और इन्हीं दोनों कारणों से वे लोग खुले मैदानों में रहते थे। दूसरे शब्दों में, उनकी सभ्यता ग्राम-प्रधान थी, नगर-प्रधान नहीं। 'ग्राम' शब्द जहाँ वैदिक संहिताओं में अनेक स्थानों पर आया है वहाँ नगर शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं हुआ है। नगरों के निर्माण-कर्ताओं का जहाँ कहीं उल्लेख है उन्हें 'असुर' कहकर पुकारा गया है। वर्ण-व्यवस्था में कला-कौशल और शिल्प शूद्रों को ही दिया गया है, ऊँचे समझे जाने वाले वर्णों को नहीं। मोहनजोदड़ो की सभ्यता विकसित नागरिक सभ्यता है।

इस नगर का निर्माण निश्चित योजना के अनुसार है, नियमित अन्तर के बाद गलियाँ और सड़कें हैं, भवनों का आकार अलग-अलग है, ये भवन सादे होते हुए भी शानदार हैं और पक्की ईंटों के बने हैं। ऊपर की मंजिलों में जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं, रोशनी के लिए दरवाजे और खिड़कियाँ हैं, बड़े-बड़े मकान हैं जो आधुनिक

इस बात की भी चर्चा है कि वह विष्णु का प्रिय आवास ही है जहाँ पुण्यात्मा लोग आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, जहाँ मधु का एक कूप है।[1]

यह ठीक है कि वृत्र आदि राक्षसों के नाश का कार्य वेद में इन्द्र ही करते हैं, पर वहीं इस बात के भी संकेत हैं कि विष्णु वीर्यशाली हैं और इन्द्र की सहायता भी करते हैं। एक वेद-मन्त्र में कहा है कि विष्णु के वीर्य का वर्णन कौन कर सकता है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ॥[2]

एक अन्य मन्त्र में उन्हें इन्द्र का योग्य सखा कहा गया है—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥[3]

यह भी कहा गया है कि विष्णु और इन्द्र ने मिलकर 'दासों' पर विजय प्राप्त की, शम्बर के ९९ दुर्गों को ध्वस्त किया और वर्चिन के दल को पराजित किया।[4] विष्णु के सम्बन्ध में ऋग्वेद में जो गरुत्मत् और सुपर्ण शब्द आये हैं—और बाद के काल में जो गरुड़ के पर्यायवाची बने हैं वे आरम्भ में सूर्य पक्षी वाचक ही थे।

रुद्र

इस शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों के अनेक प्रकार से की है। ग्रासमैन इसकी उत्पत्ति 'रुद्र' धातु से मानते हैं जिसका अनुमानात्मक अर्थ चमकना अथवा पिशल के अनुसार अरुणाभ होना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार रुद्र का अर्थ 'प्रदीप्त' अथवा 'लाल' होगा। पर भारतीय परम्परा में यह शब्द रोने के अर्थ में 'रुद्' धातु से व्युत्पन्न माना जाता है। आचार्य सायण ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है : जो सबको अन्तकाल में रुलाता हो—रोदयति सर्वमन्तकाले इति रुद्रः। (१) संसार नाम के दुःख को दूर करने या नाश करने से इसका नाम रुद्र है—रुत् संसाराख्यं दुःखम्, तत् द्रावयति अपगमयति, नाशयतीति रुद्रः। (३) वाणी या आत्मविद्या का उपदेष्टा होने के कारण उसका नाम रुद्र है—रुत् शब्दात्मिका वाणी, तत् प्रतिपाद्या आत्म-विद्या वा, तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः। अन्धकार को दूर करने के कारण इसका नाम रुद्र है—रुणद्धि आवृणोति इति रुत् अन्धकारादि तत् दृणाति विदारयीति रुद्रः। तैत्तिरीयक में भी रोने के सम्बन्ध में ही इसकी व्युत्पत्ति मानी गयी है—

सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्।

शौनक के अनुसार भी रुद्र नाम पड़ने का कारण यह है कि इन्होंने गर्जन करते हुए मनुष्यों के लिए विद्युत्-सहित वृष्टि की—

---

१. ऋग्वेद, १।५४।५

२. वही, १।१५४।१

३. वही, १।२२।१९

४. वही, ७।८।४

अरोदीदन्तरिक्षे यद् विद्युत् वृष्टिं ददन्नृणाम् ।
चतुर्भिर्ऋषिभिस्तेन रुद्र इत्यभिसंस्तुतः ।।[१]

कुछ भी हो, वैदिककालीन देवताओं में से एक देवता यह भी हैं । इनके अंग स्थिर हैं और इनका रंग वभ्रु है—स्थिरेभिरङ्गै पुररूप उग्रो वपुः ।[२] ये स्थिर धन्वा हैं, बाणों को तीव्र गति से फैंकते हैं और युद्ध में अनभिभूत रहते हैं ।[३] इनका धनुष हिरण्यमय भी है और हरे रंग का भी ।[४] उनके बाण बड़े-बड़े हैं । इनका कोप भारी है और स्थान-स्थान पर प्रार्थना की गयी है कि ये अपने आयुधों को दूर रखें । एक मंत्र में कहा गया है कि हे रुद्र ! हमारे पुरुषों, गौओं और बकरों को मत मार ।[५] उनसे यह भी प्रार्थना की गयी है कि तुम जंगली पशुओं को मारो, ग्राम्य पशुओं को छोड़ दो ।[६] यह भी प्रार्थना है कि वे न बच्चों को मारें, न बूढ़ों को और न अन्य किसी को । संभवतः इनके कोप की उग्रता और शक्तिमत्ता के कारण ही उसे आते-जाते, उठते और बैठते समय नमस्ते की गयी है—

नमस्ते स्त्वायते नमोअस्तु परायते ।
नमस्ते रुद्र तिष्ठते आशीनाय ते नमः ।।[७]

विशेषण के रूप में शिव शब्द का प्रयोग यजुर्वेद में आया है । कपर्दी (जटाधारी) और नीलग्रीव उसके ये विशेषण भी यजुर्वेद में ही मिलते हैं । पशुपति, भूति तथा भव और शर्व, इनके इन विशेषणों का भी प्रयोग अथर्ववेद में मिलता है—मृडतं भवाशर्वो मृडतम् ।[८]

अग्नि

किसी भी अन्य देवता की अपेक्षा अग्नि का ही मानव-जीवन के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है । मनुष्यों के आवासों-गृहों के साथ इस देवता का विशेषरूप से सम्बन्ध है अतः वेदों में इन्हें गृहपति की उपाधि से विभूषित किया गया है । वैसे भी यज्ञ-प्रधान आर्यों में अग्नि का महत्त्व सबसे अधिक है । यह यजमान की हवि को देवों तक पहुँचाता है और देवों को पृथ्वी पर लाता है । यही कारण है कि वैदिक देवों में इन्द्र के पश्चात् इन्हीं का सबसे अधिक प्रमुख स्थान है । ऋग्वेद के लगभग २०० सूक्तों में

---

१. बृहदेवता, २।३४
२. ऋग्वेद, २।३३।६
३. वही, ७।४६।१
४. वही, ७।४६।१
५. वही, २।३३।१०
६. वही, ११।२।२१
७. ऋग्वेद, ७।४७।१२
८. अथर्व०, ११।२।२५

इसकी स्तुति है और कितने ही अन्य सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी इसका स्तवन है। इसके पिता द्यौस् हैं और इन्हीं से अग्नि की उत्पत्ति हुई है।[१] कहीं-कहीं इसे द्यौस् और पृथ्वी, दोनों ही की सन्तान कहा गया है।[२] दो अरणियों के घर्षण से इस देवता का जन्म होता है इस बात का उल्लेख भी है।[३] अरणी ही माता है और अरणि ही पिता है, इनमें भी ऊपर की लकड़ी पुरुष है तथा नीचे की स्त्री।[४] कहीं-कहीं इसी अग्नि को द्विजन्मा कहा गया है, उसका कारण उसकी आकाश और पृथ्वी से उत्पत्ति है। ऊँचे और नीचे के क्षेत्रों में इसके जिस आवास की चर्चा है उसका भी भाव आकाश और पृथ्वी, दो स्थानों की उत्पत्ति से ही है।[५] वेदों में न जाने कितने स्थानों पर अग्नि को धन का देने वाला कहा गया है।[६] यह भी प्रार्थना की गयी है कि वह हमारे शत्रुओं का नाश करे—"अग्नि रक्षांसि सेधति।"[७] इस बात का भी उल्लेख है कि वरुण, अर्यमा और मित्र तीनों देवता अग्नि का उद्दीपन करते हैं और अग्नि की पूजा करने वाला विश्व भर को जीत लेता है।[८] कुछ स्थानों पर अग्नि को इन्द्र, विष्णु, वरुण और रुद्र कहा गया है।[९] यह अग्नि मरण-धर्म से रहित है और सबमें निहित है।

वरुण

यद्यपि वैदिकोत्तर साहित्य में वरुण का महत्त्व एकदम घट गया है पर वैदिक देवताओं में इन्द्र के साथ साथ इन्हें भी महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। वास्तविक बात तो यह है कि अनेक कारणों से वरुण का महत्त्व इन्द्र के महत्त्व से कुछ अधिक ही है। यह देवता नैतिक व्यवस्था का प्रबन्धक या अधिष्ठाता है। यह देवताओं का राजा है और इसका निवास-स्थान स्वर्ग में है जो सोने से भरा हुआ है। इसके घर में हजारों दरवाजे हैं, इसके कपड़े चमकीले हैं, उसके पास ऐसे गुप्तचर हैं जिन्हें कोई धोखा नहीं दे सकता। वेदों में वरुण को असुर(प्राणवान्) कहकर पुकारा गया है। यह भी कहा गया है कि यह माया के द्वारा शासन करता है और उसकी यह माया देवताओं के लिए शुभ है और असुरों के लिए अशुभ। इस माया-रूपी शक्ति

१. ऋग्वेद, १०।४५।८
२. वही, ३।२।२
३. वही, ३।२६
४. वही, ३।२६।३
५. वही, १।१२८।३
६. वही, १।१।१, १।२।१, अथर्व० १६।४।३
७. वही, ७।१५।१०
८. वही, १।३६।४
९. वही, २।१

द्वारा वह ऊषा और सूर्य को पृथ्वी लोक पर भेजता है। वरुण के साथ जिस अन्य देवता का स्तवन किया जाता है वह मित्र है। इसका नाम धृतव्रत भी है क्योंकि यह नक्षत्रों आदि को नियम में रखता है। नैतिकता का रक्षक होने से यह अशुभ व्यक्तियों को अपने पाशों से बाँधकर रखता है।

अश्वि-द्वय या अश्विनौ

मन्त्र-संख्या के आधार पर इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण देवता अश्विद्वय ही हैं। प्रायः सभी मन्त्रों में इन दोनों के साथ-साथ ही रहने का उल्लेख है। यद्यपि इनकी गणना द्युःस्थानीय देवताओं में होती है पर प्रकाश-सम्बन्धी किसी विशिष्ट घटना के साथ इनका स्पष्ट सम्बन्ध न होने से इनकी वास्तविक मूल प्रकृति की व्याख्या व्याख्याकारों के लिए एक समस्या ही बनी रही है। इनका मार्ग स्वर्ण का बना हुआ है और इस बात का भी उल्लेख है कि इनका सुनहरी रथ ऋभु देवताओं द्वारा सजाया जाता है। इनके दो विशेषण हैं—दस्र और नासत्य। मधु के साथ इनका विशेष संबन्ध है। कितने ही स्थानों पर इन्हें मधुयु और मधुपा (मधु का पान करनेवाला) कहकर पुकारा गया है। इस बात का भी उल्लेख है कि मधु-मक्षि-काओं को मधु देने का काम इन्हीं देवताओं का है। अन्य देवों के समान ये भी सोम-रस के प्रेमी हैं। ये वे दिव्य चिकित्सक हैं जो अपने उपचारों द्वारा व्याधियों का उप-शमन, दृष्टि-दान और अपंग तथा रुग्ण व्यक्तियों को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। ये देवों के चिकित्सक हैं और स्तोताओं को मृत्यु से दूर भगाते हैं। ऋग्वेद में इस बात का भी उल्लेख है कि जराक्रान्त और परित्यक्त च्यवन ऋषि को इन्होंने दीर्घ जीवन और नवयौवन प्रदान किया। इसके अतिरिक्त ऐसे बहुत-से व्यक्तियों का उल्लेख है कि जिन्होंने अश्वि-द्वय की कृपा से स्वास्थ्य-लाभ किया।

ऊपर जिन देवों का उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त द्यौस्, मित्र, सविता, पूषा, ऊषा, मरुद्गण, वायु, पर्जन्य, आपः, नदियाँ, पृथ्वी आदि अनेक ऐसे देवता हैं जिनका वर्णन वेदों में मिलता है। इन देवों ने मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना पर जो प्रभाव छोड़ा है वह नगण्य ही है, अतः यहाँ उनका सविस्तार वर्णन हमें अपेक्षित नहीं।

ब्राह्मण-काल (वैदिक देव भावना से अन्तर)

ब्राह्मण-ग्रन्थों का क्षेत्र सीमित है। इन गन्थों का मुख्य प्रयोजन पूजा और बलि में प्रयुक्त मन्त्रों की प्रयोग-विधि बताना है।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विवरण दिया गया है वे भी मूलतः उस परमदेव की व्याख्या करते हैं जो सृष्टि का मूल है। यज्ञ का अर्थ है दिव्य शक्तियों की परिचर्या। इन यज्ञों में जो अहुतियाँ दी जाती हैं उनका अर्थ है, दिव्य शक्तियों का

वैदिक काल : वैदिक देव-भावना का सामान्य स्वरूप

वैदिक भक्ति के तीन अंग हैं : स्तुति, प्रार्थना और उपासना। वहाँ प्राकृतिक शक्तियों को मानवोत्तर मानकर उनकी स्तुति की गयी है। वहाँ आत्म-निवेदन, विनय और भगवान् से विविध सम्बन्धों की स्थापना के यत्न एकदम स्पष्ट दिखायी देते हैं। इन विविध सम्बन्धों की स्थापना और देवों के सजीव वर्णन के कारण वहाँ उनके आकार का आभास तो होता है पर वहाँ प्रतिमा-पूजन के कहीं संकेत भी नहीं मिलते। यजुर्वेद में तो "न तस्य प्रतिमा अस्ति" कहकर प्रतिमा का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। प्रतिमा के अभाव में किसी तरह के बाह्य विधानों के उल्लेख की वहाँ आवश्यकता ही नहीं हुई।

वैदिक काल का भक्त देवों की स्तुति तो करता है पर वह अपनी शक्ति के प्रति भी जागरूक है। वहाँ साधक कहीं भी अपने को कामी, कुटिल और कायर—नहीं समझता। वहाँ कर्म की प्रधानता बनी हुई है। कहा गया है कि मनुष्य को कर्म करते हुए ही १०० वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। साथ ही कर्म के साथ ज्ञान का उचित समन्वय भी वहाँ बना हुआ है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में आध्यात्मिकता और भौतिकता, कर्म और ज्ञान आदि में बहुत ही सुन्दर ढंग से सामंजस्य स्थापित किया गया है। परवर्ती काल में देव-भावना के स्रोत में निवृत्ति को जिस मात्रा में मान्यता प्राप्त हुई है वह वैदिक भावना के प्रतिकूल है।

'देव-भावना का उदय और विकास' नामक प्रकरण में हम कह आये हैं कि प्राकृतिक शक्तियों का विकसित रूप ही देव-भावना के रूप में प्रकट हुआ है। भय और विस्मय आदि की भावना से अभिभूत मानव का मन अग्नि, वायु और वरुण आदि प्राकृतिक तत्त्वों को अतिमानव रूप में मानने लगा। उसने उनकी स्तुति की, पूजा की और उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा की। वेद भारत का सर्वप्रथम लिखित और प्रामाणिक साहित्य है तथा भारतीय साहित्य पर इसकी छाप अमिट है। परवर्ती समस्त भारतीय साहित्य की देव-भावना किसी-न-किसी सीमा तक इससे प्रभावित है अत: वैदिक काल के उन कुछ प्रमुख देवताओं का थोड़ा-सा वर्णन कर देना आवश्यक है जिनसे परवर्ती हिन्दी-साहित्य इतना अधिक प्रभावित है।

इन्द्र

इस शब्द की व्युत्पत्ति शौनक ने तीन प्रकार से की है। यह अपनी रश्मियों से जलों को लेकर वायु के साथ पृथ्वी पर वर्षा करता है अतः इन्द्र कहलाता है—

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनायं गतः सह।
वर्षत्येष च यल्लोके तेनेन्द्र इति स स्मृतः ॥[1]

---

१. बृहद्देवता, १।६८

चार प्रकार के प्राणियों के जीवन का स्रोत बनकर शासन करने के कारण भी इसका नाम इन्द्र है—

चतुर्विधानां भूतानां प्राणो भूत्वा व्यवस्थितः ।
ईष्टे चैवास्य सर्वस्य तेनेन्द्र इति स स्मृतः ।।[१]

मरुतों के साथ सम्बद्ध होकर उपयुक्त समय पर वर्षा करता है, इसलिए इन्द्र नाम पड़ा—

इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे ।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमृषयोऽब्रुवन् ।।[२]

ये वैदिक भारतीय आर्यों के सर्वाधिक प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं। प्रायः २५० सूक्त केवल इन्हीं की स्तुति में कहे गये हैं और यदि इनमें उन सूक्तों को भी सम्मिलित कर लिया जाय कि जिनमें इनकी स्तुति आंशिक रूप में की गयी है तो यह संख्या ३०० तक पहुँच जाती है। स्तोता जिस समय इनकी स्तुति करते हैं तो लगता है मानो उन्होंने हृदय की सम्पूर्ण भावुकता उड़ेल कर रख दी है। वैसे भी जितना स्पष्ट मूर्तीकरण इस देवता का हुआ है उतना अन्य किसी का नहीं। इनके बहुत-से दैहिक गुणों का उल्लेख है, एक सिर है और दो भुजाएँ हैं। इनकी भुजाएँ लम्बी, दूर तक फैलने वालीं, विशाल, शक्तिशाली और सुदृढ़ हैं।[३] इनके कन्धे और पेट भारी हैं[४], 'तुविग्रीवो वपोदरः'—इन्हें कभी बुढ़ापा नहीं सताता और सदैव युवा ही रहते हैं।[५] यद्यपि कहीं-कहीं इसके हाथों में बाण और तरकस लेकर युद्ध करने का भी उल्लेख है।[६] तथापि इनका प्रिय एवं प्रधान अस्त्र वज्र है। यह वज्र त्वष्ट्रा द्वारा निर्मित है, लोहे का बना हुआ है, बलशाली है और सदैव इसके हाथों में रहता है। इन्द्र सर्ववीर है, नेता है, क्षिप्रधन्वा है और शत्रु-सेनाओं पर सदैव विजय पाता है। वह युद्ध में सदैव अविजित है, किसी से उसका पराभव नहीं होता। बहुत-से स्थानों पर कहा गया है कि इन्द्र अकेला ही सारे शत्रुओं को समूल नष्ट करने में समर्थ है। एक मन्त्र में उसकी प्रशंसा करते हुए उसे रथियों में सबसे श्रेष्ठ और वाजिपतियों का स्वामी कहा गया है—

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ।।[७]

---

१. बृहदेवता २।३५
२. वही, २।३६
३. ऋग्वेद, ६।१९।३, ८।३२।१०
४. वही ८।१७।८
५. वही, ६।१९।२
६. अथर्व०, १९।१३।४
७. ऋग्वेद, १।११।१

इसी से आगे उसे जेता और अपराजित "त्वमभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम्" कहा गया है। यह भी कहा गया है कि वह अप्रतिहत-गति है तथा सिन्धु और पर्वत भी उसकी गति में रुकावट डालने में असमर्थ हैं।

उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य असुर-विनाश है। स्थान-स्थान पर इस बात का उल्लेख है कि किस प्रकार उसने वृत्र, नमुचि, शुष्ण, शुम्बर, मृग, विप्र, मृगय आदि राक्षसों का नाश किया। न जाने कितने स्थानों पर उससे प्रार्थना की गई है कि वह आकर राक्षसों का विनाश करे। असंख्य स्थानों पर उसे 'वृत्रहा' और 'वृत्रहन्ता' जैसे विशेषणों से याद किया गया है। असुरों का यह विनाश कभी कुत्स की सहायता के लिए है तो कभी राजा दिवोदास की। इस बात का भी उल्लेख है कि उन्होंने शम्बर के पुरों का नाश किया[1] और ९९ पुरों का भेदन कर वृत्र का वध किया।[2]

यही कारण है कि महत्ता में वह अप्रतिम है। वह सब धर्मों का एकमात्र स्वामी है—

स हि विश्वानि पार्थिवा एको वसूनि पत्यते।...[3]

और जिसके यज्ञ में इन्द्र सोम पीता है वह कभी दुःखी नहीं होता—नस राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।[4] यह भी कहा गया है कि यदि इन्द्र रक्षक हो तो फिर किसी प्रकार का भय नहीं। इन्द्र के भय से मेघ वर्षा करते हैं, आकाश, पृथ्वी और सारा विश्व उससे डरता है—

त्वद्भियेन्द्र पार्थिवानि विश्वाच्युताचिच्च्यावयन्ते रजांसि।[5]
द्यावाक्षामा पर्वतासो वनानि विश्वं दृढं भयते अज्मन्ना ते॥

यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यों और देवों में इन्द्र से श्रेष्ठ कोई नहीं।

सोम इन्द्र का प्रिय पेय है और वृत्र का वध करने के लिए जाते समय वह इसे अवश्य पीता है। जन्म के पहले दिन ही इन्द्र द्वारा सोम का पान किया जाना इस बात का सूचक है कि यह सोम उसे अत्यधिक प्रिय है। इन्द्र द्वारा पर्वतों के पंखों को काटकर उन्हें अचल रूप दिये जाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में है। इनके शतक्रतु होने की भी चर्चा है। मरुत् इसके प्रधान सहायक हैं और प्रायः सभी विजयों में वे इसके साथ रहते हैं। सोम-पान के समय कभी-कभी स्तोता इसके साथ बृहस्पति का भी आह्वान करते हैं।

---

१. ऋग्वेद, ६।२१।४
२. वही, ८।१७।८
३. वही, ७।१६।२०
४. वही, ५।३७।४
५. वही, ६।३१।२

कुल मिलाकर ये वेद के सर्वाधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण देवता हैं ।

विष्णु

व्याप्त्यर्थक विश् धातु से विष्णु की व्युत्पत्ति हुई है । शौनक के अनुसार भी व्याप्ति को व्यक्त करने वाली विश अथवा वैविष् धातु से विष्णु की व्युत्पत्ति हुई है—

त्रिष्णातेर्विशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः ।
विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वः सर्वान्तरश्च यः ।[१]

सम्भवतः इस धातुगत अर्थ ने भी विष्णु की महत्ता का विस्तार करने में कुछ सहायता की हो । विष्णु, जो आगे चलकर ब्राह्मणकालीन पुराकथा शास्त्र में देवाधिदेव के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन हुए, ऋग्वेद में इतने अधिक महत्त्वपूर्ण देवता नहीं । मन्त्रों की संख्या के आधार पर तो उनका स्थान चतुर्थ है । पर ध्यानपूर्वक देखने से विष्णु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण लगते हैं जितना महत्त्व इन्हें संख्या के आधार पर दिया जाता है । आरम्भ में विष्णु सूर्य के बारह नामों में से एक है । इनके चरित्र की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने तीन पगों से भुवनत्रय को व्याप्त कर लिया—

इंद विणुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे ।।[२]
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।।[३]

इसका उल्लेख लगभग एक दर्जन बार हुआ है । ये तीन पग सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त हैं । यास्क के पूर्ववर्ती और्णवाम तथा यूरोप के अधिकांश आधुनिक विद्वानों को यही मत मान्य है । अन्ततोगत्वा ऋग्वेद के ये उल्लेख ही विष्णु की उस वामनावतार-कथा में परिवर्तित हुए जो परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों और महाकाव्यों में इतनी अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हुई । इन तीन पगों के विषय में वेदों में ही कहा गया है कि इनमें से दो पग अथवा स्थान तो मनुष्य को दिखायी पड़ते हैं किन्तु तीसरा तथा उच्चतम पग मनुष्य की पहुँच व पक्षियों की उड़ान के बाहर है ।[४] इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु के इस पद को सभी स्तोता प्राप्त करना चाहते हैं—

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ।।[५]

---

१. बृहदेवता २।६९
२. ऋग्वेद, १।२२।१७
३. वही, १।२२।१८
४. वही, १५५।५, ७।९९।२
५. वही, १।२२।२१

आह्वान करना। आहुतियों का नाम ही आहुति इसलिए पड़ा कि उनके द्वारा यजमान दिव्य शक्तियों का आह्वान करता है। क्योंकि इन दिव्य शक्तियों का चाक्षुष दर्शन सम्भव नहीं, इसलिए मानस-दर्शन की अभिलाषा से भाव लिया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमें शब्दों की धातुगत व्याख्या, उनका अर्थ और कर्मकाण्ड के रहस्य को समझाने का यत्न है और इसके लिए बीच-बीच में कथाओं का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार इन ग्रन्थों को वेदों की व्याख्या भी कहा जा सकता है। पर वास्तव में ये व्याख्या मात्र नहीं हैं। इनकी देव-भावना और वेद-काल की देव-भावना बहुत-कुछ एक समान होते हुए भी एकदम एक-जैसी नहीं है, उसमें अन्तर है। श्री के० एस० मैकडानल के अनुसार वेदों में मानव देवों से भय खाता है पर ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवता मानव से दब गए हैं।

It has been said with a good deal of truth that in the Vedic hymns man fears the god, in the Brahmans man subdues the god, in the Upnishadas man ignores the gods, and identifies himself as the god.[१]

अर्थात्—इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि वैदिक मन्त्रों में मनुष्य देवों से भय खाता है, किंतु ब्राह्मण-ग्रन्थों में देव मनुष्य से दबे हुए हैं, उपनिषदों में मनुष्य देवों की उपेक्षा करता है और अपने को और देवताओं को एकाकार समझता है।

यद्यपि इनके देवता वेदों के ही देवता हैं पर काल-क्रम से एक-दो नये देवों का आगमन भी हो गया है—ये देवता हैं प्रजापति और ब्रह्मा। इस काल में प्रमुख माने जाने वाले देवों में कुछ का वर्णन इस प्रकार है।

ब्राह्मण-काल : विष्णु

वैदिक काल के अन्तर पदोन्नति।

इस काल तक आते-आते देव-भावना के रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। इन्द्र और विष्णु की जिस प्रतियोगिता के संकेत हमें वेदों में मिलते हैं, उसका स्पष्ट परिणाम हमारे सामने आ चुका था। धीरे-धीरे इन्द्र पर विष्णु की विजय होती गयी; बहुत-से ऐसे विशेषण जो पहले इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे अब विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगे। "विष्णु के हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, ऋषभ, वैकुण्ठ, आदि जैसे नाम पहले इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होते थे अथवा इन्द्र-सम्बन्धी किसी वस्तु को सूचित करते थे, वे धीरे-धीरे विष्णु के नामों और विष्णु की उपाधियों के आधार बन गए।"[२]

---

१. ब्राह्मण एण्ड वेदाज़, पृ० १०५-१०६
२. वैष्णव धर्म, पृ० १४

एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवताओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान विष्णु का है, फिर अग्नि का और तदनन्तर अन्य सब देवताओं का।[१] विष्णु की इस पदोन्नति के अनेक कारणों में से विष्णु का यज्ञ में सहायक होना भी है। वैदिक आर्य यज्ञ को अत्यधिक महत्त्व देते थे। "यज्ञो वै विष्णुः" से पता चलता है कि विष्णु की लोक-प्रियता का कारण उसका यज्ञ-रूप होना ही है।

विष्णु की इस पदोन्नति के कारणों में श्री जे० गोंडा ने तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है :(१) देश का अच्छे और बुरे समय में साथ देना, (२) सूर्य द्वारा प्रदत्त शक्ति को आगे बढ़ाना, (३) अशुभ शक्तियों को नष्ट करने में सहायक होना।[२] वह अशुभ व्यक्तियों को नष्ट करने के लिए होने वाले युद्धों में तटस्थ निरीक्षक ही नहीं, उससे कुछ अधिक है। वेद में उसे 'इन्द्रस्य युज्यः सखा'[३] कहा गया है। वह उसके समान है, कम नहीं। जब इन्द्र वृत्र को नहीं मार सका तो उसने विष्णु से कहा कि आज विक्रम करो, मेरे साथ खड़े रहो; द्यौ मुझे विवर दे, वज्र के लिए स्थान दे। विष्णु ने कहा और ऐसा ही हुआ। तैत्तिरीय में भी कहा गया है कि वृत्र ने सभी लोकों में अपना प्रसार कर लिया था और इन्द्र के मन में भय का संचार कर दिया था। युद्ध से पूर्व इन्द्र विष्णु से कहता है—आओ हम उसके लोकों पर अधिकार करलें। विष्णु ने अपने को तीन लोकों में स्थापित किया—त्रेधा आत्मानं विनय आधत्त। एक अन्तरिक्ष में, एक आकाश में और एक पृथ्वी पर। फिर इन्द्र ने वृत्र को मारा और कहा, तुमने मुझे तीन बार आगे बढ़ाया है।[५]

वेदों में विष्णु के उदय, मध्याह्न और अस्त-रूप पगों की जो स्थितियाँ थीं, अब उनका अर्थ बदल गया था। अब उनकी नयी व्याख्या यह हुई कि विष्णु ने वामन रूप में पृथ्वी, आकाश और पाताल, इन तीनों लोकों को नाप लिया। पौराणिक काल में जिस वामनावतार की इतनी अधिक चर्चा है उसके बीज संहिता-काल में विद्यमान हैं।[६] आगे चलकर इनके जिन विभिन्न अवतारों की चर्चा हुई उन सबका उल्लेख इस काल में ही उपलब्ध होता है, वराहावतार का उल्लेख शतपथब्राह्मण (१४/१/२/११) में है; मत्स्य प्रजापति का ही रूप है, इस बात का उल्लेख भी इसी ब्राह्मण में है।[७] कूर्मावतार की कथा भी इसी में है[८] और नृसिंह-रूप में अवतार का उल्लेख पहले-पहल

१. ऐतरेय, १।१
२. आ० अ० वैष्णव, पृ० १२२
३. ऋक्०, १।२२।१६
४. आ० म० वैष्णव, पृ० ३२-३३
५. वही, पृ० ३३
६. तैत्तिरीयसंहिता, २।१।३।१
७. वही, ७।८।१।५
८. वही, ७।५।१।५

'तैत्तिरीय आरण्यक' में किया गया मिलता है। विष्णु के महत्त्व में यह वृद्धि ब्राह्मण-काल की देन है, इस भाव को श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"अवतारवाद का विषय इस प्रकार वैदिक संहिताओं के समय प्रायः अज्ञात-सा ही था और उनमें किये गये वामन आदि विषयक उल्लेख नितान्त भिन्न प्रसंगों में आये थे। किन्तु विष्णु का महत्त्व बढ़ने के साथ ही उनके स्वरूप में महान् परिवर्तन हो गया और उनकी संख्या भी बढ़ गयी। 'तैतिरीय आरण्यक' में "नारायणाय विद्महे","वासुदेवाय धीमहि", "तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्" कहकर नारायण, वासुदेव और विष्णु का एकत्व प्रतिपादित किया गया। आरम्भ में विष्णु और नारायण देवता अलग-अलग थे, इनके एकीकरण के बाद इनका महत्त्व बढ़ गया। इन्हें दयालु भगवान मानने की धारणा सात्त्वत या भागवत धर्म के बाद दृढ़मूल हुई।[1]

इन्द्र

देवों में प्रथम स्थान पाने की दौड़ में यद्यपि विष्णु को सफलता मिल गयी पर फिर भी इन्द्र के महत्त्व में विशेष अन्तर नहीं आया। कुछ स्थानों पर तो उसे अब भी सर्वश्रेष्ठ कहा गया है—इन्द्रः श्रेष्ठो देवतानामुपदेशनात्। श्रुतिरेवमुपदिशति।[2] राक्षसों के विनाश का जो कार्य उसे वेद-युग में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिलाने में सफल हुआ था, उसका वह कार्य अब भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। उसकी स्तुति के समय उसे अब भी 'रक्षोहा', 'जिष्णु', 'ज्योतिष्मान्' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है। वह राक्षसों का नाश करता है, युद्ध में विजय दिलाता है और ज्योतिष्मान् है।

रक्षोहणं पृतनासु जिष्णुम्। ज्योतिष्मतं दीधतं पुरन्धिम्॥

यह भी कहा गया है कि वह बलशाली तो है ही, उसके बल का सबको पता भी है—

त्वामिन्द्राभिभूरसि। देवो विज्ञातवीर्यः॥

उसके वृत्रहन्ता रूप को भी बार-बार उसी कृतज्ञ भाव से स्मरण किया जाता है। एक स्थान पर कहा गया है कि असुरों के साथ युद्ध में वृत्रहन्ता इन्द्र अकेला ही डटा रहा—

इन्द्र एवं वृत्रहातिष्ठ।[3]

अन्य स्थानों पर भी जहाँ उन्हें "वज्रहस्तः पुरन्दरः" जैसे विशेषणों से याद किया गया है वहीं उनकी शक्ति का भी गान किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने जितने पराक्रम किये हैं उनका वर्णन कौन कर सकता है?

---

१. वैष्णव धर्म, पृ० ५४

२. तैत्तिरीय, २।३।१

३. वही, २।४।३

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम् । यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहि मन्वपस्ततार्द ॥[१]

इन्द्र ने जिस प्रकार अपने कौशल से अपने शत्रु नमुचि का फेन से वध किया उसका भी उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में है। इस बात का वर्णन है कि वृत्र को मार देने पर भी इन्द्र नमुचि को न प्राप्त कर सका, न मार सका। किसी प्रकार शच्या-शक्ति विशेषेण—उसे प्राप्त किया, दोनों में संघर्ष हुआ, नमुचि का पराक्रम बढ़ा हुआ निकला। उसने शर्त के साथ इन्द्र से सन्धि करली। शर्त यह थी कि इन्द्र न तो मुझे शुष्क वस्तु से मारे और न आर्द्र से, न दिन में, न रात में। इन्द्र ने फेन का आयुध बनाया। रात्रि के बीत जाने और सूर्य के उदित होने से पहले ही इन्द्र ने फेन द्वारा नमुचि को मार गिराया।[२]

इन्द्र देवों का राजा है। सब देवता मिलकर उसका महाभिषेक करते हैं। वहाँ कहा गया है कि यह इन्द्र देवों में सबसे अधिक ओजवाला, साहसी, सत्तम अर्थात् सत्वाला और कार्यों को सबसे अधिक अच्छी तरह करने वाला है। इस बात का भी सविस्तर वर्णन किया गया है कि इस अवसर पर उसे ऋचा के सिंहासन पर बैठाकर किस-किस देवता ने सिंहासन के किस भाग को सहारा दिया। विधिवत् उसकी घोषणा के पश्चात् उसे साम्राज्य का सम्राट्, भोगों का भोक्ता, स्वराज्य का स्वराट्, वैराज्य का विराट्, राजाओं का पिता परमेष्ठी बना दिया। यह घोषणा की, "आज अमिय पैदा हुआ, विश्व का अधिपति पैदा हुआ, विश और लोगों का भोग भोगनेवाला पैदा हुआ, शत्रु का नाश करने वाला पैदा हुआ, असुरों का घातक पैदा हुआ, ब्राह्मणों का रक्षक पैदा हुआ, धर्म का रक्षक पैदा हुआ।"[३]

अग्नि

देवों में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। कहा गया है कि देवताओं में इसका स्थान प्रमुख है और अश्व के रूप में यह युद्ध में देवताओं का नेतृत्व करता है। यही रुद्र है जो पशुओं के खोये जाने और ढूंढ़े जाने का कारण बनता है।[४] यह भी कहा गया है कि अग्नि ही सब देवताओं का रूप है, सब देवताओं को आहुति इसी के द्वारा पहुँचती है—

अग्निर्वै सर्वा देवताः। अग्निर्हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति तद्यथा सर्वा देवता उपधाकेदेवं तस्मादग्रय एवं।[५]

---

१. तैत्तिरीय, २।५।४
२ वही, १।७।१
३. ऐतरेय, २।४।२
४. ऐतरेय, २।४।२
५. गौ० से० ग्रे०, पृ० ३६
६. शतपथ, २।२।१

फिर कहा गया है कि अग्नि देवताओं का प्रतिनिधि है। यह सबसे अधिक कोमल-हृदय है, यह देवों के निकटतम है—

> अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः। यं वै मृदुहृदयतमं मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्रय एव। अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्। यं वै नेदिष्ठमुपसर्तव्यानां मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्रय एव।[१]

ऐतरेय का कथन है कि अग्नि ही सब देवों में श्रेष्ठ है क्योंकि वह सबका मुख है—अग्निर्वै सर्वा देवताः। सर्वदेवतानां मुखत्वात्।[२]

एक अन्य स्थान पर अग्नि और विष्णु को देवों का दीक्षापाल कहा गया है—अग्निश्च ह्वै विष्णुश्च वै देवानां दीक्षापालौ। तौ दीक्षाया ईशाते।[३]

इस बात का भी उल्लेख है कि अग्नि देवों को राक्षसों से बचाता है। कहा गया है कि देवता यज्ञ कर रहे थे। यज्ञ को रोकने के लिए तभी असुरों ने आक्रमण कर दिया। उस समय अग्नि-सम्बन्धी मन्त्र पढ़े जा चुके थे, पर अग्नि पशु के चारों ओर नहीं ले जायी गयी थी। देवता जाग पड़े और उन्होंने अपनी तथा यज्ञ की रक्षा के निमित्त अग्नि की सुदृढ़ दीवारें खड़ी कर दीं। राक्षस देवों का पराभव न कर सके और लौट गये।[४] यह भी विश्वास किया जाता था कि अग्नि ही सुख और अन्न का प्रदाता है—

> ईडे अग्निं विपश्चितं श्रुष्टी वत्तम्।

वेदों में इसके रूप का जो वर्णन है, उससे कोई उल्लेखनीय अन्तर इस काल में नहीं आया।

रुद्र

रुद्र शक्तिशाली तो हैं ही, आतंकवाले भी हैं। साधारण मानवों की तो बात ही क्या, देवता भी उनसे भयभीत रहते हैं। शतरुद्रिय प्रकरण में यह बात इन शब्दों में कही गयी है—

> अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतममृतं रूपमुत्तमं दधुः, एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठद् अन्नमिच्छमानः तस्माद् देवा अभिययुर्यद् वै नो अयं हिंस्याद् इति।[५]

एक अन्य स्थान पर उन्हें पशुपति कहा गया है। इस बात का भी उल्लेख है कि पशु उनके संरक्षण में रहते हैं—

---

१. शतपथ, २।२।१०-११
२. ऐतरेय, पृ० १०
३. वही, पृ० ३१
४. वही, पृ० २।२।७
५. शतपथ ६।१।१।१

तदेव रुद्र एव पशुपति: पशुभ्य सुवत्मथ यद् गवेधुको भवति वास्तव्यो वा एप देवो वास्तव्यो गवेधुकास्तस्माद् गावेधुको भवति ।[१]

एक अन्य स्थल पर स्तोता यह प्रार्थना करता है कि पशु उनके सम्पर्क मे न आये ।[२] बात यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थकर्ता उनके रुद्र-रूप से या तो इतने भयभीत है या प्रभावित है कि उनका विचार हो गया है कि उनकी (रुद्र की) उत्पत्ति सब देवताओ के उग्र अशो के मेल से हुई है ।[३] उन्हे स्पष्ट रूप से घोर और क्रूर कहा गया है और उनसे बराबर प्रार्थना की गयी है कि उनके बाण स्तोता की ओर न चले ।[४] तथ्य यह है कि ब्राह्मण-ग्रन्थो के समय रुद्र को गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो गया था । "रुद्र की अन्य देवताओ द्वारा उपेक्षा होने पर भी सब देवता उनसे डरते थे, इसलिए उन्हे देवाधिपति कहा है । 'ईशान' और 'महादेव' अब उनके साधारण नाम है ।[५]

इनका रूप लगभग वही है जैसा वेदो मे था ।

पुरुष-नारायण

ब्राह्मण-काल का नया देवता है । उसकी कामना है कि वह समस्त देवताओ मे श्रेष्ठ हो । उसकी इच्छा है कि विश्व के रूप मे वह अपना विस्तार करे । अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह पुरुषमेध यज्ञ करता है और उसे अपने उद्देश्य मे सफलता भी मिलती है ।[६]

ब्रह्म

यह ब्रह्म स्वयम्भू है और प्रजापति को उत्पन्न करने वाला है ।[७] यह ब्रह्म तप करता है, बलि देता है, यह अव्यय है, पहले भी था और आगे भी रहेगा ।[८] तैत्तिरीय मे भी ब्रह्म द्वारा देवो और निखिल विश्व को पैदा करने की बात कही गयी है ।[९]

प्रजापति

वह देवो मे श्रेष्ठ है । इन्द्र को जो मान्यता मिलती है वह केवल इसीलिए कि

---

१ वही, ५।३।३।७
२ कौशीतकी, ३।४
३ ऐतरेय, ३।८।९
४ तैत्तिरीय, ३।२।५
५ शैवमत, पृ० २०
६ शतपथ, १६।१।१।१
७ वही, १०।६।५।९
८. वही, १०।४।५९
९ वही, २।८।९

वह प्रजापति का मान्य उत्तराधिकारी और ज्येष्ठतम पुत्र है ।[१] इस बात का भी उल्लेख है कि अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रजापति ने जो माला धारण की थी, वही माला वह इन्द्र को देता है । उसकी इच्छा थी कि सभी प्राणी इन्द्र की श्रेष्ठता को स्वीकार करें, अब पिता की माला को उसके गले में देखकर सब उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार कर लेते है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही इस बात के भी उल्लेख हैं कि देवता असुरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और चतुर हैं । वे निश्चय करते हैं कि जो विजयी हो, सारे पशु उसी के हों । जो बात शक्ति के द्वारा निर्णीत नहीं हो सकी थी, उसे अब वे बुद्धि-चातुर्य से प्राप्त करना चाहते हैं । शब्दों का युद्ध शुरू होता है और अन्त में देवों की विजय होती है ।[२]

श्री लक्ष्मी

इस बात का उल्लेख है कि जब प्रजापति सृष्टि का निर्माण करते-करते थक गए तो अचानक श्री का जन्म हुआ । उसके जन्म लेते ही देव उससे ईर्ष्या करने लगे और मारने पर उतारू हो गये । प्रजापति के समझाने पर वे शान्त हुए पर उसके सारे गुणों का अपहरण उन्होंने कर लिया । अग्नि ने ओज ले लिया, सोम ने राज्य, वरुण ने सार्वदेशिक राज्य, मित्र ने उत्तम कुल, इन्द्र ने शक्ति, बृहस्पति ने दीप्ति, पूषा ने संपत्ति, सरस्वती ने समृद्धि और त्वष्टा ने सौन्दर्य । बाद में प्रजापति द्वारा बलि दिये जाने पर उसे ये सब गुण मिल गये ।[३] इस कथा का सीधा-सा भाव यह है कि लक्ष्मी में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान हैं । परवर्ती काल में यह भाग्य और समृद्धि की देवी मानी गयी है । इसकी उत्पत्ति और आकृति-निर्माण में लोकतत्त्वों का बड़ा भारी हाथ था ।[४] इस काल (ब्राह्मण-काल) से उसमें जो विशेषताएँ दिखायी गयी हैं, उपनिषद्-काल में भी उन विशेषताओं का उल्लेख है ।[५]

यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि यह देवी इसी काल की देवी है । ऋग्वेद में श्री शब्द का प्रयोग तो है, पर लक्ष्मी के रूप में नहीं ।[६]

सूत्रकाल (वैदिक काल से अन्तर)

अमूर्त के मूर्तीकरण या मानवीकरण का जो सिलसिला ऋग्वेद में आरम्भ हुआ

---

१. तैत्तिरीय, १।५।६।१
२. तैत्तिरीय, १६।४।१।३
३. शतपथ ११।४।१
४. डेव० हि० इक०, पृ०, ३७०
५. तैत्तिरीय, १।४
६. डे० हि० इक०, पृ० ३७०

था वह सूत्र-काल में पूरा हो गया है। इस मानवीकरण के साथ-साथ इन देवताओं की मूर्तियाँ भी प्रचलित हो गयी थीं।

सांख्यायन सूत्र में नक्षत्रों, इन्द्र तथा अग्नि की शक्ल बनाने की ओर संकेत है।[१] हम इसे आसानी से आधुनिक पूजा में काम में आने वाली प्रतिमाओं का पूर्व-रूप मान सकते हैं। इस बात का भी विधान है कि नवनिर्मित घरों में देवताओं के स्थान और मन्दिरों में पानी छिड़का जाय।[२] चैतीय या चैत्य वलि की भी चर्चा है। इस बलि का देवता दूरी पर भी होता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि यह बलि किसी के द्वारा उस देवता तक भिजवायी जाय। भोजन के भी दो भाग होते थे, एक देवता का, दूसरा ले जाने वाले का। आत्म-रक्षा तथा बलि की रक्षा के उद्देश्य से ले जाने वाले को हथियार भी दिये जाते थे। यदि बीच में तैर कर जाने योग्य कोई नदी पड़ती थी तो नौका का भी प्रबन्ध किया जाता था।

आश्वलायन में इस बात का भी विधान है कि यदि बलि किसी देवता-विशेष को देनी है तो वह उस पशु की होनी चाहिए जो पशु उस देवता-विशेष का हो। यदि वह बलि दूर ले जानी है तो उस पशु का एक भाग उस देवता के लिए निश्चित करे और ले जाने वाले से कहे कि इस बात का ध्यान रखना कि वह बलि वहाँ अवश्य पहुँचे।[३] यह भी कहा गया है कि देवता की मूर्ति के पास जाते ही रथ से उतर जाना चाहिए।[४] इन्हीं प्रमाणों के आधार पर श्री वी० एम० आप्टे का कथन है कि उस समय तक मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण हो चुका था।

"The image-worship existed before Buddha and is implied in Penini's Sutras" Vasudevarjunabhyam Kun" is the only certain thing."[५]

अर्थात् मूर्ति-पूजा बुद्ध-पूर्व समय में भी विद्यमान थी, इसका पता पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में आये हुए "वासुदेवार्जुनाभ्यां कुन्" सूत्र से पता चलता है।

इस बात का भी उल्लेख है कि जंगल में 'देव मन्दिर' होता था जिसमें रह कर 'महानाम्नीव्रत' रखने वाला विद्यार्थी उपवास किया करता था। 'अग्न्यागार' भी एक प्रकार का मन्दिर ही है जिसकी पवित्रता का ध्यान बराबर रखा जाता है। नवनिर्मित भवन में देव-स्थापना के लिए निश्चित स्थान का विधान भी गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है।[६]

---

१. सा० गृ० सू०, ४।१६।२।३
२. पारस्कर, ३।४।६
३. वही, ३।२।१०।११
४. वही, ३।२।१०।११
५. सो० रि० ला० गृ० सू०, पृ० २०६
६. पारस्कर, ३।४।६

इस विषय में श्री आप्टे का मत इस प्रकार है—

Of course, the idea of temple in the sense of a sacred place set apart for the purposes of worship and devotion to a deity was there as is seen from the existence of the 'Agnyagar' of fire-temple inside or outside where the Bali oblation could be offered. Similarly something very much like a temple seems to be indicated when a snataka is advised to go round "God's houses" keeping his right side turned to them, met with on the way."[1]

अर्थात् देवता की पूजा और भक्ति के लिए एक पवित्र स्थान—मन्दिर—होता था। इस बात का पता उस 'अग्न्यागार' से मिलता है जो घर के अन्दर या बाहर बलि की आहुति के लिए बनता था। इसी प्रकार मन्दिर से मिलते-जुलते स्थान का पता उस समय चलता है कि जब स्नातक को यह परामर्श दिया जाता है कि मार्ग में देवता का मन्दिर मिलने पर वह दायीं ओर रहे।

उपनिषत्-काल (वैदिक देव-भावना से अन्तर)

वैदिक युग में हमने देव-भावना के ज्ञान, कर्म और उपासना, इन तीन अंगों का उल्लेख किया है। इस युग में उनमें से केवल एक अंग रह गया है—ज्ञान। वेदों में तीनों का समन्वय है, तीनों समान हैं, न कोई बड़ा है और न छोटा। केवल एक को अपनाने से इस काल की देव-भावना को एकांगी कहा जायेगा। यहाँ कर्मकाण्ड (यज्ञ) का स्पष्ट शब्दों में खंडन किया गया है। भवसागर को पार करने के लिए यज्ञ-रूपी नाव को अदृढ़ और अविश्वसनीय नौका कहा गया है।

श्रद्धा देव-भावना का अनिवार्य अंग है। केवल तर्क के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं। श्रद्धा ही वह संबल है जिसका सहारा लेकर जिज्ञासु पथिक गन्तव्य तक पहुँच सकता है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर इसीलिए श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कठोपनिषद् में लिखा है—"वह देव न वाणी से जाना जाता है, न मन से और न चक्षुओं से। उसकी प्राप्ति तो अचल आस्था से ही संभव है।"[2] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो कुछ विद्या और श्रद्धा से उपलब्ध होता है वही श्रेष्ठतर है—

यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥[3]

एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में तर्क का खंडन करते हुए श्रद्धा के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है—

---

१. सो० रि० ला० गृ० सू०, पृ० २३२
२. कठोपनिषत्, २१।३।१२
३. मुण्डकोप०, १।१।१०

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।।[१]

देव-भावना के इस अंग का स्पष्ट विकास उपनिषत्-काल की अपनी देन है।

जाति-पाँति की उदारता को भी हम इसी काल की देन मान सकते हैं। सत्यकाम जाबाल जारज सन्तान है पर वह इस सत्य को छिपाता नहीं है। कहा गया है कि उसकी इस सत्यवादिता के कारण गुरु ने उसे ब्राह्मण स्वीकार किया और शिष्य रूप में दीक्षित किया। भक्ति के क्षेत्र में आगे चलकर जिस उदारता का परिचय कुछ कवियों और आचार्यों ने दिया है उसके बीज भी यहीं विद्यमान हैं। इसलिए इनमें देव-भावना का स्वरूप उससे सादृश्य नहीं रखता जो ब्राह्मणों और सूत्रों में मिलता है। पर फिर भी देव-भावना का एकदम लोप हो गया हो, ऐसी बात नहीं। किसी-न-किसी रूप में यह विद्यमान है। आकाश में सहसा प्रकट हुए यक्ष को पहचानने के लिए अग्नि और वायु उसके पास जाते हैं। सर्वभुक् अग्नि तिनके को नहीं जला सकता और वायु इसे इंच भर इधर से उधर नहीं उड़ा सकता। तब इन्द्र जाकर उसका ठीक पता लगाता है। यहाँ इन्द्र के साथ उसके पर्यायवाची मघवा शब्द का प्रयोग किया गया है जो पूववर्ती और परवर्ती, दोनों ही साहित्यों में आर्यों के देवों के प्रधान सेनापति तथा राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[२] एक दूसरी उपनिषद में नचिकेता और यम (जन्म-मरण का अधिष्ठाता) के संवाद का उल्लेख है। यम कहता है कि हे नचिकेता, मृत्यु के मुख से छुटे हुए तुझे देखकर तेरा पिता प्रसन्न होगा और सुख की नींद सोयेगा।[३] एक अन्य स्थान पर प्राणों को इन्द्र और रुद्र कहा गया है। शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचारी द्वारा मित्र, वरुण अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा और वायु को नमस्कार किये जाने और उनसे अपनी तथा अपने गुरु की रक्षा का उल्लेख है।[४] गर्भाधान का वर्णन करते समय ऋषि ने ब्रह्म, इन्द्र और प्रजापति को देवता कह कर पुकारा है।[५] इस बात का भी वर्णन है कि जाबाल सत्यकाम को सूर्य, अग्नि और वायु ने ब्रह्म के एक-एक चरण को समझाया था।[६] यह भी कहा गया है कि अग्नि, वायु और आदित्य ने तप किया और फिर क्रमशः ऋक्, यजु और साम को उत्पन्न किया, तीन प्रकार की विद्या की उत्पत्ति हुई।[७] राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में बताते हुए इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र और यम के नाम गिनाये गये हैं।[८]

---

१. कठोप०, १।२।९
२. केनोप०, खण्ड २१
३. कठोप०, वल्ली १
४. तैत्तिरीय, वल्ली १
५. ऐतरेय, पृ० ३
६. छान्दोग्य, प्रपाठक ४
७. वही, पृ० ४
८. बृहदारण्यक, म० भ० ४, ब्राह्मण

स्मृति-काल

स्मृतियों का विषय विधि (कानून) का निर्माण है। इनमें चारों आश्रमों, चारों वर्णों, विवाह के प्रकारों, स्नातक के धर्म और दाय-विभाग आदि के विषय में लिखा गया है। सामान्यतया इन विषयों का देव-भावना के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं, इसलिए स्मृति में देवभावना के विशद वर्णन की आशा करना दुराशा ही है। फिर भी प्रसंग-वश इधर-उधर जो उल्लेख मिल जाते हैं हम उन्हीं के आधार पर प्रस्तुत विषय का विवेचन करेंगे।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में विवाह के प्रकरण में स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि गन्धर्वों ने इन्हें मीठी बोली दी और सोम तथा अग्नि ने पवित्रता प्रदान की—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितः स्मृताः ॥[1]

आगे चलकर कहा गया है कि देवताओं को दी गयी आहुतियों से अवशिष्ट अंश से भूत-बलि दी जानी चाहिए—

देवेभ्यश्च हुतादत्ताच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्।[2]

श्राद्ध की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वसु, रुद्र और अदिति के पुत्र श्राद्ध के देवता हैं और श्राद्ध से तर्पित ये देवता पितरों को तृप्त करते हैं।[3] इस बात का भी उल्लेख है कि रुद्र और ब्रह्मा ने विनायक को कर्मों के विघ्न और शान्ति के लिए गणों के अधिपति के रूप में नियुक्त किया है।[4] एक अन्य स्थान पर राजा के वरुण, सूर्य, इन्द्र और वायु द्वारा पवित्र किये जाने की बात कही गयी है। स्त्री देवताओं की भी चर्चा है; कहा गया है कि विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार करे तथा दूब, सरसों और पुष्पों द्वारा सत्कार करे।[5] इसी प्रकरण में आगे चलकर आदित्य, स्वामी कार्तिकेय तथा महागणपति की पूजा करने का विधान है।[6] यह भी कहा गया है कि धन, शान्ति, वृष्टि, आयु, पुष्टि तथा शत्रु पर विजय-प्राप्ति के लिए ग्रहों की पूजा करनी चाहिए। ग्रहों के नामों में सूर्य, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु के नाम गिनाये हैं। यह भी बताया है कि उनकी मूर्ति किस-किस धातु की बनानी चाहिए।[7] वहीं गीत के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि गीतकार योग

---

१. याज्ञ०, वि० प्र०, श्लोक ७१
२. वही, श्राद्ध प्रकरण, श्लोक ३
३. वही, म० ह० प्र०, श्लोक ६९
४. वही, श्लोक ७१
५. याज्ञ०, ग० ह० प्र०, श्लोक ८६
६. वही, श्लोक ९४
७. वही, श्लोक ९४

के द्वारा परमपद प्राप्त न कर सके तो वह रुद्र का अनुचर होकर उसी के साथ मोद उठाता है।[1]

मनुस्मृति में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए उसे ब्रह्मा की मूर्ति तथा पिता को प्रजापति की मूर्ति कहा है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।[2]

गृहस्थ के कर्त्तव्यों में कहा गया है कि देवताओं को भोग लगाकर ही उन्हें स्वयं भोजन करना चाहिए—

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग् भवेत् ।।[3]

यह भी कहा गया है कि देव-कार्य में दो को भोजन कराना चाहिए और पितृ-कार्य में तीन को। मांस-प्रकरण में खाद्य और अखाद्य की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति देवों और पितरों की अर्चना किये बिना मांस खाता है उससे अधिक अपुण्यकर्ता कोई भी नहीं है। फिर यह भी कहा है कि अपने-आप खाने से पूर्व देवताओं के लिए हवि देनी चाहिए। राजा के विषय में कहा गया है कि इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इनके अंश से राजा का निर्माण होता है और यही कारण है कि वह अपने तेज से सभी को अभिभूत कर लेता है।[4] उससे अगले दो श्लोकों में कहा है कि जिस प्रकार कोई तपते हुए सूर्य की ओर आँख उठाकर नहीं देख पाता, उसी प्रकार देवताओं के स्वरूप से निर्मित राजा की ओर कोई भी आँख उठाकर नहीं देख पाता। राजा के कर्त्तव्यों पर विचार करते हुए कहा गया है कि यदि वह ऐन्द्र स्थान (इन्द्र का स्थान, सर्वोत्तम स्थान) चाहता है तो उसे साहसिक पुरुष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अन्त में एक बार फिर यह स्पष्ट कर दें तो उचित ही होगा कि इन ग्रन्थों में देव-भावना का उल्लेख-भर है, विकास नहीं है। इससे पूर्व जो रूप चला आ रहा है उसी का उल्लेख बीच-बीच में किया है।

पौराणिक काल (देव-भावना में अन्तर)

वैदिक काल में जिसकी उत्पत्ति हुई थी, ब्राह्मण और सूत्र-काल में जो पल्लवित और पुष्पित हुई थी, वह देव-भावना पौराणिक काल तक आते-आते फलवती हो चुकी थी। इस समय तक देव-भावना का रूप एकदम स्पष्ट हो गया था। हड्डियों के ढाँचे में मांसलता और स्थूलता आ गयी थी।

---

१. याज्ञ०, म० प० ह०, श्लोक १६
२. मनु०, अ० २, श्लोक २२६
३. मनु०, ३।११७
४. वही, ७।४-५

ऐसी स्थिति में देव-भावना में विस्तार का आना स्वाभाविक ही था। यह भक्ति-भावना अब स्तुति, प्रार्थना और उपासना को लाँघकर नौ रूपों में हमारे सामने आती है। भागवत में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इसमें पादसेवन और अर्चन, दो का विधान तो एकदम साकार के लिए ही सम्भव है। जो भी हो, इस काल में विधि-विधान या पूजा में बाह्य पक्ष की प्रधानता हो गयी है।

वेदों में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों की स्थिति है। वहाँ इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं और ये एक-दूसरे के पूरक रूप में चित्रित किये गये हैं। गीता में यद्यपि भक्ति का स्वर कुछ तीव्रतर है पर वहाँ भी ज्ञान और कर्म का पक्ष निर्बल नहीं। वहाँ ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए ज्ञान और वैराग्य को भक्ति की सन्तान कहा गया है। भगवान् कृष्ण के ही मुख से भक्ति की महत्ता इस प्रकार घोषित करायी गयी है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्या ह्येकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वापकिनपि सम्भवान्॥

माधुर्यभाव—इस भाव की भक्ति का प्रचार भी इस काल की अपनी विशेषता है। वेदों और उपनिषदों में कान्ता भाव की भक्ति के मन्त्र हैं पर वहाँ उसे वह महत्त्व नहीं मिला। इस काल का तो सर्वस्व यही है। गोपियों के साथ कृष्ण का रास इसी भाव का द्योतक है।

प्रपत्ति—जिस प्रपत्ति की हिन्दी-साहित्य में इतनी महत्ता है और जिसे बहुत से विद्वान् भ्रान्तिवश इस्लाम या ईसाइयत की देन मानते हैं, उसका विकास भी इसी काल की विशेषता है। गोपियाँ ब्रज में रहती हैं, मथुरा उनसे दूर नहीं, है, फिर भी वे कृष्ण के वियोग में व्याकुल रहती हैं, अहर्निशि कलपती हैं पर फिर भी ब्रज छोड़कर मथुरा नहीं जातीं। उनका विश्वास है कि जब भगवान् कृपा करेंगे तभी मिलन होगा, उसके लिए यत्न व्यर्थ है।

समय के हेर-फेर के साथ देवताओं के साम्राज्य में थोड़ा-बहुत परिवर्तन आ गया था। कुछ देवता ऊपर चले गये थे और कुछ नीचे आ गये थे। गणेश और शक्ति दो नये शक्तिशाली देवता प्रकट हो गये थे। देवत्रयी में रहते हुए भी ब्रह्मा पूजा से बहिष्कृत हो गये थे। देवाधिपति इन्द्र स्वर्ग के राजा तो थे पर उनका चरित्र बहुत गिर गया था। इन देवताओं में सहयोग के स्थान पर विरोध की भावना बढ़ गयी थी। यद्यपि शिव और विष्णु को कुछ स्थानों पर अभिन्न दिखाने का भी प्रयास लक्षित है पर

अधिकांश स्थलों पर इनके विरोध को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित किया गया है। कामासक्तता से कोई भी देव नहीं बच सका है।

इन बातों के अतिरिक्त ऋग्वेद और इस काल के देवों में महान् अन्तर है। सभ्यता, समृद्धि और काल के व्यवधान के साथ अन्तर का आना स्वाभाविक ही था। डा० ज्वालाप्रसाद सिंहल के शब्दों में यह अन्तर इस प्रकार है—"ऋग्वेद के देवताओं के पास विमान भी नहीं। न उनके पास ऐसे अस्त्र हैं, जैसे ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र, मोहनास्त्र, सुदर्शन चक्र आदि। न वहाँ कोई गरुड़ है, न शेष भगवान्, न दिशाओं के दिग्गज और न कूर्म, न वराह और न मत्स्य भगवान्। कश्यप की सन्तान दैत्यों और देवताओं की परस्पर लड़ाई का कोई उल्लेख नहीं है और न समुद्र-मंथन का।...देव-लोक में पाप भी होता था। स्वयं इन्द्र को पाप लगा था। देवता स्वार्थ-साधन भी करते थे और भय प्राप्त होने पर घबराते भी थे। ये सब बातें ऋग्वेदीय देवताओं में नहीं हैं।"[१]

कुछ भी हो, जहाँ तक मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना का प्रश्न है, उस पर पौराणिक काल का भारी प्रभाव है। स्थूलतः उसका स्वरूप वही है जो पौराणिक काल का है। अतः इस काल की देव-भावना का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

इन्द्र

वैदिक काल में जो इन्द्र आर्यों के प्रधान सेनापति थे, वे अब तीनों लोकों के अधिपति हैं। देवलोक या स्वर्ग के स्वामी वे ही हैं। उनका ऐश्वर्य अपार है। वहाँ नन्दनवन है, कामधेनु है, कल्पवृक्ष है, मधु है, सुन्दर अप्सराएँ हैं, जो इन्द्र का मनो-विनोद तो करती ही हैं, यदा-कदा उनके निर्देश पर किसी तपस्वी, ऋषि या इन्द्र-पदाभिलाषी राजा को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए भूलोक को भी कृतार्थ करती रहती हैं। उनकी प्रिय सवारी हाथी और घोड़ा है। हाथी का नाम ऐरावत है और घोड़े का उच्चैःश्रवा। उनके पास सुन्दर रथ भी है जिसे मातलि नामक सारथि चलाता है। वे कवच धारण करते हैं। वज्र उनका प्रिय आयुध है जो अमोघ है। इसी का दूसरा नाम अशनि भी है। इनकी पत्नी का नाम शची है और वह असाधारण सुन्दरी है। इन्द्र स्वयं असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न हैं और अध्वर्यु उनका स्तवन करते हैं।[२] हाँ, यह अवश्य है कि ऐश्वर्य के मद से प्रमत्त होने के कारण वे गलतियाँ कर बैठते हैं और शाप के भागी बनते हैं।[३] किसी को उन्नति करते देखकर उन्हें ईर्ष्या होती है। शंका-कुलता इनका स्वभाव है। अपने पद को बनाये रखने के लिए पाखण्डियों का वेश बना लेने और राजा पृथु के यज्ञीय घोड़े को चुरा लेने में भी उन्हें संकोच नहीं। पृथु द्वारा

१. विश्वे० इण्डो ज०, मार्च १९६५
२. हरिवंशपुराण, ३।१७
३. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ३६।१२।३०

बाण-सन्धान किये जाने पर पुरोहित-वर्ग इन्हें बचाता है।[१] सदैव विजयश्री का सेहरा इनके ही सिर पर बँधता हो, यह भी निश्चित नहीं। सत्यभामा के अनुरोध पर कृष्ण जब पारिजात वृक्ष उखाड़कर भूलोक पर लाना चाहते हैं तब ये कृष्ण के साथ भिड़ जाते हैं। इनके अमोघ अस्त्र वज्र को कृष्ण जब हाथ में पकड़ लेते हैं तो ये युद्ध से भाग खड़े होते हैं। कृष्ण को अपने से बड़ा और संसार का नियामक मान लेने पर ही इन्हें छुटकारा मिलता है।[२] गरुड़ के साथ युद्ध में भी इनकी पराजय होती है और गरुड़ अपनी माँ को दासी-भाव से मुक्ति दिलाने के लिए अमृत ले जाने में समर्थ हो जाते हैं।[३] च्यवन ऋषि द्वारा अश्विनीकुमारों को सोम-रस पीने का अधिकार दिये जाने पर ये बिगड़ खड़े होते हैं, वज्र से ऋषि पर प्रहार करते हैं और बाहु स्तम्भित हो जाने पर ऋषि की शरण में जाते हैं। काम-लिप्सा और इन्द्रिय-लोलुपता भी इनमें बहुत है। देवशर्मा मुनि की पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण मायावी रूप बनाकर उससे काम-निवेदन करने में इन्हें संकोच नहीं— सुकला के पातिव्रत्य को भंग करने के लिए वे सभी चेष्टाएँ करते हैं।[४]

कुल मिलाकर उनकी स्थिति न तो प्रशंसनीय है और न स्पृहणीय ही। वे अपने अनुज विष्णु के आदेश पर चलने वाले सेवक से बहुत अच्छे नहीं। श्री कृष्णावतार में कृष्ण उन्हें आदेश देते हुए कहते हैं—

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वा साम्यवर्जितैः॥[५]

वैसे कुल मिलाकर वे स्वर्गाधिपति हैं और देवों के नियामक हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—देवराज, सुरपति, महेन्द्र, शचीपति, मघवा, पाकशासन, पुरन्दर, पुरहुत, जिष्णु, गोत्रभित्, वृत्रहा, सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पर्वतारि, दिवस्पति, वासव।

इस काल तक आते-आते इन्द्र के रूप में महान् परिवर्तन हो गया है। वेद में वे प्रकृति के देवता हैं। यद्यपि काल-क्रम से उनका प्राकृतिक रूप कुछ धुँधला और दूरागत-सा दीख पड़ता है, पर उनके प्राकृतिक देवता होने में किसी को भी सन्देह नहीं। वेद में वे सर्वाधिक शक्तिशाली देवता हैं। राक्षसों के विनाश का गुरुतम कार्य वे ही करते हैं। विष्णु वहाँ उनके सहायक भर हैं। परवर्ती साहित्य में विष्णु को इसीलिए उपेन्द्र कहा गया है। इस काल तक आते-आते उन्हें एकदम मानवाकार दे दिया गया है। उनके लोक का नाम स्वर्ग है और वे उसके स्वामी हैं। उस स्वर्ग

१. भागवतपुराण, स्क० ४, अ० १६
२. विष्णुपुराण, ५।३०
३. पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड
४. वही, भूमिखण्ड
५. भागवतपुराण, १०।२७।१५

का ऐश्वर्य अपार है। वहाँ कामधेनु है, पारिजात वृक्ष है, नन्दन वन है, घृत और मधु की धाराएँ बहती हैं। वहाँ का यौवन अक्षत है और वहाँ रम्भा, मेनका और उर्वशी जैसी रूपवती अप्सराएँ हैं। इनकी पत्नी का नाम शची है। उनके पास विशाल वाहिनी है। वे अब भी राक्षसों से युद्ध करते हैं पर विजय सदैव उन्हीं का वरण नहीं करती। वे पराजित भी होते हैं और उनकी सहायता के लिए नरलोक से राजाओं को निमन्त्रण मिलता है। उनका राज्य भी खतरों से परे नहीं। कोई भी मानव सौ यज्ञ पूरे करके उस पद के साथ शची को भी प्राप्त कर सकता है।

अब उनके गौरव का ह्रास हो गया है। अब वे उपेन्द्र (कृष्ण-रूप) के संकेतों पर चलने वाले सामन्त हैं। सत्यभामा उन्हें नीचा दिखाने के लिए ही कृष्ण से पारिजात वृक्ष को उखड़वाकर भूलोक ले जाती हैं। ब्रज को डुबा देने के यत्न में भी उन्हें कृष्ण से पराजित होना पड़ता है। उनका चारित्रिक पतन भी हो गया है। वे गौतम का वेश धारण कर अहल्या से समागम करते हैं और गौतम के शापवश सहस्रभग हो जाते हैं।

विष्णु

इस काल तक आते-आते जगन्नियन्ता के पद पर अधिष्ठित हो चुके हैं। पुराणों में इन्हें स्थान-स्थान पर "सर्वदेव-नमस्कृत" कहा गया है।[१] देवत्रयी में इनका स्थान सबसे ऊँचा है। इस बात को समझाने के लिए भृगु द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीनों देवों के पास जाने और अन्त में उनके द्वारा विष्णु को सर्वोच्च घोषित किये जाने की कथा सविस्तार कही गयी है।[२] कठिन से कठिन कार्य को करने वाले वे ही हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के समय पृथ्वी को जल में मग्न देखकर जब ब्रह्मा चिन्तित हो उठे, उस समय ये उनकी नाक से शूकर-रूप में प्रकट होते हैं। आरम्भ में शूकर का परिमाण अंगुष्ठमात्र है तथा क्षणभर में ही ये हाथी का आकार धारण कर पानी में घुसते हैं और हिरण्याक्ष का वध कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं।[३] समुद्र-मन्थन के समय जब देवों और दानवों के सम्मिलित यत्न से भी अमृत नहीं निकलता तब विष्णु ही कच्छप बनकर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण करते हैं और इस प्रकार अमृत निकालने में सहायता करते हैं।[४] देवताओं के अन्तिम शरण्य यही हैं। जब कभी देवों पर कोई भारी विपत्ति आती है तो यह उनका उद्धार करते हैं। इनके विभिन्न अवतारों का कारण भी यही है। राक्षसों द्वारा अमृत छीन लिये जाने पर भयभीत देवों

१. भागवतपुराण, ३।१५।१३
२. वही, १०।८९।१-१३
३. वही, ३।१३
४. वही, ८।६।८-१०

की रक्षा के लिए मोहिनी का रूप धारण कर राक्षसों को छलने का काम भी इन्हीं का है ।[1] बलि राजा द्वारा इन्द्र के निष्कासित हो जाने और देवों के बेघरबार हो जाने पर वामनावतार में तीन पदों से भुवनत्रय को नापने और उस पद पर इन्द्र को पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी इन्हीं को है ।

वास्तविकता तो यह है कि समस्त संसार में विष्णु ही व्याप्त है । कहा गया है कि स्वयं विश्वेश्वर भगवान् विष्णु ही ब्रह्मा होकर रजोगुण का आश्रय लेकर इस संसार की रचना में प्रवृत्त होते हैं । रचना हो जाने पर सत्त्वगुण-विशिष्ट अतुल पराक्रमी भगवान् विष्णु कल्पपर्यन्त उसका पालन करते हैं । फिर कल्प का अन्त होने पर अतिदारुण तमःप्रधान रुद्र-रूप धारण कर वे जनार्दन विष्णु ही उसका भक्षण करते हैं । वे भगवान् सर्वोपरि हैं, स्वतः वे "भुवनत्रयैकवीर..." भी हैं । वीरता में अन्य देवी-देवता इनका मुकाबला नहीं कर सकते । सम्मुख युद्ध में आने पर शिव को भी इनसे पराजित होना पड़ा है । मधु, कैटभ, हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु-जैसे असुरों का विनाश इन्होंने ही किया है ।

भक्तवत्सलता - ये बड़े ही भक्त-वत्सल हैं । भक्त इन्हें अपने प्राणों से भी प्यारे हैं । अपने प्रति किये गये अपराध को तो ये हँस कर सह लेते हैं पर भक्त के प्रति किये गये अपराध का बड़ा कठोर दण्ड देते हैं । अन्य देवों की अपेक्षा ये दुराराध्य तो हैं, आरम्भ में कठोर परीक्षा भी लेते हैं, पर एक बार प्रसन्न और सन्तुष्ट हो जाने पर भक्त के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं । विष्णु-भक्त राजा अम्बरीष द्वारा जल से व्रत का पारण कर लेने पर जब परम क्रोधी दुर्वासा उसके विनाश के लिए कृत्या को भेजते हैं तो विष्णु अपने सुदर्शन चक्र से उसका नाश कर देते हैं । चक्र द्वारा पीछा किये जाने पर ब्रह्मा और महादेव भी जब दुर्वासा की रक्षा नहीं कर पाते तब वह अन्त में वह विष्णु की ही शरण में आते हैं । गजेन्द्र के उद्धार के लिए भगवान् विष्णु गरुड़ पर चढ़कर आते हैं और उसे बचाने के लिए एकदम सरोवर में कूद पड़ते हैं । गजेन्द्र का तो उद्धार होता ही है, नक्र भी दिव्य रूप धारण कर स्वर्ग में चला जाता है ।

कभी-कभी देव-कार्य के लिए ये ऐसा भी कार्य करते हैं जो देखने में उचित प्रतीत नहीं होता । पार्वती के अनुरोध पर जलन्धर नामक दैत्य की पत्नी का छलपूर्वक पातिव्रत्य भंग करने में इन्हें संकोच नहीं होता । इस बात का भी उल्लेख है कि ये ब्राह्मण का वेश बनाकर शंखचूड़ से कवच माँगते हैं और उसकी स्त्री तुलसी का सतीत्व नष्ट करते हैं । तुलसी इन्हें पाषाण होने का शाप देती है ।

इनका वर्ण श्याम है, वस्त्र पीले हैं, कटि-प्रदेश में किंकिणी है, वक्षःस्थल पर वत्स की स्वर्णमयी रेखा है, गले में कौस्तुभमणि है, चार भुजाएँ हैं, इन चारों भुजाओं

---

१. भागवत पुराण, ८।९।१५-२९

में ये शंख, चक्र, पद्म और गदा धारण किये रहते हैं। कहीं-कहीं इनकी आठ भुजाओं का भी उल्लेख है—

कृतपादः सुपर्णासि प्रलम्बाष्टमहाभुजः।
चक्रशंखासिचर्मेषु धनुपाशगदाधरः॥

गदा भी इन्हें प्रिय है और उसका नाम कौमोदकी है। शंख का नाम पांचजन्य है और धनुष का शार्ङ्ग। इनका स्थायी आवास वैकुण्ठ है। वहाँ का वैभव अपार है। इनके सुनन्द, नन्द, प्रबल मुख्य पार्षदगण इनकी सेवा में निरत हैं। इनका मुखकमल मधुर मुस्कान से युक्त रहता है।

आँखों में लाल-लाल डोरे तथा चितवन बहुत ही मधुर और मोहक है।[1] ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ इनकी दासी हैं। वर्षा ऋतु में ये क्षीर-सागर में निवास करते हैं। लक्ष्मी इनकी पत्नी है जो इनके अवतारों में भी इनके साथ रहती है। और सागर में शयन करते समय शेषनाग इनकी शय्या का काम देता है।

वैदिक और पौराणिक रूप में अन्तर

वेद के विष्णु देवताओं में प्रथम श्रेणी के देवता नहीं हैं। वहाँ वे सौर-शक्ति के रूप में माने गए हैं। सूर्य सम्पूर्ण सृष्टि में प्रकाश रूप से व्याप्त है इसलिए सूर्य का रूप ही विष्णु है। सम्पूर्ण विश्व को उन्होंने केवल तीन पगों द्वारा पार कर लिया है, वहाँ इस बात का उल्लेख है पर ये तीन पग आकाश की तीन स्थितियाँ हैं—उदय, उत्कर्ष और अस्त। वहाँ ये इन्द्र के सहयोगी के रूप में चित्रित किये गये हैं। इनका स्थान द्वितीय है, प्रथम नहीं। पर पौराणिक काल में वे प्रकृति के देवता न रहकर अखिल जगत् के निर्माता परब्रह्म बन गए हैं। उनके इन तीन पदों को लेकर वामनावतार की भावना इस समय तक दृढ़ हो गयी है। उनके इन तीन पगों का सम्बन्ध छल द्वारा बलि के राज्यापहरण और उसके पाताल लोक भेजने से हो गया है।

इस काल तक आते आते उनके वैकुण्ठ-लोक की स्थापना हो गयी है। वहाँ उनकी नित्यसंगिनी लक्ष्मी उनके साथ रहती है, उनके विशाल प्रासाद हैं, पार्षद हैं, प्रहरी हैं। साधारण मानव से भिन्न चित्रित करने के लिए उनकी चार भुजाओं का उल्लेख है और कहीं-कहीं आठ भुजाओं का भी। देवों के कल्याण के लिए उन्हें कभी-कभी छल का भी सहारा लेना पड़ता है। जलन्धर नामक दैत्य की सती नारी के सतीत्व को भंग करने का गुरुतर अपराध भी उन्हें करना पड़ा। कभी-कभी इनका शिव के साथ संघर्ष भी दिखाया गया है। जबकि वैदिक काल में उनके इस रूप के संकेत तक भी नहीं मिलते।

---

१. भागवत, ६।४।२५

श्री कृष्ण

कृष्ण-रूप में विष्णु ही अवतार लेते हैं। वे साक्षात् भगवान हैं। ब्रह्मा आदि देवों के स्वामी हैं, जगत् के एकमात्र आराध्य देव हैं। भीष्म अन्तिम समय में उनके दर्शन पाने पर अपने को सौभाग्यशाली मानते हैं और उनकी विविध प्रकार से स्तुति करते हैं। युद्धोपरान्त उनके द्वारका जाते समय विविध व्यक्ति विविध प्रकार से स्तुति करते हैं।[१] अतः जो विशेषताएँ विष्णु की है वे ही कृष्ण की भी हैं। कृष्ण के रूप में उनकी तीन पत्नियाँ हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा और साम्बवती। इनके विविध कृत्यों से कई पुराणें भरी पड़ी हैं। इनके अवतार का प्रमुख उद्देश्य अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना है। उन्होंने अपने ही मुख से श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रमुख उद्देश्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥[२]

शिशु-रूप में प्रगट होने से अपने लीला-धाम में जाने के समय तक किये गये उनके सब कार्यों का लक्ष्य भू-भार को उतारना है। बच्चों को मारने वाली पूतना के स्तन पीते समय उसके स्तनों को दबा कर उसे मार देना, उसके शरीर के जलाये जाने पर चन्दन-जैसी सुगन्ध का फैलना, पापीयसी होते हुए भी भगवान् को स्तन पिलाने से उसको सद्गति मिलना,[४] कालिय नाग को यमुना-कुण्ड में से निकाल कर समुद्र में भेजना, ब्रजवासियों को निगलने के लिए बढ़ने वाली दावाग्नि को निगल जाना[५] आदि उनके कार्यों का वर्णन सविस्तार किया गया है। इन्द्र की पूजा रोक दिये जाने पर इन्द्र का क्रोध में भर कर मेघों और आँधियों को ब्रज के नाश के लिए भेजना तथा श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को अपनी अंगुली पर उठाकर ब्रज की रक्षा करना आदि उनके अलौकिक कार्यों की चर्चा भी बहुत स्थानों पर है।[६] दुर्योधन के राजकीय सत्कार को ठुकरा कर विदुर के घर वे सागपात का भोजन करते हैं। कंस, शिशुपाल और जरासन्ध के भार से पृथ्वी को मुक्त करते हैं। महाभारत के युद्ध की जो चर्चा मध्य-कालीन हिन्दी-साहित्य में मिलती है उन सबका आधार पौराणिक साहित्य है। वे प्रेम

---

१. भागवत, १।१०।२०-२६
२. भगवद्गीता, ४।७।८
३. भागवतपुराण, १०।६।२-१६
४. वही, १०।६।२१-३६
५. भागवत, अ० २, स्क० ३, पृ० २४१ (भाग २)
६. वही, पृ० २५०

के महत्त्व को भली भांति समझते हैं। कुब्जा द्वारा थोड़ा-सा प्रेम दिखाये जाने पर वे अपनी कृपा से उसके टेढ़े-मेढ़े शरीर को सीधा कर देते हैं और वह कुब्जा युवतियों में श्रेष्ठ हो जाती है—

सा तदृजु समानांगी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥[३]

वृन्दावन उनका परम प्रिय स्थान है, उनके लोक का नाम गोलोक है, गोप और गोपियाँ उन्हें परम प्रिय हैं, दूध से वे भागते हैं और माखन उनका प्रिय पदार्थ है। माखन और दही के लिए वे दूसरे घरों में चोरी भी कर लेते हैं, गोप-गोपियों के साथ रास रचाते हैं। उनके और विष्णु के कुछ मुख्य नाम इस प्रकार हैं—

नारायण, दामोदर, केशव, माधव, पीताम्बर, अच्युत, शार्ङ्गी, जनार्दन, चतुर्भुज, मधुरिपु, कैटभारि, वनमाली, दैत्यारि, दानवारि, गोविन्द, गरुड़ध्वज, उपेन्द्र, चक्रपाणि।

शिव

पौराणिक काल से पूर्व ही रुद्र और शिव का एकीकरण हो चुका था और इनकी प्रभुता का सिक्का बैठ चुका था। पौराणिक काल में शिव की पूजा सर्वत्र प्रचलित है और उनका नाम भव-सागर से पार उतारने वाला है, यह विश्वास सब में घर कर चुका था—

शिवेति द्व्यक्षरं नाम व्याहरिष्यन्ति ये जनाः।
तेषां स्वर्गश्च मोक्षश्च भविष्यन्ति न चान्यथा ॥[१]

अर्थात् दो अक्षर वाले शिव का नाम लेने से प्राणी स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बन जाता है, यह वचन कभी अन्यथा नहीं होता। वे प्रधान पुरुष हैं, सर्ग-स्थिति और संहारकारी हैं, एक अन्य स्थान पर इन्हें निम्न शब्दों में नमस्कार किया गया है—

नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारणे ॥[२]

वेश-भूषा

इनका वर्ण कर्पूर के समान गौर है, शरीर में भस्म का लेप है, श्वेत वस्त्र हैं, ग्रीवा का रंग नीला है, सिर पर जटा है, गले में सर्प की और रुण्डों की माला है,

१. भागवत, पृ० ३८५
२. स्कन्दपुराण, माहेश्वर अंक, खंड १, श्लोक १४
३. लिंगपुराण, सर्ग १, श्लोक १

तीन आँखें हैं, मृगछाला प्रिय आसन है, श्मशान में वास करते हैं, खप्पर भोजनपात्र है, भाँग-धतूरा खाते हैं, हाथी की खाल लपेटते हैं, भूत, प्रेत, पिशाच इनके गण हैं, हाथ में डमरू और त्रिशूल रखते हैं। वेश से अशिव हैं और वैसे शिव। इनके धनुष का नाम पिनाक है और पत्नी का नाम पार्वती या उमा।

शिव के इस साकार रूप की आध्यात्मिक व्याख्या भी है। सत्य का रंग उजला होता है, भस्म सत्य का प्रतीक है। शंकर के मस्तक, गले और भुज-दंडों पर भयंकर सर्पों का दिखाया जाना मृत्यु के प्रतीक सर्प पर विजय पाना है, यह उनका मृत्युञ्जय रूप है। ललाट पर सुशोभित चन्द्रमा सन्ताप का हरण करने वाला है तथा सौन्दर्य का विधायक है। गंगा जीवों को मुक्ति देती है और शिव के मुक्तिदाता रूप की प्रतीक है। त्रिलोचन का अर्थ सूर्य और चन्द्रमा रूपी दो प्रकाश-पिण्डों के आन्तरिक ज्ञान-रूपी तीसरे नेत्र की सूचना देता है। इस ज्ञान-नेत्र से काम को दग्ध करना अर्थात् उस पर विजय पाना ही काम का दहन करना है। वृषभ धर्म का चिह्न है। उन्हें वृषभ पर आरूढ़ दिखाने का भाव यह है कि शिव धर्म को धारण करने वाले हैं। उन्हें दिगम्बर रूप में प्रदर्शित करने का भाव उनके देश और काल से अनवच्छिन्न होने की दशा को व्यक्त करना है। भस्म का अर्थ है शिव द्वारा मौलिक तत्त्व को धारण करना। किसी भी रंग के पदार्थ को जलाने पर अन्त में प्रकाशमान् श्वेत भस्म ही शेष रहता है। यह मौलिक तत्त्व है।

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद ने सर्प-धारण की व्याख्या ज्योतिषशास्त्र के अनुसार की है। उनकी मूर्ति में जगह-जगह सर्प लिपटे हुए हैं। इसका स्थूल अभिप्राय मंगल और अमंगल, दोनों ही का समावेश ईश्वर में दिखाना है। सर्प उनके संहारक रूप का चिह्न है। चन्द्रमा, मंगल आदि सूर्य के चारों ओर भ्रमण करते हैं। उनका एक-एक भ्रमण एक-एक कुण्डलाकार वृत्त पर आ जाता है। यह भिन्न-भिन्न मण्डलों का समुदाय रस्सी की तरह लपेटा हुआ खयाल में लाया जाय तो यह सर्प कुण्डल के आकार का होता है। इस परिभ्रमण रूप को वैदिक साहित्य में सर्प या नाग कह कर पुकारा जाता है। सूर्य को मध्य में रखकर घूमने वालों में आठ ग्रह मुख्य हैं अतः आठ ही सर्प मुख्य माने जाते हैं। ये सब ग्रह और उनके कक्षा-वृत्त (सर्पाकार) ब्रह्माण्ड में स्थित हैं। शिव ही में ब्रह्माण्ड है अतः उनके शरीर में सर्पों की स्थिति है।"[१] इनके अनुसार श्वेत मूर्ति का अर्थ ज्ञान-मूर्ति होना है। "शिव ईश्वर है, चेतन रूप है अर्थात् ज्ञान रूप है। ज्ञान को प्रकाश कहते हैं और वह श्वेत रूप है। श्वेत वर्ण कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है। अन्य रंग धोने पर उतर जाते है, श्वेत ज्यों-का-त्यों रहता है। ईश्वर का रूप कृत्रिम नहीं, स्वाभाविक है, यही दिखाने के लिए श्वेत रूप दिखाया है।[२]

---

१. वै० वि० भा० सं०, पृ० २५६-७

२. वही, पृ० २५७

वह समन्वय का रूप भी श्वेत वर्ण के द्वारा ही व्यक्त होता है। सब वर्णों का समूह श्वेत है। वह अपने-आप में पृथक् वर्ण नहीं। सूर्य की किरणों में सातों रंग हैं पर उनका पूरा समन्वय श्वेत रूप में दीख पड़ता है। भेद-भाव को छोड़कर वह सब में ओतप्रोत है, यही दिखाने के लिए उसे श्वेत रूप में चित्रित किया जाता है।

कुछ सज्जनों ने उनके इस रूप को महायोगी के रूप में लिया है। 'महादेव' महायोगी कहलाते हैं। महायोगी को काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और मत्सर, इन षड्विकारों को जला कर उसका भस्म शरीर पर धारण करना पड़ता है। उसका निवास भी ऐसे श्मशान में होता है जहाँ इन षड्विकारों की चिता दिन-रात जलती रहती है। उसका तृतीय नेत्र अर्थात् ज्ञान-नेत्र खुला रहता है। तीव्र योगासन के लिए उसका व्याघ्र-चर्म ही आसन होता है। जिस समय सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने लगती है उस समय योगी को हलाहल विष पान करने के समान प्राणान्त वेदना होती है। वेदना का शमन करने के लिए वह मन के पुत्र चन्द्रमा को सहस्रदल से उत्पन्न हुई त्रिवेणी धारा (गंगा) को सिर पर धारण करता है। खेचरी आदि मुद्राओं को करने के कारण उसके शरीर पर सर्प-रूप भूषण सहज ही शोभायमान होते हैं।[1]

लिंग की उत्पत्ति

एक बार विष्णु और ब्रह्मा में परस्पर लड़ाई हो गयी। दोनों ही अपने को श्रेष्ठतर सिद्ध करने में लगे रहे। भयंकर अस्त्रों का प्रयोग हुआ और संसार में त्राहि-त्राहि मच गयी। देवता घबराकर शिव के पास पहुँचे। शिव अपने गणों के साथ युद्ध स्थल पर चले आये। वहाँ माहेश्वरास्त्र और पाशुपतास्त्र के प्रयोग से संसार को जलता देख कर शिवजी ज्योति-स्तम्भ के रूप में खड़े हो गये। यह स्तम्भ लिंग-रूप था और उसके आदि और अन्त का पता लगाने वाले को श्रेष्ठतर या उच्चतर मानने का निर्णय उन्होंने दिया। उनका तेज ही यह लिंग था और इस संसार को संहार से बचाने के लिए उसकी उत्पत्ति हुई थी।[2] लिंग की पूजा किस तरह प्रारम्भ हुई, इस विषय में भी एक कथा दी गयी है। पार्वती के मर जाने पर शिव काम-पीड़ित होकर इधर-उधर फिरने लगे। काम ने पूरे वेग के साथ आक्रमण किया। शिव के कामोन्मत हो जाने पर मुनि-पत्नियाँ धर्मच्युत होकर शिव के पीछे-पीछे इस तरह फिरने लगीं मानो मस्त हथिनियाँ हाथी के पीछे घूम रही हों —

> त्यक्त्वाश्रमाणि शून्यानि स्वानि ता मुनियोषितः।
> अनुजग्मुर्यथा मत्तं करिण्य इव कुंजरम्॥

तंग आकर ऋषियों ने शाप दिया, शाप-वश लिंग पृथ्वी पर गिर पड़ा, उससे

---

१. कल्याण (शिवांक), पृ० ३०६, ले० रामदासानन्दजी

२. शिवपुराण, अ० ७

पृथ्वी तथा समस्त लोकों में कम्पन आ गया। देवताओं द्वारा स्तुति किये जाने पर शिव ने शर्त रखी कि यदि सब देवता लिंग की पूजा करें तो उसे वापस लेंगे, अन्यथा नहीं, फलतः लिंग-पूजा चल पड़ी।[१]

स्वभाव

शिव आशुतोष हैं, औघड़ दानी हैं। बाणासुर की थोड़ी-सी स्तुति से ही वे उसे अपार ऐश्वर्य देते हैं और द्वार-रक्षक तक बनना स्वीकार कर लेते हैं।[२] वृत्रासुर को वर देते हैं कि जिसके सिर पर वह हाथ रखेगा वह जल कर भस्म हो जायेगा, और वर देकर स्वयं विपत्ति में फँस जाते हैं। अन्त में वैकुण्ठ जाने पर विष्णु की चतुरता के कारण वृत्रासुर जल कर मर जाता है और शिव की रक्षा होती है—

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृत्रासुरे।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचिताः संकटाच्छिवः॥[३]

आशुतोष होते हुए भी वे अपना विरोध करने वालों को कठोर दण्ड देने में संकोच नहीं करते। दक्ष-यज्ञ के अवसर पर वे दक्ष को और उसका यज्ञ कराने वाले ऋषियों-मुनियों को कसकर दण्ड देते हैं। कहा गया है कि नारद के मुख से सती के अपमान की बात सुनकर लोक-संहारकारी शिव ने अपनी एक जटा उखाड़ी और उसे क्रोध से एक पर्वत पर दे मारा। जटा के पूर्व भाग से वीरभद्र की उत्पत्ति हुई। वह प्रलयाग्नि के समान तेजस्वी, अत्यन्त उन्नत और दो हजार भुजाओं वाला था। जटा के दूसरे भाग से अत्यन्त भयंकर और करोड़ों भूतों से घिरी हुई महाकाली पैदा हुई। शिव ने वीरभद्र को आदेश दिया कि वह उनके विरोधी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम सभी को भस्म कर दे।[४] वैसे वे साधारण रूप से सबका भला करने वाले हैं। समुद्र-मन्थन से निकले हलाहल को पीकर वे सबको भय से मुक्ति देते हैं।[५]

वे काम से अभिभूत नहीं होते। देवताओं के अनुरोध पर कामदेव शिव की तपस्या भंग करने का यत्न करता है। सारे वातावरण में परिवर्तन हो जाता है। काम अपनी पूरी शक्ति के साथ अपने बाणों को शिव पर छोड़ता है पर शिव पर कोई प्रभाव नहीं होता। उसके इस दुःसाहस पर अति क्रुद्ध हुए शिवजी ललाट के मध्य में स्थित तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर देते हैं।[६] किंतु पर इतना होने पर भी वे माया

---

१. वा० पु०, अ० ६, श्लोक १५
२. भागवतपुराण, १०।८८।३-५
३. वही, १०।८८।३७
४. शिवपुराण, पार्वतीखंड, अ० १६।१-१६
५. भागवत, ८।७।३६-४२
६. शिवपुराण, पार्वतीखंड, अ० १६।१-१६

एकदम ऊपर नहीं उठ सके। जलन्धर दैत्य युद्ध-भूमि में अपनी माया से शंकर को मुग्ध करने के हेतु अनेक गन्धर्वों और अप्सराओं को पैदा करता है। उन गन्धर्वों की माया से शिव विमुग्ध हो जाते हैं। उनके हाथ से अस्त्र-शस्त्र तीर गिर पड़ते हैं और वे जान भी नहीं पाते।[1] इसके अतिरिक्त अमृत-मंथन के समय जिस मोहिनी-स्वरूप से विष्णु ने दैत्यों को ठगा था, उसी के दर्शन पाने पर ये अपने को सम्हाल नहीं पाते। मोहिनी के विवसन होते ही वे मुग्ध होकर उसके पीछे दौड़ते हैं और उसे पकड़ने की चेष्टा करते हैं और कामातुर दशा में उनके वीर्य का स्खलन हो जाता है।[2]

शिव और विष्णु की प्रतिद्वन्द्विता आपस में चलती रहती है। कहा गया है कि हिरण्यकशिपु के विनाश के लिए विष्णु ने नृसिंहावतार लिया था, पर उसके मर जाने पर भी जब नृसिंह का क्रोध शान्त न हुआ तो शिव के कहने पर वीरभद्र आये, उन्होंने विष्णु की स्तुति की, अपने भयंकर रूप को शान्त करने का अनुरोध किया पर विष्णु तो अपने को विश्वाधिप, कर्ता, हर्ता और अखिलेश्वर समझ कर भड़कते ही गये। उन्होंने वीरभद्र को ही धर दबाने की चेष्टा की। इस पर शिव पक्षी का रूप धारण करके विष्णु को पूँछ में बाँध कर आकाश में उड़ने लगे।[3] यह भी कथा है कि दक्ष-यज्ञ में सती का देह-पात सुनकर शिव ने जटा का एक बाल उखाड़ कर फेंका। उसके दो टुकड़े हुए, एक से वीरभद्र हुआ और दूसरे से महाकाली। शिव के प्रकोप से दक्ष को बचाने में विष्णु भी असमर्थ रहे।[4] उनका चक्र शैव-चक्र के सामने व्यर्थ सिद्ध हुआ। विष्णु का उत्कर्ष दिखाने वाले पुराणों में विष्णु द्वारा शिव का पराजित होना दिखलाया गया है। बाणासुर की ओर से युद्ध करते समय शिव के ज्वर—माहेश्वर—और श्रीकृष्ण के ज्वर—वैष्णव—में युद्ध हुआ और वैष्णव ज्वर के सामने माहेश्वर ज्वर को पराजित होना पड़ा। यहीं यह भी कहा गया है कि कृष्ण के द्वारा छोड़े गए जृम्भणास्त्र से शिव मूर्च्छित होकर गिर पड़े।[5]

इनके प्रमुख नाम इस प्रकार थे—

शम्भु, ईश, पशुपति, शूली, महादेव, महेश्वर, गिरीश, गिरिश, कपर्दी, धूर्जटी, चन्द्रशेखर, शंकर, वृषभध्वज, उमापति, भूतेश।

वैदिक काल से अन्तर

वैदिक रुद्र प्रकृति के देवता हैं। वहाँ उन्हें घने बादलों में चमकती हुई विद्युत्

१. शिवपुराण, युद्धखंड, ११।३३-३६
२. भागवत, ८।१२।१६-३६
३. शिवपुराण—शरभावतार प्रकरण, १२।११-१५
४. शिवपुराण, १२ सतीखंड, अ० ३५।४६-५२
५. भागवत, १०।६३।१-२४

और उसके साथ होने वाले घनघोर गर्जन तथा वर्षा का प्रतीक माना गया है। उनकी गणना मध्य-लोक अर्थात् आकाश के देवताओं में की गयी है । इस बिजली को ही वहाँ धनुष का बाण कहा गया है। आकाश में उमड़ कर आयी हुई मटियाले रंग की मेघ-माला के कारण उनका नाम कपर्दी भी है। कपर्दी का अर्थ है जटाजूट वाला । कहीं-कहीं अग्नि के साथ भी उनका तादात्म्य किया गया है। कालान्तर (पौराणिक काल) में उनके इन प्रतीकों को एकदम आकार दे दिया गया। उनके धनुष का नाम पिनाक रखा गया । कपर्दी नाम के कारण शिव के जटाजूट की कल्पना की गयी और जल के कारण गंगा की कल्पना कर जटाओं के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया। अग्नि के साथ तादात्म्य के कारण अग्नि को जो 'त्र्यम्बक' कहा गया है, उसका अर्थ हुआ त्रिनेत्र वाला । वास्तव में यहाँ (अग्नि के सम्बन्ध में) अम्बक का अर्थ पिता का है। जिसके तीन पिता हों ऐसा वैदिक देवता केवल अग्नि ही है। अग्नि के ये तीन जन्म-स्थान हैं - पृथ्वी, आकाश और द्युलोक। पौराणिक काल में शिव के तीसरे नेत्र की स्थिति माथे पर बतायी गयी है और उससे काम का दग्ध होना बताया गया है। इनका अपना निवास-स्थान हिमालय है।

पौराणिक काल में उनका निवास-स्थान श्मशान बताया गया है। इनकी वेश-भूषा भी अशुभ दिखायी गयी है। उनके आशुतोष रूप की चर्चा के साथ-साथ उनका राक्षसों के साथ विशेष सम्बन्ध दिखाया गया है। असुर जिस देवता की स्मृति करते हैं वे शिव ही हैं। वे सभी राक्षसों को वर देते हैं। बाणासुर की ओर से वे अनिरुद्ध-ऊषा के विवाह के समय श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध करते हैं। वैसे वे कभी-कभी त्रिपुरा-सुर जैसे असुरों का विनाश भी करते हैं। समुद्र-मन्थन के समय वे भयंकर कालकूट विष को पीकर देवों और दानवों को भयंकर त्रास से छुटकारा दिलाते हैं। वेदों में उनके इस रूप का कहीं संकेत भी नहीं। यद्यपि अपने तीसरे नेत्र से वे कामदेव को दग्ध करते हैं, पर विष्णु के मोहिनी रूप से आकर्षित होकर मोहिनी के पीछे दौड़ते हैं और स्खलित हो जाते हैं। पुराणों में महादेव के इस चारित्रिक पतन को देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

ब्रह्मा

ये जगत् के स्रष्टा, देवताओं और दानवों के गुरु, ऋषियों, मुनियों, ग्रहों और नक्षत्रों तथा सरस्वती से सेवित हैं। इस गौरवमय पद के कारण ही ये पितामह कह-लाते हैं। पर स्रष्टा होने पर भी ये अनादि और अजन्मा नहीं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार भगवान् ने जल में अपनी शक्ति का आघात किया, उससे स्वर्णमय अण्ड प्रकट हुआ, इससे ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए। ब्रह्मा जी ने उसमें एक वर्ष तक निवास किया और उसके दो टुकड़े किये, एक से द्युलोक बनाया और दूसरे से भूलोक तथा दोनों के बीच में आकाश। ब्रह्मा ने ही

तदनन्तर मन, वाणी, काम, क्रोध और रति की सृष्टि की। बाद में विद्युत, वज्र, बादल, इन्द्र-धनुष, पक्षियों और औषधियों की सृष्टि की।[१] एक कथा के अनुसार—जब भगवान् विष्णु योगनिद्रा का आश्रय लेकर जल में शयन कर रहे थे तब उनकी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई और उस कमल के अग्रभाग पर ब्रह्माजी स्थित दीख पड़े। तदनन्तर सृष्टि की इच्छा से ब्रह्माजी ने अखण्ड ब्रह्मचर्य में स्थित होकर दुष्कर तप किया।[२] इसी पुराण में आगे चलकर एक अन्य स्थान पर फिर कहा गया है कि विष्णु की नाभि से निकले हुए कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी।[३] यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा अपने आधार के आदि को जानने के लिए कमल के अन्दर घुसे, पर उन्हें कुछ पता नहीं चला। सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी वे असफल ही रहे। अन्त में अन्तर्मुख होकर समाधि लगाने पर ही उन्हें भगवान् के दर्शन हुए।[४]

चतुर्मुखत्व—ये चतुर्मुख हैं और इस सम्बन्ध में भी एक से अधिक कथाएं हैं। पैदा होते ही उन्होंने जो चारों ओर देखना शुरू किया उससे ये चतुर्मुख कहलाये।[५] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि सृष्टि रचने की इच्छा से ब्रह्मा ने शरीर के दो भाग किये—एक पुरुष और दूसरा स्त्री। यह स्त्री-रूप शतरूपा के नाम से विख्यात हुआ, इसी का दूसरा नाम सावित्री है। उस सावित्री के रूप से ब्रह्मा काम-मोहित हो गये, बार-बार उसे देखते रहे। वशिष्ठ आदि अपने पुत्रों के मना करने पर भी वे अपने नेत्रों को उधर से नहीं रोक पाये। सावित्री ने ब्रह्मा की प्रदक्षिणा की, वह जिधर गयी, उधर ही ब्रह्मा का एक नया मुख निकल आया, इससे चार मुखों की उत्पत्ति हुई। यह भी कहा है कि जब सावित्री ऊपर जाने लगी तब ब्रह्मा भी ऊपर की ओर ताकने लगे, इससे उनका पाँचवाँ मुख निकल आया।[६]

कामासक्तता—अखण्डित ब्रह्मचर्य में स्थित रहने के बाद भी ये काम से ऊपर नहीं उठ सके, उसके बुरी तरह शिकार हुए, इस सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ हैं। इन्होंने सैकड़ों वर्षों तक अपनी पुत्री शतरूपा से विहार किया और इसी संयोग से मनु की उत्पत्ति हुई।[७] यहाँ कहा गया है कि अपनी पुत्री से भोग करने के बाद भी ब्रह्मा को किसी तरह का दोष नहीं लगा क्योंकि देवता शुभ और अशुभ फलों से ऊपर

१. हरिवंश, आदिसर्ग, अध्याय १
२. भागवत, १।३।२-६
३. वही, ३।६।१५-१६
४. वही, ३।८।३३-३४
५. मत्स्यपुराण, अ० ३
६. वही, ३।२६-४३
७. वही, ३।२६-४३

होते हैं। पर आगे चलकर कहा गया है कि अपने इस कार्य पर ब्रह्मा को बड़ी लज्जा आयी और उन्होंने काम को शिव द्वारा जलकर भस्म होने का शाप दिया।[१]

एक अन्य पुराण में भी उनकी कामासक्तता की कहानी इस प्रकार दी गयी है कि वे जब अपनी पुत्री सन्ध्या के प्रति अनुरक्त हो गये तो शिव ने उनकी भर्त्सना की। अपनी भर्त्सना से ब्रह्मा जल उठे और उन्होंने शिव को डिगाने के लिए काम के साथ षड्यन्त्र किया तथा उसके सहायक रूप में वसन्त की सृष्टि की।[२] इसी पुराण में आगे चलकर बताया गया है कि शिव के विवाह के समय ब्रह्मा के मन में सती का मुख देखने की तीव्र अभिलाषा पैदा हुई और उन्होंने धुँए से सबको आच्छादित कर दिया। सती के मुख को देखकर वे कामार्त हो उठे और उनके वीर्य का स्खलन हो गया। विष्णु के बीच में पड़ने पर वे जैसे-तैसे शिव के प्रकोप से बच सके।[३] भागवत में भी ऐसी ही कथा है कि ब्रह्मा जब अपनी पुत्री वाग्देवी को कामातुर दृष्टि से देखते ही रहे तो मरीचि आदि ऋषियों ने उन्हें समझाया। समझ आने पर उन्होंने लज्जा के कारण शरीर को छोड़ दिया।

पूजा से बहिष्कृत होना—यद्यपि ये लोक-कर्ता हैं, सर्वदेव-नमस्कृत हैं, तथापि ये पूजा के अधिकारी नहीं। कहा गया है कि विष्णु और उनके बीच हुए झगड़े को निपटाने के लिए शिव ने ज्योतिरूप अपने लिंग को प्रकट कर दिया। शिव ने विष्णु को उसकी थाह का पता लगाने के लिए भेजा और ब्रह्मा को ऊँचाई का पता लगाने। विष्णु तो थककर लौट आये और उन्होंने आकर सब कुछ सच-सच कह दिया; पर ब्रह्मा ने केतकी-पुष्प को गवाह बनाया और आकर कहा कि वे ऊँचाई का पता लगा आये हैं। इनके इस झूठ से रुष्ट होकर शिवजी ने ब्रह्मा को पूजा से निष्कासित कर दिया।[४] देवताओं में अपना उत्कर्ष सिद्ध करने की जो प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है उसमें यदा-कदा ब्रह्मा भी भाग ले लेते हैं। चुहल का इन्हें थोड़ा-बहुत शौक है। कहा गया है कि जब विष्णु ने श्रीकृष्ण रूप में अवतार लिया और वे गोचारण करने लगे तो एक दिन ब्रह्मा को चुहल सूझी। उन्होंने गायों के सभी बछड़े छिपा दिये। श्रीकृष्ण ने अपने को सभी बछड़ों में विभाजित किया और गायों ने उन्हें अपने सचमुच के बछड़े समझकर दूध पिलाया। एक वर्ष के पश्चात् आकर जब उन्होंने देखा तो इन्हें (ब्रह्मा को) अपने द्वारा छिपाये गये बछड़े उसी प्रकार सोये हुए दिखायी पड़े और कृष्ण की माया से उत्पादित बछड़े दूसरी ओर। ब्रह्मा निर्णय नहीं कर सके कि उनमें कौन-से वास्तविक हैं और कौन से मायोत्पादित। फिर ब्रह्मा ने प्रत्येक को साक्षात् विष्णु के रूप में देखा और अन्त में नेत्र खुलने पर सामने साक्षात् विष्णु को पाया।[५]

१. मत्स्य०, ४।६-१६
२. शिवपु०, सतीखण्ड
३. वही।
४. मत्स्य०, अध्याय ८
५. भागवत, १०।१३

कुछ भी हो, ये पितामह हैं, सृष्टि के उत्पादक हैं और इस रूप में सभी से आराधित हैं। इनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—

आत्मभू, पितामह, चतुरानन, कमलासन, प्रजापति, पद्मयोनि, हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी, वेधा, स्वयंभू, विरंचि, स्रष्टा।

गणेश—ये पौराणिक काल के नये देवता हैं। वेदों में जिन तैंतीस देवताओं का नाम है उनमें इनकी गिनती नहीं। "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे"—ऋग्वेद के इस मंत्र में जो 'गणपति' शब्द आता है और जिसका सम्बन्ध आजकल गणेश के साथ जोड़ा जाने लगा है उसका अर्थ यहाँ—मन्त्रों का स्वामी—"ब्रह्मणस्पति"—है। यजुर्वेद के "गणानां त्वां गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा" (२३/१९) में गणपति का अर्थ अश्वमेध का अश्व है। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में इसका अर्थ मन्त्रों का स्वामी और अश्व ही किया गया है। प्रमुख उपनिषदों में गणेश का कहीं भी उल्लेख नहीं है। डा० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नामक अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में इस पर सविस्तार विवेचन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि गणेश अनार्य देवता हैं और पौराणिक काल तक आते-आते आर्य-परिवार में सम्मिलित हो गये हैं।

वराह पुराण, स्कन्द पुराण, लिंग पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण में इनके जन्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार की कथाएँ हैं। बहुत सी बातों में इनमें भेद भी हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द के विचार उनके ही शब्दों में इस प्रकार हैं—

"वेदों और पुराणों के बीच के समय में गणेश जी कहाँ से आ टपके? विदेशी विद्वानों की राय है कि गणेश जी अनार्य निवासियों के उपास्य हैं। मैं भी इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ। सभी अनार्य नष्ट नहीं हुए। वे भी उन्हीं की बस्तियों में रहते थे। विचार-विनिमय में ये आर्यों में आ गये। अनार्यों ने आर्यों से बहुत-कुछ सीखा, परन्तु आर्यों ने भी उनसे कुछ लिया। आर्यों के उपास्य प्रसन्न, हँसमुख, अमूर्त होते थे। वह देव प्रकाशधर्मा थे। रुद्र उग्रकर्मा थे, पर वह भी सत्कृत्य में बाधा नहीं डालते थे। अधर्म के ही शत्रु थे। जैसा कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'देवीसूक्त' में कहा है, ब्रह्म-द्वेषी को मारने के लिए ही परम-शक्ति उनके धनुष को उद्यत करती थी।...अब आर्यों ने अपने विजित पड़ोसियों की देखा-देखी कुछ नये उपास्यों को अपनाया— नाग, शीतला, भैरव आदि अनार्यों की देन हैं। प्रेत, पिशाच, पशु-पक्षी की पूजा हमने इन्हीं लोगों से पायी। गणेशजी भी हमको इसी प्रकार मिले हैं।[1]

श्री साँवलियाबिहारीलाल जी का मत भी यही है और उन्होंने भी ये ही युक्तियाँ दी हैं।[2] इनके साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि "बुद्धदेव ने ब्रह्मा, इन्द्र तथा कुछ अन्य देवों के नाम लिये हैं परन्तु गणेश का नाम कहीं नहीं आया। महावीर

१. गणेश, पृ० २९
२. वि० ध० द्व०, पृ० २२६

स्वामी ने भी गणेश का नाम नहीं लिया।"[२] श्री गेटे इन्हें विदेशी मानते हुए भी इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—"गणों के स्वामी गणेश यद्यपि परवर्ती देवता हैं तथापि महत्त्व में सर्वाधिक हैं। उनकी मूर्ति भारत के प्राय: सभी स्थानों में पायी जाती है। गणेश की लोकप्रियता नैपाल और चीनी तुर्किस्तान तक फैल चुकी थी। समुद्र को लाँघ कर जावा, बाली और बोर्नियो तक जा चुकी थी और तिब्बत, बर्मा, स्याम, चीन, इण्डोचीन और जापान में भी लोग गणेश से परिचित थे।"[१]

स्कन्दपुराण, वराहपुराण, लिंगपुराण और ब्रह्मवैवर्तपुराण में इनके जन्म के सम्बन्ध में विविध कथाएँ हैं। लिंग पुराण के अनुसार देवों की विजय के लिए पार्वती के गर्भ से गणेश का जन्म हुआ था। शिवपुराण में कहा गया है कि स्नान करते समय पार्वती ने मैल का पुतला बनाकर द्वार-रक्षक के रूप में नियुक्त कर दिया था। शिव के हठपूर्वक अन्दर घुसने का यत्न करने पर उसके द्वारा रोका जाना, शिव द्वारा उसकी मृत्यु और अन्त में विष्णु द्वारा हाथी का सिर लाकर गणेश के सिर की जगह रखना आदि बातों का उल्लेख है। वरापुराण के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर देवताओं की रक्षा के लिए गणेश का जन्म महादेव के मुख से हुआ। स्वयं शिव जी ने इनका अभिषेक किया और सबसे पहले पूजा का अधिकारी बनाया। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत से मतों का उल्लेख करते हुए श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है—

T.G. Rav has called a good many stories about the topic from several Puranas and Agamas, in which the god is variably described as the son of Parvati alone, as the son of Shiva and Parvati and even having independent origin.[२]

श्री टी० जी० राव ने पुराणों और आगमों में से इस विषयक बहुत-सी ऐसी कहानियाँ कही हैं, जिनमें गणेश को कहीं तो केवल पार्वती का पुत्र कहा गया है, कहीं शिव-पार्वती का और कहीं उसे स्वत:प्रसूत (अयोनिज) कहा गया है।

जो भी विभिन्न कथाएँ हैं उनमें निम्नलिखित बातें समान हैं—

(१) गणेश स्वभावत: विघ्नकर्ता हैं, उनके अनुचर भी लोगों को छेड़ते रहते हैं। यदि इन्हें प्रसन्न न किया जाय तो ये यज्ञ, स्वाध्याय और पूजा आदि शुभ कार्यों में भी विघ्न डाल सकते हैं। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इनका संतुष्ट रहना आवश्यक है।

(२) किसी-न-किसी ढंग से पार्वती ने इन्हें जन्म दिया है। शिव इनके पिता हैं तथा उनके द्वारा ये गणों के स्वामी के रूप में नियुक्त हुए हैं।

---

१. रि० इ०, पृ० १२६ (दि रिलीजन आफ इण्डिया)
२. डेव० हि० इक०, पृ० ३५५

(३) पैदा होते समय वे गजवदन थे। कहीं-न-कहीं से, किसी-न-किसी प्रकार हाथी की सूँड उनके कन्धे पर लाकर स्थापित कर दी गयी।

ये एकदंत हैं और ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा गया है कि जब ये द्वारपाल का कार्य कर रहे थे तब परशुराम के साथ इनका युद्ध हुआ और उसमें इनका एक दाँत टूट गया। इनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—

गणपति, गजानन, लम्बोदर, विनायक, विघ्नेश, विघ्ननाशक, एकदन्त, मूषक-वाहन, हेरम्ब, द्वैमातुर, वैमातुर।

वैष्णव मत

विष्णु के भक्त या अनुयायी वैष्णव कहलाते हैं। इस मत में विष्णु ही साक्षात् भगवान हैं और वे ही परमाराध्य हैं। विष्णु का ही दूसरा नाम नारायण भी है। भगवान् के अनुयायी होने से उन्हें ही भागवत भी कहते हैं। पांचरात्र और सात्त्वत भी इन्हीं का नाम है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज से युक्त वासुदेव भी भगवान् कहलाते हैं अतः यह मत वासुदेव मत भी कहलाता है।

वैष्णव धर्म की उत्पत्ति

इस धर्म की उत्पत्ति ठीक-ठीक रूप से किसी समय हुई यह कह सकना कठिन है। विष्णु का नाम वेदों में आता है और इस आधार पर इसे वेदों से सम्बद्ध किया जाता है पर यह मत सभी को मान्य नहीं। श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इस मत की सृष्टि में वासुदेव कृष्ण, वैदिक सूर्य, विष्णु और नारायण का मिश्रण है। उनके शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

But the Visnu, round whom one of the major Brahmnical cults grew, was really a result of nyncretism of three god-concept—Narayana of Brahmnas, Vasudev-Krisna, the Satvat hero, was really at the root of the Bhakti-cult that came to be designated as the Vaisnava at a comparatively late stage in its growth.[1]

अर्थात् वह विष्णु, जिसके इर्द-गिर्द बहुत से ब्राह्मण मत खड़े हुए, वास्तव में ब्राह्मणकाल के नारायण, वासुदेव कृष्ण और सात्त्वत का मिश्रण है। बाद में यह विष्णु ही वैष्णव धर्म के नाम से प्रचलित भक्ति मत का आधार बना।

कुछ और भी तर्क ऐसे हैं जिनसे यह मत बहुत प्राचीन नहीं सिद्ध होता। विनयपिटक के समय तक यह मत प्रसिद्ध नहीं था। इन पिटकों में विष्णु की अपेक्षा ब्रह्मा और इन्द्र अधिक महत्त्वपूर्ण प्रदर्शित किये गये हैं। बुद्ध की लोकोत्तरता प्रदर्शित

१. डेव० हि० इक०, पृ० ३८६

करने के लिए इन्हें (ब्रह्मा और इन्द्र) बुद्ध से पराजित होते हुए दिखाया गया है—शिव और विष्णु को नहीं। इनके अनुसार वैष्णव मत को विनयपिटक की रचना के बाद का मानना उचित है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिनके मत में यह मत बहुत प्राचीन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखने वाले पतंजलि का जन्म विक्रम-पूर्व दूसरी शती का माना जाता है। उन्होंने 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख किया है। विष्णु ही कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे। यह भी स्पष्ट है कि उस समय वैष्णव धर्म अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था अतः शिव के भक्त अपने को 'शिवभागवत' कहलाना पसन्द करते थे। पतंजलि ने ही 'शिवभागवत' का उल्लेख किया है। बैसनगर के शिलालेख (ई० पू० २०० वर्ष) से भी वैष्णव धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस शिलालेख के अनुसार यवन-दूत होलीयोडोरस ने देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़-स्तम्भ का निर्माण किया था। स्पष्ट है कि उस समय तक 'वासुदेव' देवों के भी देव माने जाते थे। इन विद्वानों के अनुसार पाणिनि के समय से पूर्व ही यह मत अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था।

विभिन्न सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं: (१) श्री वैष्णव सम्प्रदाय (२) ब्रह्म सम्प्रदाय (३) रुद्र सम्प्रदाय (४) सनक सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय या प्रवर्तन क्रमशः लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार से माना जाता है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य मध्व द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैतवाद के, सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय को माध्व मत की शाखा माना जाता है। वैष्णव पुराणों में रामानुज ने विष्णुपुराण को और वल्लभ तथा चैतन्य ने भागवत को विशेष रूप से अपनाया है।

वैष्णव धर्म की देन—जीवन के प्रति उदार दृष्टि इस मत की उल्लेखनीय विशेषता है। यह धर्म सामाजिक जीवन में वर्ण-व्यवस्था का समर्थक है पर फिर भी वह भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच के भावों को नहीं मानता। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'—इसका सिद्धान्त है। परम पिता के दरबार में कौन छोटा और कौन बड़ा! प्रसिद्ध आलवारों में अनेक भक्त तथाकथित नीच जाति के पुरुष थे। सबसे अधिक प्रसिद्ध भक्त नम्मालवर (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे। तिबमंत्रै-अलवार जाति से नीच और कर्मों से भारी डाकू थे। गोदा या अन्दाल स्त्री थी जिसे समाज में कोई अधिकार प्राप्त न थे। हिन्दी के क्षेत्र में कबीर जुलाहा थे, रैदास मोची, दादू दयाल धुनिया थे, रज्जब मुसलमान थे और मीरा नारी थीं। विदेशों से आनेवाली अनेक जातियों का हिन्दू धर्म में समावेश इसी उदार दृष्टि के

कारण हो सका था । पुराणों में इनमें हूण, आंध्र, पुलिन्द, पुल्कस आदि जातियों के नाम गिनाये गये हैं ।

अहिंसा का शंखनाद

सामान्य रूप से सभी की यह धारण है कि अहिंसा का नारा बुलन्द करने का सर्वप्रथम श्रेय श्री महावीर स्वामी और भगवान् बुद्ध को है, पर वास्तविकता यह है कि स्वयं वैदिक धर्म में यज्ञों की हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका था । हमने अन्यत्र (जैन और बौद्ध धर्म के आन्दोलन की पृष्ठभूमि में) यह दिखाया है कि किस प्रकार उपनिषदों में वैदिक हिंसा को हेय एवं निन्द्य समझा जाने लगा था । अन्तर केवल इतना ही है कि जैन और बौद्ध आन्दोलन वैदिक कर्मकाण्ड की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते । वैष्णव धर्म मूल रूप से उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता स्वीकार करते हुए भी यज्ञों में हिंसा के विरुद्ध है । महाभारत में आया हुआ भागवत धर्म के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस विषय में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है ।[२] यहाँ इस राजा द्वारा अनुष्ठित वैदिक यज्ञ में यवों की आहुति दी गयी है, पशुओं की नहीं । यहाँ अश्वमेध यज्ञ में पशु-वध नहीं है ।

सिद्धांत

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध—आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म और जीव एक दूसरे से भिन्न हैं । ब्रह्म आनन्दमय है, जीव दुःखत्रय से पीड़ित है । ब्रह्म प्राज्ञ है, जीव अज्ञ है; ईश्वर या ब्रह्म एक है और जीव अनन्त हैं । ब्रह्म नियामक है, जीव नियम्य है । ब्रह्म आधार है, जीव आधेय है । आचार्य मध्व के अनुसार भी जीव और ब्रह्म में अभेद नहीं है । इनके अनुसार जीव अज्ञान, मोह, दुःख और भय आदि दोषों से युक्त है । इस प्रकार के जीव के इन्होंने तीन भेद बताये हैं : (१) मुक्ति-योग्य (२) नित्यसंसारी, (३) तमोयोग्य । इनमें से मुक्तियोग्य जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तम पुरुषों के रूप में जन्म लेता है । नित्य संसारी मध्यम कोटि का है । यह कभी सुख प्राप्त करता है तो कभी दुःख । तमोयोग्य कोटि में दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम पुरुषों की गणना की जाती है । उपनिषत्[१] में जो परम साम्य की बात कही गयी है वह अभेदार्थक न होकर प्राचुर्य-विषयक है, ऐसा माध्व मत का सिद्धान्त है । आचार्य निम्बार्क भी जीव और ब्रह्म का अभेद स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार भी जीव परतन्त्र है और ब्रह्म स्वतन्त्र । मुक्त दशा में भी जीव ब्रह्म पर निर्भर रहता है । जीव का कर्त्तव्य भी जीव के अपने वश की बात नहीं, वह भी ब्रह्म द्वारा नियंत्रित है । इस जीव की दो दशाएँ होती हैं—बद्ध-दशा, जब जीव संसार के

---

१. मुण्डकोपनिषत् ३।१।३

नाना दुःखों के बन्धन में पड़ा रहता है और मुक्त दशा वह है, जब भगवान् के अनुग्रह से बन्धनों से और दुःखों की निवृत्ति हो जाने से वह मुक्ति पा लेता है।

भक्ति

इस मार्ग में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व बहुत अधिक है। उपनिषदों में ज्ञान का जो महत्त्व प्रतिपादित किया गया है वह ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान नहीं है अपितु ईश्वर का निरन्तर स्मरण ही ज्ञान है, ऐसा इन मतवालों का मन्तव्य है। यही इनके मत में भक्ति है। भक्ति में भी सर्वश्रेष्ठ स्थिति प्रपत्ति की है। प्रपत्ति का अर्थ है भगवान् की शरण में जाना। जब जीव सर्वतोभावेन भगवान् की शरण में चला जाता है तो उसकी रक्षा का भार भगवान् अपने हाथों में ले लेते हैं। प्रपत्ति को समझाने के लिये मार्जार-शिशु और कपि-शिशु के उदाहरण दिये जाते हैं। बिल्ली का बच्चा जब निःसहाय होकर माता की शरण में आता है तो बिल्ली उसे अपने मुँह में दबाकर सुरक्षित स्थान पर ले जाती है। इसी प्रकार बन्दरी का बच्चा अपनी माँ से चिपक जाता है और वह उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है। भक्त की स्थिति मार्जार और कपि के शिशु के समान है, उसकी चिन्ता का भार किसी और पर है। स्वयं उसे कुछ नहीं सोचना पड़ता। निम्बार्क-मत में भी प्रपत्ति का इतना ही महत्त्व है। इन वैष्णवों को विदेह-मुक्ति ही मान्य है, जीवन्मुक्ति नहीं।

ईश्वर

इस मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में की गयी है। विशेषता यह है कि वह कल्याणकारी समस्त गुणों का निधान होते हुए भी अविद्या और अस्मिता आदि प्राकृत दोषों से रहित है। इस चराचर जगत् में, जो कुछ नेत्रों और कानों का विषय है, उस सबके भीतर नारायण व्याप्त रहता है। जैसा आरम्भ में कहा गया है, परब्रह्म नारायण, भगवान्, कृष्ण और पुरुषोत्तम आदि उसकी विविध संज्ञाएँ हैं। वही समस्त सृष्टि का नियामक है। यह विश्व उस पर अवलम्बित है और स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र है। निम्बार्क के इस मत से मिलता-जुलता मत वल्लभ का है। इस मत में ब्रह्म को सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है।

जगत्

जगत् के विषय में वल्लभाचार्य जिस मत को स्वीकार करते हैं उसका नाम है अविकृत परिणामवाद। सरल शब्दों में इसका अर्थ है कि जगत् ईश्वर का ही परिणाम है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जिस प्रकार दूध से दही बनता है और दूध में विकार आ जाता है क्या इसी प्रकार ब्रह्म से जगत् बनने पर ब्रह्म में भी विकार आ जाता है ? इसका उत्तर है : नहीं। ईश्वर या ब्रह्म के विषय में दूधवाला दृष्टान्त लागू नहीं होता। इसे समझाने के लिए स्वर्ण और कुण्डल का उदाहरण दिया जाता

है। जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी स्वर्ण अविकृत ही रहता है उसी तरह ब्रह्म भी अविकृत रहता है—

यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तथैव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशं रहमस्य तद्वत्॥

परिणामवाद को स्वीकार करते हुए भी वैष्णव लोग ईश्वर में किसी प्रकार के विकार को स्वीकार नहीं करते, अतः यह मत अविकृत परिणामवाद के नाम से पुकारा जाता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस मत में जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश की स्वीकृति नहीं है। ये लोग आविर्भाव तथा तिरोभाव को स्वीकार करते हैं। अनुभव होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव-योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता है।[१] ब्रह्म का अंश होने से ही यह जगत् सत्यभूत पदार्थ है, अनित्य नहीं है।

लक्ष्मी

शैव मत में जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का अभेद माना जाता है, वैष्णव मत में वैसा नहीं है। इस मत में लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह केवल परमात्मा के ही अधीन रहती है अतः उससे भिन्न है।[२] परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्य है, मुक्त है, नानारूप-धारिणी है। पुराणों में कहा गया है कि जिनका कभी तिरोभाव नहीं होता वे जगन्माता लक्ष्मी नित्य हैं। जिस प्रकार विष्णु भगवान् सर्व-व्यापक हैं वैसे ही वे भी हैं—

नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥[३]

इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु और लक्ष्मी का साथ नित्य है। हरि न्याय हैं तो ये नीति हैं, विष्णु बोध हैं और ये बुद्धि हैं, वे धर्म हैं और ये सत्क्रिया हैं। इसी प्रकार के विभिन्न उदाहरणों से इन दोनों के सतत साहचर्य का वर्णन है।[४]

जिस प्रकार परमात्मा का शरीर दिव्य है, अप्राकृत है, लक्ष्मी भी उसी प्रकार दिव्यदेहधारिणी है। उसका कभी क्षरण (नाश) नहीं होता अतः वह अक्षरा है। इतना साम्य होते हुए भी वैषम्य यह है कि लक्ष्मी गुणों में भगवान् से कुछ न्यून है।

वैष्णव धर्म के आराध्य विष्णु के चिह्नों के नाम ये हैं और उनका महत्त्व इस प्रकार है—

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ५२१
२. वही, पृ० ४९५
३. वि० पु०, १।८।१७
४. वही, १।८।१८-३५

चक्र-सुदर्शन—यह आग्नेय अस्त्र है। सभी शस्त्रों में यह श्रेष्ठ है और शत्रु को मारकर फिर स्वामी के हाथों में लौट आता है। विष्णु के श्रीकृष्ण-रूप में अवतरित होने पर अग्नि ने इसे कृष्ण को दिया था। महाभारत के ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि इस चक्र का निर्माण शिव ने किया था और शिव ने ही इसे श्रीकृष्ण को प्रदान किया था।

गदा—इसका नाम कौमोदिकी है। महाभारत के अनुसार यह गदा वरुण ने विष्णु को दी थी। यह सभी शत्रुओं को मारने में समर्थ है। इसका शब्द अशनि के समान है।

कौस्तुभ मणि—यह मणि सूर्य द्वारा सत्राजित् को प्रदान की गयी थी। इसमें उत्पादन और वर्षा करने की शक्ति निहित है।

शंख—मंगल का सूचक है और स्त्री की योनि का प्रतीक है। इसके द्वारा अशुभ को भगाया जाता है। यूनान में प्राचीन समय में मोती और शंख का देवी के साथ सम्बन्ध था।

शैव मत

शिव के रूप में परमेश्वर की पूजा और उपासना करने वाले व्यक्ति शैव कहलाते हैं। कहना न होगा कि इन उपासकों के मतानुसार शिव ही एकमात्र आराध्य हैं। निखिल सृष्टि के कर्ता, पालक और संहारक भी वे ही हैं। वे अनादि हैं, निराकार हैं और स्वतःपूर्ण हैं। वे अपनी शक्ति के द्वारा, जो उनका साधन है, सृष्टि का कार्य सम्पन्न कराते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और उनसे अभिन्न है। जो भिन्नता दीखती है वह प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। यद्यपि यह विश्व उनका ही प्रसार है पर वस्तुतः वे उससे परे हैं।

शैव मत का प्रारम्भ—इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। वैसे भी किसी भी विचारधारा की उत्पत्ति के लिए निश्चित समय का दे सकना असम्भव कार्य है। यह विचारधारा पृथ्वी के गर्भ में बहनेवाली जल-धारा के समान चुपचाप बहती रहती है। समाज में उसका प्रकार बढ़ता रहता है और जब कभी उस विचारधारा का उन्नायक कोई महान् पुरुष सामने आ जाता है तो जन-सामान्य की दृष्टि में उसका आरम्भ माना जाने लगता है। इस मत की भी कोई निश्चित तिथि या वर्ष दे सकना सम्भव नहीं, कुछ विद्वान् इस मत को विशुद्ध वैदिक मानते हैं। उनके अनुसार अग्नि ही रुद्र है और अग्नि की ऊर्ध्वगामी शिखा ही शिव का लिंग है।[1]

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी शतपथब्राह्मण के आधार पर रुद्र, शर्व और

---

१. कल्याण—भाग २०, संख्या ८, पृ० १०७६ ('शैवधर्म' नामक लेख)

भव को अग्नि का रूप कहा है। इनमें शर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश में लोकप्रिय था—शर्व इति प्राच्य: आचक्षते, भव इति वाहीका।[१]

दूसरे विद्वानों के अनुसार यह मत आर्येतर है। बाद में जब आर्यों और अनार्यों में युद्ध हुए, दोनों जातियों का मिश्रण हुआ, दोनों में आदान-प्रदान हुआ, उसी समय वैदिक देवताओं ने सिन्धु घाटी के देवताओं को आत्मसात् कर लिया।[२] पिछले प्रकरण में इस विषय की विवेचना करते हुए हम दिखा चुके हैं कि रुद्र और शिव का एकीकरण परवर्ती काल का है, वैदिक काल का नहीं। पर फिर भी काल का प्रश्न बना ही रहता है। पाणिनि में अम्बिका या पार्वती के चार चरणों का उल्लेख है।[३] पाणिनि ने ही एक अन्य सूत्र में शिव के उपासकों का उल्लेख किया है।[४] यजुर्वेद में जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह पाणिनि के समय तक एकदम स्पष्ट हो गयी है। महाभारत-काल में शंकर की उपासना के स्पष्ट प्रमाण हैं। "इस प्रकार ईसा-संवत् के प्रारम्भ तक शैव धर्म का प्रचार समस्त भारत में हो गया था और उसका स्वरूप सारतः वही था जो रामायण-महाभारत काल में था।[५]

शैव मत के भेद—पुराण में, इसके चार विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है: (१) शैव, (२) पाशुपत, (३) कालदमन, (४) कापालिक। कुछ अन्य व्यक्तियों ने कालदमन के स्थान पर कालामुख नाम का उल्लेख किया है।

सिद्धान्त—वीर शैवमत के अनुसार सृष्टि न तो विवर्तवाद है और न परिणामवाद है। विवर्तवाद के अनुसार भगवान् अपने स्वरूप को जगत् के रूप में निर्माण करता है। यह जगत् ब्रह्म से पृथक् सत्ता नहीं रखता अत: मिथ्या है। परिणामवाद के अनुसार सृष्टि शिव का स्वरूप होते हुए भी उसी प्रकार पृथक् है जिस प्रकार दही दूध से। दही दूध का परिणाम अवश्य है पर फिर भी वह पृथक् और स्वतन्त्र पदार्थ है। वीर शैवमत वालों ने इन दोनों शब्दों (विवर्तवाद और परिणामवाद) का परित्याग कर, शक्ति-विकास और शक्ति-संकोच, इन दो नवीन शब्दों के द्वारा अपने सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार कछुआ पैरों को बाहर निकालकर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में अपने पैरों को शरीर में छिपाकर चुपचाप बैठा रहता है उसी प्रकार शिव भी एक समय में अपनी शक्ति द्वारा जगत् का विकास करते हैं तथा दूसरे समय उसका संकोच कर लेते हैं। इस मत के अनुसार

१. पा० का० भा०, पृ० ३५०
२. शैवमत, पृ० ३३
३. अष्टाध्यायी, ४।१।४६
४. वही, पृ० ४।१।११२
५. शैवमत, पृ० ८७

उत्पत्ति और नाश शब्दों के स्थान पर विकास और संकोच का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

जीव—वीर शैव मत के अनुसार जीव शिव का ही अंश है। शिव अंशी हैं और जीव उनका अंश। इन दोनों में न तो एकदम भेद है और न अभेद ही है। जो सम्बन्ध अग्नि और उससे प्रसूत कणों का है वही शिव के साथ जीव का है। अग्नि से उत्पन्न कण न तो अग्नि का अपना रूप है और न उससे एकदम पृथक् ही है। इसको भेदाभेद मत कहा जा सकता है।

जीवात्मा अल्पज्ञ होने के कारण अविद्या, काम और माया के बन्धन में फँस जाता है। इस बन्धन से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय शिव का अनुग्रह प्राप्त करना है। डा० यदुवंशी के शब्दों में, "आत्मा का कर्म-बन्धन ही पाप है और परम शिव की दया तथा अनुग्रह से ही इस बन्धन से मुक्ति मिलती है। जब यह बन्धन हट जाता है तब आत्मा विमुक्त हो जाता है और आवागमन के चक्र से छूटकर सम्पूर्ण रूप से शिव-समान होकर उन्हींके सान्निध्य में जाकर परमानन्द को प्राप्त होता है।[1]

पाश—'शैव सिद्धान्त' के अनुसार पाश उन बन्धनों का नाम है जिनके द्वारा शिव-रूप जीव भी पशु-भाव को प्राप्त होता है। इन पाशों के चार भेद हैं—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया, (४) रोध-शक्ति।

जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान-क्रिया तिरोहित हो जाती है, उसका नाम मल है। श्री बलदेव उपाध्याय ने 'तत्त्व-प्रकाशिका' से श्लोक उद्धृत करते हुये इसे इस प्रकार समझाया है, "मल की उपमा तण्डुल के तुष (छिलका) और ताम्र स्थित कालिमा से दी जाती है। जिस प्रकार तुष धान के अंकुरित होने का कारण होता है उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु है। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रस-शक्ति से निवृत्त होती है उसी प्रकार यह मल शिव-शक्ति से निवृत्त होता है।[2] मनुष्य के अनादि कार्यों के समूह का नाम ही कर्म है। माया से भाव उस शक्ति से है जो प्रलय-काल में जीवों को अपने में लीन कर लेती है और सृष्टि-काल में उन्हें उत्पन्न कर देती है। रोध-शक्ति से भाव उस शक्ति से है जिससे परमेश्वर शिव जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं।

पाशों को छिन्न करना—इन पाशों को छिन्न करने का सामर्थ्य जीव में नहीं है। जिस प्रकार सुतीक्ष्ण असि-धारा भी अपने को नहीं काट सकती, उसी प्रकार ज्ञान और तप आदि भी जीव के इन मलों को काटने में असमर्थ हैं। जीव के मलापनयन का एक ही साधन है और वह है परम शिव की अनुग्रह-शक्ति। इसे तांत्रिक भाषा में

१. शैव मत, पृ० १६६
२. भारतीय दर्शन, पृ० ५८६

'शक्तिमान्' कहा जाता है। भगवान् के जिस अनुग्रह से जीव भव-बन्धन से छुटकारा पाकर शिवत्व प्राप्त करता है उसी शक्ति का नाम दीक्षा है।

शिव और शक्ति—"सदा-शिव से लेकर क्षिति-पर्यन्त जो भी चौंतीस तत्त्व हैं उनका नाम विश्व है" जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेष-मात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव की बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख, दोनों भाव सनातन हैं। शिव तत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिव-भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैव लोग परम शिव के नाम से पुकारते हैं परन्तु शाक्त लोग पराशक्ति के नाम से।

शाक्त मत

शक्ति—शक्ति की व्युत्पत्ति 'शक्' धातु से होती है और इसका अर्थ है बल। साधारण रूप से इस शब्द का यही अर्थ गृहीत होता है। उनकी दृष्टि में शक्ति की पूजा का अर्थ है बल की पूजा। केशवचन्द्र सेन ने शक्ति के इसी अर्थ को स्वीकार कर यूरोप में प्रेम के स्थान पर शक्ति की पूजा पर खेद प्रकट किया था। प्रोफेसर मोनियर विलियम ने 'हिन्दूइज्म' में यही अर्थ स्वीकार किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'मॉडर्न रिव्यू' के (जौलाई १९१९ के अंक) में शक्ति का अर्थ बल ही स्वीकार किया था। शक्ति का यह अर्थ सीमित है। शक्ति बल तो है ही पर साथ ही वह कुछ और भी है। वह चिद्रूपिणी और आनन्दमयी है।[१] म० म० पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार, "सृष्टि के आदि में अनादिकाल से जो अव्यय, पूर्ण, निराकार और शून्य-स्वरूप वस्तु विराजमान है वह तत्त्वातीत, प्रपंचातीत तथा व्यवहार के भी अतीत है। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परमशिव हैं।[२] भारतीय उपासना-पद्धति में शक्ति-उपासना के दो रूप हैं—

(१) सहायिका के रूप में और (२) स्वतन्त्र रूप में। सहायिका रूप में देवी या शक्ति अपने देवता या पुरुष के साथ प्रतिष्ठित की जाती है। हर-गौरी, शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण, सीता-राम आदि की मूर्तियों में गौरी, पार्वती, राधा और सीता अपने पुरुष हर, शिव, कृष्ण और राम की सहायिका हैं।...तान्त्रिक साधना में भी जहाँ शक्तियों की पूजा की स्वतन्त्र मान्यता थी, पुरुष के साथ उसकी शक्ति के प्रदर्शन का नियम था। वज्रयानियों के ध्वज-चित्रों में तो कभी-कभी पुरुष के साथ उसकी शक्ति चिपकी हुई दिखायी जाती है। किन्तु इस पद्धति से भिन्न शक्तियों के पृथक् और स्वतन्त्र रूप से पूजन तथा मूर्तीकरण का भी प्रचलन भारत में चला। इस

---

१. शक्ति एण्ड शाक्ताज़, पृ० १८९

२. वही, पृ० १८६

पद्धति के अनुसार शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव के अनुसार ही आराध्य हैं ।[१] सम्भवतः यह युगपत् पूजा दोनों की अविभाज्यता दिखाने के उद्देश्य से प्रचलित हुई होगी । अर्द्धनारीश्वर की कल्पना में भी यही भावना है ।

शक्ति का महत्त्व—इसके सर्वाधिक महत्त्व का कारण है उसकी क्रियाशीलता । शिव गतिहीन हैं और शिवा ही सब कार्य करती हैं । इसी कारण शिव के श्वेत शरीर में खड़ी हुई काली की पूजा होती है । उसे काला दिखाने का भाव यह है कि यह अन्त में सबको कालिमा में मिला देती है । 'महाकाली स्तोत्र' में उसका वर्णन इस प्रकार है—बिना चरणों के भी तुम वायु से अधिक चलने वाली हो । बिना कानों के सब-कुछ सुनती हो । बिना नेत्रों के सब-कुछ देखती हो । बिना नाक के सब-कुछ सूंघती हो । बिना जिह्वा के सब कुछ चखती हो ।[२]

इस सृष्टि की उत्पत्ति या प्राकट्य शक्ति के द्वारा ही होता है । शिव अपने आप तो शवमात्र ही हैं । वे परमशिव अर्थात् पूर्ण शिव तभी बनते हैं जब शक्ति के साथ उनका संयोग रहता है । "शिव तथा परमशिव एक होने पर भी ठीक एक नहीं हैं; क्योंकि शिव शक्ति-हीन प्रकाश-मात्र हैं, यह शिव होने पर भी वस्तुतः शव हैं या जड़वत् हैं । शक्तिहीन शिव—शिव तत्त्व में, जो अनाश्रित शिव के नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, में चिदैक्य की ख्याति अर्थात् स्फुरण न रहने के कारण एक प्रकार से अविद्या से भरा है । इसलिए इसे अख्यातिमय कहा जाता है । यह शिव विश्वोत्तीर्ण है, परन्तु शक्ति के योग से और उसकी समरसता के प्रभाव से वही शिव परम शिव पद को प्राप्त होता है ।[३]

शक्तिहीन का अर्थ यह कदापि नहीं कि किसी भी दशा में उसका शक्ति से वियोग हो जाता है । इसका भाव उस स्थिति से है जिसमें शक्ति अव्यक्त रहती है । शक्ति-हीन होने पर भी वह शक्त्यात्मक है । शून्यातिशून्य रूप कहकर आगम में उसका वर्णन किया गया है । शक्ति-हीन इसलिए कहा जाता है कि उस स्थिति में शक्ति अव्यक्त रहती है । वस्तुतः 'अस्ति' और 'आसते' एक ही अर्थ के वाचक हैं । जिसका अस्तित्व है उसी का मान होता है एवं जिसका मान होता है उसी का अस्तित्व माना जाता है । इसलिए सत्ता माने ही चिति है और चिति माने ही सत्ता है । दोनों का आनन्द में समानाधिकरण्य है, रसान्वय है ।[४]

अद्वैतवाद

ऊपर के विवेचन से यह न समझ लिया जाय कि शिव और शक्ति अलग-

१. ता० वा० शा० दृ०, पृ० ७७
२. शक्ति एण्ड शाक्ताज, पृ० ४३
३. ता० वा० शा० दृ०, भूमिकाभाग, पृ० ८
४. ता० वा० शा० दृ०, भूमिकाभाग, पृ० ८

अलग हैं। वस्तुतः इन दोनों में पार्थक्य नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव हैं, वही परमा शक्ति हैं। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ शवमात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म-प्रकाश में असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं, एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः चित्स्वरूप में लिंग-भेद नहीं है। इसी-लिए वह अलिंग होकर भी सर्वलिंग रूप में प्रकाशित होता है तथा नाना लिंग रूप में प्रकट होने पर भी अलिंग है—

शिवो देवः शिवा देवी शिव ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिंगमपि तत्तत्त्वं लिंगभेदेन कथ्यते ॥

यह निम्न-निर्दिष्ट श्वेताश्वतर श्रुति की ही प्रतिध्वनि है—

नैव स्त्री न पुमानेष न चायं स्यात् नपुसंकः ॥[१]

जैसा पहले कहा गया है कि दोनों एक हैं, एक ही तत्त्व के दो रूप हैं, इसी-लिए एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। दोनों मिलकर ही सृष्टि का कार्य करते हैं। "वस्तु का सामीप्य सम्बन्ध न रहने पर जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं कर सकता अथवा वस्तु का सान्निध्य होने पर भी प्रकाश के अभाव से दर्पण में स्थित प्रति-बिम्ब जैसे प्रतिबिम्ब-रूप में नहीं भासता, उसी प्रकार पराशक्ति भी प्रकाश-स्वरूप परम शिव के सान्निध्य के बिना अपने अन्तःस्थित विश्व-प्रपंच को प्रकटित करने में समर्थ नहीं होती। इसी कारण शुद्ध शिव अथवा शुद्ध शक्ति परस्पर सम्बन्ध-रहित होकर अकेले जगत् के निर्माण का कार्य नहीं कर सकते। दोनों की आपेक्षिक सहका-रिता के बिना सृष्टि-कार्य असम्भव है।[२] शक्ति और शिव की अविभक्त दशा ही परम दशा कहलाती है और इस परम दशा में ही सृष्टि होती है। सृष्टि का उद्भव और नाश कैसे होता है, यह समझाते हुए म० म० कवि० गोपीनाथ का कथन है— "उसका शिव से वियोग कभी नहीं होता। जैसे आकाश और वायु अविभक्त हैं, ठीक वैसे ही उन्हें समझना चाहिए। अविभक्त होने पर भी जब शिव-प्राधान्य रहता है और वे स्वमात्र में विश्रान्त रहते हैं तब चित्शक्ति निज स्वरूप में विद्यमान रहती है। उस अवस्था में विश्व की सृष्टि नहीं होती। परन्तु जब शिव शक्त्युन्मुख होते हैं और शक्ति शिवोन्मुख होती है तब उस समय की अवस्था को यामल अवस्था कहते हैं। उक्त अवस्था में न शिव शक्ति-हीन रहते हैं और न शक्ति ही शिव-हीन रहती हैं। इसी को संघट्ट कहते हैं।[३]

---

१. ता० वा० शा० दृ०, पृ० ११
२. वही, पृ० ७६
३. वही, पृ० ११

असल में महाकाल पुरुष और उसकी शक्ति अभिन्न हैं। शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं। जैसे अग्नि में दाहिका शक्ति सदैव विद्यमान रहती है ऐसे ही चिदात्मा की शक्ति चिदात्मा में सदैव विद्यमान रहती है—

सा ब्रह्मस्वरूपा चानित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥
अतएव हि योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते।
सर्वं ब्रह्ममयं ब्रह्मन् शश्वत् सदपि नारद ॥[1]

इस मत में जीव और परमेश्वर (शक्ति) भी एक ही हैं। यह जीव ईश्वर होते हुए भी मल के आवरण के कारण अपने शिव स्वरूप को भूलकर, कर्तृत्व-भाव धारण कर विभिन्न लोकों में भ्रमण करता रहता है। उसकी इस आत्म-विस्मृति में ईश्वर की इच्छा ही प्रधान कारण है। उसकी इच्छा से जब यह आवरण शक्ति हट जाती है तब वह फिर आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। साधना के समय भी साधक शक्ति की पूजा अद्वैतभाव से ही करता है—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरुपोऽहं नित्यमुक्त स्वभावजम् ॥

मातृ-रूप में पूजा—इस मत में ईश्वर की पूजा मातृ-रूप में (शक्ति-रूप में) होती है। इस मत के अनुसार ईश्वर इसी रूप में क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार माता अपने शिशु के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहती है ऐसे ही यह शक्ति जीवों के कल्याण के लिए सचेष्ट रहती है। शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है इस कारण उसे कोई अबला या निर्बला न समझ ले, इसी बात को लक्ष्य करके 'महाकाली संहिता' में कहा गया है—"तुम न लड़की हो, न जवान हो, न बूढ़ी हो। तुम न पुरुष हो, न स्त्री और न इन दोनों से पृथक्। तुम अवर्णनीय हो, परिमाण से बाहर हो, द्वैत भावना से परे हो, तुम साक्षात् ब्रह्म हो।" जो व्यक्ति इस स्त्रीलिंग शब्द के आधार पर इस मत की आलोचना करते हैं, उन्हें श्री उडरफ ने मौन धारण करने का परामर्श दिया है।[2]

एक ही शक्ति विविध नामों से प्रसिद्ध है—ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा उसी शक्ति के अलग-अलग नाम हैं। यह शक्ति नारी के इन रूपों में तो अवतरित होती ही है, वह इच्छानुसार पुरुष-वेश भी धारण करती है। एक बार महाशक्ति ने कृष्ण का रूप धारण किया था और एक बार राम का।[3]

---

१. देवीभागवत, ९।१।१०-११
२. श० शा०, पृ० २८-९
३. वही, पृ० ५८

लक्ष्य—इस मत का लक्ष्य मोक्ष या अपने स्वरूप में अवस्थिति है। जीव अपने स्वरूप को भूलकर सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणों के अनुसार दुःख भोगता रहता है। सकाम कर्म अन्ततः दुःख के ही जनक हैं। स्वर्ग का सुख भी अस्थायी ही है। अतः जीव अपने शिव-रूप की उपलब्धि के लिए यत्न करे। मोक्ष का अर्थ भी दुःखों से छुटकारा है।

मत का प्रवर्तन—इस मत के वक्ता और प्रकट करने वाले व्यक्ति या तो शिव हैं या शिवा देवी। प्रथम बार शिव वक्ता है, देवी श्रोता हैं। दूसरी बार देवी वक्ता हैं और शिवजी के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य संभाषण-हैं। इसी प्रकार का एक संभाषण ईश्वर-कार्तिकेय संवाद है। इसमें भगवान् शिव अपने पुत्र कार्तिकेय को उपदेश दे रहे हैं। साक्षात् भगवान् के मुख से निकलने के कारण ये संवाद देववाणी माने जाते हैं और इन्हें अपने प्रतिपादन के लिए किसी दूसरे प्रमाण को आवश्यकता नहीं।[1]

इस मत की प्राचीनता—शाक्तों के अनुसार शाक्त मत सबसे अधिक प्राचीन है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल, सूक्त १२५ के देवी-सूक्त में जो कुछ कहा गया है उसी को आधार मानकर शाक्त मत चला है।[2] सर जान उडरफ ने इस विषय की विस्तृत विवेचना करने के बाद कहा है कि यह मत वेद-प्रामाण्य को तो स्वीकार करता ही है, पर साथ ही इसकी सब बातें वेदानुकूल ही हैं—

Therefore not only is the authority of the Veda acknowledged along with the Agamas, Nigamas and Tantras but there is not a single doctrine or practice, amongst those later to be mentioned, which is either not generally held, or which has not the adherence of large numbers of Indian worshippers.[3]

अर्थात् न केवल आगमों, निगमों और तन्त्रों के साथ वेद का प्रामाण्य ही स्वीकृत किया गया है अपितु वहाँ एक भी ऐसा सिद्धान्त या आचार नहीं है जो अधिकांश भारतीय उपासकों को मान्य न हो।

इसके सिद्धान्त वेदानुकूल हों या प्रतिकूल, पर देवीसूक्त से इसका आरम्भ मानना तर्क-संगत नहीं। श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी का कहना है कि अम्बिका, उमा, दुर्गा, काली आदि जो नाम परवर्ती काल में शक्ति के पर्यायवाची बन गये, ऋग्वेद में उनका सर्वथा अभाव है। वाजसनेयी संहिता (३।५७) में अम्बिका का उल्लेख रुद्र की भगिनी के रूप में है। तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक में यह रुद्र की पत्नी के रूप में

---

१. शक्ति एण्ड शाक्ताज़, पृ० ४१
२. कल्याण का 'शक्ति-अंक' भाद्रपद सं० १९८१, पृ० ४१ ('शक्ति का रहस्य' लेख)
३. श० शा०, पृ० ६१-२

आयी हैं।[1] केनोपनिषद् में जिस उमा हैमवती का उल्लेख है उसे शक्ति मानना भी भ्रामक है। वहाँ उमा का अर्थ ब्रह्मविद्या है। मुण्डकोपनिषत् (१।२।४) में जो काली और कराली शब्द आते हैं वे भी शक्ति के पर्यायवाची रूप में नहीं आते। इनका प्रयोग अग्नि की जिह्वाओं के लिए है।[2] कालान्तर में ये विशेषण शक्ति के समानार्थक बन गये।

कुछ अन्य प्रमाण भी ऐसे हैं जिनसे इसे सातवीं शती के बाद का प्रचलित धर्म मानना पड़ता है। बाणभट्ट ने अपनी रचनाओं में विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए पाशुपतों और भागवतों का तो उल्लेख किया है पर शाक्तों का नहीं।[3] यदि यह मत इतना प्राचीन था तो बाणभट्ट ने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया? स्पष्ट है कि अपने इस रूप में यह प्रचलित नहीं रहा होगा। संभावना यही है कि अवैदिक होने के नाते यह धर्म उस समय तक हिन्दू धर्म का अंग नहीं बन पाया होगा।

तांत्रिक मत

शाक्त मत में तन्त्रों जौर मन्त्रों की प्रधानता है। तन्त्र का शाब्दिक अर्थ उस विद्या से है जो ज्ञान का विस्तार करती है—

तनोति विपुलान् अर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

परन्तु यहाँ तन्त्र से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो तन्त्रमन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधना-मार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। ज्ञान और उपासना के नियम को वेद बताते हैं तथा उनके साधनभूत नियमों को आगम सिखाते हैं। इन तन्त्रों में उपासना और प्रार्थना के स्थान पर एक ऐसी साधना का विधान है जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष में एकता पैदा करने का कार्य किया जाता है। तान्त्रिक-साधना का उद्देश्य स्वराट् और विराट् का एकीकरण है। यह कार्य शारीरिक शक्तियों को जगाकर ही किया जा सकता है। शारीरिक साधना के साथ-साथ इसमें मन्त्रों का भी आश्रय लिया जाता है। मन्त्र का साधारण अर्थ रहस्यात्मक शब्दों से है। इन मन्त्रों की भाषा और उसके क्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इनके अक्षर और स्वर भी निश्चित होते हैं। इसी कारण इनका अनुवाद भी नहीं किया जा सकता। ये गुरु से जिस रूप में भी प्राप्त होते हैं उसी रूप में इनका जप करना होता है। इस जप का उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना है। ये मन्त्र प्रायः एकाक्षर और निरर्थक होते थे। जैसे ह्रीं, लीं आदि।

---

१. डेव० हि० इक०, पृ० ४६
२. वही, पृ० ४६
३. हि० बुद्धि, भाग २, पृ० २८०

यह साधना-पद्धति गुह्य होती थी। इसके अर्थ सभी को स्पष्ट नहीं होते थे। धीरे-धीरे इसमें पंच मकारों की प्रधानता आ गयी और सिद्धि के लिए इनका सेवन अनिवार्य माना जाने लगा। ये पंच मकार इस प्रकार हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन।[1]

इस मत के अनुसार ये संसारी शब्द साधक की पांच विशेष अवस्थाओं के द्योतक या प्रतीक हैं।[2] विद्वानों द्वारा इन शब्दों से कुछ अन्य अर्थ भी बताये गये हैं। पर अन्त में इन मकारों की परिणति वामाचार में हुई, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साधना के नाम पर इनका सेवन खुलकर किया जाने लगा। मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि षट्कर्मों की बाढ़-सी आ गई। शक्ति और सिद्ध अपने चमत्कारों द्वारा अपनी धाक जमाने लगे। जनता में इनके प्रति भय बढ़ने लगा, आदर घटने लगा।

हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव—तन्त्र का आरम्भ ईस्वी सन् की छठी शती से हुआ है, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है। म० म० डा० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तन्त्रों का आगमन शकों के मग पुरोहितों द्वारा हुआ है। जो भी हो, भक्तिकाल से पर्याप्त समय पूर्व तन्त्र का प्रचलन हो चुका था। यह भी ठीक है कि इस समय तक शाक्त मत का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया था। वैष्णव धर्म के अभिनव आकर्षण ने अधिकांश जनता को अपनी ओर खींच लिया था। शाक्तों के वामाचार से जनता तंग आ गई सी प्रतीत होती थी। यही कारण है कि कबीर-जैसे सन्त कवि ने शाक्तों की निन्दा बड़े तीखे शब्दों में की है—

अ—बैष्णों की छपरी भली, ना साकत बड़ गाउँ।

आ—साकत बाह्न ना भला वैष्णों भला चंडाल।

तत्कालीन समाज पर इनका प्रभाव अनिष्टकारी सिद्ध हो रहा था, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। योगी अरविन्द आदि विद्वानों को इन तन्त्रों में निहित सिद्धान्तों की उदात्तता और गहन आध्यात्मिकता को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ा है कि कालान्तर में इनमें बहुत-से ऐसे तत्त्व आकर जुड़ गये थे जिनके कारण अनियन्त्रित वामाचार, असंयत सामाजिक व्यभिचार-दुराचार का मानो एक पन्थ ही चल पड़ा।[3] प्रज्ञा-पारमिताओं के संपादक श्री राजेन्द्रलाल तथा बौद्ध-साहित्य का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० विनयतोष भट्टाचार्य, दोनों ही इन बौद्ध तन्त्राचार्यों की साधनाओं को विकृत, रोगग्रस्त, अस्वस्थ और पतनोन्मुखी बताते हैं।

प्रसंगवश यह भी कह देना अनुचित न होगा कि यद्यपि राजपूत-काल में शिव

१. श० शा०, पृ० ३४१
२. वि० ध० दर्शन, पृ० २१६
३. सि० सा०, पृ० ७१

के साथ शक्ति की पूजा प्रचलित थी पर शक्ति को लेकर स्वतन्त्र रूप से साहित्य का निर्माण बहुत कम मात्रा में हुआ। इसके साथ वह भावात्मक एकता नहीं हो सकी, जिसका सृजनात्मक साहित्य के लिए होना अनिवार्य है। वैष्णव मत की मोहिनी ने धीरे-धीरे सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इसमें सीता और राधा का चित्रण शक्ति के रूप में हुआ है, अंशतः इस कारण भी शक्ति के स्वतन्त्र वर्णन की आवश्यकता का अनुभव कम ही हुआ। ऊपर जिस साधना-पद्धति का उल्लेख हुआ है उसके कारण भी बहुत से व्यक्तियों को इस मार्ग से अरुचि हो गयी है। इस अरुचि की अभिव्यक्ति कबीर के शब्दों में इस प्रकार हुई है—

साकत मरहि संत सभि जीवहि।
राम-रसायनु रसना पीवहि॥

चतुर्थ अध्याय

भारतीय देव-भावना को प्रभावित करने वाले उपादान

जैन और बौद्ध सुधार-आंदोलन की पृष्ठभूमि

विद्रोह या क्रान्ति सहसा नहीं फूट निकलती। उसकी बिजली की-सी चकाचौंध से सामान्य जन हतप्रभ से होकर उसे आकस्मिक मान बैठते हैं, पर वास्तव में उसकी सृष्टि जाने और अनजाने ढंग से शनैः-शनैः होती रहती है। उसके बीज पृथ्वी-गर्भ में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाकर अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हो उठते हैं। न तो ज्वालामुखी ही सहसा फूटता है और न स्रोत ही। उनके तत्त्व अन्दर-ही-अदर पनपते रहते हैं और उस प्रक्रिया के सम्पूर्ण हो जाने पर फूट पड़ते हैं। यही सिद्धान्त धार्मिक क्रान्ति के विषय में भी लागू होता है। एक निश्चित विचारधारा जनसाधारण में धीरे-धीरे फैलती रहती है। साधारण स्रोत के समान वह मन्दगति से बहती रहती है और अनुकूल परिस्थिति एवं धरती पाकर वह सम्पूर्ण वेग के साथ उमड़ पड़ती है। क्रान्तिकारी नेता उस क्रान्ति के, विचारधारा के उन्नायक मात्र होते हैं, वे उसका प्रसार-भर करते हैं, वे उसके जन्मदाता नहीं होते। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से वह विचारधारा आसानी से ग्राह्य बन जाती है। यही नियम जैन और बौद्ध धर्म के विषय में लागू होता है। उनके विचार और सिद्धान्त न तो सहसा ही फूट ही निकले ये और न वे कहीं ऊपर से ही आ गिरे थे। उनका विकास भी उनके बहुत समय पूर्व से यहीं हो रहा था।

जैन-बौद्धधर्मों के प्रवर्तकों—भगवान् महावीर स्वामी और बुद्ध—से बहुत पहले उपनिषदों में हमें उसी विचारधारा के दर्शन होते हैं जो कुछ परिवर्तित रूप में इन दोनों धर्मों में ग्राह्य हुई। धीरे-धीरे वैदिक धर्म जब यज्ञों में ही सीमित हो गया, यज्ञ बहुव्ययसाध्य हो गये, हृदय का स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया तो उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। उपनिषदों में यह प्रतिक्रिया एकदम स्पष्ट रूप में मिलती है। 'स्वर्गकामो यजेत' आदि में यज्ञ का जो महत्त्व प्रतिपादित किया गया है उसे उन्होंने स्पष्ट रूप में अस्वीकार किया है। इनके अनुसार यज्ञ की नौका के सहारे इस संसार-सागर को पार नहीं किया जा सकता—

प्लवा ह्येते अदृढा: यज्ञरूपा: ।।

एक अन्य स्थान पर तप, ऋजुता, अहिंसा और सत्यबचन को ही दक्षिणा कह-कर द्रव्यमयी दक्षिणा का निषेध किया गया है—

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ।।[1]

कर्मकांड के स्थान पर आत्म-तत्त्व की उपलब्धि पर सभी उपनिषदों में बल दिया गया है। असली बात तो यह है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार ही उपनिषदों का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। शुभाशुभ कर्मों के फल और पुनर्जन्म इत्यादि विषयों की स्थापना इस युग तक हो चुकी थी। ब्राह्मणों का महत्त्व कम हो गया था। कितने ही ऋषि क्षत्रिय राजाओं के पास शिष्य-भाव से ब्रह्म-विद्या का उपदेश ग्रहण करने जाते थे। जन्मगत जातिपाँति की व्यर्थता भी स्पष्ट होने लगी थी। सत्यकाम जाबाल जारज सन्तान होते हुए भी ब्रह्म-विद्या का अधिकारी समझा गया।[2]

हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार जैन तथा बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन है। पर हिंसा का विरोध उससे पहले भी शुरू हो चुका था। अवध की ओर के आर्य यज्ञों में हिंसा का प्रयोग बुरा समझते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि कुरु-पांचाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म (यज्ञ) को छोड़ दिया है तथा वे एक नये धर्म का प्रचार करते है जिसमें यज्ञ और पशु-हिंसा दोनों ही मना हैं।[3]

जैन और बौद्ध धर्म में वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया गया। उपनिषदों में यह प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी थी। मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो भेद किये गये हैं—१. परा और २. अपरा। अपरा भोगपरक है, उसका सम्बन्ध ऋक्, यजु और साम से है। यहाँ अपरा को त्यागकर परा को स्वीकार करने की बात कही गयी है।

वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति जैन और बौद्ध धर्म की एक भारी विशेषता है। इस विशेषता का साक्षात्कार हमें उपनिषदों में हो जाता है। नचिकेता और यम-राज के संवाद में स्पष्ट रूप से ऐहिक सुखों को हेय कहा गया है। यमराज नचिकेता को सब प्रलोभन देता है, सब-कुछ माँगने को कहता है, पर नचिकेता अमर होने के सिवाय अन्य सब कुछ नहीं माँगना चाहता। उसका कहना है कि मर्त्य के सभी सांसा-रिक उपभोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। साथ ही इनके उपभोग से सब इंद्रियों का तेज भी जीर्ण हो जाता है। फिर सारा जीवन भी थोड़ा ही है। इसलिए आपके जो ये वाहन और नाच-गान हैं इन्हें आप ही रखिये, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं।"[4]

१. छान्दोग्य, ३।१७।४
२. वही, ४।४।४
३. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १०६
४. कठोपनिषद् १।१।२६-२८

यमराज अभी और परीक्षा लेना चाहता है, तरह-तरह के प्रलोभन देता है, पर नचिकेता अडिग है। वह कहता है कि धन के द्वारा मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता—न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। स्वयं यमराज प्रसन्न होकर उससे कहता है कि उस ध्रुव की प्राप्ति अध्रुव से नहीं होती—"न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।"[1]

संन्यास का उल्लेख भी उपनिषदों में है। कहा गया है कि जो वेदान्त, विज्ञान और संन्यास के द्वारा यति हो गए हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे ही उस ईश्वर के पास रहते हैं—

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥[2]

बौद्ध और जैन धर्म-सुधार आंदोलन तथा भारतीय देव-भावना पर प्रभाव

भारतीय जीवन में जैन और बौद्ध धर्म का आगमन एक चमत्कार के समान था। जिस प्रकार बिजली के कौंध जाने से आकाश में प्रकाश-ही-प्रकाश छा जाता है उसी प्रकार इन नवीन आंदोलनों से भारतीय अन्तरात्मा आलोकित हो उठा था। जिस बौद्ध धर्म ने देश-देशान्तरों के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया था, उसकी मोहनी का प्रभाव अपने ही देश पर न पड़ता, यह कैसे सम्भव था? यह ठीक है कि कालान्तर में यह बौद्ध धर्म अपने ही जन्म-स्थान से निष्कासित-सा हो गया था पर वह अपना व्यापक प्रभाव इस देश के जीवन पर छोड़ गया, इस तथ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है? असली बात तो यह है कि उसके बाहरी रूप से लुप्त हो जाने पर, अपने उदात्तरूप में वह भारतीय जीवन में आज भी विद्यमान है। जैनधर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्त भारतीय जीवन में घुलमिल गए हैं। पार्श्वनाथ का चातुर्याम—अहिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग—हिन्दू धर्म में यम के रूप में मनुस्मृति में ग्रहण कर लिया गया है। ये तत्व भारतीय और हिन्दू धर्म के ऐसे अविभाज्य अंग बन गए हैं कि सामान्य पाठक इन्हें जैन धर्म की देन मानने को तैयार नहीं होता। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—'हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में घुलमिल कर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैन धर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं।"[3]

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना है। वैदिक यज्ञों में पशुओं की बलि धार्मिक अनुष्ठान का एक अंग समझा जाता था।

---

१. कठोपनिषद्, १।२।१०
२. मुण्डक, ३।२।६
३. संस्कृति के चार अध्याय, १०६

इन घोर कृत्यों को रोकने के लिए इन दोनों सुधारकों ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इन प्रयत्नों का प्रभाव परवर्ती समाज पर स्पष्ट रूप में पड़ा है। राजा उपरिचर के यज्ञ में पशुघात नहीं हुआ।[1] यह भी कथा है कि यज्ञ में आहुति के लिए प्रयुक्त 'अज' शब्द का अर्थ अन्न है, बकरा नहीं, यह जानते हुए भी राजा उपरिचर ने देवताओं के पक्षपात के कारण 'अज' का अर्थ बकरा बताया और इसीलिए उसका अधःपतन हुआ।[2]

बौद्ध धर्म के प्रकरण में स्थान-स्थान पर इसके दो प्रमुख भेदों—हीनयान और महायान—की चर्चा आती है अतः यहाँ संक्षिप्त रूप में इन दोनों के शब्दार्थ और भावार्थ पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

हीनयान का शाब्दिक अर्थ है छोटी सवारी। आरंभ में यह नाम महायानियों ने दिया था। इसके पीछे उनका उद्देश्य अपने मार्ग की श्रेष्ठता तथा दूसरे मार्ग की हीनता सिद्ध करना था, पर धीरे-धीरे यह नाम इसी अर्थ में प्रचलित हो गया। चीनी मात्री ईचिंग (ईसवी-पश्चात् ६७५-७१३) ने जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है—

"जो बोधिसत्त्वों की उपासना करते हैं, महायान सूत्रों को पढ़ते हैं महायानी कहलाते हैं; जो यह नहीं करते वे हीनयानी कहलाते हैं।[3] डा० उमेश मिश्र ने इनके अन्तर को यों स्पष्ट किया है—(१) "हीनयान के साधक लोग 'अर्हत' पद को ही अपना चरम लक्ष्य मानते हैं। इस पद पर पहुँचकर साधक ज्ञाननिष्ठ हो जाता है। (२) महायान के साधक 'बोधिसत्त्व' अवस्था तक पहुँचते हैं और दूसरों के कल्याण करने की शक्ति को प्राप्त करते हैं।[4] श्री धर्मवीर भारती ने महायान की विशेषताओं को इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१) बोधिसत्त्वों में आस्था और प्रत्येक व्यक्ति में निहित सामर्थ्य पर आस्था, जिसमें वह बोधिसत्त्व की स्थिति तक पहुँच सकता है। (२) लोक-हित की भावना, (३) बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता में विश्वास। (४) विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का प्रचार जो बुद्ध-तत्त्व तथा परिनिर्वाण की लगभग वैसी ही व्याख्या करते थे जैसी ब्राह्मण वेदान्तों में प्राप्त होती है। (५) महायानियों का अधिकतर साहित्य संस्कृत में है। (६) प्रतिमाओं की पूजा और पूजा-तिथियों तथा अनुष्ठानों का विस्तार। (७) अमिताभ बुद्ध में केवल आस्था मात्र रखने से ही निर्वाण-प्राप्ति का विधान और इसी लक्ष्य से उसका नाम-जाप।[5]

---

१. म० भा० शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व), श्लोक १०
२. वही, पृ० १३७
३. हि० बुद्धि, भाग २, पृ० ३
४. भा० दर्शन, पृ० १४५
५. सिद्ध-साहित्य, पृ० १०६

इन सभी विद्वानों ने बोधिसत्त्व शब्द का प्रयोग किया है अतः इसका ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। इसका शाब्दिक अर्थ है, पूर्ण ज्ञानवाला व्यक्ति। पर ऐतिहासिक विकास-क्रम से इसका अर्थ उस व्यक्ति से है जो पूर्ण ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर हो—

One who is on the way to the attainment of perfect knowledge., i.e., future—Budha.[१]

अर्थात् जो पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर पहुँच गया है वह भावी बुद्ध या बोधिसत्त्व हो।

एक अन्य स्थल पर इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

A being who is in process of obtaining but has not yet attained Buddhahood.[२]

जो प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर है पर बुद्धत्व को पा नहीं सका, वह बोधिसत्त्व है।

महायान की उत्पत्ति के मूल में दो प्रधान कारण थे—(१) लोक-भावना और (२) उसे सहज रूप देने की भावना। धीरे-धीरे महायान बहुत लोकप्रिय हो गया। लोकप्रिय हो जाने के कारण धीरे-धीरे इसके रूप में बहुत-से परिवर्तन हुए। इसका एकरूप मंत्रनय या मन्त्रयान के नाम से अभिहित हुआ और इसी से वज्रयान की उत्पत्ति हुई।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा आगे चलकर अत्यधिक लोकप्रिय हुई और इसने बौद्ध तथा बौद्धेतर जीवन को प्रचुर मात्रा में प्रभावित किया। महायान की उत्पत्ति के अनेक कारणों में उसकी लोक-हित भावना ही सबसे प्रमुख है। व्यक्ति-निर्वाण की अपेक्षा समस्त लोक का निर्वाण इसका लक्ष्य है। इसे समझाने के लिए अवलोकितेश्वर की कहानी कही जाती है। बताया गया है। कि बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर निर्वाण प्राप्त कर जब शून्य में लीन होने जा रहे थे तो उन्होंने सुमेरु पर्वत के शिखर से दूरागत क्रन्दन सुना। पता चला कि यह उन जनसाधारण के परिताप के कारण है जो अवलोकितेश्वर की उपस्थिति के कारण अपने दुःखों में सांत्वना पा रहे थे। अब उन्हें अपने से दूर जाते देखकर वे विकल थे। अवलोकितेश्वर ने उस समय तक अपने निर्वाण को स्वीकार करने से मना कर दिया कि जब तक एक प्राणी भी भव-जाल से बँधा रहता है।[३]

करुणा का यह प्रभाव हिन्दू देवताओं पर भी पड़ा है। क्षण भर के लिए नरक-

१. इन० रि० ए०, भाग १, पृ० ७३९
२. हिन्द बुद्धि, भाग २, पृ० ७
३. म० सा० अब०, पृ० ४८

दर्शन के बाद जब युधिष्ठिर वहाँ से लौटने लगे तो उन्हें जीवों की दयनीय पुकार सुनाई पड़ी—धर्मनन्दन ! आप हम लोगों पर कृपा कर थोड़ी देर यहाँ ठहर जाइये। आपके आते ही परम पवित्र और सुगन्धित वायु चलने लगी है। इससे हमें सुख मिल रहा है, क्षण भर और ठहर जाइए। युधिष्ठिर ने क्षण भर सोच-विचार कर दूत से कहा—"तुम जिनके दूत हो उनके पास लौट जाओ, मैं वहाँ नहीं चलूँगा। यहाँ मेरे रहने से मेरे बन्धुओं को सुख मिलता है।"[१]

स्पष्ट रूप से यह अवलोकितेश्वर की करुणा का ही प्रभाव है। जहाँ तक अवलोकितेश्वर के समय का प्रश्न है, वह ईसा की प्रथम शताब्दी के काफी पूर्व है। ईसा की प्रथम शताब्दी में बनी उनकी जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं।[२] महायान की इस लोक-भावना का हिन्दू देव-भावना पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनके भगवान् के दीनदयालु, पतित-पावन और भक्तवत्सल होने में महायान का प्रभाव ही अपना काम कर रहा है। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में स्थान-स्थान पर राम और कृष्ण के जिस पतित-पावन रूप का विरद गाया जाता है, वह बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है।

आरम्भ में भगवान् के अवतार का लक्ष्य अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि था। भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्ण ने अपने प्रकट होने का यही कारण बताया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥[३]

परम्परावादी तुलसीदास ने भी भगवान् के रक्षक रूप को ही अपनी उपासना का जो विषय बताया है उसके पीछे दुष्ट-दलन और सज्जन-रक्षण की भावना अपना कार्य कर रही है। पर बौद्ध धर्म के लोक-संग्रह रूप के प्रभाव के कारण भगवान् की कृपालुता पर विश्वास अधिकाधिक मात्रा में बढ़ता गया। महायान मार्ग के अनुयायियों का विश्वास है कि अमिताभ बुद्ध में केवल आस्थामात्र रखने से ही निर्वाण-प्राप्ति सम्भव है। वल्लभमत में भगवान् के अवतार का जो प्रमुख साधन-निरपेक्ष मुक्तिदान माना गया है उसे बौद्ध धर्म का प्रभाव मानना ही उचित है। श्री विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय का मत भी यही है। उनके शब्दों में, "वैष्णव मतों में तन्त्रों की ही तरह शक्तिपात या कृपा के सिद्धान्त पर सबसे अधिक बल दिया गया है।...साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ के अनुसार भगवान् के अवतार का कारण है।

१. महाभारत, शान्तिपर्व, स्वर्गगमन-प्रकरण
२. बुद्धि हिन्दू, भाग १, पृ० १६
३. भगवद्गीता, ४।७-८

यह कार्य भगवान् कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दलन तथा सज्जन-रक्षण का कार्य तो भगवान् अन्य साधनों से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है? मनुष्यों को साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।[1] वास्तविकता तो यह है कि तन्त्रों का उद्‌गम भी बौद्ध धर्म से ही हुआ है; जिसे उपाध्यायजी ने तांत्रिक प्रभाव कहा है वह अपने मूल रूप में बौद्ध प्रभाव ही है।

कुछ विद्वानों के अनुसार विष्णु की कल्पना में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। वैदिक देवों में विष्णु का महत्त्व सापेक्षिक रूप में कुछ परवर्ती है। वेदों में असुर-विनाशन का कार्य प्रमुख रूप से इन्द्र के हाथ में है। यद्यपि बाद में विष्णु इन्द्र के सहयोगी पद से उठकर उससे अधिक शक्तिशाली बन गये हैं, उनके अपने आयुध हैं और समय आने पर वे असुरों का विनाश भी करते हैं, तथापि कुल मिलाकर वे शान्तिप्रिय देवता हैं। लगता है कि उनको सौम्यरूप देने में बौद्ध धर्म के अहिंसा-आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव है। आज भी वैष्णव का साधारणतया प्रचलित अर्थ उस व्यक्ति से लिया जाता है जो मांस-भक्षण से परहेज करता है। कबीर ने जहाँ "साकत बाम्हन नां मिलो वैस्नो मिलो चंडाल" कहा है, वहाँ उनका भाव अहिंसा के प्रति श्रद्धा और हिंसापूर्ण जघन्य कार्यों के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित करना ही है।

जहाँ तक मूर्ति-पूजा या देवताओं की मूर्ति की कल्पना का प्रश्न है, यह कह सकना कठिन है कि हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों में से किसने किसे अधिक प्रभावित किया। भगवान् बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम दिनों में साधारण मानव न रहकर अतिमानव के पद पर प्रतिष्ठित होने लगे थे। उनके परम अग्रणी शिष्य सारिपुत्र ने अपने अन्तकाल में जो वचन कहे थे, उनमें बुद्ध को अतिमानव मानने की भावना स्पष्ट झलक रही है। उन्होंने कहा था—"भन्ते! इन चरणों की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पों से भी अधिक काल तक मैंने असंख्य पारमिताएँ पूरी की थीं। अब मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया।"[2] बीमार भिक्षु बक्कलि तो अपने साथी भिक्षु के द्वारा कहे गये वचनों को चारपाई पर लेटे हुए नहीं सुन सकता था—मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं चारपाई पर लेटे-लेटे शास्ता के वचनों को सुनूँ।" धरती पर अपने को उतार कर ही उसने बुद्ध-वचनों को सुना। बुद्ध में देवत्व का यह आरोप वैदिक धर्म में प्रचलित देव-भावना के कारण हुआ था या उस स्वाभाविक श्रद्धा के कारण जो किसी भी महान् सुधारक को धीरे-धीरे देवत्व की कोटि तक पहुँचा देती है, इसका निर्णय कठिन है। कारण चाहे जो रहा हो, महायान में बुद्ध को लोकोत्तर सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया, उनकी अनेकशः प्रतिमाएँ बनीं, पूजा-विधियों तथा अनु-

---

१. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० ३५६

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० १०६८

ष्ठानों का विस्तार हुआ। बौद्धों के इस प्रतिमा-पूजन का प्रभाव उस समय के हिन्दू धर्म पर अवश्य ही पड़ा होगा। दोनों का एक-दूसरे से प्रभावित होना अनिवार्य था। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध की गणना हिन्दुओं के अवतारों में होने लगी और बौद्ध तीर्थों के समान हिन्दुओं के अपने तीर्थ बनाये जाने लगे। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है : "गौतम बुद्ध को विष्णु का अन्तिम अवतार मान लिया गया। किन्तु साथ ही जनपदकालीन महापुरुष राम और कृष्ण को भी अवतारी पुरुष बनाकर उनको बुद्ध का स्थान दिला दिया गया। निर्वाण के स्थान पर वैकुण्ठ की कल्पना सामने रखी गयी। बौद्ध तीर्थ-स्थानों की जगह लेने के लिए शिव, विष्णु तथा राम से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों का महत्त्व बढ़ाया गया, बौद्ध मन्दिरों के स्थान पर पौराणिक देवताओं के मन्दिर बनाए गये तथा बौद्ध और जैन कल्पित कहानियों के स्थान पर पौराणिक कहानियों का सृजन हुआ। वैदिक, बौद्ध, जैन, वासुदेव, और शैव तथा शाक्तधर्मों की इस खिचड़ी से विकसित हुए इस धार्मिक रूप को हम पौराणिक धर्म कह सकते हैं।"[१]

हिन्दुओं के क्षत्रिय अवतारों की मान्यता पर जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव है। ब्राह्मणों की प्रधानता से क्षत्रियों की प्रधानता की स्वीकृति इन दोनों धर्मों की देन है, इस भाव को श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"बौद्धों और जैनों ने बुद्ध और महावीर की भक्ति और मान्यता का जो लक्ष्य बनाया था उसका प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा।। वहाँ जैसे बुद्ध और महावीर क्षत्रिय थे, वैसे ही दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय थे। उन्हीं को लेकर भक्ति का आरम्भ हुआ। पाणिनि ने वासुदेव और अर्जुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वासु-
लाते थे।"
देव की भक्ति करने वाले वासुदेवक और अर्जुन की भक्ति करने वाले अर्जुनक कह-

इसके साथ किसी महापुरुष के साथ उसके परिवार की पूजा भी बौद्ध प्रभाव है, इस बात को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"जैसे बौद्ध धर्म में सप्तमानुषी बुद्धों की कल्पना थी। जैनधर्म में पाँच मुख्य तीर्थंकरों की कल्पना थी, यक्षों में वीर या मुख्य यक्षों की उपासना थी, जैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई।"[३]

देव-भावना और भक्ति-मार्ग का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यकाल के इस भक्ति-मार्ग को बौद्ध धर्म की विचारधारा ने अत्यधिक प्रभावित किया है इसमें सन्देह नहीं। बौद्ध धर्म के एक स्वतन्त्र प्रभावशाली साधना-मार्ग के उस समय विद्यमान न रहने से बहुतों को उसके प्रभाव के विषय में सन्देह हो सकता है, पर वह संदेह

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० १०६८

३. मध्य देश, पृ० १४२-१४३

१. पा० का० भा०, पृ० ३५२

निरा भ्रम है। जिस विरति की इतनी चर्चा की गयी है वह बौद्ध धर्म और जैन धर्म, दोनों की साँझी है। यह प्रभाव दोनों ही का प्रभाव है। पर इसके अतिरिक्त भी जैन धर्म का जो प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ा है वह अवतारों की चौबीस संख्या और सात पुरियों के रूप में स्पष्ट है। श्री बिहारीलाल साँवलियामल का कथन है—"चौबीस तीर्थंकरों की भान्ति विष्णु के चौबीस अवतार मिश्रित कर मूर्ति-पूजा प्रचलित करनी पड़ी। जैनों के सात तीर्थों की भाँति हिन्दुओं ने भी सात पुरियों की महत्ता कायम की। जैन धर्म के महावाक्य 'अहिंसा परमो धर्मः' को स्वीकार कर इसे वैष्णव धर्म का मूलमन्त्र बनाया।[1]

भगवान् के चौबीस अवतारों की कल्पना निश्चित रूप से जैन धर्म द्वारा प्रभावित है। न तो महाभारत में ही कहीं चौबीस अवतारों की गणना है और न भागवत को छोड़कर अन्य किसी पुराण में ही। इस विषय में डा० कपिलदेव पाण्डेय का यह कथन द्रष्टव्य है—

"इसी प्रसंग में यह भी देख लेना अनुचित न होगा कि जैन और भागवत धर्म में प्रचलित क्रमशः २४ तीर्थंकर और २४ अवतार किस काल में प्रचलित हुए। इस दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध और जैन उल्लेखों की अपेक्षा वैष्णव चौबीस अवतारों की कल्पना अधिक परवर्ती विदित होती है। क्योंकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप में भी केवल दशावतारों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक १०, ११, १२, १४, २२ की संख्या भी अन्य पुराणों में मिलती है। परन्तु चौबीस अवतारों का स्पष्ट उल्लेख भागवत में ही मिलता है। श्रीमद्-भागवत का काल विद्वान् अधिक-से-अधिक छठी शताब्दी तक मानते हैं।"[2]

अवतारों की २४ संख्या के अतिरिक्त वह प्रभाव अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों की प्रधानता थी, क्षत्रियों की नहीं। अवतारों में क्षत्रियों को लेना जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव है। अवतारों के परिवार की कल्पना भी इन्हीं धर्मों का प्रभाव है।

किसी भी विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से पड़ता है। सूर्य की किरणें कहीं तो सीधी पड़ती हैं और कहीं वृक्षों के अन्तराल से। बौद्ध विचारधारा का प्रभाव अन्य मतों के अन्तरालों में होता हुआ भी भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है। नाथपन्थ पर बौद्ध मत का पर्याप्त प्रभाव है। यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। हिन्दी-साहित्य का साधारण पाठक भी कबीर पर बौद्ध पन्थ के प्रभाव से अपरिचित नहीं। कबीर ने बार-बार जो योग की चर्चा की है वह स्पष्ट रूप से बौद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव है। हठयोग के वर्णन में कबीर ने शरीर में सूर्य, चंद्र, गंगा, यमुना और सरस्वती की स्थापना की है।

१. वि० ध० द०, पृ० १३१
२. मध्य सा० अव०, पृ० २५

सूर्य जब चद्रमा से मिलता है तब अमृत की प्राप्ति होती है। यह भाषा और हठयोग-सम्बन्धी विचार कबीर ने बौद्ध सिद्धों से लिये हैं।

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने 'बौद्ध तथा अन्य भारतीय दर्शन' के पृष्ठ १०५४ पर श्री हरप्रसाद शास्त्री के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है—"बंगाल के न्यारा और सहजिया सम्प्रदाय, जो वैष्णव समझे जाते हैं, उत्तरकालीन बौद्धों के वंशज हैं।" स्पष्ट है कि किसी-न-किसी रूप में समस्त मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य बौद्ध धर्म से प्रभावित है। रही सन्त मत की बात, उसका सम्बन्ध तो विद्वानों ने श्रमण-परम्परा के साथ जोड़ा ही है। उनका जातिपाँति का खण्डन और शास्त्रीय ज्ञान के स्थान पर आत्मज्ञान की बात कहना बौद्ध परम्परा ही है। इन्हीं सब कारणों को ध्यान में रखते हुए श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने बौद्ध धर्म के प्रभाव को इन शब्दों में स्वीकार किया है, "निर्गुणिया सन्त बहुत-सी बातों में बुद्ध के खानदान में पड़ते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्तिवादिता, उनका फक्कड़पन, उनका सभी जातियों को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मन्दिर में नहीं हृदय में वास करता है ये सारी-की-सारी बातें बौद्ध धर्म की अच्छी और फिर बाद की बिगड़ी हुई परम्परा से निकली हैं। अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई नहीं हुआ होता।"[1]

तथ्य तो यह है कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म आपस में इतने घुल-मिल गये हैं कि वे मिलकर एक हो गये हैं। दोनों ने एक-दूसरे से बहुत लिया है तो एक-दूसरे को बहुत-कुछ भी दिया है। वैसे भी भारत के लिए बौद्ध धर्म कोई विदेशी धर्म नहीं था। यह एक सुधारवादी आन्दोलन था। महायान की उत्पत्ति तक इस पर भी ब्राह्मण धर्म का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ चुका था। इन कई सौ शताब्दियों ने बौद्ध धर्म की विशेषताओं को आत्मसात् कर लिया था। भारतवर्ष से उसके निष्कासित हो जाने या स्वतन्त्र रूप में उसके प्रभावशाली न रहने का एक प्रमुख कारण यही है। आचार्य विश्वबन्धु ने सन् १९३४ में टोकियो में हुए बौद्ध-सम्मेलन में भाषण करते हुए कहा था कि बौद्ध धर्म देश से निष्कासित हो गया, ऐसा मानना भ्रमपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि हिन्दू धर्म में उसका विलीनीकरण हो गया है—

The so-called disappearance of Buddhism from India is, therefore, only an illusion, Post-Buddhistic Hinduism has imbibed all the Lord Buddha and other great teachers of his system taught.[2]

भाव यह है कि जिसे हम भारत से बौद्ध धर्म का लोप हो जाना कहते हैं वह केवल भ्रम है। तथ्य तो यह है कि बुद्ध-काल के परवर्ती हिन्दू धर्म ने उन सभी

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १५५-५६

२. लार्ड बुद्ध एण्ड बुद्धिज़्म थ्रू हिन्दू आईज़, पृ० ३८

शिक्षाओं को अपने में समाविष्ट कर लिया है जो भगवान् बुद्ध या अन्य मतों के महान् उपदेशकों द्वारा दी गयी हैं।

इसी विषय में अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने गांधीजी के मत को इन शब्दों में उद्धृत किया है—

It is my definite opinion that the essential part of teachings of Buddha now forms an integral part of Hinduism.[१]

अर्थात्—मेरा यह निश्चित मत है कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का सार हिन्दू धर्म का अविभाज्य अंग बन गया है।

सर चार्ल्स इलियट का भी मत यही है कि भारत में बौद्ध धर्म नष्ट नहीं हुआ, वह हिन्दू धर्म के साथ मिलकर एक हो गया—

Yet in reviving the disappearance of Buddhism from India we must remember that it was absorbed, not expelled. The result of the mixture is justly called Hinduism, yet both in usages and beliefs it has taken over much that is Buddhist and without Buddhism it would never have assumed its present shape.[२]

अर्थात् "जब हम भारतवर्ष से बौद्धधर्म के लोप हो जाने की बात कहते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह यहाँ से निष्कासित नहीं हुआ अपितु यहाँ के धर्म में विलीन हो गया। यह ठीक है कि बौद्धधर्म और हिन्दू धर्म का यह मिश्रित रूप हिन्दू धर्म ही कहलाता है; पर यह भी सच है कि हिन्दू धर्म ने अपने व्यवहार और सिद्धान्त क्षेत्र, दोनों ही में क्षेत्रों में बौद्धधर्म से बहुत-कुछ लिया है। उसका यह वर्तमान रूप बौद्ध धर्म की ही देन है।"

अन्यान्य संस्कृतियों की देव-भावना का भारतीय देव-भावना पर प्रभाव

विश्व की प्राचीनतम मानी जाने वाली संस्कृतियों की देव-भावना का पूर्ण अध्ययन स्वयं में एक इतना बड़ा शोध-कार्य है कि उस पर स्वतंत्र रूप से अनेक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। अतः उन सबके विवरण में न जाकर हम यहाँ केवल पाँच देशों की देव-भावना पर विहंगम दृष्टिपात करके ही संतोष कर लेंगे।

यूनान का स्थान न केवल यूरोप में ही अपितु विश्व में भी अनेक कारणों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। यहाँ के जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यहाँ भी देव-भावना का प्राधान्य उसी रूप में मिलता है जिस रूप में वह तत्कालीन

१. लार्ड बुद्ध एण्ड बुद्धिज्म थ्रू हिन्दू आईज, पृ० ३८-३९
२. हिन्दू० बुद्धि०, भाग २ पृष्ठ १३१

अन्य देशों में प्रचलित था। देवी-देवताओं में विश्वास करना इस देश के जीवन का अंग था। यों तो देवी-देवताओं की संख्या अनेक थी पर मोटे तौर पर उन्हें सात वर्गों में विभाजित किया गया है : १. आकाश-स्थानीय (Sky-gods), २. पृथ्वीस्थानीय (Earthgods), ३. पशुदेवता (Animalgods), ४. अन्तरालनिवासी (Sub-tereneangods), ५. पूर्वज देवता या वीर देवता (Ancestor or Hero gods), ६. उत्पादक देवता (Fertility-gods), ७. विश्व देवता (Olympians)।

यद्यपि अधिकांश देवताओं का उत्पत्ति-स्थान पृथ्वी है तथापि भारत के समान यहाँ का सर्वप्रमुख देवता आकाश का देवता है और इसका नाम ज्यूस (Zeus) है। यद्यपि वहाँ इससे पुराने देवता विद्यमान थे पर यह उन्हें विस्थापित कर सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सका। इसने अपने भाइयों के साथ मिलकर समस्त विश्व को आपस में बाँट लिया। ज्यूस ने आकाश को जीता, पोसिडोन ने समुद्र को और हेड्स (Hades) ने पृथ्वी को। समस्त देव-वर्ग में वहाँ ज्यूस की प्रधानता है और इसका स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि कुछ स्थानों पर यह उनका कहना भी मानता है पर कुल मिलाकर यह उनका शासक है। आरम्भ में यह आकाश और पर्वतों का देवता है, बादलों को विवश कर यह उससे वर्षा करवाता है, पर बाद में यह युद्ध का भी देवता बन जाता है। ट्राय का मोर्चा लगना चाहिए या नहीं, यह इसपर वाद-विवाद करता है और अन्त में युद्ध का निश्चय करता है। इसके अलावा यह नैतिकता का रक्षक भी है। यह असावधान व्यक्ति को दण्डित करता है तथा परिवार की सम्पत्ति और सीमाओं की रक्षा करना भी इसी का कार्य है।

पशु देवता

जैसा कि स्वाभाविक था, यूनान में भी देवता और अर्द्धदेवता के रूप में कितने ही पशुओं की पूजा होती थी। शक्ति और वीर्यवत्ता के कारण वृषभ पवित्र माना जाता था। प्रायः वह ज्यूस या डायोनिसस के प्रतीक के रूप में गृहीत होता था। उत्पादन की शक्ति के कारण शूकर भी पवित्र था और इसका सम्बन्ध डेमेटर से था। सर्प के देवता होने का कारण चाहे उसका मृत्यु से परे होना रहा हो या उसकी उत्पादन-शक्ति रही हो, पर देवता-रूप में उसकी पूजा होती थी, इसमें सन्देह नहीं। यूनानी कला में हर्मेस और अपोलो की मूर्तियों के साथ सर्प चित्रित किया जाता था और घर तथा मन्दिर का रक्षक समझा जाता था। यह मृत व्यक्तियों की कब्रों के इर्द-गिर्द घूमता रहता था। इसलिए उस समय यह विश्वास किया जाता था कि यह मृत व्यक्ति की आत्मा है।[1]

---

१. दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १७६

लिंग-पूजा

जिस प्रकार आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में लिंग-पूजा प्रचलित थी, उसी प्रकार यूनान में भी प्रचलित थी। प्रकृति में सबसे अधिक भयावह शक्ति मृत्यु की है और उससे छुटकारा पाने के उपायों में से एक पुनरुत्पादन भी है। लिंग उत्पादन का प्रतीक है। अन्य देशों के निवासियों के समान यूनानी भी स्त्री और पुरुष में निहित इस पुनरुत्पादन-शक्ति की पूजा करते थे। डेमेटर, डायोनिसस, हरमेस और अरटेमिस की पूजा के विधान में वहाँ लिंग की पूजा होती थी।[१]

बहुदेववाद

ऊपर हमने जिन अनेक पुरुषाकार देवताओं और पशु-देवताओं की चर्चा की है उससे यह तो स्पष्ट हो चुका है कि वहाँ बहुदेववाद प्रचलित था। यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि उस समय हर परिवार का देवता पृथक्-पृथक् था, उसके लिए पवित्र अग्नि आठों याम जलती रहती थी, भोजन से पूर्व उसके लिए खाद्य सामग्री तथा शराब का चढ़ाया जाना अनिवार्य था। जब किसी के साथ नगरनिवासियों का युद्ध होता था तो नगरदेवता की मूर्ति सेना के सामने रहती थी और उसके परामर्श के बिना कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जाता था। वास्तविक बात तो यह है कि ये युद्ध राजनीतिक ही न होकर धार्मिक भी होते थे। एक नगर पर दूसरे नगर की विजय उसी समय पूर्ण मानी जाती थी जब कि विजित नगर के देवता बन्दी बनाकर विजेता के नगर में पहुँचा दिये जाते थे। वास्तविकता यह है कि उन दिनों पृथ्वी पर और जल में सैकड़ों छोटे-छोटे देवता थे, यहाँ तक कि वृक्षों, जंगलों और जंगली अग्नि के भी अलग-अलग देवता थे। सब स्थानों पर देवताओं की ही भरमार थी।

There is not one empty chink into which you could push the spike of a blad of corn.[२]

भाव यह है कि वहाँ एक ऐसा छोटा-सा झरोखा या ऐसी दरार भी नहीं थी जिसमें अन्न की बाल का भी प्रवेश हो सके।

जितने विभिन्न देवता थे उतने ही उनकी पूजा के प्रकार भी प्रचलित थे। इन पूजाविधियों में पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी। पिता घर का पुरोहित होता था और मुख्य न्यायाधीश राज्य का। जहाँ मिस्र आदि देशों में पुरोहितों का प्रभुत्व था, वहाँ यूनान में पुरोहितों पर राज्य का प्रभुत्व था। मन्दिरों को मिलने वाली चल और अचल सम्पत्ति की जाँच राज्य की ओर से होती थी। श्री बिल डयूराँ के शब्दों में मन्दिर और राज्य एक ही थे--

---

१. दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १७८

२. वही, पृ० १७८

In Greece Church and the State were the same.[1]

यहाँ इतना और कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जीवन में बाह्य विधान की प्रधानता अधिक थी, आचार की कम। सही ढंग से किये गये बाह्य विधानों पर अधिक बल था, शुद्ध आचार पर कम। धीरे-धीरे बाह्य शुद्धि को लाँघकर आन्तरिक शुद्धि पर भी ध्यान गया।

मिस्र

इस देश में देव-भावना का प्राधान्य उसी रूप में था। वहाँ शासन, साहित्य और कला सभी में धर्म-प्रभाव एकदम स्पष्ट है। यहाँ भी देवता मानवाकार' में चित्रित किये गये हैं या यों कहिये कि कुछ अधिक ऊँचे उठे हुए पुरुष या स्त्रियाँ ही देवी-देवता बन गये थे। साधारण मानवों के समान ये देवी-देवता हाड़-मांस के बने थे, उन्हें भूख-प्यास लगती थी, वे प्यार भी करते थे, घृणा भी करते थे, बढ़ते थे और मृत्यु का ग्रास होते थे। उदाहरण के लिए ओसीरिस को लिया जा सकता है। वह लाभदायक नील नदी का देवता था, जिसकी मृत्यु और जन्म का उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता था। यही देवता नदी के बढ़ने और घटने का प्रतीक था और सम्भवतः पृथ्वी की वृद्धि और क्षय का भी प्रतीक यही था।[2]

पूजा पाने वाले देवताओं में सबसे पुराना देवता चन्द्रमा था। सूर्य भी महत्त्व-शाली देवता था और सम्भवतः धार्मिक महत्त्व में सर्वोपरि था। इसे रा (Ra) या री (Re) कहते थे। इसका रूप चमकीला था और यह अपनी किरणों से पृथ्वी को उष्णता प्रदान करता था तथा इसे अधिक उर्वरा बनाता था। कभी-कभी इसका वर्णन उस गो-वत्स के रूप में होता था जो प्रतिदिन ऊषाकाल में नवीन जन्म धारण करता है और वृद्ध व्यक्ति के समान थका-माँदा-सा सायंकाल के समय पश्चिम दिशा रूपी कब्र में चला जाता है।[3] यह श्येन (felcon) का भी रूप धारण करता था। यह प्रतिदिन आकाश में उड़ता था और अपने क्षेत्र का निरीक्षण करता था। यह मिस्र के धर्म और राज्य का प्रतीक था। उत्पादिका शक्ति का स्रोत और केन्द्र भी यही था। धरती को बंजर और रेतीली देखकर इसने ही अपनी किरणों से उसे उर्वरा बनाया और फिर हरियाली छा गयी। प्रथम मानव सूर्य की ही सन्तान था।[4]

इसके अतिरिक्त वहाँ अन्य नक्षत्रों को भी देवताओं के रूप में माना जाता था। जिस प्रकार भारतवर्ष में राहु और केतु सूर्य और चन्द्रमा को ग्रस लेते हैं उसी प्रकार वहाँ साहू देवताओं को दिन में तीन बार निगलता था। कभी-कभी कोई

---

१. दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १९२

२. स्टो० सिवि० भाग, १, पृ० २००

३. दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १९८

४. वही पृ० १९८

आसुरी शक्ति चन्द्रमा को ग्रस लेती थी पर मनुष्यों की प्रार्थना तथा अन्य देवताओं के क्रोध के कारण उसका (चन्द्रमा का) उद्धार शीघ्र ही हो जाता था। चन्द्र-ग्रहण का जैसा वर्णन हमारे देश में है वैसा ही लगभग वहाँ था।[१] यहाँ की देव-भावना की एक विशेषता यह है कि यहाँ आरम्भ में स्त्री देवता का प्राधान्य था। उत्पादिका शक्ति की प्रतीक होने से ईसिस (Isis) उच्च मातृशक्ति (The Great Mother) के रूप में पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। पृथ्वी तथा अन्य प्राणधारियों की उत्पादिका यही है। यहाँ की पौराणिक कथा के अनुसार गेहूँ और जौ का पता सबसे पहले उसी को लगा था और उसी ने यह भेद अपने पति ओसिरिस (Osiris) पर प्रकट किया था।[२]

पशु-देवता

पशुओं को देवता मानकर पूजा करने की प्रथा यहाँ भी प्रचलित थी। भारत में जिस प्रकार भगवान् के कच्छप, कूर्म और वराह आदि पशु-रूपों में अवतार लेने की धारणा प्रचलित थी उसी प्रकार मिस्र में भी अनेक देवताओं की पशु-रूप में पूजा होती थी। इसी समय वहाँ सर्वाधिक जनप्रिय देवता पशु देवता ही था। श्री बिल ड्यूराँ के अनुसार वहाँ के निवासियों की दृष्टि में भेड़ और वृषभ विशेष रूप से पवित्र थे क्योंकि ये दोनों ही प्रजनन-शक्ति के प्रतीक थे।[३] उनकी संख्या बहुत अधिक थी और वहाँ के देव-वाद में पशुओं की भरमार थी। प्रत्येक काल में वहाँ किसी-न-किसी रूप में वृषभ, मकर, श्येन, गौ, भेड़, मेढ़ा, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा, गीदड़ और सर्पादि की पूजा होती थी। इनमें से कुछ को वहाँ मन्दिरों में इतनी ही स्वतन्त्रता के साथ घूमने का अधिकार था जितना कि गौ को भारत में उपलब्ध है। पशुओं का वहाँ इतना प्राधान्य था कि जब देवता मानव बन गये तब भी उनका पशु-रूप एकदम नष्ट नहीं हो गया। ऐमन (Amon) की पूजा बत्तक (Goose) और राम के रूप में होती रही। सूर्य Ra की वृषभ रूप में, ओसिरिस (Osiris) की वृषभ या राम (Ram) के रूप में, सेबेक (Sebek) की मकर की रूप में, होरस (Hores) की श्येन या फेलकन (felcon) के रूप में। कभी-कभी यह भी होता था कि इन पशु देवताओं को सम्मान के रूप में औरतें भी भेंट रूप में दी जाती थीं।[४]

बेबीलोनिया

यहाँ भी देव-भावना प्रायः उसी प्रकार की है। वहाँ देव-भावना का इतना प्राधान्य था कि राजा स्वतन्त्र शासक न माना जाकर नगरदेवता का प्रतिनिधि मात्र

---

१. स्टो० सिवि०, भाग १, पृ० १६८
२. वही, पृ० २००
३. वही, पृ० १६६
४. वही, पृ० १६६

समझा जाता था। वहाँ जो कर लिया जाता था, वह देवताओं के नाम पर लिया जाता था तथा वह धन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मन्दिर के कोश में चला जाता था। पुरोहित वर्ग को पर्याप्त अधिकार-प्राप्त थे और यदि राजा के अधिकार सीमित थे तो उसका एक कारण पुरोहित वर्ग का शक्तिसम्पन्न होना भी था। व्यापारी वर्ग जो धनोत्पादन करता था उसका उपयोग पुरोहित वर्ग करता था। श्री बिल ड्यूराँ के शब्दों में वहाँ की स्थिति इस प्रकार थी :

It was fated that the merchants should make Babylon and that the priests should enjoy it.[1]

भाव यह है कि भाग्य को यही स्वीकार था कि व्यापारी बेबीलोन को समृद्ध बनायें और पुरोहित उसका उपयोग करें।

राजा का राज्याभिषेक भी वहाँ तब तक पूर्ण नहीं माना जाता था जब तक उसे पुरोहित द्वारा शासनाधिकार न मिल गये हों। नगर में राजा का जो जुलूस निकलता था उसमें उसकी वेषभूषा पुरोहित की वेशभूषा हुआ करती थी जिसका अर्थ यह प्रकट करना था कि मन्दिर और राज्य एक ही हैं।

देव-भावना की प्रधानता के कारण ही देव-मन्दिरों का बड़ा महत्त्व था। मन्दिर अत्यधिक सम्पन्न थे। धनिक वर्ग की ओर से चढ़ावे और दान के रूप में जो कुछ मिलता था वह तो मिलता ही था, राजा की ओर से भी मन्दिरों के लिए जागीरें लगी रहती थीं। यदि सेना कहीं विजय प्राप्त करती थी तो उसकी लूट का एक बहुत बड़ा भाग मन्दिरों को मिलता था।

पुरोहित-वर्ग इस अतुल सम्पत्ति का स्वयं उपभोग करने में असमर्थ था अतः वह उस सम्पत्ति को व्यापार में लगा देता था। उस समय यह वर्ग अपने देश का सबसे बड़ा जमींदार, निर्माता और धनी साहूकार था। न केवल उसके पास जमीन-जागीर ही थी अपितु उसके पास दास भी प्रचुर संख्या में थे। वे दास किराये पर दूसरों को दिये जाते थे और मन्दिरों की ओर से चलाये गये व्यापारों में काम करते थे। इनमें उदारता की एकदम कमी न थी। इनके ब्याज की दर अपेक्षाकृत कम होती थी और कभी-कभी ये लोग बिना ब्याज के भी रुपया दिया करते थे।

यहाँ के देवता भी सामान्य आदमियों से पृथक् नहीं थे, उनके आचरण मानवों के समान थे। उनमें से अधिकांश इसी धरती पर बने मन्दिरों में रहते थे। वे छककर भोजन करते थे और व्यस्त रहने वाले बेबीलोन-निवासियों के घर पधार कर उनकी स्त्रियों में सन्तानोत्पत्ति का कार्य भी करते थे।[2]

---

१. स्टोरी आव सिविलिज़ेशन, पृ० २३४

२. वही, पृ० २३४

बहुदेववाद

यहाँ भी ऋग्वैदिक भारत के समान बहुदेववाद प्रचलित था। यहाँ के लोगों की कल्पनाशक्ति अत्यधिक उर्वर थी। उनकी आवश्यकताएँ असीम थीं और उनकी पूर्ति के लिए उन्हें अनन्त देवों की सहायता की अपेक्षा रहती थी। ईसा-पूर्व नवम शताब्दी में वहाँ देवताओं की जो गणना की गयी थी उसमें उनकी संख्या ६५,००० थी।[१] प्रत्येक नगर के अपने पृथक्-पृथक् देवता थे जैसा कि आज भी है। उस समय के ग्राम और नगर किसी सर्वोच्च देवता की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्थानीय देवताओं की पूजा किया करते थे।

रोम-सभ्यता की देव-भावना

यहाँ की देव-भावना की कथा भी वैसी ही है। जिस प्रकार अन्य अधिकांश देशों में सर्वाधिक महत्त्व आकाश के देवता का था, यहाँ उसी प्रकार पृथ्वी देवी का था। दिसम्बर, जनवरी और मई में पृथ्वी-सम्बन्धी उत्सव मनाये जाते थे।[२] वैसे इनके यहाँ राष्ट्रीय देवों में सर्वप्रमुख स्थान जुपिटर (Jupitor) का था। वह सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश था, गड़गड़ाहट करने वाला वज्र था और उत्पादन में वृद्धि करने वाली वर्षा भी उसी से होती थी। वर्षा के न होने पर धनी परिवारों की स्त्रियाँ पर्वत पर स्थित जुपिटर के मन्दिर में नंगे-पैर पूजा करने जाया करती थीं और वर्षा के लिए प्रार्थना किया करती थीं। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि यह जुपिटर शब्द संभवतः द्युस पिटर का अपभ्रंश है, जिसका मूल संस्कृत के द्यौस पितर शब्द में ढूंढ़ा जा सकता है। इस देवता की शक्ति में उन्हें बड़ा विश्वास था। उनकी दृढ़ धारणा थी कि यह देवता शत्रुओं को हरा देगा इसलिए इसके दरवाजे उसी समय खुलते थे जब किसी बाहरी शत्रु का आक्रमण होता था।

बहुदेववाद

यहाँ भी एक देवता की पूजा न होकर अनेक देवी और देवताओं की पूजा होती थी। उस समय पृथ्वी माता (Mother Earth), बोना दे (Bona Dee) जो औरतों और खेतों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि करती थी, पौमौना (Pomana) जो बगीचों का देवता था, फौनस (Founes) जिसका सम्बन्ध पशुओं से था तथा पेलस देवताओं की पूजा होती थी। खेतों की सीमा बनानेवाले पत्थरों और वृक्षों के भी अलग-अलग देवता थे। देवों के साथ देवियाँ भी थीं। जूनो रीजिना (Juno Regina) स्वर्ग की देवी थी और इसका विशेष सम्बन्ध नारीत्व, विवाह और सन्तानोपादन से था, मिनर्वा (Minerva) बुद्धि या स्मृति की देवी थी। वीनस (Venus) अभिलाषाओं

---

१. स्टो० सिवि०, पृ० २३४
२. सीज़र एण्ड क्राइस्ट, पृ० ५९

से सम्बन्ध रखनेवाली देवी थी। दियाना (Diana) चन्द्रमा, नारी, बच्चे की उत्पत्ति, शिकार और जंगल की देवी थी। ओप्स (Ops) संपत्ति की देवी थी और बैलोना (Bellona) युद्ध की देवी थी।

एक विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि यहाँ के देवता मानवाकार न होकर भवात्मक या अमूर्त अधिक थे। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य, युवावस्था, स्मृति, भाग्य, प्रतिष्ठा, आशा, भय और कौमार्य आदि को लिया जा सकता है।[१]

चीन

इस देश का वातावरण भी देव-भावना से भरपूर रहा है। यहाँ पूर्वजों की, प्रकृति की, स्वर्ग तथा पृथ्वी आदि की पूजा होती थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य के कल्याण के लिए इनका सहयोग आवश्यक है। यह भी विश्वास था कि पर्वत और नदी आदि प्राकृतिक तत्त्वों में शक्तिशाली आत्माओं का निवास है और वे पूजा की अधिकारिणी हैं। बहुत से नक्षत्र भी—जिनमें उनसां प्रमुख है—पूजा के अधिकारी समझे जाते थे। इन देवों को बलि भी दी जाती थी। सभी नगरों में नगर-देवता का मन्दिर होता था। उस देवता के दो सहायक होते थे, कभी उसकी पत्नी, रखैल और पुत्र सहायक के रूप में रहते थे और कभी-कभी अन्य देवता भी। नगर-देवता की मूर्ति यद्यपि वहीं रहती थी तो भी वे समझते थे कि अन्य मैजिस्ट्रेटों के समान वह भी बदलता रहता था। नगर के जीवन में नगर-देवता का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। सभी अधिकारी नियमित रूप से मन्दिर में जाया करते थे। पतझड़ और वसन्त ऋतु में, वर्ष में दो बार उसका जुलूस निकलता था। देवता की इस पूजा के बदले में नगर-निवासी स्वाभावतः यह आशा करते थे कि वह अनिष्ट से उनकी रक्षा करेगा। यह भी विश्वास किया जाता था कि वह सब-कुछ जानता है, नगरनिवासियों के सभी कामों को देखता और स्वर्ग में सूचना देता है।

बहुदेववाद

देवताओं की संख्या अनेक थी और अपने समकालीन अन्य देशों के समान वहाँ भी बहुदेववाद प्रचलित था। ऊपर जिस नगरदेवता का उल्लेख किया गया है उसके अलावा वहाँ पृथ्वी और फसल के देवता भी थे। साहित्य का देवता इनसे पृथक् था और यह देवता बड़ा ही जन-प्रिय था। वहाँ के निवासियों का विश्वास है कि यह देवता उरसामेजर नामक स्थान पर सचमुच ही रहा है। सैकड़ों मन्दिरों में इस देवता की पूजा होती थी।[२] एक अन्य देवता भी वहाँ बड़ा प्रिय था और वह था युद्ध का देवता। जिस प्रकार राज्य के असैनिक कर्मचारियों में कनफ्यूशस प्रिय था

१. सीज़र एण्ड क्राइस्ट, पृ० ६०
२. दि चायनीज : देयर हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृ० ६२५

उसी प्रकार सैनिक अधिकारियों में यह देवता प्रिय था। इस सबके अलावा रसोई, अग्नि, संपत्ति, औषधि, चेचक आदि सबके अपने अलग-अलग देवता थे। इस बहुदेव-वाद की चर्चा करते हुए श्री कैनेथ स्काट लैटोरट ने कहा है—

Indeed, more than one foreigner observer has declared animism the basis characteristic religion of Chinese. They have also contained much of polytheism—a polytheism acuminated by the state cult and Buddhism and Tuoism but the list of deities is much larger than the sum of all these of other pantheous.[१]

भाव यह है कि वास्तव में अनेक विदेशी पर्यवेक्षकों ने घोषणा की है कि चीन के धर्म का आधार आत्मवाद है। इसमें बहुदेववाद का अंश पर्याप्त है जिसमें राज्य-मत, बौद्ध धर्म और ताओ-वाद के कारण अधिक नोकीलापन (तीक्ष्णत्व) आ गया है। अन्य देव-परिवारों की अपेक्षा यहाँ के देवों की संख्या अधिक विशाल है।

ईसाई मत

बेवर और जार्ज ग्रियर्सन जैसे यूरोपीय विद्वानों के मत में भारतीय देव-भावना पर ईसाई मत का भारी प्रभाव है। उनका कथन है कि ईसा की दूसरी शती में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण में बस गया था। ये ईसाई अपनी अनेक बातें छोड़कर हिन्दुओं की प्रथानुसार सेंट थामस पर्वत पर मंदिर बनाकर ईसा की पूजा करने लगे थे। इनकी इस भक्ति-भावना का प्रभाव आसपास जन-समुदाय पर भी पड़ा और उसका प्रतिफलन दक्षिण के आलवार सन्तों में हुआ। आरम्भ के ये आलवार सन्त निम्न जाति के थे अतः इनके माध्यम से ईसाई मत का प्रचार निम्न वर्ग में ही हुआ। जब बाद में ब्राह्मण-वंशोत्पन्न रामानुज ने यमुनाचार्य से दीक्षा ली तब उनके द्वारा उच्च वर्ग के व्यक्ति भी इस ओर आकृष्ट हुए। इनके अनुसार वैष्णवों की दास्यभक्ति, प्रसाद और पूतना-स्तन-पान ईसाइयत की देन है। पूतना बाइबिल की वर्जिन है, प्रसाद लव-फीस्ट है और दास्य भक्ति पाप-पीड़ित मान-वता का क्रन्दन है। इनका यह भी कथन है कि कृष्ण क्राइस्ट का ही रूपान्तर है। गोमानीज और बंगाली प्रायः कृष्ण शब्द को क्रिस्ट या क्रिस्टो के रूप में उच्चरित करते हैं। इनका यह भी मत है कि कृष्ण का बालरूप सीरिया से आयी हुई आभीर जाति की देन है।

डा० भण्डारकर का मत भी इसी मत से मिलता-जुलता है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस कल्ट्स' में कृष्ण,

---

१. दि चायनीज : देयर हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृष्ठ ६४६-४७

विष्णु और नारायण के सम्बन्ध में विस्तार में साथ विवेचन किया है। इनका कथन है कि यद्यपि महाभारत-काल में वासुदेव, कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे, पर गोपाल कृष्ण का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महाभारत के नारायणीय मत में आता है और न पातंजल महाभाष्य में। यहाँ नारायणीय वासुदेव के अवतार का उल्लेख है, कंस-वध की चर्चा भी है, पर गोपाल कृष्ण का उल्लेख नहीं। वहाँ गोपालकृष्ण द्वारा मारे गये राक्षसों का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी ग्रन्थ के शान्तिपर्व में भीष्म के मुख से जो कृष्ण की स्तुति करायी गयी है उसमें गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है। गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख हमें हरिवंशपुराण में मिलते हैं। डा० भण्डारकर के अनुसार इसका रचना-काल ईसवी-पश्चात् तीसरी शती है। इस प्रकार महाभारत में गोपाल कृष्ण का उल्लेख न होने से वे कृष्ण के इस रूप को परवर्ती मानते हैं। उनका कथन है कि बालकृष्ण का रूप इस घुमक्कड़ आभीर जाति की देन है जो बाहर से आयी थी और जिसने मधुपुर से लेकर आनर्त और अनूप तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था। इस आभीर जाति के वंशज ही आजकल गूजर, जाट और अहीर के नाम से पुकारे जाते हैं, ऐसा इन विद्वानों का मत है। डा० भण्डारकर भी कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर मानते हैं।

वेबर के मत का खण्डन बहुत सीमा तक श्री ए० बी० कीथ ने ही कर दिया है। वेबर के तर्क का आधार श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के वे अनुष्ठान हैं जिन्हें अब सभी ख्रिष्ट-पूर्व का मानते हैं। रही बात क्रिष्टो या क्रिष्ट शब्द से कृष्ण शब्द के बनने की, उसकी तर्क-विरुद्धता और असंगतता अब सभी स्वीकार कर चुके हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह संभव नहीं। फिर कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर क्यों माना जाय? क्या निरर्थक जिद करने वाले इन व्यक्तियों से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में यह प्रश्न नहीं किया जा सकता—"क्या यह संभव नहीं कि सेंट लूक लिखित सुसमाचारों में आभीरों के बालदेवता का प्रभाव पड़ा हो जो भारतवर्ष में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के रूप में प्रख्यात हो चुके थे?"[1] कृष्ण शब्द हमारे यहाँ अतिप्राचीन काल से चला आ रहा है। वेदों में यह शब्द मिलता है, उपनिषदों में आंगिरस कृष्ण की चर्चा है और महाभारत में वासुदेव कृष्ण की विष्णु और नारायण के साथ एकता स्वीकार हो गयी है। इतने प्राचीन शब्द को क्राइस्ट का रूपान्तर मानने का आग्रह दुराग्रह ही है। पाणिनि का काल ५वीं शती ईसवी के पूर्वमध्यभाग का माना जाता है। इस समय न केवल कृष्ण का नाम ही प्रचलित था, अपितु उस समय तक वासुदेव कृष्ण और विष्णु की एकता भी स्थापित हो चुकी थी। पाणिनि की रचना—'अष्टाध्यायी'—में कृष्ण का उल्लेख भगवान् के रूप में हुआ है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यही मत है: "पश्चिमी विद्वान् भी पाणिनि के इस उल्लेख को भागवत धर्म की प्राचीनता में

१. सूर-साहित्य, पृ० १०

प्रमाण मानते हैं। कीथ ने पंतजलि के—'संज्ञा चैषा तत्रभवतः' कथन को यथार्थ मानते हुए लिखा है कि निश्चय ही पाणिनि के समय में वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। ग्रियर्सन ने पाणिनीय उल्लेख के आधार पर भागवत धर्म की प्रानीनता को निर्विवाद कहा है।"[१]

यह भी स्पष्ट है कि पंतजलि के समय से पूर्व कृष्ण की जीवन-लीलाओं का विकास हो चुका था जैसा उन्होंने लिखा है—जघान कंसं किल वासुदेवः (३।२।११ वा० २)। पंतजलि ने कृष्ण के कंस-वध का उल्लेख किया है—कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति बलिबंधमाचष्टे बलिं बन्धयति (३।१।२६ वा० ६) में पतंजलि ने यह भी लिखा है कि ये दोनों आख्यान उन घटनाओं के सम्बन्ध में थे जो बहुत पहले घटित हो चुकी थीं, किन्तु अभिनेता प्रत्यक्ष रूप में उन लीलाओं को प्रदर्शित कर दिखाते थे।[२]

हरिवंश पुराण, जिसमें कृष्ण के बालरूप की चर्चा है, ईसवी-पश्चात् तीसरी शताब्दी की ही रचना है, इससे पूर्व की नहीं, इसमें भी कोई निश्चित आधार नहीं। जिस लैटिन 'दीनार' शब्द के आधार पर डा० भण्डारकर इस पुराण का काल तीसरी शती (ईसवी-पश्चात्) मानते हैं उसका प्रयोग यहाँ तीसरी शती से पूर्व होने लगा था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"आधुनिक शोधों से जाना गया है कि "दीनार" शब्द ईसवी सन् के पूर्व ही इस देश में पहुँच चुका था। इस-लिए कहा जा सकता है कि हरिवंशपुराण का काल और भी पुराना मानने में 'दीनार' शब्द बाधक नहीं होगा। यदि ऐसा माना जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि आभीरों के बालदेवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थ में स्थान पाना निश्चय ही यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसवी सन् से पुराना है।"[३]

अगर किसी प्रकार हरिवंशपुराण का काल तीसरी शताब्दी ही माना जाय तो भी कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर मात्र सिद्ध नहीं किया जा सकता। ग्रियर्सन के ही अनुसार ईसाइयों का सर्वप्रथम आगमन मद्रास में दूसरी शती में हुआ। क्या एक ही शताब्दी में उनके धर्म का इतना अधिक प्रचार हो गया कि समस्त वातावरण में एकदम ही परिवर्तन हो गया?

ऐसी कौन-सी जादू की छड़ी उनके हाथ में थी कि जिसके छूते ही नवीन लोक का निर्माण हो गया? जिस देश की अपनी एक सुसम्पन्न सभ्यता थी, जिसके दार्श-निक सिद्धान्तों की उड़ान को विदेशी विद्वान् भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हों वह एक ही शताब्दी में एक नवोदित धार्मिक विचारधारा से इतना प्रभावित हो जायेगा, यह किसी भी प्रकार विश्वसनीय नहीं लगता।

हरिवंश के अलावा भी अन्य ऐसे बहुत से प्रमाण हैं जिनके द्वारा बाल कृष्ण

---

१. ज० रा० ए० सो०, पृ० ८४२ (सन् १६०८)

२. पा० का० भा०, पृ० ३५३-५४

३. सूर-साहित्य, पृ० ६

और गोपाल कृष्ण अस्तित्व ईसवी सन् से पूर्व में सिद्ध किया जा सकता है। भास के 'बालचरित'—'दूतवाक्य'—'दूतघटोत्कच'—आदि नाटकों में कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन उसी रूप में पाया जाता है जिस रूप में बाद में भागवत आदि पुराणों में पाया जाता है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार भास का काल ईसवी-पूर्व ५३-७१है और वे काण्व वंशी राजा नारायण के सभा-कवि थे। कालिदास द्वारा उनका उल्लेख होने से उनका कालिदास से पूर्ववर्ती होना तो सिद्ध ही है। इन सबके अतिरिक्त जोधपुर के निकट मांडोर ग्राम में एक ऐसा स्तम्भ पाया गया है जिस पर यमुना कदम्ब पर श्रीकृष्ण, वस्त्रहरण और नग्न गोपिकाओं का चित्रण है। श्री भाण्डारकर के अनुसार इसका काल ईसवी सन् चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। ईसवी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में कृष्ण की केलि-कथा का प्रसिद्ध हो जाना क्या कृष्ण के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता? क्या इससे वे सब तर्क-जाल छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते, जिनका उपयोग कृष्ण को काइस्ट का रूपान्तर मात्र सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है?

कुछ लोगों का विचार है कि आभीर नामक जाति सीरिया—सेण्ट्रल एशिया—से आयी थी और बालदेवता की पूजा उसी की देन है। श्री केनेडी ने इस विषय की विस्तृत विवेचना करते हुए कहा है कि बाल कृष्ण का खेल-ही-खेल में असुरों का नाश कर देना, चक्र या धनुष की आवश्यकता का न होना और वंशीवादन, ये भारतीय समाज के लिए नवीन बातें हैं। यह मुरली गुर्जरों और अहीरों की विशेषता है। यह घुमक्कड़ जाति है, कृषि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। कृष्ण कंस के बुलाने पर जब मथुरा जाते हैं तो ग्वाल साथ नहीं जाते। इसी प्रकार के अन्य बहुत से तर्कों के आधार पर वे कृष्ण को बाहर से आयी किसी घुमक्कड़ जाति का देवता सिद्ध करना चाहते हैं।[१] यह जाति कौन-सी है, इसकी विवेचना करते हुए उन्होंने गूजरों या गुर्जरों का नाम लिया है। उनका कहना है कि ब्रज में जाटों और गूजरों की प्रधानता है। इनमें से जाट कृषक हैं और गूजर गौचारण करने वाले। विष्णुपुराण में गौचारण करने वाले जिन व्यक्तियों का उल्लेख है उनकी सब विशेषताएँ गूजरों में मिलती हैं।[२] ये गुर्जर विदेशी हैं, बाहर से आये हैं। अचानक ही छठी शती में एक शक्तिशाली जाति के रूप में चमकते हैं। इससे पहले इनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता, इसकी व्याख्या तभी सम्भव है जब इन्हें विदेशी मान लिया जाय। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

The sudden appearance among them of a people so great and so powerful as the Gurjars can only be explained on the hypothesis of a foreign migration. These Gurjars, who worshipped neither

१. जे० रा० ए० सो०, पृ० ९८१-२ (सन् १९०७)
२. वही, पृ० ९८३-४ (सन् १९०७)

shiva nor Buddha, could not have been of Indian origin; and their non-worship their waggons, and to some extent the polyandry, all point to Central Asia.[1]

अर्थात् उनके बीच में अचानक ही एक महान् और शक्तिशाली गुर्जर जाति का आ जाना तभी स्पष्ट रूप में समझ में आ सकता है जब गुर्जरों को बाहर से आया हुआ माना जाय। यह गुर्जर जाति न तो शिव की उपासक थी और न बुद्ध की, अत: इसे भारतीय मानना सम्भव नहीं। उनका इस प्रकार पूजा न करना, सवारी में काम आनेवाला चार पहियों वाला छकड़ा, एक पत्नी के पति होना, ये सभी बातें यह सूचित करती हैं कि यह जाति मध्य एशिया से आयी थी।

ये गूजर अपने साथ बाहर से जिस बाल देवता को लाये थे, वह निश्चित रूप से ईसाई धर्म की देन है, ऐसा इनका मत है। श्री केनेडी का कहना है कि जो जातियाँ उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत पर आक्रमण करती थीं, उन पर ईसाई मत का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था। वहाँ जो ब्राह्मण रहते थे वे भी उस प्रभाव से अछूते नहीं थे और इस प्रकार ईसाई मत का प्रभाव भारत पर पड़ना अनिवार्य था—

It can not be denied that the Christian community in the north-west frontier were in a position to exercise a considerable influence upon the scythic tribes invading India, and on the Brahmans of the borderland.[2]

अर्थात् इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर फैला हुआ ईसाई धर्म भारत पर आक्रमण करने वाली सीथियन जातियों पर और वहाँ सीमा पर रहने वाले ब्राह्मणों पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा में फैलाने में समर्थ था।

श्री केनेडी का यह भी कथन है कि आजकल जिस कृष्ण की पूजा होती है वह अनेक देवों का एकीकृत रूप है। उनके अनुसार अनेक देवों के एकीकरण के उदाहरण सभी देशों से मिल जाते हैं। भारत में इसका उदाहरण कृष्ण है। कृष्ण के बाल रूप के अतिरिक्त अन्य तीन रूप हैं—(१) द्वारकाधिपति, जो अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ के लिए प्रसिद्ध हैं। इस कृष्ण को यद्यपि महाभारत में यादव जाति का बताया है पर यह अनार्य है, कृष्ण वर्ण है और सिन्धु घाटी का है जहाँ उस समय अनार्यों की भर-मार थी। (२) कृषि के देवता—ये बलराम के अनुज हैं। जब वे शाल्व को मारने जाते हैं तब इन्द्र के वज्र का प्रयोग करते हैं। यहाँ उनके पास न तो विष्णु का सुदर्शन चक्र है और न शाङ्‌र्ग धनुष ही। यहाँ यह सूर्य देवता है। यहाँ शाल्व द्वारा द्वारका

१. ज० रा० ए० सो०, पृ० ६८८ (सन् १९०७)
२. वही, पृ० ६६० (सन् १९११)

के घेरे जाने और दुर्ग के अन्दर अपनी रक्षा करने के सारे वर्णन ईरानी (परशियन) प्रभाव को सूचित करते हैं। यह वर्णन ४र्थ शताब्दी (ईसवी-पश्चात्) से पूर्व का नहीं है। या तो इस वर्णन को प्रक्षिप्त माना जाय या फिर स्वीकार किया जाय कि उस समय तक विष्णु और कृष्ण की एकता स्थापित नहीं हो पायी थी। उनके ये तर्क उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—

The fortification of Dwarika, as imagined by the Indian poet, can not well be earlier than the 4th century A.D., and it follows either that the pasage is interpolated, or that, in some of the parts of Hindustan at any rate, the identification with Vishnu was not complete by 300 A.D.[१]

अर्थात् द्वारका की यह किलेबन्दी, जिसका वर्णन भारतीय कवि ने किया है, ईसवी-पूर्व चतुर्थ शताब्दी की नहीं हो सकती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि या तो यह अंश प्रक्षिप्त है या फिर भारत के कुछ भागों में कृष्ण के साथ विष्णु के एकीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पायी थी।

सर चार्ल्स इलियट तथा और भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो गुर्जरों को बाहर से आया हुआ मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि हूणों को यहाँ से बाहर निकालने का काम सन् ५६५ ई० (ईसवी पश्चात्) तक पूरा हो गया था, पर सभी हूण बाहर नहीं निकाले जा सके, कुछ इनमें से कुछ यहीं रह गये। पीछे रहनेवाले ये लोग गूजर कहलाये और राजपूतों में सम्मिलित हो गये :

Though they founded no permanent states, their invasion was important, for many of them together with kindered tribes such as the Gujaras (Gurjuras) remained behind when their political power broke up, and like the Sakas and Kushans before them, contributed to form the population of north-western India, especially the Rajput classes.[२]

अर्थात् यद्यपि इन्होंने किसी स्थायी राज्य की स्थापना नहीं की थी, फिर भी इनका यह आक्रमण कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। इनमें से कुछ जातियाँ, जैसे गुर्जर या गूजर, अपनी शक्ति के समाप्त हो जाने पर अपनी अन्य सगोत्रीय जातियों के साथ यहाँ पीछे रह गईं और अपने पूर्ववर्ती शकों तक कुषाणों के साथ उत्तर-पश्चिम की आबादी में और विशेषतः राजपूतों में समा गईं।

श्री इलियट का भी झुकाव कृष्ण को किसी ऐसी घुमक्कड़ जाति का देवता

---

१. ज० रा० ए० सो०, पृ० ९६१ (सन् १९०७

२. हि० बुद्धि०, पृ० २५

सिद्ध करने की ओर है जिसका कृषि से सम्बन्ध नहीं। कृष्ण द्वारा इन्द्र-पूजा का निषेध और उसके लिए दिये गये कृष्ण के तर्क ही इनके आधार हैं। कृष्ण ने कहा है कि हम तो इधर-उधर स्वेच्छा से घूमने वाले हैं, पशु और पर्वत ही हमारी सम्पत्ति हैं, हमें तो जंगलों और पर्वतों की पूजा करनी चाहिए।[१]

कर्नल टाड, क्रुक, डा० बी० ए० लिथ आदि विदेशी विद्वान् और डा० आर० सी० मजूमदार, डा० भांडारकर और डा० रमाशंकर त्रिपाठी प्रभृति देशी विद्वान् भी इन्हें विदेशी मानते हैं। इनका कहना है कि गुर्जर प्रतिहार राजाओं के नाम, इनके द्वारा केवल सूर्य की पूजा और इनकी आकृति इनके विदेशी होने के प्रमाण हैं।[२] इनके अनुसार राजा हरिश्चन्द्र का दूसरा नाम या उपनाम रोहिलाढ्ढी था, नर भट्ट का दूसरा नाम पीलापेली था और ये शिव आदि किसी भी देवता की पूजा नहीं करते थे।

इन सभी प्रश्नों को उठाकर श्री बी० बी० मिश्र ने स्वयं ही इन प्रश्नों का उत्तर भी दे दिया है। उनका कहना है कि ऊपर जिन नामों का उल्लेख हुआ है वे शुद्ध रूप से संस्कृत भाषा के हैं। रोहिलाढ्ढी की व्युत्पत्ति रोह् शब्द से हुई है और इस शब्द का अर्थ उठना है। पीलापेली शब्द गत्यर्थक पील् धातु से बना है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है वे उदार थे। विष्णु, शिव और भगवती, इन सभी की पूजा वे करते थे। श्री देव शक्ति और भोज द्वितीय को परम वैष्णव कहा गया है। वत्सराज और महेन्द्रपाल को शिव का भक्त— परममाहेश्वर कहा गया है। वैसे सूर्य-पूजा भी एकदम भारतीय है, वैदिक है और इसी के आधार पर इन्हें विदेशी कहना युक्ति-संगत नहीं। आकृति की दृष्टि से भी ये विशुद्ध आर्य हैं।[३] जो व्यक्ति प्रतिहार शब्द के साथ गुर्जर शब्द के प्रयोग के कारण उन्हें विदेशी मानते हैं उनके तर्क का उत्तर देते हुए उन्होंने उनके प्रतिहार कहलाने के कारणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

They were called Pratihars for their progenitor named Lakshman is said to have acted as a door-keeper. That the name of dynasty is a mere outcome of the official designation. Pratihar is proved by the fact that the family continued to bear the insignia of the office of Pratihars even after the acquisition of soverignty. The office of Pratihar was open to all who could win the confidence of the king and that is why there arose Pratihars of different castes.[४]

अर्थात् उनके प्रतिहार कहलाने का कारण यह है कि उनके पूर्वज लक्ष्मण ने

१. हि० बुद्धि, पृ० १५६
२. ए० भ० ओरि० रि० इन्स्टि० का जर्नल, वाल्यूम III (१९५४), पृ० ४५-४६
३. वही, पृ० ५२
४. वही, पृ० ५३ (सन् १९५४)

द्वारपाल का कार्य किया था। इस वंश का यह नाम उनके सरकारी पद का ही परिणाम है। जब कभी परवर्ती काल में ये लोग स्वतन्त्र राज्य बनाने में सफल हुए तब भी इन्होंने प्रतिहार शब्द का प्रयोग नहीं छोड़ा। प्रतिहार का पद उन सब व्यक्तियों के लिए समान रूप खुला हुआ था जो राजा का विश्वास प्राप्त करने में सफल हो सकते थे। यही कारण है कि अलग-अलग जातियों में प्रतिहार मिलते हैं।

जहाँ तक कृष्ण को सीरिया से आयीं हुई आभीर नामक घुमक्कड़ जाति के बाल देवता मानने का प्रश्न है, हम यही कहेंगे कि अब यह मत अत्यधिक भ्रान्त माना जाने लगा है। आभीर के जो तीन प्रमुख वंशज कहे जाते हैं—गूजर, जाट, अहीर—उनमें से कोई भी अपने को विदेशी नहीं मानता। किसी भी भारतीय साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। पुराणों में इनकी वंशावली का वर्णन है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णुपुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायुपुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशानों से पूर्व १० पीढ़ियों तक राज्य किया था।...महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।[1]

रही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचना करने की बात, यह स्वयं शोध का विषय है। सम्भवतः इस विषय में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हों, पर अब तक हमें इस विषय में श्री बैजनाथ पुरी एम० ए०, पी-एच० डी० का शोध-ग्रन्थ ही पढ़ने को मिला है। इसमें उन्होंने गुर्जरों के विदेशी न होने का सप्रमाण वर्णन किया है। जो लोग गुर्जरों को विदेशी मानते हैं उनका कथन है कि वे पंजाब से होकर समस्त देश में फैले। इस विषय में डा० पुरी का कहना है कि ऐसा कहना कल्पना मात्र है, इसमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं। अगर ये लोग सचमुच बाहर से आये थे तो कहीं-न-कहीं इनके संघर्ष का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। जिस जाति ने इतने बड़े-बड़े राज्य बनाये, वह रौंदती हुई आगे बढ़ी होगी, यह निश्चित है। इस उल्लेख का अभाव ही इसके बाहर से न आने का प्रबल प्रमाण है। हूणों के साथ उनका एकीकरण भी तर्क-संगत नहीं। यदि वे एक होते तो कहीं-न-कहीं उन्हें एक कहा गया होता। हूणों की विजय का जहाँ-जहाँ उल्लेख है वहाँ गुर्जरों का नहीं। यह भी यही सिद्ध करता है कि ये दोनों अलग-अलग जातियाँ थीं। वैक्सन का यह मत, कि यह जाति कम महत्त्वपूर्ण थी अतः इसका उल्लेख नहीं हुआ, मान्य नहीं हो सकता। यदि यह जाति इतनी नगण्य

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० १६४

थी तो फिर चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने गुर्जर-साम्राज्य की स्थापना का उल्लेख कैसे किया ? बाण कवि (हर्ष-चरित का प्रणेता) ने भी प्रभाकरवर्द्धन के आक्रमणों का वर्णन करते हुए गुर्जरों और हूणों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसलिए हूणों के साथ उनका एकीकरण कर उन्हें विदेशी सिद्ध करने का प्रयास तर्क-विरुद्ध ही है।

यदि गुर्जर विदेशी नहीं थे तो एकाएक इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना कैसे हो गयी ? यदि यह जाति अत्यधिक बलवती थी तो किसी साहित्यिक ग्रन्थ में इसका उल्लेख क्यों नहीं, हुआ ? इस प्रकार की शंकाओं का उत्तर देते हुए डा० पुरी ने कहा यह जाति चुपचाप अपना जीवन बिता रही थी। जब अचानक इसके मन में राज्य-की पिपासा जाग्रत हुई तो यह अपने निवास-स्थान से निकल कर इधर-उधर फैलने लगी और इसने राज्यों की स्थापना की। नाम के उल्लेख के अभाव को विदेशी होने के प्रमाण के रूप में उपस्थित करना जान-बूझकर भ्रम फैलाना है। इन गुर्जरों का आदिम निवास-स्थान आबू पर्वत था और वहीं से वे इधर-उधर फैले। डा० पुरी का मत उनके ही शब्दों में इस प्रकार है—

We have taken into consideration the entire evidence epigraphic, literary, foreign, ethological and linguistic with a view to suggesting the Indian origin of Gurjaras. This native tribe was living in obscruity near about the Mount Abu in Rajputana which mountain figures prominently in the History of many dynasties including this one.[1]

अर्थात् हमने शिलालेख-सम्बन्धी, साहित्यिक, विदेशी, नृवंशविद्या-सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी, सभी प्रकार के साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् गुर्जरों को भारत का ही निवासी माना है। यह जाति राजस्थान के उस आबू पर्वत के पास रहती थी जिसकी चर्चा बहुत से राज-वंशों के साथ, जिनमें से एक यह भी है, सम्बद्ध है।

अपने इस निवास-स्थान से निकलकर वे किधर-किधर फैले, इसके विषय में उन्होंने लिखा है—

The Gurjaras were very enterprising and they immigrated from the original home in Mount Abu region in two directions—in the north they went as far as the distant country of Swat and in the South-West they reach Brouch and Kathiawar. Though they not successful in kingdom in the north-west, a few towns with were Gujar prefix were founded by them.[2]

१. दि गुर्जर प्रतिहार, पृष्ठ १८

२. वही पृष्ठ १८

अर्थात् ये गुर्जर बहुत साहसी थे और आबू पर्वत के मूल निवास स्थान से दो दिशाओं में निकले उत्तर में स्वेत-जैसे दूरवर्ती स्थान तक गये और दक्षिण-पश्चिम में भड़ौंच और काठियावाड़ तक पहुँचे। यद्यपि उत्तर-पश्चिम में ये अपना राज्य बनाने में सफल नहीं हुए फिर भी इन्होंने कुछ ऐसे नगर स्थापित किये जिनके आरम्भ में 'गूजर' शब्द लगा हुआ है।

इस प्रकार आभीरों को न तो विदेशी मानना ही तर्कसंगत है और न उस आधार पर कृष्ण को बाहर से आया हुआ देवता मानना उचित है।

भक्ति-भावना में प्रेमोल्लास भी ईसाइयत की देन है, ऐसा बहुत-से विद्वानों का कथन है। श्री ग्रियर्सन ने इस मत का प्रतिपादन विशेष रूप से किया है। मध्य युग में अचानक ही इस प्रेम-धारा का फूट पड़ना उनके सन्देह का मूल कारण है। बिजली की चमक के समान यह जो अचानक ही प्रेमोल्लास की चमक है, यह भारतीय धर्म की स्वाभाविक उपज नहीं अपितु मद्रास प्रान्त में आकर बसे हुए नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइयों से ग्रहण की गयी है। ऐसा उनका विश्वास है। उनका यह भी कथन है कि भक्ति-सम्बन्धी जो भी शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये हैं वे ईसवी सन् के बहुत बाद के लिखे हुए हैं और स्वभावतः वे ईसाई धर्म से प्रभावित हैं। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—"कोई भी मनुष्य, जिसे पन्द्रहवीं और बाद की शताब्दियों का भारतीय साहित्य पढ़ने का अवसर मिला है, उस भारी व्यवधान—गैप— को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो प्राचीन और नयी धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें कभी भारतवर्ष ने देखा है—यहाँ तक कि वह बौद्धधर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। श्री ग्रियर्सन का मत उनके शब्दों में इस प्रकार है—

Suddenly, like a flsh of lightening, there came upon all this darkness a new idea. Now Hindu knows where it came from, and no one can date its appearance; but all the official writings which describe it and which can be dated with certainty were written long after the christian era. This new idea was that of Bhakti. Religion was no longer a matter of knowledge. It became a matter of emotion. It now notified the human craving for a supreme personality to whom prayer and adoration could be addressed; in as much as Bhakti, which may be translated by. 'faith' or 'devotion' requires a personal, not an impersonal God.[1]

१. ज० रा० ए० सो०, पृष्ठ ३१४ (सन् १६१०)

अर्थात् अचानक ही बिजली की चमक के समान इस अन्धकार में एक नया भाव पैदा होता है। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह कहाँ से आया; इसका आगमन कब हुआ, यह भी कोई नहीं जानता। वे सभी अधिकृत लेख, जो इसका वर्णन करते हैं और जिनका काल निश्चित है, ईसा के बाद के लिखे हुए हैं। यह नया भाव भक्ति का है। इस काल (भक्ति-काल) में, भक्ति का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं रहा। अब यह एकदम भावात्मक था। यह मानव की उस इच्छा का द्योतक था जो सर्वोच्च शक्ति के पास अपनी प्रार्थना और पूजा का भाव पहुँचाना चाहती थी। भक्ति, जिसे श्रद्धा और अनुरक्ति भी कहा जा सकता है, साकार व्यक्ति की अपेक्षा रखती है, वह अव्यक्तिगत नहीं होती।

अन्य स्थानों पर भी इस ईसाई प्रभाव को तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। उनके अनुसार यद्यपि भक्ति का अस्तित्व भारत में पहले ही से था, पर फिर भी रामानन्द के भक्तिमार्ग और भगवद्गीता के भक्तिमार्ग में पर्याप्त अन्तर है यह अन्तर उतना ही स्पष्ट है कि जितना प्लेटो और सेंट पाल की शिक्षाओं में है। रामानन्द के आगमन के बाद भागवत धर्म जनसाधारण का धर्म हो गया था, जनसाधारण की बोली में लिखा जा रहा था। इस समय का धर्म ज्ञान के बोझ से लदा हुआ नहीं था। इसमें हृदय की प्रधानता थी। उसकी भाषा रहस्य और आनन्द की भाषा थी। इसका सादृश्य बनारस के पण्डितों की अपेक्षा यूरोप के मध्यकालीन रहस्यवादियों के साथ अधिक था।

इन सब बातों के पीछे ईसाई मत का प्रभाव दीख पड़ता है। भारत में ईसाई पर्याप्त मात्रा में आते-जाते थे। इस प्रकार से अनेक यात्रियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

We thus see that from the first centuries of our era, christianity has always been in India and that, both in the North and the South, Hinduism had every opportunity of becoming acquainted with its tenets.[१]

अर्थात् हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी से ही भारत के उत्तर और दक्षिण, दोनों ही भागों में भक्ति विद्यमान थी और हिन्दू धर्म को इसके सिद्धान्तों से परिचित होने का पर्याप्त अवकाश था।

श्री होपकिन्स की दृष्टि में भी हिन्दू धर्म पर ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। उनके अनुसार महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में तीन ऋषियों द्वारा ऐसे 'श्वेत द्वीप' का वर्णन है, जहाँ के निवासियों का वर्ण श्वेत है और जो एकान्तिक भक्ति में

१. इन० रि० ए०, भाग १, पृष्ठ ५४६

लीन हैं। ऐसा द्वीप भारतवर्ष में नहीं है। यह वर्णन ईसाईयों की प्रार्थना सभा-सर्विस का वर्णन है। यह वर्णन उन व्यक्तियों द्वारा सुनी हुई कथाओं पर आधारित है जो हिन्दुकुश के उत्तर से आये थे। कुछ अन्य स्थानों पर भी ऐसे वर्णन हैं जो बाइबल से लिये गये हैं।[१]

क्या यह प्रेमोल्लास सचमुच ईसाई धर्म का प्रभाव है? यदि ऐसा नहीं तो यह सहसा ही हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में कहाँ से उद्भूत हो गया? संस्कृत-साहित्य इस भावना से अपरिचित है। अतः वहाँ से इसका लेना सम्भव नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने सूर-साहित्य में 'हिन्दी-साहित्य और वैष्णव धर्म' शीर्षक में इस विषय का विस्तृत और सप्रमाण विचार किया है और सिद्ध किया है कि इसे ईसाइयत की देन मानना तथ्यों की अवहेलना करना है। उनका कथन है कि इसके बीज देशी भाषाओं के साहित्य में आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं। हिन्दी में संस्कृत-साहित्य की परम्परा के विरुद्ध रस और अलंकारों का विवेचन एक ही व्यक्ति द्वारा होने लगा। यहां रस-राज शृंगार के आलम्बनों और उद्दीपनों के वर्गीकरण के उदाहरणों के बहाने भगवान् की लीला गायी जाने लगी है। "आम के आम और गुठली के दाम" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। दोनों बातें साथ-साथ चल रही हैं— कविता के बहाने परम आराध्य का भजन और भजन के बहाने कविता। आपने कृपाराम (सन् १५४१ ई०) द्वारा लिखित "हिततरंगिणी" नामक ग्रन्थ में से एक दोहा उद्धृत किया है। जिससे स्पष्ट पता चलता है कि इस कवि से पूर्व भी ऐसे बहुत से कवि थे जो शृंगार रस का वर्णन करते थे और उदाहरण के रूप में प्रेम-लीला के उदाहरण उपस्थित करते थे। 'हिततरंगिणी' में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को उदाहरण के रूपमें प्रस्तुत किया गया है—

आजु सकारे हौं गई, नन्द लाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू, निरखे औरे हाल॥

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि भक्तिकाल के कवियों से पूर्व ही प्रेमोल्लास का वर्णन होता था, पर इससे मूल प्रश्न का सामाधान नहीं हो पाता। इसके समाधान के लिए लोक-मत की ओर जाना पड़ेगा। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जन-साधारण में जो साधना विकसित होती जा रही थी, वही पन्द्रहवीं शताब्दी में अचानक ही उठी हुई जल-धारा के समान बरस पड़ी। इस साधना को बहुत सीमा तक गोरखनाथ की देन कहा जा सकता है। गोरखनाथ अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे और बौद्धधर्म से अत्यधिक प्रभावित थे। किसी समय उनका मत समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गया था। उनके द्वारा बौद्ध धर्म की बहुत-सी बातें अनायास ही हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हो गयी थीं। महायान में प्रज्ञापारमिता,

१. इन० रि० ए०, भाग १, पृ० ५५४

अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि बहुत से देव-देवियों की मूर्तियाँ प्रचलित थीं। उनके यहाँ भक्ति-भावना भी प्रचलित थी। विद्वानों के अनुसार वैष्णव भक्तिवाद महायानों की भक्ति का ही विकसित रूप है।[१] यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि बौद्ध धर्म के ह्रास-युग में महायान के बहुत-से मत वैष्णव धर्म में सम्मिलित हो गये थे। जीवन की स्वाभाविक लेन-देन की प्रक्रिया के अनुसार उन्होंने हिन्दू धर्म की देव-भावना को भी प्रभावित किया ही होगा। ये प्रभाव बहुत समय तक जन-साधारण के जीवन में चलते रहते हैं। इन्हीं प्रभावों और विश्वासों को जब आचार्य शास्त्र-सम्मत रूप दे देते हैं तो वे अपने अधिक प्रभावोत्पादक और व्यापक रूप में प्रकट हो जाते हैं। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में जो प्रेमोल्लास दीख पड़ता है वह पहले से चला आ रहा था, उसे बाहर से आयी वस्तु मानना ठीक नहीं होगा। आचार्य द्विवेदीजी के शब्दों में मध्ययुग के वैष्णव धर्म ने इसे जो रूप दिया, वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था।[२]

बहुत अंश तक इस प्रेमोल्लास को आलवार सन्तों की देन माना जा सकता है। प्रेम-लक्षणा भक्ति का चरम उत्कर्ष दाम्पत्य भावना है और दाम्पत्य भावना से भगवान् को भजने के उदाहरण वेदों और उपनिषदों में भी आसानी में ढूँढ़े जा सकते हैं; पर आलवारों की भक्ति का स्वरूप तो माधुर्यभाव का ही है। उनकी रचनाओं में भगवान् के प्रति प्रेमोल्लास की कमी नहीं। उनका रचना-काल दूसरी शती से शुरू होता है और उन्होंने जिन भावों को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति प्रदान की है वे उनसे भी पूर्व जनसाधारण में प्रचलित अवश्य रहे होंगे।

इस्लाम

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल का आरम्भ संवत् १३७५ वि० से माना जाता है। इस समय से पूर्व भारत में इस्लाम धर्म का प्रसार एवं प्रचार हो चुका था। अत: हिन्दी-साहित्य की देव-भावना पर इस्लाम का पर्याप्त प्रभाव है, ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। डा० ताराचन्द इस मत के प्रबल पोषक हैं। उन्होंने बताया है कि मसूदी नामक यात्री ने १०वीं शताब्दी के आरम्भ में (ई० सन् ९१६) में जब भारत की यात्रा की तो उसने सेमोर Seymore (आधुनिक चौल Chaul) में सिराफ, बसरा और बगदाद से आये हुए जिन मुसलमानों को देखा, उनकी संख्या दस हजार से ऊपर थी। इसके अलावा उसने ऐसे भी बहुत से व्यक्तियों को देखा कि जो बाहर से आये हुए अरबों की सन्तान थे।[३] आगे चलकर उन्होंने कहा है कि अबुद फिदा (१२३३-१३३१) ने अपनी यात्रा में कौलस स्थान पर एक अति भव्य मस्जिद का

१. डा० कर्न का मत (सूर-साहित्य, पृष्ठ ८६ पर उद्धृत)
२. सूर-साहित्य, पृष्ठ ९१
३. इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ३६

वर्णन किया है। १४ वीं शताब्दी में इब्नबतूता ने कैम्बे से लेकर पश्चिमी तट के साथ लगे सभी बन्दरगाहों की यात्रा की थी और वहाँ उसने अपने सहधर्मियों को समृद्धि की दशा में पाया।[1] उसका यह भी कथन है कि पश्चिमी तट के किनारे-किनारे दक्षिणी भारत में मुसलमानों का आगमन १० वीं शताब्दी तक हो चुका था और राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में वे अपना प्रभाव स्थापित करने में सफल हो चुके थे।[2] आलवार सन्तों ने धार्मिक क्षेत्र में जो जाति-पाँति की निन्दा की है, गुरु की महत्ता प्रतिपादित की है और प्रपत्ति पर जो इतना बल दिया है वह सब इस्लामी देन है, ऐसा डा० ताराचन्द का मत है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि उन दिनों बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था, वह भी पूजा के बाह्य विधान में रत था अतः भक्ति-मार्ग की उदारता को बौद्ध धर्म की देन नहीं माना जा सकता। यदि किसी प्रकार जाति-पाँति के विरुद्ध भावना को पुरानी देन मान भी लिया जाय तो प्रपत्ति को और गुरु-भक्ति को तो माना ही नहीं जा सकता। उनके ही शब्दों में—

They could scarcely be derived ftom the prevailing types of Hindu religion, for the worship of of Visnu. Siva or Sakti was, ritualistic as well as that of other sects, some of them might be affiliated to older and purer form of Buddhism and upnishadism but Prapatti and Gurubhakti not.[3]

अर्थात् विष्णु, शिव और शक्ति तथा दूसरे मतों की पूजा-विधि कर्मकाण्ड तक ही सीमित थी अतः उनका (जातिपांति की उदारता तथा प्रपत्ति से भाव है) प्रचलित हिन्दू-धर्म में से लिया जाना संभव नहीं। उनमें से कुछ को यदि बौद्ध धर्म तथा उपनिषदों से संवद्ध मान भी लिया जाय तो प्रपत्ति और गुरु-भक्ति को तो किसी भी दशा में नहीं माना जा सकता।

श्री हुमायुं कबीर का भी मत ऐसा ही है। उनका कथन है कि भारतीय धर्म पर मुस्लिम धर्म के प्रभाव की चर्चा आते ही रामानन्द, कबीर, नानक और चैतन्य के नाम अचानक ही मुँह पर आ जाते हैं। बंगाल में वैष्णव धर्म और महाराष्ट्र में भक्ति-सम्प्रदाय के विकास को प्रत्यक्ष रूप से इस्लाम और हिन्दू धर्म का मिश्रण कहा जा सकता है। उनके ही शब्दों में—

The real history of India in the Middle ages is the record of attempts at synthesis and co-operation between Hindu and Muslim

---

१. इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ २२४
३. वही, पृष्ठ ११४

on thousand planes. The name of Ramanand and Kabir of Nanak and chaitanya come easily to the mind. The of Vaishnavism in Bengal and the Bhakti-cult in Maharashtra may be directly attributed to this fusion of religious culture.[१]

अर्थात् भारत का मध्यकाल का वास्ताविक इतिहास हिन्दू और मुसलमान के बीच में सहयोग और समन्वय के उन प्रयासों का इतिहास है जो शतश: स्थानों पर हो रहा था। इस प्रसंग में रामानन्द, कबीर, नानक और चैतन्य के नामों का स्मरण आसानी से हो आता है। बंगाल में वैष्णव धर्म का और महाराष्ट्र में भक्ति का विकास धार्मिक और सांस्कृतिक एकीकरण से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित है।

अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए आगे उन्होंने कहा है कि वैदिक काल से सातवीं शती की समाप्ति (ईसवी पश्चात्) तक भारत का नेतृत्व उत्तरी भारत के हाथ में रहा है। आठवीं शती के आरम्भ में अचानक ही भारतीय जीवन और विचार-धारा का नेतृत्व दक्षिण में चला जाता है। शंकर, रामानुज, निम्बार्कादित्य, वल्लभाचार्य, सभी दक्षिण के रहने वाले हैं। वैष्णव और शैव दोनों ही धर्म दक्षिण में ही उत्पन्न हुए और वहीं बढ़े। इसका एकमात्र कारण यह है कि सातवीं सदी के मध्य में इस्लाम का आगमन दक्षिण में हो चुका था।[२]

तथ्यों के आधार पर दोनों ही विद्वानों के कथन प्रामाणिक प्रतीत नहीं होते। जहाँ तक जाति-पाँति की उदारता का प्रश्न है, यह यह निःसन्देह बौद्ध धर्म की ही देन है। अपने गये-गुजरे दिनों में भी बौद्ध धर्म ने जाति-पाँति के विरुद्ध अपने आन्दोलन को कभी मन्द नहीं होने दिया। स्वयं डा० ताराचन्द जाति-पाँति की उदारता को बौद्ध धर्म की देन मानने को किसी सीमा तक तैयार हैं। बात रही गुरुभक्ति की उसके विषय में असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि यह गुरु-भक्तिभावना अति-प्राचीन है। यह भावना इस देश में उस समय से चली आ रही है कि जब इस्लाम का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था।

उपनिषदों का रचनाकाल ईसवी-पूर्व सात सौ वर्ष है और उनमें गुरु-माहात्म्य का वर्णन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया गया है। यदि कबीर ने गुरु और गोविन्द दोनों में गुरु की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है तो श्वेताश्वतरोपनिषद् में —"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्देवो गुरु: साक्षात् महेश्वर:" कहकर गुरु को साक्षात् परमेश्वर ही का रूप दे दिया है। स्नातक को दीक्षान्त-संस्कार में जहाँ और शिक्षाओं को ध्यान में रखने की बात कही जाती थी वहाँ —'पितृदेवो भव, मातृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' का भी उपदेश दिया जाता था। शिष्यों के लिए गुरु इस पृथ्वी पर साक्षात् परमेश्वर का ही रूप है। उपनिषदों

---

१. आवर हेरिटेज, पृष्ठ ३३
२. वही, पृ० ३४-३५

में इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं। आयोद धौम्य ऋषि के शिष्य आरुणि खेत की कटी हुई मेंड़ के ऊपर से पानी बहता देख कर उसे रोकने के लिए जिस प्रकार रात भर पानी में लेटे रहे और सुबह गुरुजी द्वारा ढूँढ़ लिये जाने पर ही निकाले जा सके। उनके दूसरे शिष्य उपमन्यु ने उनकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार खाने-पीने की सभी वस्तुओं का परित्याग कर दिया, जिस प्रकार अन्धा होकर वह कुएँ में गिर पड़ा और गुरुजी के आदेश से बाहर निकल कर अश्विनी-कुमारों की स्तुति द्वारा उसने दृष्टि-लाभ किया, आदि अनेक कथाओं से भारतीय पाठक भलीभाँति परिचित हैं। मनुस्मृति में तो आचार्य को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है "आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः"— एक अन्य स्थान पर "उत्पादक ब्रह्म दात्रो गरीयान् ब्रह्मदः पिता" कहकर गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। अतिप्राचीन काल से प्रयुक्त 'द्विज' शब्द ही भारतीय जीवन में गुरु के उच्च स्थान का बोधक है। माता-पिता बच्चे को जन्म तो देते हैं पर आचार्य शिक्षा द्वारा उसे दूसरा जन्म देकर द्विज बनाता है। भारतीय शास्त्रों में कहा गया है कि गुरु की अकारण निन्दा करने वाला शिष्य गधा होता है। निन्दा करने वाला कुत्ता होता है और गुरु-पत्नी के साथ भोग करने वाला कीड़ा होता है और उसे अनेक भयंकर नरकों की यातना सहनी पड़ती है। इसीलिए स्वयं तो गुरु-निन्दा करने का निषेध है ही, पर उसकी निन्दा सुनना भी अपराध कहा गया है। कहा गया है कि जहाँ गुरु की निन्दा हो रही हो वहाँ या तो कान बन्द कर लेने चाहिए या वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिए।

रामायण और महाभारत दोनों ही ऐतिहासिक महाकाव्य गुरुभक्ति के ज्वलन्त उदाहरणों से भरे पड़े हैं। रामायण-काल में गुरु का कथन ब्रह्म-वाक्य के समान अनुल्लंघनीय है। राजा दशरथ विश्वामित्र ऋषि के कहने से अपने प्राण-प्रिय पुत्रों को उनके हाथों में सौंप देते हैं। महाभारत में बताया गया है कि किस प्रकार एकलव्य भील द्रोण की मिट्टी की मूर्ति को ही गुरु मानकर अटल श्रद्धा के साथ अपनी साधना में जुटा रहा और गुरु-दक्षिणा के रूप में उसने अपने दायें हाथ का अँगूठा भी काटकर दे दिया। कालिदास के रघुवंश में बताया गया है कि कुत्स ऋषि का शिष्य ककुत्स्थ गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए किस प्रकार सब कुछ करने को तैयार है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्याभिमान योग या गुरु-भक्ति भारत को इस्लाम की देन नहीं है।

प्रपत्ति का अर्थ है सर्वतोभावेन शरणापन्नता। इस्लाम का अर्थ है प्रपत्ति और मुस्लिम शब्द का अर्थ है शरणापन्न। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में प्रपत्ति का अत्यधिक महत्त्व है। रामानन्द-सम्प्रदाय को एक प्रकार से प्रपत्तिमार्ग कह सकते हैं। इसमें भक्त अपने आपको भगवान् की शरण में छोड़ देता है। इस सम्प्रदाय वालों का विश्वास है कि प्रपन्न व्यक्ति के सब कर्म क्षीण हो जाते हैं और उसे किसी ओर से भय नहीं रहता। भगवान् का तो कथन ही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतं व्रतं मम ॥[१]

प्रपत्ति के इस साम्य के आधार पर डा० ताराचन्द ने भारतीय भक्ति पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार किया है । इस विषय में हम यह कह देना चाहते हैं कि भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व प्रपत्ति की भावना को आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है । वागृम्भणी का कथन है कि मैं जिसे चाहती हूँ उसे ऋषि, मेधावी और तेजस्वी बना देती हूँ । आगे चलकर यही भावना उपनिषदों में बड़े ही स्पष्ट रूप में मिलती है । वहाँ ज्ञान को हेय बताकर भगवत्-कृपा को ही भगवत्-प्राप्ति का एकमात्र उपाय बताया गया है । कहा गया है कि यह आत्मा न तो उपदेशों से प्राप्त होता है, न बुद्धि से और न बहुश्रुत होने से । यह आत्मा तो उसी को मिलता है जिस पर वह स्वयं प्रसन्न होकर अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ।[२]

एक अन्य उपनिषद् में कहा गया है कि जो आत्मा अणु से भी अणु है और महान् से भी महान् है उसको जीव भगवान् की कृपा से ही जानता है, अन्य प्रकार से नहीं ।[३]

इसके बाद भगवद्गीता में भी प्रपत्ति का यह भाव आदि से अन्त तक भरा पड़ा है । मोहवश अर्जुन जब युद्ध से विरत होना चाहता है तब कृष्ण भगवान् उसे ज्ञान की सब बातें समझाने के बाद कहते हैं कि हे अर्जुन, अपने सब कर्मों को मुझे सौंप दे और तू युद्ध कर—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥[४]

आगे चलकर उन्होंने फिर अर्जुन से कहा है कि भक्त को अपने लिए कुछ भी पृथक् नहीं रखना चाहिए । उसका खाना-पीना सभी कुछ भगवान् को अर्पित होने चाहिए—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥[५]

उनके सारे प्रवचन का केन्द्र-बिन्दु है भगवान् की शरण में जाना, सर्वतोभावेन

---

१. रामानन्द की हिन्दी-रचनाएँ पृष्ठ १५
२. कठ०, २।२३
३. श्वेताश्वतर, ४।२०
४. गीता, ३।३३
५. वही, ६।२०

अपने पृथक् रूप को विलीन कर देना। स्थान-स्थान पर उन्होंने अर्जुन को यही कहा है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।[1]

... ...

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।[2]

महाभारत में भी स्थान-स्थान पर प्रपत्ति की चर्चा है। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो कुछ तुम जानना चाहते हो उसका उपाय ज्ञान और प्रपत्ति दो ही हैं—

ऋते देवप्रसादाद् वा राजन् ! ज्ञानागमेन वा।
गहनं ह्येतदाख्यानं व्याख्यातव्यं तवारिहन्॥[3]

भगवान नारायण के प्रत्यक्ष दर्शन न होने पर राजा उपरिचर के यज्ञ में जब बृहस्पति क्रोध करते हैं तब देवता उन्हें समझाते हैं कि उनके दर्शन केवल उनको होते हैं जिन पर उनकी कृपा होती है —

न शक्यः स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते।
यस्य प्रसादं कुरुते स वैतं द्रष्टुमर्हति॥[4]

बौद्ध धर्म की महायान शाखा में प्रपत्ति का तत्त्व इस्लाम के अस्तित्व से बहुत पूर्व विद्यमान था। हीनयान के मुकाबले में उसने अपनी जिन नवीनताओं को रखा उनमें से एक यह है कि अभिताभ बुद्ध में आस्थामात्र रखने से निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है। बुद्ध के नाम का जप भी वहाँ इसी लक्ष्य से विहित है। रही भागवत धर्म की बात, उसमें ये तत्त्व पूरी तरह विद्यमान थे। जहाँ तक उसकी प्राचीनता का प्रश्न है हम पिछले प्रकरण में ही इस विषयक प्रमाण दे आये हैं।

इन सबके अतिरिक्त आलवार सन्तों में यह भावना पूरी तरह पायी जाती है। यह आलवार शब्द तमिल भाषा का है और उसका अर्थ है अध्यात्म-रूप समुद्र में गोते लगाने वाला अनुभवी पुरुष। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर जिन पदों की रचना की थी उनका संग्रह तमिल में 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। ये आलवार भक्त संख्या में १२ थे और समकालीन नहीं थे। इनका काल विक्रम की द्वितीय शती से लेकर दशम शती तक माना जाता है। स्पष्ट है कि इस्लाम की उत्पत्ति से बहुत पूर्व ही प्रपत्ति की यह भावना इस देश में विद्यमान थी।

---

१. श्वेताश्वतर, ११।५५
२. वही, १२।८
३. म० भा० शा० पर्व० (मोक्षधर्म पर्व), श्लोक ६
४. वही, श्लोक १२

प्रो० हुमायूं कबीर ने दक्षिण भारत के हाथ में नेतृत्व चले जाने की बात को आधार बनाकर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है उसका खण्डन भी स्वतः ही हो जाता है। हिन्दी के वैष्णवाचार्य दक्षिण-निवासी थे और स्वभावतया इन सन्तों से प्रभावित थे। यामुनाचार्य (सं० ६७३-१०६३) ने 'प्रबन्धम्' के सिद्धान्तों का अध्ययन बड़े मनोयोग से किया था। ये यामुनाचार्य ही रामानुजाचार्य (सं० १०८४-११६४) के पथ-प्रदर्शक बने। रामानन्द इसी परम्परा में थे। दक्षिण में भारतीय जीवन के नेतृत्व चले जाने और भक्ति-धारा के वहाँ से फूट पड़ने का कारण आलवार सन्त हैं, इस्लाम धर्म का प्रभाव नहीं। प्रसंगवश हम इस बात का भी उल्लेख कर दें कि इन प्रसिद्ध आलवारों में अनेक तथाकथित नीच जाति के पुरुष थे। सबसे अधिक प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूतजाति के थे। तिरूमर्ग जाति से नीच और कर्म से भारी डाकू थे। गोदा या अन्दाल नारी थी। हिन्दी में कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट) और रैदास (मोची) को आलवारों की परम्परा में ही रखना ठीक है। समाज में इनकी प्रतिष्ठा ही जाति-पाँति के खण्डन का सबसे बड़ा प्रमाण था। विश्वबन्धुता की भावना से भारत अपरिचित था और यह इस्लाम की देन है, ऐसा मानना एकदम भ्रान्तिपूर्ण है।

माधुर्यभाव की उपासना को भी बहुत-से व्यक्तियों ने इस्लाम की देन माना है। वेदों में ज्ञान की प्रधानता है और परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मकाण्ड की। ज्ञान और कर्मकाण्ड दोनों ही नीरस हैं और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में अचानक जो माधुर्यभाव की प्रधानता मिलती है वह सूफियों का प्रभाव है। सूफी साधना में दाम्पत्य भाव की प्रधानता है। बसरा में रहने वाली राबिया नामक साध्वी अपने को अल्लाह की पत्नी मानती थी और अल्लाह को अपना पति। कबीर इत्यादि ने भी अपने को राम की बहुरिया कहा है और यह परम्परा फिर अनवच्छिन्न रूप से चलती रही है। इन विद्वानों के अनुसार यह इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव है। पर तथ्यों के आधार पर यह धारणा एकदम निर्मूल सिद्ध होती है। वेदों में जहाँ भगवान् से माता, पिता और सख्य आदि सम्बन्धों की स्थापना की गयी है वहीं दाम्पत्य भाव से भगवान् को भजने का भी विधान है। एक मन्त्र में कहा गया है कि सुख का ज्ञान रखने वाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली, प्रभु-प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं। जैसे स्त्रियाँ अपने पति का भली भाँति आलिंगन करती हैं वैसे ही मेरी बुद्धियाँ प्रभु की ओर धावित हो रही हैं।[1] उपनिषदों में भी यह भावना विद्यमान है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार पत्नी के प्रगाढ़ परिरम्भण में पुरुष थोड़ी देर के लिए समस्त संसार को भूल जाता है, बाहर-भीतर का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार परम प्रिय परमात्मा के सायुज्य द्वारा सदा के लिए संसार को विस्मृत कर बैठता है। विश्वात्मा के संयोग के समय जीव को अन्य कुछ

---

१. ऋक्, १०।४३।१

दिखायी नहीं पड़ता, उसकी सभी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति हो जाती है।[1] दक्षिण की अंदाल नामक साधिका तो भगवान् को पति रूप में ही मानती थी।

कुछ लोगों के अनुसार अद्वैत भावना भी इस्लाम की ही देन है। इनके तर्क का आधार यह है कि वेदों में अनेक देवताओं की स्तुति है, सूत्रग्रन्थों में अनेक देवताओं की पूजा का विधान है और आज भी हिन्दू घरों में अनेक देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित है। अतः शंकराचार्य और उनके परवर्ती साधकों तथा कवियों में जो अद्वैतभावना मिलती है वह इस्लाम का ही स्पष्ट प्रभाव है। पर थोड़ी-सी भी गहराई में जाकर सोचने से इस मत की सारहीनता सिद्ध हो जाती है। एकदेववाद तथा अनेकदेववाद प्रकरण में हम दिखा आये हैं कि वेदों के अन्तिम काल में ही एकदेववाद की ओर ऋषियों का ध्यान जा चुका था। वहाँ जहाँ अनेक देवों की सत्ता स्वीकृत है वहीं इन सबको एक ही व्यापक सत्ता के अंश मानने की भावना भी स्पष्ट रूप में विद्यमान है। उपनिषदों में तो स्पष्ट रूप से अद्वैत की सत्ता है। छह दर्शनों में से एक प्रसिद्ध दर्शन का आधार ही अद्वैतवाद है।

जो एक बात सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि इस्लामी अद्वैत-वाद को एकेश्वरवाद कहना अधिक ठीक होगा, भारतीय अद्वैतवाद को आत्मवाद या ब्रह्मवाद। एकेश्वरवाद का मतलब यह है कि एक सर्वशक्तिमान् सबसे बड़ा देवता है जो सृष्टि का उत्पादक, पालक और संहारक सब कुछ है। इस एकेश्वरवाद में बाह्य जगत् की स्वीकृति है, निषेध नहीं। इसमें जड़ जगत्, जीव और परमात्मा, तीनों की सत्ता है। ये तीनों अलग-अलग हैं एक नहीं, और इनमें परमात्मा की सत्ता सर्वोपरि है। न कोई उससे अधिक शक्तिशाली है और न उसके बराबर ही है। भार-तीय अद्वैतवाद में दृश्य जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। यह दृश्यमान् जगत् उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। इसमें आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं, 'तत्त्वमसि' इसका प्रमुख सिद्धान्त है। इस्लाम में इसके विपरीत आत्मा और परमात्मा की एकता की बात करना कुफ्र है। मन्सुरूफ हल्लाज को इस अद्वैतवाद की भावना के कारण ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा था। भारतीय साहित्य में जिस अद्वैतवाद की चर्चा है वह विशुद्ध रूप से भारतीय है। उसमें तदाकार होने की भावना इस्लाम धर्म के विरुद्ध जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अद्वैतवाद को इस्लाम धर्म का प्रभाव मानना एकदम निराधार और तर्क के विरुद्ध है।

हमारे इस कथन का यह भाव कदापि नहीं कि इस्लाम का भारतीय देव-भावना पर कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं। अपने इष्टदेव के प्रति आत्मनिवेदन में जो उद्वेग पाया जाता है वह इस्लाम के सूफी मत की देन है। उनका इश्क उद्वेग में ही

---

१. बृहदारण्यक, ४।३।२१

रंग लाता है। मध्यकाल के हिन्दी कवियों में मरने और जीने के बीच जो तड़पन है वह इस्लाम का ही प्रभाव है।

बौद्धमत का उत्तरकालीन तांत्रिक विकास और उसका देव-भावना पर प्रभाव

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना पर तान्त्रिक प्रभाव का उल्लेख करने से पूर्व हमें 'तन्त्र' शब्द के अर्थ को समझ लेना चाहिए। तन्त्र का एक अर्थ है विधि Injuction और नियम Regulation । इसी कारण शंकराचार्य ने सांख्यशास्त्र को सांख्यतन्त्र कहकर पुकारा है। काशिकावृत्ति (७-२-९) में 'तन्' शब्द की व्युत्पत्ति (विस्तार अर्थ में) औणादिक नियमानुसार त्रन् प्रत्यय लगाकर की गयी है। वाचस्पति, आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द इसकी व्युत्पत्ति तन् या तन्त्री धातु से व्युत्पादन के अर्थ में मानते हैं। गणपाठ के अनुसार तन् और तन्त्री, दोनों का प्रयोग विस्तार के अर्थ में होता है।[1] विस्तारार्थक 'तन्' धातु से व्युत्पत्ति मानने से तन्त्र उस विद्या का नाम ठहरता है जो ज्ञान का विस्तार करती है—

तनायते विस्तार्यते ज्ञानमनेन, इति तन्त्रम्।

'त्र' का अर्थ रक्षा भी है। इस प्रकार इसका अर्थ धार्मिक विद्या भी है—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥[2]

तन् का एक अर्थ विश्वास करना भी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार तन्त्र का अर्थ उपासकों के उन पवित्र शास्त्रों से है जिनमें देवी की पूजा की विधियों आदि का वर्णन किया गया है।[3] ये सभी अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार ठीक हैं। इन सभी अर्थों में व्युत्पत्तिगत अर्थ पर विशेष बल दिया गया है पर व्यवहार में तन्त्र शब्द का अर्थ वेदों से भिन्न उस शास्त्र से लिया जाता है जिसमें शक्तितत्त्व अथवा पुरुष व स्त्री-शक्ति की पूजा का वर्णन हो। इसमें पुरुषशक्ति व स्त्री-शक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है।[4] इन तन्त्रों में देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का वर्णन मिलता है। इनमें देवता-विषयक मन्त्र मिलते हैं। उपासना के पाँचों अंग पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र की व्यवस्था मिलती है।

इस प्रकार तन्त्र एक ऐसी पद्धति का नाम है जिसमें साधना की महत्ता है। यह न तो केवल उपासना है और न प्रार्थना ही है। इसमें साधना के द्वारा पुरुष और

---

१. शक्ति एण्ड शाक्ताज़, पृ० ५४
२. शक्ति एण्ड शाक्ताज़, पृ० ५५
३. सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृ० १
४. वही, पृ० २

प्रकृति में एकता पैदा करने का कार्य किया जाता है। यह कार्य शरीर-स्थित शक्तियों को जगाकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस साधना-पद्धति में कुण्डलिनी को जगाने और षट्चक्र-भेदन पर इतना अधिक बल दिया जाता है। तन्त्रों में साधना के लिए मन्त्रों का विधान है। इन मन्त्रों की उत्पत्ति या सृष्टि धरणियों से हुई है। धरणी का अर्थ है जिसके द्वारा कुछ धारण किया जाय—ध्रियते अनया इति। इसके अक्षर रहस्यात्मक होते हैं और मनुष्य में धार्मिक बुद्धि जाग्रत करते हैं। साधारण व्यक्ति बौद्ध-सिद्धान्तों की परिभाषाओं को याद नहीं रख सकते थे, उनके लिए उनके छोटे रूपवाली धरणियाँ बनायी गयीं। धार्मिक व्यक्ति उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ याद करते थे। यह विश्वास किया जाता था कि इन धरणियों का पाठ उनके अन्दर अपार शक्ति पैदा करने का सामर्थ्य रखता था। कालान्तर में जब धरणियों का कण्ठाग्र करना कठिन प्रतीत होने लगा तो उनका भी संक्षेप किया गया। यह संक्षिप्त रूप 'मन्त्र' कहलाया। ये मन्त्र एकाक्षर हाते थे और इन अक्षरों का अपना विशेष महत्त्व होता था। इन मन्त्रों के पहले 'ओम्' और बाद में 'स्वाहा' लगाकर उन्हें रक्षा, उपासना और सिद्धि का साधन मान लिया गया। इन मन्त्रों के साथ-साथ इनकी रेखात्मक अभिव्यक्तियाँ यन्त्र और कवच रूप में प्रचलित हो गईं।

तान्त्रिक पद्धति का एक नाम अभिचार भी है। इसमें मारण (मारना), मोहन (आकर्षण), स्तम्भन (रोकना), विद्वेषण (शत्रुता), उच्चाटन (बाहर भेजना) और वशीकरण का प्रयोग होता था। इस पूजा-पद्धति में इन वस्तुओं का उल्लेख है—

(१) सुगन्धित द्रव्य (२) दीपक (३) शंख (४) घंटा (५) पुष्प (६) माला (७) तिल (८) यव-जौ (९) आसन (१०) ध्वजा (११) कलश (१२) वस्त्र (१३) आभूषण (१४) लाजा-खील (१५) अक्षत—बिना उबला चावल (१६) अर्घ्य और अंजलि (१७) हास्य (१८) लास्य (१९) संगीत (२०) नृत्य (२१) पंचगव्य।[1]

प्रज्ञा और उपाय

इन दोनों शब्दों का प्रयोग इस सम्प्रदाय में स्थान-स्थान पर हुआ है। इनमें पहला नारी के प्रतीक के रूप में है और दूसरा पुरुष के प्रतीक-रूप में। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में प्रज्ञा का चित्रण भगवती देवी, मुद्रा (साधना में स्वीकृत नारी) महाभद्रा, वज्रकाया या युवती या योनि के प्रतीक रूप में किया गया है। 'हे वज्र सत्त्व' में प्रज्ञा को जननी (माता) भगिनी, रजकी, नर्तकी, दुहिता, डोम्बी (डोम की लड़की) आदि कहा गया है। जननी कहे जाने का कारण यह है कि वह समस्त संसार को जन्म देती है, विभाग के कारण उसे भगिनी कहा है, रजकी इसलिए है कि वह सब को प्रसन्न करती है—रंजनात् रजकी—, दुहिता, अपने में सब गुणों का समावेश

१. इण्ट्रो० ता० बुद्धि०, पृ० ८१

करने से, रूप या चरित्र के परिवर्तन के कारण नर्तकी, स्पर्श न की जा सकने के कारण डोम्बी कहलाती है ।[१]

तन्त्र का उद्गम और प्रसार

तन्त्र का उद्गम कब हुआ इस विषय में बहुत से मत हैं। सादृश्य और सम्पर्क के सिद्धान्तों के अनुसार बहुत-से विद्वान् तन्त्र का अस्तित्व अथर्ववेद में भी मानते हैं।[२] श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र का मत भी ऐसा ही है। उनके अनुसार जितना पुराना वेद है उतना ही तन्त्र है। तन्त्र की जनप्रियता का कारण उसका व्यावहारिक पक्ष है।[३] डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार ईसा के जन्म के आस-पास बौद्ध धर्म में तांत्रिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया था। एक अन्य विद्वान् के अनुसार पाँचवीं या छठी शताब्दी (ईसवी-पश्चात्) में जब बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया तो तान्त्रिक धर्म पुनर्जीवित हो उठा था।[४] श्री धर्मवीर भारती के अनुसार ४०० ई० सन् तक बौद्ध धर्म में पूजा-विधान और मन्त्र-विधान की प्रधानता हो चुकी थी और छठी शताब्दी तक बौद्ध धर्म की परिणति तान्त्रिक रूप में हो चुकी थी।[५] इन मतों की प्रामाणिकता की गहराई में गये बिना हमारे लिए इतना ही मान लेना पर्याप्त है कि हिन्दी के मध्यकाल से बहुत पूर्व समाज में तान्त्रिक साधना का प्रसार हो चुका था। हिन्दी के सभी कवियों पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी-न-किसी ढंग से, अवश्य पड़ा है।

भक्तिकालीन साहित्य में सन्तनाम से अभिहित होने वाले कवि परम्परावाद में कम विश्वास रखते थे और सारग्राहिता में अधिक। परम्परावादिता में आग्रह न होने के कारण इन्होंने मुक्तहस्त होकर सब ओर से ग्रहण किया है अतः इनमें तान्त्रिक प्रभाव अधिक मात्रा में पाया जाता है। इन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति नाथपन्थियों की अभिपद्धति है और इसका प्रभाव इनकी देव-भावना पर भी पड़ा है। परम्परावादी हिन्दुओं का ब्रह्म या तो निर्गुण था या सगुण; परन्तु कबीर, दादू आदि सन्तों के ब्रह्म और जीव की एकता के प्रतिपादन पर भी बहुत सीमा तक तान्त्रिक प्रभाव है। परम्परावादी वैष्णव कवि मुक्ति की अवस्था में भी जीव का स्वतन्त्र एवं पृथक् अस्तित्व मानते हैं। परमात्मा के साथ क्रीड़ा में लीन होना ही उनकी भक्ति का लक्ष्य है और जीव के पृथक् अस्तित्व को माने बिना यह लक्ष्य पूरा नहीं होता। इसके विपरीत सन्त मत के कवि शराब और पानी की तरह ब्रह्म और जीव के एका-

---

१. इण्ट्रो० ता० बुद्धि०, पृ० ११३-४
२. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० १२
३. धर्मेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५५
४. दि कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, पृ० ४८६
५. सिद्ध-साहित्य, पृ० ११३

कार होने में विश्वास रखते हैं। कबीर के शब्दों में पानी से ही हिम होता है और पिघलकर वही फिर पानी हो जाता है, यही दशा भगवान् और जीव की है। यही भाव व्यक्त करने के लिए उन्होंने स्वर्ण और उससे निर्मित आभूषण का उदाहरण दिया है। स्वर्ण और उससे बने आभूषण में कोई वास्तविक अन्तर नहीं। पिघला दिये जाने पर जिस प्रकार वह आभूषण फिर स्वर्ण ही बन जाता है उसी प्रकार जीव का विलीनीकरण परमात्मा में हो जाता है। तान्त्रिक मत में भी उपासक को कहा गया है कि वह अपने में और ब्रह्म में ऐक्यभाव का ध्यान करे—

> अहं देवी न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
> सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभावजम्॥
> गुरुं नत्वा विधानेन, सोऽहमिति पुरोधसा।
> ऐक्यं संभावयेत् धीमान्, जीवस्य ब्रह्मणोऽपि च॥

यह तान्त्रिक प्रभाव देव-भावना पर तो है ही, देव-भावना के मार्ग पर भी है। भगवान् या ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो नाद, बिन्दु, इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा, षट्चक्रभेदन और कुण्डलिनी-चक्र की चर्चा इस मार्ग के कवियों ने की है, वह भी तान्त्रिक प्रभाव ही है। गुरु रामानन्द से कबीर को—"रां रामाय नमः" जो षडक्षर मन्त्र मिला था और परवर्ती काल में जो सम्पूर्ण सन्तमत में समादृत मन्त्र के रूप स्वीकृत हुआ, वह भी तांत्रिक परम्परा का प्रभाव है, ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। इनका कथन है कि ओ३म् या प्रणव को हीन दिखाने के लिए रामाय नमः के पूर्व रां जोड़ा गया है। कहा गया है कि ओ३म् प्रणव है तो रां प्रणवी है और रां में ओ३म् स्वतः निहित है।[1] शक्ति-जागरण में ध्यान के समान मन्त्र-जप की परम्परा है।

तन्त्र-पद्धति में पंचमकारों पर बड़ा बल दिया जाता है पर इन पंचमकारों के गुह्य अर्थ भी हैं। वहाँ मदिरा, मांस, मत्स्य मुद्रा और मैथुन के प्रतीक गृहीत हुए हैं। सहस्रारचक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है, द्वैतभाव मांस है, इन्द्रिय-चांचल्य मत्स्य है, कुंडलिनी शक्ति और परमशिव की एकता मैथुन है। इनके सेवन से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कबीर ने भी इस पद्धति का आश्रय लिया है और वे गौमांस-भक्षण व मदिरापान का उपदेश देते दिखायी देते हैं। हां, यह अवश्य है कि जहाँ तान्त्रिकों की शब्दावली में कामवासनापरक शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है वहाँ सन्तों ने चारित्रिक दृढ़ता पर बहुत बल दिया है। कुल मिलाकर सन्त मत पर बौद्ध मत तथा तान्त्रिक मत का इतना स्पष्ट प्रभाव है कि उससे आँखें बचा सकना संभव नहीं। श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इस प्रभाव को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

"सन्तमत एक वृक्ष के समान है जिसका मूल बौद्ध तथा शैवतन्त्रों में अवस्थित

---

१. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २४४

है। इस वृक्ष का तना नाथसिद्ध मत है जो बौद्ध-शैव परम्परा से पुष्ट हुआ है। इस तने के ऊपर सन्त मत की अनेक शाखाएँ हैं, अनेक पल्लव और पुष्प हैं। इस वृक्ष पर ऊपर से भक्ति की वर्षा होने से उसे एक नया जीवन मिला है। इस वृक्ष के फल के स्वाद में और तांत्रिक साधना के आस्वादन में अन्तर का आना स्वाभाविक ही है; परन्तु इस स्वाद में अन्तर होने पर भी सादृश्य इतना अधिक है कि सन्त मत को मूलतः तान्त्रिक मत ही मानना पड़ता है।"[1]

वैष्णव या भक्त कवि शास्त्रीय परम्परा के अनुयायी थे। उन्होंने बार-बार अपने मत को वेदों द्वारा प्रतिपादित होने की बात कही है। फिर भी उनके काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। भक्त कवियों की युगल उपासना तान्त्रिक प्रभाव ही है। शैव-प्रभाव के कारण संस्कृत-साहित्य में जो स्थान शिव और शक्ति का था, वही स्थान हिन्दी में तांत्रिक प्रभाव के कारण सीताराम और राधाकृष्ण का हुआ। बौद्ध व हिन्दू, दोनों ही तन्त्रों में युगल उपासना का प्राबल्य था। शक्ति और शक्तिमान्—प्रकृति और पुरुष—की पूजा के लिए नारी और पुरुष की युगल-उपासना प्रचलत थी। इन कवियों ने समाज से उस प्रभाव को यदि ग्रहण किया तो यह स्वाभाविक ही है। मर्यादावादी तुलसीदास ने भी अपनी आराध्या सीता को साक्षात् शक्ति कहकर पुकारा है—

आदि सकति जेहि जग उपजाया। सोई अवतरिहि मोरि यह माया॥

... ... —

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ॥

तुलसीदास ने बालखण्ड के आरम्भ में सर्वश्रेयस्करी रामवल्लभा सीता को 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणी' और 'क्लेश-हारिणी' कहकर उसके शक्ति-रूप की ओर संकेत किया है। तांत्रिक मत में जिस प्रकार शक्ति और शिव का अभिन्नत्व स्वीकार किया गया है उसी प्रकार तुलसी ने सीता और राम में अभिन्नत्व स्वीकार किया है—

गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥[2]

तन्त्र मत में जिस प्रकार शक्ति की मातृरूप में पूजा की जाती है बहुत-कुछ वैसी ही भावना तुलसी के इन शब्दों में दीख पड़ती है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मोरियो सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ।[3]

---

१. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २०९
२. रा० च० मा०, बा० का०, दोहा १८
३. विनयपत्रिका, पद ४१

तुलसीदास मर्यादावादी थे अतः उन पर जो तान्त्रिक प्रभाव पड़ा वह शक्ति-की स्वीकृति तक ही रहा, उन्होंने युगल की काम-केलि का वर्णन नहीं किया। जहाँ तक रामभक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय पर तान्त्रिक प्रभाव का प्रश्न है वह एकदम स्पष्ट है। डा० भगवतीसिंह के अनुसार इस सम्प्रदाय की प्रेरणा में तान्त्रिक सूत्रों का भी हाथ है।[1]

कृष्ण-भक्ति-शाखा में आरम्भ से ही माधुर्यभाव की उपासना है अतः उसमें युगल की काम-केलि का वर्णन खुलकर किया गया है। इसमें सभी गोपियाँ कृष्ण को पति-रूप में भजती हैं और अपने को शक्ति-रूप में। जिस प्रकार तान्त्रिक पद्धति में लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अलौकिक प्रेम का वर्णन अभीष्ट है उसी प्रकार इस मार्ग में भी प्रेम का जो वर्णन लौकिक कामकला के रूप में हुआ है उसका लक्ष्य भी प्रेम के अलौकिक रूप को चित्रित करना है। इनके सभी वर्णन तान्त्रिक पद्धति से प्रभावित हैं, यह दिखाते हुए श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने अपने विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

चीर-हरण, गोदोहन, कुंजविहार, दधि-दान तथा गारुड़ी वेष बनाकर राधा से मिलन आदि अवसरों पर भगवान् का जो कामकेलिमय रूप दिखायी पड़ता है, वह शक्ति-शक्तिमान् के सिद्धान्त का ही प्रतिफल है। इन कवियों ने होली खेलने, हिंडोला झूलने तथा फूल-मण्डली रचने आदि लोक-उत्सवों का उपयोग भी उक्त सिद्धान्त को रूपायित करने में किया है। नाना मौलिक उद्‌भावनाओं द्वारा इस प्रकार उक्त सिद्धान्त को कवित्व के रूप में प्रस्तुत किया है।[2]

रही बात राधावल्लभ सम्प्रदाय की, उसमें तो यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। जिन लोगों के मत में राधा ह्लादिनी शक्ति है उनके अनुसार तो स्पष्टतः ही यह तान्त्रिक प्रभाव है। वैसे भी इस मत में कृष्ण की अपेक्षा राधा का जो इतना अधिक माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है वह तान्त्रिक पद्धति के अनुसार है। वहाँ भी शक्ति ही सक्रिय है, वही गतिशील है और उसके बिना शिव शव के समान हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि तांत्रिक मत में रति-क्रिया का साक्षात्कार किया जाता है पर इस सम्प्रदाय में सखीभाव से लीला का दर्शन मात्र ही अभीष्ट है। श्री विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय के शब्दों में कहा जा सकता है कि—

"राधावल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभ मत से भी अधिक शक्ति व शक्तिमान् की शृंगारिक लीला का अद्‌भुत विस्तार मिलता है। आगमों का रति-विधान भी इसके सम्मुख फीका पड़ जाता है। युगल-लीला में लौकिक प्रेम का ही दिव्य स्तरों पर वर्णन किया गया है। कृष्ण में प्रेम की तृषा तथा राधा में अनंगकेलि की प्रमुखता मानकर

---

१. रामभक्ति में रसिक भावना, पृ० ६०

२. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २७२-७३

रति-रहस्य का पूर्ण उद्घाटन इस सम्प्रदाय में किया गया है। रूपदर्शन, उरोजस्पर्श, परिरम्भण से लेकर विपरीत रति-विवरण तक कामशास्त्र के सभी विधि-विधान दिव्य लीला में स्वीकृत हैं। रसमय धाम की रसमय लीला का गुह्यतम रूप इस सम्प्रदाय में मिलता है। किन्तु सखीभाव से इस लीला का दर्शन किया जाता है, तांत्रिकों की तरह स्वयं रतिक्रिया द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार यहाँ उद्देश्य नहीं है।''[१]

वज्रयान

इसे भलीभाँति समझने के लिए, बौद्ध धर्म के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक है। किसी भी धर्म का विकास जब शीघ्रता के साथ होता है और उसके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होने लगती है तो उन अनुयायियों में मूल विचार-धारा की व्यवस्था के सम्बन्ध में मतभेदों का होना स्वाभाविक ही है। बौद्ध धर्म के साथ भी यही हुआ। बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् हुई वैशाली की द्वितीय संगीति में वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्रीय) भिक्षुओं ने आचार तथा अध्यात्म-विषयक सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊँचा किया। उसी समय से बौद्ध संघ में दो वादों का जन्म हुआ। एक वे, जो प्राचीन विषयों में किसी प्रकार का भी संशोधन करने को तैयार न थे और दूसरे वे जो आवश्यक संशोधनों के पक्ष में थे। इनमें पहले स्थविरवादी कहलाये और दूसरे महासंघिक। यह स्थविरवाद ही आगे चलकर हीनयान कहलाया और महासंधिक का परिवर्तित रूप महायान के नाम से अभिहित हुआ।

बौद्ध धर्म का विकास आगे भी होता रहा। महायान में धीरे-धीरे मन्त्र-तन्त्र का समावेश हुआ। तांत्रिक आचार्य नागार्जुन की गुह्यशिक्षाओं ने तन्त्र-मन्त्र के प्रवेश को त्वरा प्रदान की। मन्त्र को समझने के लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की शक्ति जिनमें हो, उन्हें मन्त्र कहते हैं। मन्त्रों में और जादू-टोनों में विश्वास उस समय खूब प्रचलित था। इनकी क्रियाएँ गुप्त रहती थीं। इस काल (छठी शती) तक आते-आते बौद्ध धर्म ने काम की तृप्ति के लिए विशेष अभिप्राय से उसकी अनुमति भिक्षुओं और भिक्षुणियों को दे दी थी। उनके अनुसार मैथुन का प्रयोग 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिए विहित था, काम-तृप्ति करने का उद्देश्य न था। इसी विशेष अभिप्राय के लिए भैरवी और चक्र की सृष्टि हुई और उनकी आड़ में मैथुन का व्यापक प्रचार हो गया। धीरे-धीरे इनमें गुह्य सिद्धियाँ भी आ गयीं। बहुत से साधक अपने को लोकोत्तर सिद्ध करने के लिए सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगे। मदिरा का उपयोग चल पड़ा। आगे चलकर इसी मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिसमें मद्य, मन्त्र और हठयोग आदि को प्रमुखता मिली।

---

१. सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २६०

वज्र दृढ़ता के प्रतीक के रूप में गृहीत हुआ अतः इस मत का नाम वज्रयान कहलाया। वज्रयान कोई नवीन मत नहीं अपितु मन्त्रयान का ही परिवर्तित रूप है। डा० धर्मवीर भारती ने यही मन इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"वज्रयान मन्त्रयान का उत्तराधिकारी कोई नवीन तांत्रिक सम्प्रदाय नहीं था केवल वज्र की नवीन कल्पना के आधार पर मन्त्रयान का नया नामकरण था और उसमें कई नवीन तत्त्व जोड़ दिए गए थे जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था। किन्तु इस वज्र का प्रयोग सिद्ध लोग शून्य के अर्थ में करते थे। दृढ़ता, अच्छेद्यता, अभेद्यता आदि वज्र के लक्षण शून्यता में हैं अतः वही वज्र है। इसी शून्यता तथा नैरात्म्य-दर्शन को वज्रयानियों ने वज्रयान की संज्ञा दी और उसी को प्राप्त करने के लिए मार्ग को वज्रयान कहा। किन्तु यह वज्रयान महायान या मन्त्रयान से अलग नहीं था, केवल अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त करने का वज्र-प्रधान मार्ग था।"[1]

बौद्ध धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म था। विश्व को दुःखमय मानकर उससे दूर हट जाना, संन्यासी या भिक्षु बन जाना, ही उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम मार्ग था। इनके यहाँ शून्य की महत्ता थी और शून्य का अधिकांशतः गृहीत अर्थ निषेधात्मक था। पर वज्रयानियों ने इसकी व्याख्या प्रवृत्तिपरक की। इस दृष्टिकोण के बदल जाने से महान् परिवर्तन आ गया। वज्रयान के प्रवृत्ति-परक होने से इसमें सभी लौकिक धर्मों का समावेश हो गया। इन्हीं बातों को लक्ष्य में रखते हुए डा० धर्मवीर भारती ने एक स्थान पर कहा है—

"माध्यमिकों ने जगत् को शून्यता-स्वभाव का बताया है। इन्होंने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रखकर उसकी वज्रपरक व्याख्या की, वज्र जो दृढ़ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है। अतः उसकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रहकर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र में बदलकर इन्होंने अपने धर्म को केवल त्याग और संयमपरक न बनाकर भोग और सुख से समन्वित कर दिया। निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर वज्रयान में बौद्ध धर्म प्रवृत्तिमूलक बन गया।"[2]

प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण हो जाने से निवृत्तिवादिता के सभी बन्धन ढीले पड़ गये। अवरुद्ध जल-प्रवाह के एकदम मुक्त हो जाने से जैसे बाढ़-सी आ जाती है वैसी ही कुछ स्थिति वज्रयान की हुई। उसमें ऐन्द्रियता का अधिकाधिक समावेश होता गया। परिणामस्वरूप इसकी लोकप्रियता भी अधिकाधिक बढ़ती गई। म० म० श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'आधुनिक बौद्ध धर्म की भूमिका' में इसी ओर संकेत करते हुए कहा है—

---

१. सिद्ध साहित्य, पृ० १४१
२. वही, पृ० १४४

"इस प्रकार वज्रयान रहस्यवाद, दार्शनिकता और ऐन्द्रियता का विचित्र सम्मिश्रण है। इसके सिद्धान्तों की ऐन्द्रियता ने इसे बहुत ही आकर्षणशील बना दिया। परिणाम यह हुआ कि इसने शीघ्र ही शुष्क मंत्रयान और कठिन महायान को परास्त कर दिया।"[१]

नाथ मत

इस मत को मानने वाले व्यक्तियों के कान फटे होते हैं। वे कानों में बड़े-बड़े कुंडल या मुद्रा धारण करते हैं अतः बोलचाल की भाषा में इन्हें कनफटे साधु भी कहा जाता है। यह मुद्रा नाना प्रकार की धातुओं से बनी होती है, हाथी-दाँत की भी और सोने की भी। जहाँ तक इसके अर्थ का प्रश्न है, इसके दो अर्थ सर्वाधिक प्रचलित हैं। ना का अर्थ है अनादि रूप और थ का अर्थ है स्थापित करना। इस प्रकार नाथ मत का स्पष्टार्थ वह धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरख-नाथ को इसी कारण से नाथ कहा जाता है। नाथ ब्रह्म का एक और भी अर्थ है और वह है कि जो मोक्ष दिलाने में समर्थ है उसका ज्ञान कराना। थ का अर्थ है ज्ञान के अर्थ को स्थापित करने वाला।[२]

इस मत के अनुरूप इसका प्रवर्तक कोई मानव नहीं, अपितु शिव हैं—साक्षात् भैरवनाथ। शिव अनादि हैं अतः यह मत भी अनादि है। मत्स्येन्द्रनाथ मानव-रूप में साक्षात् शिव ही थे। कार्तिकेय ने कुलागम शास्त्र को चुराकर समुद्र में फेंक दिया था। उसी को लाने के लिए स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येन्द्र नाथ का अवतार धारण कर समुद्र में घुसकर उस शास्त्र का उद्धार किया था। मत्स्य का पेट चीरकर वे कुलागम शास्त्र को निकाल लाये थे, अतः उनका नाम मत्स्यघ्न पड़ा।[३]

सिद्धान्त

मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ ने परमात्मा को वेदों और उपनिषदों के शब्दों में सत् और असत् तथा नाम और रूप दोनों से परे माना है। उनके अनुरूप वह केवल है। परमात्मा तक पहुँचना ही मोक्ष है और इसे इसी जन्म में प्राप्त करना उनका लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पहली सीढ़ी काया की साधना है। काया की साधना के लिए वे योग-साधन पर बल देते हैं। उनका विश्वास है कि योग द्वारा जरा, मरण और व्याधि पर पूर्ण विजय प्राप्त की जा सकती है। गोरखनाथ ने कहा है कि वेद ईश्वर का निर्वचन नहीं करते, वे तो उसे ढकते हैं। यदि यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान अभीष्ट हो तो समाधि द्वारा जो शब्द प्रकाश में आता है उसमें

१. सन्त कवि दरिया, पृ० ६७
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३
३. वही, पृ० ३१

अलक्ष्य ब्रह्म का ध्यान करो । योग का अर्थ है समाधि, ध्यान को एकाग्र करना। वैसे योग के भी चार भेद हैं—१. मन्त्रयोग २. हठयोग ३. लययोग ४. राजयोग । पर इनमें ये हठयोग को ही प्रधान मानते हैं। सूर्य और चन्द्र के योग को हठयोग कहते हैं। हठयोग के भी दो अर्थ होते हैं—ह का अर्थ है सूर्य और ठ का चन्द्र । सूर्य से तात्पर्य प्राण वायु का है और चन्द्र से अपानवायु का । इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का विरोध करना ही हठयोग है । दूसरे अर्थ के अनुसार, सूर्य इड़ा नाड़ी को कहते हैं और चन्द्र पिंगला को । इसीलिए इड़ा और पिंगला नाड़ी को रोककर सुषुम्णा भाग से प्राणवायु के संचरित करने को हठयोग कहते हैं । हठपूर्वक सिद्धि देने से भी इसे हठयोग कहते हैं ।[1]

मानव को सिद्धि के लिए शुक्र (बिन्दु), वायु और मन, तीनों पर पूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक है । साथ ही यह भी है कि इनमें से किसी एक पर नियन्त्रण होने से शेष दो पर भी नियन्त्रण हो जाता है । इनमें कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्-संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणों के प्रति अनास्था, आन्तरिक शुद्धि और मद्य-मांसादि के पूर्णब हिष्कार पर अधिक बल दिया जाता है । गोरखनाथ के अनुसार इस मार्ग का पथिक वही हो सकता है जो विशुद्ध ब्रह्मचारी हो । नाद और बिन्दु दोनों पर संयम किये बिना सिद्धि नहीं मिलती—

यंद्री का लड़बड़ा, जिभ्या का फूहड़ा, गोरख कहें ते परतखि चूहड़ा ।

... ...

धन यौवन की करे न आस, चित्त न राखे कामिनि पास ।।

नाथ सम्प्रदाय में ब्रह्मचर्य का महत्त्व

नाथपन्थी योगियों ने हिन्दू देवताओं एवं उनके अवतारों पर लांछन लगाया है कि वे सभी भोगी थे । कोई भी कामदेव को पराभूत नहीं कर सका । सुग्रीव ने बालि की स्त्री रख ली । ब्रह्मा ने सरस्वती से भोग किया । इन्द्र ने गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या से छल किया । फलत: गौतम के शाप के कारण उसके सहस्र भग हो गये । अठासी सहस्र ऋषि भी कामदेव के प्रभाव तथा विष्णु की असाध्य माया से अपने को मुक्त नहीं कर सके । नाट्य कला के अधिष्ठाता शिव को भी कामदेव ने नचाया । विष्णु के दशावतार भी स्त्रीवाले हुए । एकमात्र योगी गोरखनाथ ने ही कामदेव को परास्त किया ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत के सिद्धान्तों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"इस मत में पूर्ण ब्रह्मचर्यमय जीवन आदर्श जीवन है । गृही में यह आदर्श नहीं है । बिन्दु (शुक्र) के संयमन से बड़ी सिद्धि मिलती है । पर दुर्भाग्यवश यह शरीर भी बिन्दु-निर्मित है अतएव अशुद्ध है । योगी लोग इस अपवित्रता के प्रति भी पर्याप्त

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३

सचेत हैं। जब तक माता-पिता का दिया हुआ धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता, तब तक नाथ पद तक पहुँचना असम्भव है।[१]

ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता

जीव का उससे चाहे जैसा सम्बन्ध माना जाय, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उससे सम्मिलन ही कैवल्य या मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति किसी दूसरे लोक में होती है ऐसा वे नहीं मानते। इसी जन्म में इसकी अनुभूति करना इस मत का लक्ष्य है। योगासन, नाड़ी-ज्ञान, षट्चक्र-निरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति ही इस पथ के मुख्य अंग हैं। शरीर-शुद्धि से लिए धौति, बाति, नेति, त्राटक, मौली और कपालभाति, इन षट्कर्मों पर बड़ा जोर दिया जाता है। इनके सतत अभ्यास से शरीर पर विजय मिलती है। इसके पश्चात् ब्रह्मचर्य द्वारा बिन्दु अर्थात् शुक्र को ऊर्ध्व-मुख किया जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए उर्ध्वरेता या ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रबुद्ध हुई कुण्डलिनी सहस्रारचक्र में स्थित शिव के साथ स्थित हो जाती है और योगी अपना परम प्राप्तव्य पा जाता है।

नाथपन्थी योगी अलख (अलक्ष्य) जगाते हुए कहते हैं "अलख, खोल दे फलक, देख ले झलक।" इसी शब्द से वे इष्टदेव का ध्यान करते हैं और यही कहकर मधुकरी माँगते हैं। नाथपन्थ के सबसे प्राचीन हठयोग-सम्बन्धी ग्रन्थ 'घेरण्ड संहिता', 'शिवसंहिता' और 'हठयोगप्रदीपिका' आदि हैं।[२]

इस मत में पुस्तकों को प्रामाणिकता नहीं दी जाती। शास्त्र-शब्दों की अपेक्षा वे अनुभव में अधिक विश्वास करते हैं। तीर्थ, व्रत, रोजा और नमाज के सार्थक होने में उन्हें विश्वास नहीं। अगर मन शुद्ध है तो कहीं इधर-उधर भटकने की जरूरत नहीं। गोरखनाथ का कहना है कि अगर मन चंगा है तो कठौती में गंगा है। गंगा के सेवन के जो फल बताये गये हैं, वे मन के शुद्ध होने पर स्वयं मिल जाते हैं।[३] एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि सब तीर्थ घट के भीतर हैं, हे भाई, तुम कहाँ भटकते हो।[४] मनुष्यमात्र की एकता में उनका विश्वास है। मनुष्य-मनुष्य बराबर हैं। हिन्दू-मुस्लिम का भेद कृत्रिम है। योगी के लिए मन्दिर और मस्जिद में कोई भेद नहीं। गोरखनाथ का कथन है—हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में, किंतु योगी परमपद का ध्यान करते हैं। वहाँ न मन्दिर है, न मस्जिद।[५] एक अन्य स्थान

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८६
२. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८६-६६
३. गोरखबानी (पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल), दोहा १५३
४. गोरखबानी (उपर्युक्त) सब्दी, ६३
५. वही, सब्दी ६८,

पर परमात्मा के सर्वोपरि रूप को समझाते हुए उन्होंने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है। हिन्दू कहते हैं कि वह राम है, मुसलमान कहते हैं कि वह खुदा है; किन्तु योगी जिस अलक्ष्य का आख्यान करते है, वहाँ न राम है, न खुदा।[१]

मन की शुद्धि के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात आचरण की शुद्धि की है। अन्ततोगत्वा शास्त्रों के अध्ययन और तज्जन्य ज्ञान का उद्देश्य चारित्रिक उन्नति है। यदि ज्ञान को चरित्र में नहीं ढाला जा सकता तो वह भार ही है। निरुक्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति जानता तो सब-कुछ है पर उस पर अमल नहीं करता, वह उस गधे के समान है जिसकी पीठ पर ग्रन्थों का बोझ-ही-बोझ लदा है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि आचारहीन व्यक्ति को कोई भी पवित्र नहीं कर सकता। अकेला ज्ञान पंगु है और जीवन की उन्नति करने में असमर्थ है। इसीलिए इस मत में कहनी और रहनी अर्थात् कथनी और करनी में एकता पर बल दिया गया है। कहते सब हैं, करता कोई बिरला ही है। तुलसीदास ने भी—पर उपदेश कुसल बहुतेरे—व्यक्तियों की चर्चा की है। गोरखनाथ ने यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है: "कहना आसान है किन्तु उसके अनुसार रहना कठिन है। बिना रहनी के तो कथनी से कोई लाभ नहीं। वह तोतारटन्त है, अनुभवहीन पढ़े-लिखे के हाथ में पोथी-ही-पोथी रह जाती है। अन्त में वह काल का ग्रास बन जाता है।"[२]

सिद्ध-साहित्य

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना पर सिद्ध सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है अतः उनके सिद्धान्तों के विषय में कुछ थोड़ा-सा जान लेना आवश्यक है। यों तो एक साधारण रूप से ऐसे किसी भी व्यक्ति को सिद्ध कहा जा सकता है जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली हो पर फिर भी इस शब्द का प्रयोग सीमित अर्थों में ही होता था। जो शैवयोगी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते थे वे नाथ कहलाते थे और बौद्ध-तान्त्रिक परम्परा के उच्च साधक सिद्ध नाम से पुकारे जाते थे। हिन्दी-साहित्य में ये दोनों शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। डा० धर्मवीर भारती ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। सिद्ध साधारण मानव न होकर अर्द्धदेवों की श्रेणी में माने जाते थे।[३] जन-साधारण के विश्वास के अनुसार ये सिद्ध अतिप्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न होते थे और अजर तथा अमर होते थे। इन्हें अष्ट महासिद्धियाँ खड्ग, अंजन, पादलेप, अन्तर्धान, रस-रसायन, खेचर, भूधर और पाताल प्राप्त होती थीं और यक्षिणी तथा डाकिनी आदि शक्तियों के ये स्वामी होते थे। यद्यपि आदिसिद्ध कौन था, इस विषय

---

१. गोरखबानी, दो० १६३
२. गोरखबानी, पृ० १३३
३. सिद्ध साहित्य—पृ० २४

में इनमें पर्याप्त भेद हैं तथापि इनका ८४ होना प्रायः सर्वसम्मत है। हाँ, यह अवश्य है कि इन ८४ नामों में भी भेद हैं। किसी सम्प्रदाय में कुछ नाम हैं तो अन्य में कुछ और।

प्रवृत्ति की प्रधानता

यद्यपि ये सिद्ध अपने मूल रूप में बौद्ध ही थे पर वास्तव में बहुत-सी बातों में बौद्ध धर्म से बहुत दूर जा पड़े थे। बौद्ध सम्प्रदाय संसार को दुःखमय मानता है और उसमें निवृत्ति या वैराग्य की प्रधानता है, यह हम पीछे कह आये हैं। इन सिद्धों का उद्देश्य बौद्धों के निवृत्तिमूलक दुःखवाद के स्थान पर सुख, आनन्द और भोग की प्रतिष्ठा करना था। उनके अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन अस्वास्थ्यकर था। कोरे दमन के विषय वासनाओं का दबाया जाना सम्भव नहीं। उनका विश्वास था कि स्वस्थ कामोपभोग के द्वारा ही जीवन को सामान्य बनाया जा सकता है। यही कारण है कि महामुद्रा के रूप में नारी की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में विहित थी। यह कामोपभोग अनिष्टकारी हो सकता है ऐसा मानने वालों को समझाते हुए ही तिलोपा ने एक स्थान पर कहा है—जैसे विष का विधानपूर्वक उपयोग करने वाला फिर विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार भव का विधानपूर्वक उपभोग करने वाला फिर भव में लिप्त नहीं होता।[१] काँटे से काँटा जिस प्रकार निकाला जा सकता है और लोहे से लोहा जैसे काटा जा सकता है, इस भाव को आदि देव ने इन शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है—जैसे कान में जाकर कष्ट पहुँचाने वाला जल, जल के ही आघात से बाहर निकलता है, जैसे काँटे से काँटा निकलता है उसी प्रकार राग से राग-लिप्ति का निराकरण होता है। जैसे धोबी कपड़ों का मैल छुड़ाने के लिए मैली सज्जी मिट्टी का ही प्रयोग करता है उसी प्रकार मन से विषयासक्ति दूर करने के लिए विषयों की ही साधना अनिवार्य है। जैसे लोहा पानी में डालने से डूब जाता है, किन्तु वही लोहा वरन-रूप में गठित होने पर जल-फेन बनकर यान के रूप में न केवल स्वयं तरता है वरन् दूसरों को भी तार देता है, उसी प्रकार प्रज्ञोपाय-विधान से इस चित्त को पात्रीकृत कर साधक भवभोग करता हुआ स्वयं भी मुक्त हो जाता है और दूसरों को भी मुक्त करता है। जैसे अग्नि दाहक होती है किन्तु स्नेह से सिक्त होकर वर्तिका में प्रतिष्ठित होकर यह निष्कम्प दीप-शिखा के समान तिमिर का नाश करती है उसी प्रकार राग भी संस्कृत होकर ज्योति विकीर्ण करता है, अन्धकार का नाश करता है।[२]

---

१. सिद्ध-साहित्य, पृ० २३३

२. वही, पृ० २३३

जगत् की स्थिति

इस सम्प्रदाय में जगत् के अस्तित्व की स्वीकृति नहीं है। यह जगत् मानव के चित्त का प्रक्षेपण-मात्र है, यह उसकी अपनी कल्पना से निर्मित है। जैसे कोई स्वयं निर्मित चित्र को देखकर डर उठे, उसी तरह नासमझ व्यक्ति अपनी ही कल्पना से निर्मित इस संसार से डरने लगते हैं। इस जगत् को भ्रममात्र बताते हुए भुसकुपा ने अपने एक पद में कहा है—"इस जगत् का आदि अन्त-नहीं है, अतः इसे भ्रान्ति जानो। जो रस्सी में साँप देखकर डरता है उसे यह भय खा जाता है। इसे हाथ में स्थित लवणवत् जानकर आश्चर्य मत करो। यदि इसी प्रकार इस जगत् को जान लोगे तो तुम्हारी वासना का क्षय हो जायेगा। यह संसार मरु-मरीचिका है, गन्धर्व-नगरी है। दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के समान...है। वन्ध्यासुत जैसे क्रीड़ा करे वैसे ही यह संसार है, बालुका से निःसृत तेल की भाँति, शश-शृंग की भाँति, आकाश-पुष्प की भाँति।"[1]

चित्त का महत्त्व

इनके यहाँ चित्त का महत्त्व अत्यधिक है। इनके अनुसार सब-कुछ चित्त ही का प्रसार है। जिसने चित्त को पहचान लिया उसने सब-कुछ जान लिया। संसार की सापेक्षता में इस चित्त के दो रूप माने गये हैं (१) बद्ध और (२) मुक्त। जब अपने ही संकल्पों द्वारा निर्मित इस संसार-रूपी मोहजाल में मन आबद्ध रहता है तब तक उसे परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वह अपने स्वभाव को भूला रहता है। इस प्रकार यह बद्धचित्त ही सारे बन्धनों का कारण है। इसीलिए इनके यहाँ चित्त के मुक्त रूप को पहचानने पर इतना अधिक बल दिया गया है। यह मुक्त रूप ही चित्त का वास्तविक रूप है जिसे पहचानने पर इन सिद्धों ने इतना बल दिया है। सरहपा ने समझाते हुए कहा है—"हे मूर्ख ! अपने को जान। ज्ञान ध्येय, धारणा, जप से क्या होता है ? जब तक तू अपने और पर (संसार) में भेद मानता है तब तक तुझे अनुत्तर की प्राप्ति भला कैसे होगी ? तू अपने चित्त के द्वारा ही अपने को जान।"[2] यह मन जब अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो इसकी सभी प्रकार की आसक्तियाँ हट जाती हैं। यह निश्चल एवं शान्त हो जाता है। इस तरह यह स्वयं तो प्रकाशमान् हो ही जाता है साथ ही दूसरों को भी प्रकाशित करता है। सच्चा सिद्ध वही है जो अपने को ही सबमें व्याप्त देखता है। मैं ही जगत् हूँ, तीनों भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। सभी दृश्यमान जगत् में मैं ही व्याप्त हूँ, ऐसा जानने वाला निश्चय ही सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. सिद्ध-साहित्य, पृ० १६९
२. वही, पृ० १३६
३. वही, पृ० १७०

निर्वाण का रूप

मुक्त चित्त ही निर्वाण है अन्य कुछ नहीं, ऐसा इन सिद्धों का मत है। मुक्त चित्त भ्रान्ति और मोह-जाल से छुटकारा पाकर जब अपने निर्लिप्त स्वभाव को प्राप्त कर लेता है तब यह निर्वाण या मोक्ष में अधिष्ठित हो जाता है। मन की निर्लिप्त स्थिति ही निर्वाण की स्थिति है। कण्हपा ने इसी भाव को इन शब्दों में स्वीकार किया है---जो चित्त-स्थिति निश्चय है, निर्विकल्प है, निर्विकार है, उदयास्त-रहित है, ऐसी स्थिति को निर्वाण कहते हैं, जिसमें चित्त कुछ भी नहीं करता है।[1]

मन की यह निर्लिप्त अवस्था ही निर्वाण का स्वरूप है। ऐसा अन्य बहुत-से विद्वानों का मत है, "यह क्लेशों का अभावस्वरूप तथा कषायों का नाश-स्वरूप है। दीपक के निर्वाण के समान ही यह भी निर्वाण है। इसमें धर्मों का अनुत्पाद रहता है। इस पद पर पहुँचकर साधक उस आश्रय की प्राप्ति करता है, जिसमें न कोई क्लेश हो और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति हो---"निर्विषयां चित्सन्तति सौत्रान्तिकाः मुक्तिमाहुः।"

इन सिद्धों की एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने जीवन को सहजरूप में देखने का आग्रह किया। आगे चलकर जो सहज शब्द इतना अधिक प्रचलित हुआ और इसकी जो विविध व्याख्याएँ सामने आयीं, उन्हें प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं को है। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में पूर्व-प्रचलित मार्गों की अपेक्षा यह मार्ग सहज भी रहा। एकदम सस्ता न हो जाये और लोग इसे महत्त्वहीन ही न समझ बैठें, शायद इस भावना ने धीरे-धीरे इस सम्प्रदाय ने भी कठिन साधनाओं को प्रश्रय देना शुरू किया। इन सिद्धों ने सभी प्रकार के पाखण्डों का विरोध कर अधिक-से-अधिक सरल और सहज रूप में उसे प्रस्तुत किया था।

इस चित्त को स्वच्छ रखने के लिए, इस पर पड़े मल के आवरण को दूर करने के लिए गुरु और योग पर अत्यधिक बल दिया गया है। तांत्रिक क्रियाएँ और दुरूह योग की साधना गुरु के बिना सम्भव नहीं।

इनके सिद्धान्तों के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद इतना कह देना आवश्यक है कि यद्यपि कामोपभोग की आज्ञा इनके यहाँ एक निश्चित उद्देश्य से ही दी गयी थी और स्वतन्त्र रूप से कामोपासना का इन्होंने निषेध किया है, तो भी कामोपासना कामुकता का रूप ले चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं। प्रज्ञापारमिताओं के सम्पादक श्री राजेन्द्रलाल मित्र तथा बौद्धतन्त्रों पर सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० विनयतोष भट्टाचार्य दोनों ही इन बौद्ध तान्त्रिक आचार्यों की साधनाओं को विकृत रागग्रस्त, अस्वस्थ और पतनोमुखी बताते हैं, श्रीअरविन्द प्रभृति विद्वानों ने इन सिद्धांतों में गहन आध्यात्मिकता स्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार किया है कि कालान्तर में

१. भारतीय दर्शन, पृ० १६२

में इनमें ऐसे बहुत से तत्त्व आकर जुड़ गये थे जिनके कारण अनियन्त्रित कामाचार, असंयत सामाजिक व्यभिचार, दुराचार का मानो एक पन्थ ही चल गया।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी कुछ इसी प्रकार का है।[२] इनके परवर्ती कबीर आदि साधकों ने नारी की जो इतनी निन्दा की है उसका कारण सिद्ध-साधकों द्वारा प्रवर्तित कामुकता के प्रश्रय को रोकने की तीव्र इच्छा ही थी। कबीर के ही कथन से यह भी पता लगता है कि बहुत से सिद्धों को माया बड़ी प्यारी थी।

सभी सम्प्रदायों की सीमा—भारतीय देव-भावना का शाश्वत रूप और उसकी प्रमुख विशेषताएँ।

हमने इससे पूर्व जिन देशों की देव-भावना का विवरण दिया है उससे यह स्पष्ट है कि वहाँ की देव-भावना और यहाँ की देव-भावना में पर्याप्त सादृश्य है। अवेस्ता और वेद के अद्भुत साम्य के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। यह साम्य सर्व-विदित है। न केवल इन दोनों की देव-भावना ही एक-दूसरे के निकट है अपितु भाषा में भी अद्भुत साम्य है। उसके विषय में अपनी ओर से कुछ न कहकर श्री एच० डी० ग्रिसवाल्ड के शब्दों में इतना ही कहेंगे कि इनमें से एक को दूसरे की व्याख्या कहा जा सकता है—

"As a matter of fact, Veda and Avesta are so closely related that each is a good commentary on the other ?"[३]

अर्थात् तथ्य यह है कि वेद और अवेस्ता एक-दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं कि एक को दूसरे की व्याख्या मात्र कहा जा सकता है।

जिस प्रकार यहाँ आकाश, पृथ्वी और वायु-स्थानीय देवता मिलते हैं वैसे ही ही यूनान आदि देशों में मिलते हैं। यदि हमारे यहाँ पुरुष और स्त्री देवता हैं तो अन्य देशों में भी दोनों ही प्रकार के देवता हैं। जिस प्रकार अन्य देशों में सौन्दर्य, कला और संगीत के देवता हैं उसी प्रकार हमारे यहाँ भी हैं। सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवी है तो लक्ष्मी सम्पत्ति की। जिस प्रकार हमारे यहां नैतिकता के रक्षक वरुण हैं, युद्ध के देवता इन्द्र हैं, उसी प्रकार अन्य देशों के देवता हैं। हमारे यहाँ महादेव का त्रिशूल है तो यूनान में पासिडोन का शस्त्र त्रिशूलाकार है। यूनान में आटेमिस देवी के रथ में शेर जुतते थे और वह जंगली जानवरों की अधिष्ठात्री देवी थी तो हमारे यहाँ चण्डी का वाहन शेर है और रुद्र तथा शिव का पशुओं के साथ विशेष सम्बन्ध है। हमारे देश के देवों से मिलते-जुलते देव अन्य देशों में भी आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं।

---

१. सिद्ध-साहित्य, पृ० ७५
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १३
३. The Religious Quest of India, P. 20

क्रीट के धर्म में और भारत के धर्म में बहुत बातों में आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। क्रीट-निवासी भी उसी प्रकार धार्मिक थे जिस प्रकार भारतीय थे। वहाँ पर्वतों, गुफाओं, पाषाणों और वृक्षों की पूजा होती थी। सूर्य और चन्द्रमा भी पूजन के अधिकारी थे। बकरी, सर्प और वृषभ की पूजा भी वहाँ होती थी। वहाँ प्रार्थना और बलि की प्रथा थी। धूपबत्ती जलाना और शंख बजाना भी वहाँ प्रचलित था।

To appease the deties the Creatan uses a lavish rite of Prayer and scarifice, symbol and ceremony, administered usually by women-priests, sometimes by the officials of the state, to ward off demons he burnsincense ; he arouses a negligent divinity, he sounds the counch, plays the flute or the lyre, and signs in chorus, hymns of adoration.[१]

अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए क्रीट-निवासी बहुद्रव्य-साध्य—खर्चीला और भड़कीला—प्रार्थना, बलि और जन्म विधि-विधान किया करते थे। ये विधि-विधान कभी स्त्री-पुरोहितों द्वारा हुआ करते थे और कभी राज्य के अधिकारियों द्वारा। दुरात्माओं को दूर भगाने के लिए क्रीट-निवासी धूपबत्ती जलाता था, कभी असावधान (लापरवाह) देवता को जगाता था, कभी शंख और बाँसुरी बजाता था और कभी-कभी वहाँ देवताओं के सम्मानार्थ सामूहिक गान भी हुआ करते थे।

मिस्र में भी सबसे पुराना देवता सूर्य है जैसा कि भारत में था। जिस प्रकार यहाँ पशु-रूप में और अर्द्ध पशु—अर्द्ध मानव के रूप में भगवान् के अवतारों की पूजा होती थी, उसी प्रकार बेबीलोनिया और एशिया माइनर में भी होती थी।[२] मिस्र में भी किसी-न-किसी रूप में शक्ति की पूजा प्रचलित थी।

इन सब देवताओं का स्वभाव भी प्रायः एक-सा है। जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं उसी तरह देवता भी करते हैं। भारत में वरुण सूर्य का मार्ग तैयार करता है, सूर्य मानवों के सम्बन्ध में मित्र और वरुण को सूचना देता है, अग्नि इन्द्रकी सहायता करता है। और इन्द्र अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करता है। मरुत् सैनिक रूप में इन्द्र की सहायता करता है, त्वष्टा इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है और बृहस्पति के कुल्हाड़े को तेज करता है, विष्णु वृत्र से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता करता है। दूसरे देशों के देवता भी परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते हैं, ये देवता भारत में जिस प्रकार मर्त्य नारियों के साथ नियोग कर सन्तानोत्पत्ति किया

---

१. लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १४

२. वही, पृ० १३

करते थे उसी प्रकार दूसरे देशों में भी ये देवता मानवियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया करते थे ।

ऐसी स्थिति में स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या उन देशों की देव-भावना ने यहाँ की देव-भावना को प्रभावित नहीं किया है ? यदि किया है तो किस सीमा तक ? प्रश्न सचमुच जटिल है । इनमें कौनसी सभ्यता प्राचीनतम है, यह कह सकना सरल नहीं है । यह विषय स्वतंत्र रूप से शोध का विषय बन सकता है । प्रत्येक देश अपनी सभ्यता के प्राचीन होने का दावा करता है । जहाँ तक अन्य देव-भावनाओं द्वारा भारतीय देव-भावना के प्रभावित होने का प्रश्न है, इस पर बाहरी प्रभाव कहीं नहीं दीख पड़ता । वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आलोचक श्री ए० बी० कीथ ने इस प्रश्न पर सविस्तार विवेचन किया है । ऋग्वेदकालीन देव-भावना पर अन्य राष्ट्रों और विशेषतः बेबीलोनिया की संस्कृति या देव-वाद का प्रभाव पड़ा है या नहीं, इस प्रश्न को उठाकर उन्होंने इसका उत्तर नकारात्मक दिया है । उनका कहना है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य में इस तरह का एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे किसी देवता के उधार लेने या उस पर विदेशी प्रभाव के संकेत मिलते हों—

In the case of Rigved and the later Vedic Taxts no such instance of borrowing is hinted at, and no case is known in which the similarity of name even suggests that a God has been taken over from another people.[1]

अर्थात् ऋग्वेद तथा अन्य वेद-ग्रन्थों में उधार लेने का संकेत मात्र भी नहीं मिलता । वहाँ कोई ऐसी भी घटना नहीं मिलती जिसमें नाम के साम्य के आधार पर भी यह पता लगता हो कि एक भी देवता किसी दूसरी जाति से लिया गया है ।

ईरान ने यहाँ की देव-भावना को कहाँ तक प्रभावित किया है, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यद्यपि अग्नि-पूजा में, असुर शब्द के अर्थ के विकास और एकाध अन्य स्थल पर कुछ सादृश्य दीख पड़ता है तथापि इसे किसी प्रकार का निकट सम्बन्ध मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा—

No specially close relation to Iran can be definitely traced in this period, though the fire-cult may have been influenced by that of Iran, and Iranian influence can be seen in the development of the meaning af Asura, and in the names of individual Asuras, as in the reference to incestuous union in the Aitraiya Brahman.[2]

भाव यह है कि यद्यपि अग्नि-पूजा में ईरान का प्रभाव संभव हो सकता है,

१. रि० फि० वेद० उप०, पृ० १३
२. वही, पृ० २६

असुर शब्द के अर्थ-विकास में भी इस प्रभाव की संभावना है। असुरों के व्यक्तिगत नामों में भी यह संभावना है जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में आये हुए समानगोत्र में मैथुन-संबन्ध रखने वाले मिथुन (जोड़ा) के प्रकरण में, पर फिर भी इस काल में ईरान के साथ किसी घनिष्ठ संबन्ध को नहीं ढूंढ़ा जा सकता।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो मिस्र और सुमेरिया की संस्कृति को भारतीय संस्कृति से प्राचीन मानते हैं। उनका कहना है कि अपनी इस प्राचीनता के कारण मिस्र ने भारतीय देव-भावना को प्रभावित किया है। दोनों में जो साम्य दीख पड़ता है वह इसी कारण है। इस विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मिस्र की संस्कृति को प्राचीनतर मानने की धारणा अब भ्रान्त मानी जाने लगी है। इस विषय में बहुत से मत न उद्धृत कर हम श्री सांवलिया बिहारीमल का ही मत उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि आर्य-सभ्यता मिश्र निवासियों और सुमेरियनों की देन है। किंतु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह प्रमाणित होगा कि हिन्दू-सभ्यता मिस्र और सुमेरियनों की सभ्यता से भी पुरानी है। सिन्धु-सभ्यता में बैलों द्वारा गाड़ी खींची जाती थी किन्तु सुमेरिया में गदहों द्वारा। वर्छे भाले या त्रिशूल की तुलना से पता चलता है कि सुमेरियनों का बर्छा अधिक सुन्दर और सुनिर्मित था। इन सब बातों से भी सिन्धु-सभ्यता पुरानी जान पड़ती है। मोहनजोदड़ो में खुदाई के बाद देवालय या मन्दिर नहीं मिले किन्तु मिस्र, सुमेरिया, बेबीलोन, यूनान आदि देशों में हम मन्दिर अधिक संख्या में पाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि इन सब देशों की सभ्यता सिन्धु सभ्यता के बाद की है।[1]

इसी प्रश्न की विवेचना करते हुए उन्होंने आगे कहा है कि ईस्वी-पूर्व १४वीं शती में यहाँ के देवता दूसरे देशों द्वारा गृहीत हो चुके थे—ह्यूगो विकलर ने १९०७ ई० में एशिया माइनर के बोगज नामक स्थान में खत्ती राज्य-सम्बन्धी कुछ ईंटें खोद निकाली थीं। इन पर मिलनी जातियों के बीच युद्ध-समाप्ति के फलस्वरूप हुई सन्धि का उल्लेख है। सन्धि में साक्षी-रूप से चार वैदिक देवताओं के नाम आये हैं। जैसे—मित्र, अरुण, इन्द्र, नासत्य। ये नाम अवेस्ता के नामों के साथ पूर्णतया नहीं मिलते। किन्तु ऋग्वेद में आये हुए नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद बनने के बहुत काल बाद आर्यों की एक शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गई और वहाँ उसने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की।

वह विश्व की प्राचीनतम देव-भावनाओं में से एक है। कालक्रम के स्वाभाविक रूप में उसने सम्भवतः अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत बाह्य प्रभाव ग्रहण किया हो, पर उसने कहीं कुछ प्रत्यक्ष रूप से लिया है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। वैसे भी

---

१. विश्व-धर्म-दर्शन, पृ० ९

उसकी देव-भावना का अपना एक विशेष क्रम है। कुछ विशेष सम्प्रदायों को छोड़कर सभी सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों को मूल स्रोत के रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें पग-पग पर वेदों की दुहाई है। अपने प्रत्येक सिद्धान्त को वेदानुकूल सिद्ध करने का यह आग्रह दुराग्रह तक भले ही पहुँच गया हो तो भी इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस देश में अवैदिक सिद्धान्तों को मान्यता कम ही मिली है।

शिव और गणेश अनार्य देवता अवश्य हैं पर अभारतीय नहीं। वे यहीं की उपज हैं और बाद में वैदिक देवताओं में उनका अन्तर्भाव हो गया है। लिंग-पूजा भी वेद-बाह्य तो है, पर वह भी अभारतीय नहीं। आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यह सिन्धु-घाटी में प्रचलित थी। जब वैदिक आर्यों का इन वैदिकेतर जातियों के साथ सम्पर्क हुआ तो यह लिंग-पूजा इन वैदिक आर्यों में भी आ गई। ईसाई-मत की देन के प्रकरण में हम कह आए हैं कि कृष्ण क्राइस्ट के रूपान्तर नहीं और उनकी पूजा पर ईसाई मत का कोई प्रभाव नहीं। आभीर जाति भी अभारतीय नहीं। वे लोग यहीं के निवासी हैं अतः बालकृष्ण की पूजा भी अभारतीय नहीं कहीं जा सकती। कान्ताभाव से भगवान् की आराधना भी इस्लाम धर्म की देन नहीं कहीं जा सकती, इसकी चर्चा पीछे सविस्तार हो चुकी है। प्रपत्ति के बीज वेदों और उपनिषदों में हैं तथा गीता में भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविन्द से अर्जुन को सर्वतोभावेन शरण में आने का उपदेश दिया है, यह भी पीछे कहा जा चुका है। रही बात वज्रयान, सिद्ध-परम्परा और नाथ-सम्प्रदाय की, उन पर पड़े हुए अवैदिक प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी उन्हें भारतीय ही कहा जायगा। जैन और बौद्ध धर्म की जड़ें भारतीय भूमि में ही हैं और इनसे निकले सम्प्रदाय विशाल भारतीय वृक्ष की अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं के समान उसके ही अंग हैं, उससे भिन्न नहीं।

जहाँ तक सादृश्य का प्रश्न है, हम समझते हैं कि ज्ञान पर किसी एक ही देश का अधिकार नहीं होता। ज्ञान के प्रकाश की किरणें भगवान् भुवन-भास्कर की किरणों के समान सभी स्थानों पर अपना प्रसार करती हैं। जब कभी आध्यात्मिकता की लहर फैली थी तो उससे कोई भी देश अछूता नहीं रहा था। आज यदि भौतिकता-परक विचारधारा का प्राबल्य है तो उससे भी समस्त विश्व एक साथ प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि सभी देशों की संस्कृतियों में कुछ सर्वसामान्य तत्त्वों के दर्शन समान रूप से होते हैं। किसी समय देव-भावना की भागीरथी ने विश्व के सभी किनारों का समान रूप से स्पर्श किया था।

भारतीय देव-भावना की कुछ प्रमुख विशेषताएँ-ईश्वरवाद

इसका अर्थ है कि विश्व में जो कुछ दीख पड़ता है वह ईश्वर का ही रूप है, उससे पृथक् कुछ नहीं। भगवान् कृष्ण ने इसी भाव को समझाते हुए अर्जुन से कहा है

हिन्दी के भक्ति-काल के आरम्भ में या उससे कुछ काल पूर्व जिन विशिष्टाद्वैतवाद आदि मतों की स्थापना हुई, उनमें अद्वैतवाद का एकदम प्रत्याख्यान नहीं हुआ। भक्ति के लिए जितने द्वैत की आवश्यकता थी उसे स्वीकार कर लिया गया। यही कारण है कि तुलसी में यदि विशिष्टाद्वैतवाद भी मान लिया जाय तो भी कोई अन्तर न होगा।

अध्यात्मवाद

इसका साधारण और सरल अर्थ है भौतिक शरीर से परे आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास। आत्मा की नित्यता में विश्वास रखने के कारण अध्यात्मवादी साधक इन लौकिक सुखों में न फँसकर परलोक की चिन्ता में ही निरत रहता है। इसमें इस लोक का प्रत्याख्यान तो नहीं है, पर इस लोक के मुकाबले में परलोक की प्रमुखता अवश्य है। इस प्रकार के साधक की दृष्टि प्रत्यक्ष जगत् को तो देखती ही है, कुछ और आगे भी देखती है। यह अध्यात्मवाद दूसरी संस्कृतियों में एकदम न हो, यह बात नहीं। किसी मात्रा में यह वहाँ भी है, पर हमारे यहाँ तो अध्यात्मवाद का प्रभाव बहुत अधिक है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि हमारे साहित्य में पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता दीख पड़ती है। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य तक में यह बात पायी जाती है। कबीर, सूर, तुलसी और जायसी में जो ब्रह्म, जीव और आत्मा का साहित्यिक और दार्शनिक विवेचन मिलता है, उसका कारण यही है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हमारे साहित्य में उच्च श्रृंगार के दर्शन ही नहीं होते। सूर और तुलसी में राधा और सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। सूर में तो नख से लेकर शिख तक नारी के सभी अंगों पर बहुत सुन्दर और अनूठी उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ देखने को मिलती हैं। कबीर और जायसी में मिलन और वियोग-सम्बन्धी ऐसी मर्म स्पर्शिनी उक्तियाँ हैं कि लौकिक श्रृंगार के वर्णन में उससे अधिक कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती। पर इतना होते हुए भी उसमें कहीं अश्लीलता नहीं, कामुकता का दर्शन नहीं। बीच-बीच में ये कवि ऐसे संकेत करते चलते हैं कि पाठक उस रस में सिक्त होकर भी भौतिक धरातल से ऊपर उठा रहता है। कबीर जब मिलन के लिए घूँघट उठाने की बात कहते हैं, प्रिय से एकान्त में मिलने की इच्छा व्यक्त करते हैं—"का जानो वा पीव सो कैसे रहती रंग।" जायसी बारहमासा-वर्णन में कहीं-कहीं श्रृंगार की सीमा पार करते दीख पड़ते हैं, सूर रास के वर्णन में कृष्ण की विचित्र-विचित्र लीलाओं का वर्णन करते हैं तब उसमें वासना की गन्ध न आने का कारण यह अध्यात्मवाद ही है।

विरति या वैराग्य

प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो धाराएँ समानान्तर रूप से बहती आ रही हैं। वैदिक युग में प्रवृत्ति की प्रधानता थी। जीवन में आनन्द की बहुलता थी। वहाँ ईश्वर से सौ वर्ष तक देखने और सुनने तथा जीने की प्रार्थना की गयी है। पर कालान्तर में संसार को अनित्य समझने की भावना बलवती होती गयी। उपनिषदों में सांसारिक पदार्थों को तुच्छ कहा गया है। बौद्ध धर्म के आगमन के साथ विरति की भावना और प्रबल हो गयी। बौद्ध धर्म संसार को दुःखमय बताता है। उसके अनुसार दुःख से निवृत्ति का उपाय संसार का त्याग है। उनके यहाँ भिक्षु बनकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। स्वभावतः सब वस्तुओं को क्षणिक और बन्धनों का मूल मानने के कारण निवृत्ति की भावना भारतीय जीवन का अंग बन गयी थी। भारतीय देव-भावना में निवृत्ति का यह पक्ष बहुत प्रबल है। यहाँ सांसारिक जीवन के प्रति कोई लगाव नहीं। उसकी स्थिति तो यहाँ काँटों पर पड़ी उस ओस की बूँद के समान है जो क्षण-भर बाद ही लुढ़क जायेगी या प्रभातकालीन उन तारों की-सी है जो सूर्य के प्रकाशित होते ही छिप जायेंगे।

आप किसी भी कवि की रचना को ले लें, विरति का यह भाव कहीं-न-कहीं अवश्य दीख पड़ेगा। कबीर ने "पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात" कहकर मानव-जीवन की क्षणिकता की ओर संकेत किया है। "काल कौ अंग" में उनका कहना है कि मनुष्य काल के मुख का चबेना है और वह झूठे सुख को सुख समझ कर मन में फूला नहीं समाता। उनका यह भी कहना है कि काल-रूपी बाज मानव-रूपी चिड़िया पर किसी भी समय झपट्टा मार कर उसे समाप्त कर सकता है।[1] सूरदास में भी वैराग्य की यह भावना पायी जाती है उनका कहना है कि मनुष्य इस शरीर को पाकर धन-यौवन के नशे में चूर हुआ गर्व से भर जाता है। अपने को बड़ा समझ कर वह किसी से सीधे मुँह बात भी नहीं करता। न ध्यान में मन लगाता है और न पूजा करता है। किसी को बड़ा मानने में वह हेठी समझता है। चंचला लक्ष्मी को पाकर टेढ़ा-मेढ़ा चलता है। जब वृद्धावस्था आती है तब इतराना बन्द हो जाता है, उसके मुख से राल टपकती है। वाणी से स्पष्ट नहीं बोला जाता, कमर झुक गयी है और सीधा नहीं चला जाता है। यदि यौवन में ही इन बातों का ध्यान किया होता तो कितना अच्छा था। खैर, जब भी समझ आ जाय तो अच्छा ही है। शरीर का अभिमान गया, किसी को अपने से बड़ा माना, नयी बुद्धि आयी।[2]

तुलसी के अनुसार भी भगवान् की प्राप्ति के लिए विरति की भावना आवश्यक है। उनका कहना है कि दुःख-रूप गृहस्थ-आश्रम में फँसे और काम, क्रोध, मद एवं लोभ में रत व्यक्ति रघुवीर को कैसे जान सकते हैं?

---

१. क० ग्र०, पृ० ७१-७२
२. सूरसागर, पद ३०२ और ३६५

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम-कूप ।।[१]

उन्होंने यह भी कहा है कि मोह को काटने से लिए दो ही साधन हैं— ज्ञान और विराग। यह मोह उन्हें ही सताता है जिनके हृदय में ज्ञान और (विरति) नहीं है—

सुसु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ।।[२]

जायसी भी इसी मार्ग के पथिक हैं। जब रतनसेन के हृदय में पद्मावती का अनुराग जाग्रत हो जाता है और नागमती उसे घर न छोड़ने के लिए अनुरोध करती है तो रतनसेन संसार की अनित्यता की बात कहकर उसके अनुरोध को टाल देता है।

अवतारवाद

वैदिक काल की देव-भावना के प्रकरण में हम कह आये हैं कि वेदों में मानवीकरण की प्रक्रिया के होते हुए भी देव को निराकार ही माना गया है। वेदों की मान्यता का निषेध करने वाले या उसे किसी तरह का चैलेंज देने वाले सुधारक हमारे देश में कम ही हुए हैं। और इस प्रकार वेदों में वर्णित निराकार की भावना किसी-न-किसी रूप में चलती ही रही है। पर ब्राह्मण-काल में ही अवतारवाद की भूमिका आसानी से ढूँढ़ी जा सकती है। वहाँ विष्णु के जिन तीन पदों की चर्चा है उसे आधार बना कर साकार भावना लगातार बलवती होती गयी। यह बीज अनुकूल धरती पाकर जब एक बार पल्लवित और पुष्प हो गया तो अवतारवाद की धारा ऐसी वेगवती हो उठी कि निराकार का पक्ष दब-सा गया। पुराणों में और तदनन्तर हिन्दी-साहित्य में अवतारवाद की प्रतिष्ठा एकदम स्पष्ट है। इस अवतारवाद का प्रभाव इतना अधिक व्यापक था कि इसका खंडन करने वाले कबीर, नानक, दादू और रैदास भी इससे एकदम अछूते नहीं रह सके। पंचम अध्याय में निर्गुण मत पर साकार रूप या पौराणिक प्रभाव की चर्चा में इस विषय पर पर्याप्त उदाहरण दिये गये हैं।

अवतारवाद का अर्थ है कि इस सृष्टि का निर्माता अव्यक्त और अगोचर रहकर संचालन नहीं करता। जब कभी आवश्यकता होती है, भू पर असुरों का भार बढ़ता है या भक्तों पर विपत्ति आती है तो भगवान् स्वयं इस भू पर अवतरित होते हैं। वह ऐसे कृपालु हैं कि भक्त पर भीड़ पड़ते ही वह नंगे पैर दौड़े चले आते हैं। प्रह्लाद की रक्षा के लिए उन्होंने नृसिंह का रूप धारण किया था; द्रौपदी का चीर-हरण होते देखकर उन्होंने उसके चीर को अनन्त कर दिया था और गज को ग्राह के मुँह में फंसा देख वह गरुड़ को छोड़ दौड़े चले आये थे। इस प्रकार के सहस्रशः उदाहरण साहित्य

---

१. रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृ० ११००
२, वही, बालकांड, पृ० १४२

में से आसानी से ढूंढ़े जा सकते हैं। भक्तों के समीप रहने के लिए उन्होंने इसी भू पर अपने लोक स्थापित कर लिये हैं और उनमें वे इतने रम गये हैं कि अब इस लोक को छोड़कर जाना उन्हें पसन्द नहीं। अपने इस रूप में अवतारवाद इसी देव-भावना की विशेषता है। अन्य देशों की देव-भावना में ईश्वर दूर रहकर ही सृष्टि का संचालन करता है। जब कभी उसे बहुत करुणा आती है तब वह अपने सन्देश-वाहक को भेज देता है। ईसाइयों में ईसामसीह, ईश्वर के परम प्रिय पुत्र हैं, स्वयं ईश्वर नहीं। इस्लाम में भी हजरत मुहम्मद की स्थिति यही है। यह ठीक है कि श्रद्धातिरेक के कारण उनकी जो स्तुति की गयी है वह उन्हें अतिमानवीय पद तक पहुँचा देती है, पर फिर भी सिद्धान्त रूप से उनके यहाँ एक अल्लाह के सिवाय किसी अन्य की आराधना कुफ्र हैं। षष्ठ अध्याय में 'अन्य देवी-देवता' प्रकरण में हमने इस पर सविस्तार विवेचन किया है। इसके विपरीत भारतीय साहित्य में ईश्वर के अवतार को शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए अधिक प्रयत्न किये गये हैं। भारतीय देव-भावना में राम, कृष्ण और शिव साक्षात् भगवान् हैं। यह अवतार मानवाकार तो होते ही हैं, कभी-कभी पशु और अर्द्ध पशु-मानव के रूप में भी उनका अवतार होता है। आरंभ में इन अवतारों की संख्य दस थी। और अन्त में २४ तक पहुंच गई। २३ अवतार हो चुके हैं और कल्कि रूप में अभी एक अवतार का होना शेष है।

प्रपत्तिवाद

अभी हम यह दिखा आये हैं कि प्रपत्ति अर्थात् सर्वतोभावेन भगवान् की शरण में जाना भारतीय देव-भावना की अपनी विशेषता है। इसके बीज वेदों में और उपनिषदों में विद्यमान हैं। गीता में यह भावना एकदम स्पष्ट है। आलवार सन्तों में यह भावना विद्यमान है। वास्तविकता तो यह है कि प्रपत्ति की यह सरिता कभी मन्दगति से तो कभी तीव्र गति से, भारतीय जीवन को आप्लावित करती रही है। कबीर में प्रपत्ति की यह भावना पूरी तरह विद्यमान है। जिस ज्ञान की उन्होंने इतनी प्रशंसा की है वह भी राम-ज्ञान के सामने झूठा है, व्यर्थ है—

बेद न जानूँ भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामा।[१]

बात यह है कि ज्ञान हो या तप हो, इनकी महत्ता साधन-भर की है, इससे अधिक कुछ नहीं—

झूठ जप तप झूठा ज्ञान, राम ज्ञान बिन झूठा ध्यान।[२]

कबीर का विश्वास है कि जीव तो अल्पशक्तिवान् है, वह कर ही क्या सकता है? जो कुछ जीव करता है वह सब ईश्वर की कृपा के द्वारा ही।

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पद १२२

२. वही, पद २५२

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर।
जो कुछ किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर कबीर ॥[१]

उनका यह भी कहना है कि प्राणी के करने से कुछ नहीं होता। जो होना होता है वह उसके किये बिना भी हो जाता है—

साईं सूँ सब होत है, बंदे थे कुछ नांहि।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ॥[२]

जायसी का भी विश्वास है कि जीव को सुख की प्राप्ति प्रभु की कृपा से ही होती है। कोई चाहे जितना बड़ा हो, चाहे जितना छोटा हो, भला तो उसी का होता है जिस पर प्रभु की कृपा हो—

का रानी का चेरी कोई। जा कहं भया करहु भलि सोई ॥

आदमी यों तो सहारे के लिए इधर-उधर सभी स्थानों पर हाथ फैलाता है, लोभ का चश्मा लगा लेने पर उसे छोटे-से-छोटा भी बड़ा ही दिखायी देता है। पर सहारा तो भगवान् ही है। जब व्यक्ति चारों ओर से निराश हो जाता है तो अन्त में उसी की शरण में जाने से काम बनता है। चित्तौड़ का व्यापारी ब्राह्मण सब ओर से एकाकी होकर प्रभु की ही शरण में जाकर विपत्तियों से बचता है—

साथ चला, सत बिचला, भये बिच समुद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं, तू बिधि देहि अधार ॥[३]

सूरदास में तो प्रपत्ति की भावना सर्वविदित है। उन्होंने तो स्पष्ट घोषणा की है कि जो आदमी अपने पुरुषार्थ में विश्वास रखता है वह महामूर्ख है, होता तो वही है जो राम को पसन्द है—

करी गोपाल के होई !
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोई ॥

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तपस्या करते-करते थक गये पर उनका किया कुछ नहीं हुआ। सूरदास का विश्वास है कि जो प्रभु ने रच दिया है वही होगा। फिर सोच करके मरने से क्या लाभ है—

होत सो जो रघुनाथ ठटै।
पचि पचि रहै सिद्ध, साधक मुनि, तऊ न बढ़ै, न घटै।

... ...

---

१. कबीर-ग्रंथावली, दोहा, (१) पृ० ६१
२. वही, पृ० ६२, दोहा १२
३. पद्मावत, बनिजारा खंड, दो० २

सूरदास प्रभु रचि सु ह्वै है, को करि सोच मरै ॥[1]

तुलसी का भी विश्वास है कि भगवान् की माया दुस्तर है, कोई कितने भी उपाय क्यों न करे, भगवान् की कृपा के बिना इससे छुटकारा नहीं होता। ज्ञान, वैराग्य भक्ति, ये अनेक साधन हैं पर हरि-कृपा के बिना कुछ नहीं बनता—

माधव अस तुम्हारि यह माया !
करि उपाय पचिमरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥

... ...

ग्यान भगति साधन अनेक, सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि-कृपा मिटे भ्रम, यह भरोस मन माहीं ॥[2]

साध्य और साधन में अभेद

आरम्भ में भारतीय मनीषा का लक्ष्य मोक्ष, निर्माण या स्वर्ग की प्राप्ति थी। यज्ञ और तप का लक्ष्य इन्हीं में से एक था। भक्ति तो परलोक बनाने या सुधारने का साधनन भर थी, पर बाद में वह साधन न रहकर साध्य बन गयी। इन कवियों और भक्तों ने स्वर्ग-अपवर्ग सब-कुछ छोड़कर अपने आराध्य देवता के चरणों में स्थान पाना ही अपना साध्य बना लिया। संभवतः इसी से प्रभावित होकर इसी पृथ्वी पर साकेत और गोलोक की सत्ता स्वीकृत की गयी। आप चाहे जिस कवि को ले लीजिये, भक्त का लक्ष्य भक्ति ही दीख पड़ेगी। यहाँ यदि कोई अभिलाषा है तो अनन्यता की, अपने आराध्य से एकाकार हो जाने की। साध्य और साधन का यह अभेद भारतीय देव-भावना की बड़ी भारी विशेषता है।

समन्वयवाद

भारतीय जीवन और देव-भावना की यह सर्वप्रमुख विशेषता है। वैदिक काल से मुगलों तक के इस दीर्घकाल में यहाँ अनेक जातियाँ आयीं, उनके साथ उनकी सभ्यताएँ भी आयीं पर यहाँ के विशाल जन-जीवन में मिलकर वे एक हो गयीं। एकीकरण की यह प्रक्रिया विचारों के ऐसे स्वाभाविक आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर हुई कि उनके घुल-मिलकर एक हो जाने की बात भी सामान्य जन की दृष्टि से ओझल हो गयी। ये बातें हिन्दू धर्म के अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकृत हो गयीं और यही कारण है कि इतिहास का साधारण विद्यार्थी इन्हें वैदिक समझ कर संतुष्ट हो जाता है। विचारों

---

१. सूरसागर पद, २६३ (स्कन्ध १)
२. विनयपत्रिका, पद ११६

की अनेकता में एकता ढूँढ़ना ही समन्यवाद है। वर्तमान हिन्दू-धर्म वैदिक वैदिकेतर धर्मों का मिश्रित रूप है। इसे सभी समान रूप से स्वीकार करते हैं। समन्वय की इस प्रक्रिया ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन में वर्णाश्रम की व्यवस्था चलायी उसी प्रकार देव-भावना के क्षेत्र में ज्ञान, धर्म और भक्ति तीनों में समन्वय स्थापित किया।

वेदों में ज्ञान है, उपासना है, और आयुर्वेद में कर्म-काण्ड (यज्ञ की प्रक्रिया) है, इसके साथ ही वेदों में भक्ति की भावना भी है। ब्राह्मणग्रंथों में कर्मकाण्ड की बहुलता है। इन ग्रन्थों का निर्माण ही कर्मकाण्ड की व्याख्या के उद्देश्य से हुआ है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की इस बहुलता के प्रति विद्रोह है, उसकी प्रतिक्रिया है। साथ ही श्वेताश्वतरोनिषत् में भक्ति की भावना एकदम स्पष्ट रूप में है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों धाराएँ समानान्तर रूप से प्रभावित होती दीख पड़ती है। गीता में इन तीनों का समन्वय है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने और तदनन्तर उन कर्मों को भगवदर्पण करने के आदेश का अर्थ तीनों में एकीकरण का प्रयास है। भगवान् ने किसी एक का खण्डन किये बिना तीनों में अविरोध उपस्थित किया है।

पुराणों में भक्ति का स्वर कुछ ऊँचा है, इसमें सन्देह नहीं, पर वहाँ भी ज्ञान और कर्म का एकदम प्रत्याख्यान नहीं। कबीर में तो ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। उनमें जिस कर्मकाण्ड का खण्डन है वह प्रदर्शनकारी कर्मकाण्ड का खण्डन है। अज्ञानपूर्ण और केवल प्रदर्शन के लिए किये जाने वाले कर्मों के खण्डन का अभिप्राय वास्तविक कर्मों का खण्डन नहीं। कबीर स्वयं जीवन-भर कर्म करते रहे, अपने पैतृक व्यवसाय में निरत रहे। उनमें हम ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय ही पाते हैं। सूर इत्यादि अष्टछाप के अनुयायियों में ज्ञान का खण्डन अवश्य मिलता है और उसका उद्देश्य भी भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना है, पर स्वयं सूर की रचनाओं में ज्ञान की महत्ता के कुछ उदाहरण आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं—

सूरदास तबहीं तम नासै ज्ञान अगिनि झर फूटै ॥

× × ×

सूर मिटे अज्ञान मूरछा ज्ञान सुभेषज खाये ॥

जहाँ तक तुलसीदास का प्रश्न है, उनके काव्य को आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी-जैसे विद्वानों ने समन्वय की विराट् चेष्टा के नाम से अभिहित किया है। उनके आराध्य देव राम में ही सब गुणों का समन्वय है। इसीलिए तुलसी ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी समन्वय का सफल प्रयास किया है।

किसी काल-विशेष में या किसी कवि-विशेष की रचना में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों में से किसी एक का स्वर थोड़ी देर के लिए भले ही कुछ ऊँचा हो उठा हो, पर कुल मिलाकर इन तीनों की समन्वित स्थिति ही हमारे यहाँ की देव-भावना में मान्य रही है।

पंचम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की विविध धाराएँ और उनमें देव-भावना का रूप

देव-भावना के अध्ययन के दृष्टिकोण से हिंदी-साहित्य के आदिकाल का सिंहावलोकन

हिन्दी के आदिकाल में जो बीज बोये गये थे वे ही भक्तिकाल में पल्लवित एवं पुष्पित हुए। स्वभावतः मध्यकालीन देव-भावना के अध्ययन के लिए आदिकाल का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आदिकाल की चर्चा आते ही जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह है भाषा का। बहुत-से व्यक्ति उस काल की भाषा को आज की भाषा से एकदम अलग समझकर उसे हिन्दी-परिवार में सम्मिलित ही नहीं करते, पर वास्तव में वह हिन्दी ही है। जिन अनेक कारणों से इस काल की भाषा को हिन्दी से पृथक् समझने का भ्रम हुआ है उसमें प्रमुख कारण है कि उस काल की भाषा की विभक्तियाँ और कारक-चिह्न। क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत-कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिसघिसाकर बिलकुल जिस रूप में आ गयी थी सारा वही रूप न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का बहुत-कुछ वही रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परम्परा करती चली जाती थी। यही कारण है कि हिन्दी के सभी विद्वान् अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी को हिन्दी ही समझते आये हैं। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस भाषा को प्राचीन हिन्दी कहा करते थे। गुलेरीजी का कथन है कि—यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं हैं तो ब्रज भाषा भी हिन्दी नहीं—और तुलसीदास की उक्तियाँ भी हिन्दी नहीं।[१] श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी कथन है कि—दीर्घकाल से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिन्दी-साहित्य के पूर्वरूप में ही ग्रहण करते आये हैं। मिश्र-बन्धुओं ने अपनी पुस्तक में अनेक अपभ्रंश-रचनाओं को स्थान दिया

---

१. हिन्दी-साहित्य, पृ० १७

है ।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश-रचनाओं की गणना की है । अपभ्रंश को हिन्दी के अन्तर्गत मानने से आदिकाल का आरम्भ सातवीं सदी तक चला जाता है । स्वर्गीय श्री राहुल सांकृत्यायन के विचार में भी, अपभ्रंश और हिन्दी, दोनों एक ही हैं । उनके अनुसार इस युग (७६०-१३००) की भाषा में प्रतीयमान अन्तर के होते हुए भी मूलतः एकत्व है । उनके अपने शब्दों में—इस संग्रह में इन पुराने कवियों की कविताओं के जो नमूने दिये गये हैं उनको एक बार देखते ही पाठक समझने में असमर्थ होकर कह पड़ेंगे कि यह तो हिन्दी भाषा है ही नहीं । इसलिए यहाँ यह बताने की आवश्यकता है कि वह उससे भी कहीं अधिक हिन्दी भाषा है जितनी कि आज की मालवी, मारवाड़ी, मल्ली (भोजपुरी) और मैथिली । आपको जो दिक्कत हो रही है वह दादी (पालि) की इस प्रतिज्ञा के ही कारण कि उसके पास कोई शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्द फटक नहीं सकता ।[२]

हम एक बात और स्पष्ट कर दें कि आचार्य शुक्ल ने खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो और आल्हा नामक जिन चार काव्य-ग्रन्थों की गणना वीर-गाथा-काल में की थी, हमने उनमें से तीन को सर्वथा अप्रामाणिक मानकर एकदम छोड़ दिया है । श्री अगरचन्द नाहटा ने खुमानरासो को नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में परवर्ती सिद्ध किया है । श्री मोतीलाल मैनारिया ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' के पृष्ठ ८७ पर लिखा है कि—हिन्दी के विद्वानों ने इनका मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है, जो गलत है । वास्तव में इनका रचनाकाल संवत् १७३० और १७६० के मध्य में है ।[३] इसमें महाराणा प्रताप-सिंह तक का वर्णन देखकर स्वयं आचार्य शुक्ल तक ने इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रगट किया था । बीसलदेव रासो के विषय में भी आचार्य शुक्ल को पर्याप्त सन्देह था । उन्हीं के शब्दों में नाल्ह के बीसलदेवरासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (बीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का । श्रृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठ कर जाने का (प्रोषित-पतिका के वर्णन के लिए) । मनमाना वर्णन है अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का रासो काव्य कहना खटकता है । पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य-ग्रन्थ नहीं है केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है ।[४] मैनारियाजी ने भी इन्हें १६वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और

---

१. हिन्दी-साहित्य, पृ० २
२. हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० ४
३. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० १३
४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३५-३६

दोनों कवियों की एकरूपता दिखाने के लिए उद्धरण दिये हैं। रही आल्हा की बात, उसके वर्तमान रूप की आधुनिकता में किसी को रत्ती भर भी सन्देह नहीं।

पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की चर्चा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में बहुत हो चुकी है। इस विषय में पक्ष और विपक्ष में बहुत-कुछ प्रमाण दिये जा चुके है। सन् १८९३ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी बंगाल के जर्नल में प्रो० बुलर ने इसे एक बार जो जाली ठहराया तो फिर इसकी प्रामाणिकता में सन्देह बना ही रहा। सन् १८८६ में इसी पत्र में कविराज श्री श्यामलदास ने इस ग्रंथ की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया था। इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार करने वालों की भी कमी नहीं। कुल मिलाकर उसमें प्रक्षिप्त अंश को स्वीकार करते हुए भी उसे एकदम परवर्ती सिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्य बहुत-से विद्वानों के साथ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे एकदम अप्रामाणिक नहीं मानते। "अब यह मान लेने में किसी को आपत्ति नहीं है कि रासो एकदम जाली नहीं है। इसमें बहुत अधिक प्रक्षेप होने से इसका रूप विकृत जरूर हो गया है पर इस विशाल ग्रन्थ में सार अवश्य है।"[1] इसलिए हमने इसे आदिकाल की रचनाओं में सम्मिलित किया है और इसमें से उदाहरण भी दिये हैं। हाँ, प्रसंगवश यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि ऊपर जिन ग्रन्थों को अप्रामाणिक मानकर हमने छोड़ दिया है, उनकी देव-भावना और पृथ्वीराज रासो की देव-भावना में कोई अन्तर नहीं। देव-भावना का जो सामान्य रूप तत्कालीन समाज में प्रचलित था, उसी की अभिव्यक्ति उन ग्रन्थों में भी हुई है। अत: उन काव्यों की देव-भावना के चित्रण के अभाव में भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

अपभ्रंश-साहित्य में देव-भावना को ढूँढ़ने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, वह तो वहाँ स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। बात यह है कि इसके निर्माण में जैनियों और बौद्धों का हाथ अधिक था। उनका दृष्टिकोण धार्मिक अधिक था, राजनीतिक या सामाजिक कम। धर्म-भावना की प्रधानता होने से उसमें देव-भावना की प्रचुरता का होना स्वाभाविक ही है। संस्कृत और प्राकृत में किसी महापुरुष का, देवी-देवता का वर्णन होता था, उसी परम्परा का निर्वाह प्राकृत में हुआ। इन कवियों ने जैन तीर्थंकरों को काव्य का विषय बनाया। पृष्ठभूमि के धर्म-प्रधान होने से ये धर्म-प्रचारक पहले बने, कवि बाद में। इन सभी कृतियों के आरम्भ में मंगलाचरण हैं और जिनों की स्तुति है। नीचे हम उस काल के कुछ प्रबन्ध-काव्यों की संक्षिप्त रूप में चर्चा करेंगे। यह चर्चा डा० हरिवंश कोछड़ के शोध-प्रबन्ध 'अपभ्रंश साहित्य' के आधार पर है।

भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त-कथा --ले० धनपाल) याकोबी के अनुसार १०वीं सदी से पूर्व की रचना नहीं। इस महाकाव्य की कथा को तीन अंगों या खण्डों में

---

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ५०

विभाजित किया जा सकता है। इसमें भविष्यदत्त को एक जिन मन्दिर में चन्द्रप्रभ जिन को पूजा करते हुए दिखलाया गया है। फिर उल्लेख है कि पूजा के लिए गये हुए भविष्यदत्त को छोड़कर बंधुदत्त उसकी पत्नी और धन को देकर चल पड़ता है।

रिठ्ठनेमि चरित्र (रिष्टनेमि-चरित) यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। श्री हरिवंश कोछड़ ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इसका लेखक स्वयम्भू है। विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता से चिन्तित कवि को सरस्वती देवी सान्त्वना और धैर्य देती हुई कहती है कि हे कवि, काव्य करो, मैंने तुम्हें विमल मति दी। उपमा के प्रयोग में भी देव-भावना की चर्चा है। कहा है कि द्रुपद-सुता के साथ आहूत वे पाँचों पांडव भी प्रविष्ट हुए जैसे जीवदया के साथ पंच-परमेष्ठी—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—प्रविष्ट हुई हो।

पद्मपुराण—यह ग्रन्थ भी अप्रकाशित है। श्री कोछड़ के विवरण के अनुसार इसकी दो प्रतियाँ आमेर शास्त्र-भण्डार में विद्यमान हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में सिद्धों को नमस्कार किया गया है और तदनन्तर जिन-स्तवन।

णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)—लेखक का नाम पुष्पदन्त है। ग्रन्थ का आरम्भ सरस्वती की वन्दना से हुआ है वहाँ पृथ्वी देवी द्वारा जिन-मन्दिर में जाना और पूजा करना दिखलाया गया है।

जसहर चरिउ (यशोधर चरित)—इसके लेखक का नाम पुष्पदन्त है। इसमें बताया गया है कि भारिदत्त राजा को भैरवाचार्य चंडमारी देवी की पूजा का आदेश देता है। दुःस्वप्न के प्रभाव को दूर करने के लिए यशोधर नामक राजा की माता द्वारा देवी को पशु-बलि देने और राजा के विरोध पर आटे के बने मुर्गे की बलि देने का भी उल्लेख है।

करकँड-चरिउ—इस ग्रन्थ का समय १०३५ ई० के लगभग है और यह प्रो० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित है। इसमें जैन देवताओं के अलावा हिन्दुओं के देवताओं का भी उल्लेख है, विद्याधरों की भी चर्चा है।

पउमश्री चरिउ (पद्मश्री चरित)—रचनाकाल ८वीं और १२वीं सदी के बीच है। काव्य का आरम्भ ८वें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और सरस्वती की वन्दना के साथ हुआ है।

ग्रन्थारम्भ में ही शारदा के चरणों की वन्दना की गयीं है। इसके साथ-साथ ब्रह्मा, पृथ्वी, को धारण करने वाले शेषनाग, लक्ष्मीपति और शिव को नमस्कार किया गया है।[1] थोड़ी ही दूर आगे चलकर शिव के सिर पर गंगाजल के ठहरने की बात

---

१. प्रथम खण्ड, आदिकथा, छं० १

का उल्लेख है ।[1] बारहवें छंद में देवी की पूजा करने तथा जगदाधार को प्रसन्न करने की बात कही गयी है । चौहदवें छंद में गणेश की स्तुति करते हुए कहा गया है कि भ्रमरगण जिसके मदगन्ध-युक्त भालस्थल और भृकुटि को अनुराग एवं रुचि-पूर्वक आच्छादित किए हुये हैं, जिसके गले में गुंजाओं का हार पड़ा हुआ है एवं जो अपने गुणों द्वारा गुणियों पर विजय पाने वाला है, जिनके पैरों में झंझा है, कानों में कुंडल हैं, हाथी की सूंड के सदृश जिसकी उन्नत सूंड है वे गणेशजी मेरे काव्य की रचना में सहायक बने हैं । शंकर से प्रार्थना की गयी है कि वे कविके छन्दों को सुयुक्ति-युक्त कर दें । यह भी कहा गया है कि जिसने शिव के चरणों में सिर झुका लिया, उसकी बुद्धि सरस हो गयी । सती स्त्रियों (अहल्या और गुरुपत्नी तारा) के साथ लम्पटपन करने वाला कामी मूढ़ चन्द्रमा भी शिव को नमन करके अक्षुण्ण बालरूप को प्राप्त कर पाया । अगले पद में फिर शिव की स्तुति करते हुए कहा है कि जो भोग, योग और ऐश्वर्य के दाता हैं, जो पार्वती के हृदय के आभूषण हैं, जटाजूट से सुशोभित हैं, ऐसे शंकर को कवि का नमस्कार हो । प्रथम खण्ड के १८वें पद में कवि शंकर और विष्णु में एकता स्थापित करते हुए कहता है कि मैंने जिस हार्दिक भाव से शंकर की प्रार्थना की है उसी भाव से मैं विष्णु को भी जपता हूँ क्योंकि जो शंकर और विष्णु को अलग कहता है वह नरक में गिरता है ।

दशावतार कथा में कच्छपरूपधारी भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि जिसने दानव-पति का संहार किया, समुद्र-मन्थन कर लक्ष्मी की प्राप्ति की, ऋषियों के शाप को स्वीकार किया, राहु के सिर को खण्ड-खण्ड कर दिया, दानवों का मर्दन कर उनका नाश किया, देवासुर-संग्राम में शक्ति प्रदर्शित कर दुष्टों को नष्ट किया, ऐसे कच्छपरूपधारी हे प्रभो ! मैं कवि चन्द आपकी शरण हूँ ।[2] इससे अगले तीन पदों में भगवान् विष्णु का ही वर्णन है और हिरण्याक्ष के वध तथा प्रह्लाद को राज्य देने का उल्लेख है । दसवें पद में रामावतार की चर्चा की गयी है तथा ताड़का युवती के नाश, सीता के पाणिग्रहण और कैकेयी द्वारा वर माँगने का उल्लेख है । हुस्सैन कथा के पैंतीसवें दोहे में विष्णु के वामनावतार का उल्लेख करते हुए कहा है कि शहाबुद्दीन के मन में चौहान राजा इस प्रकार चुभता था जिस प्रकार दैत्यराज विरोचन-वंशज बलि को वामन । कृष्णावतार की कथा का भी विस्तार से उल्लेख है । दशावतार कथा में कवित्त ३० से १०२ तक गोपियों की साधना और गोपियों के साथ कृष्ण के विहार का वर्णन है । ७०वें कवित्त में कृष्ण के लिए कहा गया है कि वे लक्ष्मीपति हैं, उनका शरीर श्याम है, वे पीले रंग के वस्त्र पहनते हैं, देवताओं के स्वामी हैं, धूम्र-ध्वज जलद के समान उनकी कान्ति है, कोटि रतियों में कामोद्दीपन करने की शक्ति उनमें

---

१. प्रथम खण्ड, आदि कथा, छं० १०

२. दशावतार कथा, छन्द ४

हैं, विकसित कमल के समान उनके नेत्र हैं, और उनके शरीर पर गुंजाओं का हार है। एक अन्य स्थान पर उनके अन्य कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिसने अश्वत्थामा द्वारा विक्षत उत्तरा के गर्भ को बचाकर गर्भ में परीक्षित की रक्षा की और दावानल का पान किया, अपने मातुल (कंस) को निंदित कर उसका वध किया, पर्वत को उठाया, उस गोकुलेश्वर की जय हो।[1]

इन्द्र का भी अनेक स्थानों पर जिक्र है। धन कथा के १६वें पद पर चित्तौड़ के अधिपति से पृथ्वीराज का दूत कहता है कि पृथ्वीराज ऐसा वीर है कि वह शस्त्र के बल से असम्भव को सम्भव कर सकता है। वह इन्द्र और शेषनाग से भी नहीं डरता। कुछ अन्य स्थलों पर ऐश्वर्यशालिता के प्रसंग में इन्द्र का उल्लेख है। धीर पुण्डीर मोहम्मद गोरी से कहता है कि मेरी दूसरी इच्छा यह है कि तुझे जीवित पकड़कर इन्द्र के समान वैभव प्राप्त करूँ।[2] दशावतार-प्रसंग में ही पवन-पुत्र हनुमान की चर्चा है। कहा गया है कि महायोगी हनुमान् लंका को जीतने, सीता को लाने तथा विभीषण को राज्य दिलाने में अग्रगण्य हुए। गौरी और चंडी का उल्लेख है।

आदिकाल का एक और काव्य है—जिनदत्त चौपई, जिसकी रचना वि० सं० १३५४ में हुई है। कवि ने ग्रन्थारम्भ में इस तिथि का उल्लेख स्वयं किया है और अपना परिचय भी दिया है। इसमें जैन-श्रावक जिनदत्त के जीवन का वर्णन है। कहा गया है कि मगध देशान्तर्गत वसन्तपुर नगर के सेठ जीवदेव ने भगवान् जिन की पूजा से इसे प्राप्त किया है। स्पष्ट है कि जिन की पूजा इस काल में प्रचलित थी।[3]

मध्यकालीन हिंदी-साहित्य की विविध धाराओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल का आरम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम संवत् १३७५ से माना है। सामान्यतया यही मत अधिकांश विद्वानों द्वारा समादृत रहा है। यदि इसमें दस-बीस वर्षों का अन्तर भी मान लिया जाय तो भी साहित्य की प्रमुख धाराओं की स्थिति लगभग वैसी ही रहेगी। प्राग्वैदिक, वैदिक, जैन, बौद्ध और पौराणिक युगों में देवी-देवताओं की सत्ता जिन रूपों में स्वीकृत थी, उसका उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है। हम यह भी कह चुके हैं कि पौराणिक युग में निराकार देव के स्थान पर साकार देव की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। सिद्धान्त रूप में निराकार की सत्ता स्वीकृत थी पर व्यावहारिक रूप में विभिन्न देवी-देवताओं के साकार रूप की ही पूजा होती थी। ठीक ऐसे समय इस देश के साथ मुस्लिम धर्म का सम्पर्क स्थापित हुआ। ये आक्रान्ता थे और इनका उद्देश्य धन बटोरना तो था

---

१. भोलाराम समय, पद १२।

२. धीरपुण्डीर समय, पद ४८।

३. सा० सा०, सितम्बर अंक पृ० (१६६ श्री कस्तूरीचन्द्र कासिलीवाल का लेख)।

ही, दीन का प्रचार करना भी था। यह धर्म एकेश्वरवाद का समर्थक है और इसकी दृष्टि में मूर्ति-पूजा भारी कुफ्र है। यही कारण है कि वि० सं० १०८१ में जब सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया तो मन्दिर की सम्पत्ति को लूटकर ही सन्तोष नहीं कर लिया, उसने एकलिंग की मूर्ति पर भी गदा का आघात किया और उसे चूर-चूर कर दिया। इसके बाद भी अनेक विदेशी आक्रान्ता यहाँ आकर मन्दिरों का ध्वंस करते रहे और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाते रहे। धीरे-धीरे वे यहीं स्थायी रूप से रहने लगे और यहाँ के शासक बन गये। शासकों के धर्म का प्रभाव शासित प्रजा पर न पड़ता, भला यह कैसे सम्भव था ? फिर ईश्वर के निराकार रूप की सत्ता तो हिन्दू धर्म में भी स्वीकृत थी ही। इनके अतिरिक्त सिद्ध और नाथ-पंथी साधक स्वतन्त्र रूप से निर्गुण ईश्वर का ही प्रतिपादन करते आ रहे थे। गजेन्द्र की एक ही टेर सुनकर पैदल दौड़ आने और ग्राह से रक्षा करने वाले साकार भगवान् जनता के घोर संकट में भी जब आते दिखायी नहीं पड़े तो खम्भे को चीरकर नृसिंह रूप में भगवान् का अवतरित होना और प्रह्लाद की रक्षा करना कल्पना की उड़ान मात्र प्रतीत होने लगा। जिस भगवान् ने पांचाली की रक्षा के लिए दुःशासन के गर्व को चूर-चूर कर दिया था, वही भगवान् अब सहस्रशः पांचालियों की लाज लुटते देखकर भी अनदेखी कर रहे थे, ऐसी स्थिति में जनसाधारण के मन में भगवान् के साकार रूप के विरुद्ध शंका के भाव उत्पन्न होने लगे थे।

इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में दो विचारधाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही थीं। साहित्य पर भी इन विचारों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। इस प्रकार उस काल की रचनाओं को आसानी से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—निर्गुण और सगुण। आगे चलकर इनके भी दो-दो भेद हुए। निर्गुण मार्ग की एक शाखा में ज्ञान की प्रधानता रही और दूसरी में प्रेम की। पहली निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित हुई और दूसरी निर्गुण प्रेमाश्रयी के नाम से। सगुण के भी दो भेद हुए—राम को प्रमुखता देने वाली शाखा रामभक्ति शाखा के नाम से अभिहित हुई और कृष्ण को प्रमुखता देने वाली शाखा कृष्णभक्ति-शाखा के नाम से पुकारी गयी।

देव-भावना के दृष्टिकोण से हमने जिन प्रधान चार मार्गों पर शाखाओं का उल्लेख किया है उनके विषय में थोड़ा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह युग नवीन मार्गों का युग था। प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध संत के नाम पर नवीन पन्थ का निर्माण हो जाता था। निर्गुण शक्ति शाखा में दादूपन्थ, निरंजनी सम्प्रदाय और बावरी पन्थ आदि न जाने कितने पन्थ चल निकले थे। नानक द्वारा दिये गये उपदेशों को आधार बनाकर सिख-सम्प्रदाय का आविर्भाव हो गया था। धीरे-धीरे इस सिख सम्प्रदाय में भी उदासी, निर्मला, नामधारी, सुथराशाही, सेवापन्थी, अकाली, गुलाबदासी और निरंकारी आदि पन्थ चल निकले थे, पर हमने इनका पृथक् से उल्लेख नहीं किया है।

हैं, विकसित कमल के समान उनके नेत्र हैं, और उनके शरीर पर गुंजाओं का हार है। एक अन्य स्थान पर उनके अन्य कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिसने अश्वत्थामा द्वारा विक्षत उत्तरा के गर्भ को बचाकर गर्भ में परीक्षित की रक्षा की और दावानल का पान किया, अपने मातुल (कंस) को निंदित कर उसका वध किया, पर्वत को उठाया, उस गोकुलेश्वर की जय हो।[1]

इन्द्र का भी अनेक स्थानों पर जिक्र है। धन कथा के १६वें पद पर चित्तौड़ के अधिपति से पृथ्वीराज का दूत कहता है कि पृथ्वीराज ऐसा वीर है कि वह शस्त्र के बल से असम्भव को सम्भव कर सकता है। वह इन्द्र और शेषनाग से भी नहीं डरता। कुछ अन्य स्थलों पर ऐश्वर्यशालिता के प्रसंग में इन्द्र का उल्लेख है। धीर पुण्डीर मोहम्मद गोरी से कहता है कि मेरी दूसरी इच्छा यह है कि तुझे जीवित पकड़कर इन्द्र के समान वैभव प्राप्त करूँ।[2] दशावतार-प्रसंग में ही पवन-पुत्र हनुमान की चर्चा है। कहा गया है कि महायोगी हनुमान् लंका को जीतने, सीता को लाने तथा विभीषण को राज्य दिलाने में अग्रगण्य हुए। गौरी और चंडी का उल्लेख है।

आदिकाल का एक और काव्य है—जिनदत्त चौपई, जिसकी रचना वि० सं० १३५४ में हुई है। कवि ने ग्रन्थारम्भ में इस तिथि का उल्लेख स्वयं किया है और अपना परिचय भी दिया है। इसमें जैन-श्रावक जिनदत्त के जीवन का वर्णन है। कहा गया है कि मगध देशान्तर्गत वसन्तपुर नगर के सेठ जीवदेव ने भगवान् जिन की पूजा से इसे प्राप्त किया है। स्पष्ट है कि जिन की पूजा इस काल में प्रचलित थी।[3]

मध्यकालीन हिंदी-साहित्य की विविध धाराओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल का आरम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम संवत् १३७५ से माना है। सामान्यतया यही मत अधिकांश विद्वानों द्वारा समादृत रहा है। यदि इसमें दस-बीस वर्षों का अन्तर भी मान लिया जाय तो भी साहित्य की प्रमुख धाराओं की स्थिति लगभग वैसी ही रहेगी। प्राग्वैदिक, वैदिक, जैन, बौद्ध और पौराणिक युगों में देवी-देवताओं की सत्ता जिन रूपों में स्वीकृत थी, उसका उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है। हम यह भी कह चुके हैं कि पौराणिक युग में निराकार देव के स्थान पर साकार देव की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। सिद्धान्त रूप में निराकार की सत्ता स्वीकृत थी पर व्यावहारिक रूप में विभिन्न देवी-देवताओं के साकार रूप की ही पूजा होती थी। ठीक ऐसे समय इस देश के साथ मुस्लिम धर्म का सम्पर्क स्थापित हुआ। ये आक्रान्ता थे और इनका उद्देश्य धन बटोरना तो था

---

१. भोलाराम समय, पद १२।

२. धीरपुण्डीर समय, पद ४८।

३. सा० सा०, सितम्बर अंक पृ० (१९९ श्री कस्तूरीचन्द्र कासिलीवाल का लेख)।

ही, दीन का प्रचार करना भी था। यह धर्म एकेश्वरवाद का समर्थक है और इसकी दृष्टि में मूर्ति-पूजा भारी कुफ्र है। यही कारण है कि वि० सं० १०८१ में जब सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया तो मन्दिर की सम्पत्ति को लूटकर ही सन्तोष नहीं कर लिया, उसने एकलिंग की मूर्ति पर भी गदा का आघात किया और उसे चूर-चूर कर दिया। इसके बाद भी अनेक विदेशी आक्रान्ता यहाँ आकर मन्दिरों का ध्वंस करते रहे और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाते रहे। धीरे-धीरे वे यहीं स्थायी रूप से रहने लगे और यहाँ के शासक बन गये। शासकों के धर्म का प्रभाव शासित प्रजा पर न पड़ता, भला यह कैसे सम्भव था? फिर ईश्वर के निराकार रूप की सत्ता तो हिन्दू धर्म में भी स्वीकृत थी ही। इनके अतिरिक्त सिद्ध और नाथ-पंथी साधक स्वतन्त्र रूप से निर्गुण ईश्वर का ही प्रतिपादन करते आ रहे थे। गजेन्द्र की एक ही टेर सुनकर पैदल दौड़ आने और ग्राह से रक्षा करने वाले साकार भगवान् जनता के घोर संकट में भी जब आते दिखायी नहीं पड़े तो खम्भे को चीरकर नृसिंह रूप में भगवान् का अवतरित होना और प्रह्लाद की रक्षा करना कल्पना की उड़ान मात्र प्रतीत होने लगा। जिस भगवान् ने पांचाली की रक्षा के लिए दुःशासन के गर्व को चूर-चूर कर दिया था, वही भगवान् अब सहस्रशः पांचालियों की लाज लुटते देखकर भी अनदेखी कर रहे थे, ऐसी स्थिति में जनसाधारण के मन में भगवान् के साकार रूप के विरुद्ध शंका के भाव उत्पन्न होने लगे थे।

इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में दो विचारधाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही थीं। साहित्य पर भी इन विचारों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। इस प्रकार उस काल की रचनाओं को आसानी से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—निर्गुण और सगुण। आगे चलकर इनके भी दो-दो भेद हुए। निर्गुण मार्ग की एक शाखा में ज्ञान की प्रधानता रही और दूसरी में प्रेम की। पहली निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित हुई और दूसरी निर्गुण प्रेमाश्रयी के नाम से। सगुण के भी दो भेद हुए—राम को प्रमुखता देने वाली शाखा रामभक्ति शाखा के नाम से अभिहित हुई और कृष्ण को प्रमुखता देने वाली शाखा कृष्णभक्ति-शाखा के नाम से पुकारी गयी।

देव-भावना के दृष्टिकोण से हमने जिन प्रधान चार मार्गों पर शाखाओं का उल्लेख किया है उनके विषय में थोड़ा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह युग नवीन मार्गों का युग था। प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध संत के नाम पर नवीन पन्थ का निर्माण हो जाता था। निर्गुण शक्ति शाखा में दादूपन्थ, निरंजनी सम्प्रदाय और बावरी पन्थ आदि न जाने कितने पन्थ चल निकले थे। नानक द्वारा दिये गये उपदेशों को आधार बनाकर सिख-सम्प्रदाय का आविर्भाव हो गया था। धीरे-धीरे इस सिख सम्प्रदाय में भी उदासी, निर्मला, नामधारी, सुथराशाही, सेवापन्थी, अकाली, गुलाबदासी और निरंकारी आदि पन्थ चल निकले थे, पर हमने इनका पृथक् से उल्लेख नहीं किया है।

इन्हें निर्गुण मतरूपी वृक्ष से निकलने वाली शाखाएँ मात्र समझकर हमने इनका समावेश निर्गुण मत में ही कर दिया है। इनमें जो अन्तर है वह महत्त्वपूर्ण नहीं।

रामभक्ति शाखा में हमने मर्यादावादी और रसिक सम्प्रदाय, दो का ही उल्लेख किया है। इन दो प्रमुख धाराओं में अन्य प्रायः सभी छोटी-मोटी धाराओं का अन्तर्भाव हो जाता है। कृष्ण को लेकर न जाने कितनी छोटी-मोटी उपधाराएँ बह निकलीं, पर हमने यहाँ उन्हीं को चित्रित किया है जिन्होंने मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को अधिक मात्रा में प्रभावित किया है।

निर्गुण शब्द का अर्थ

भक्ति-काल की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नामक दो भक्ति-शाखाओं के साथ तो निर्गुण शब्द जुड़ा हुआ है ही, पर इनके अतिरिक्त भी इस शब्द का प्रयोग शतशः एवं सहस्रशः स्थानों पर हुआ है अतः इस शब्द के अर्थ पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। निर्गुण शब्द का सामान्य अर्थ है मानवीय गुणों से रहित होना। आरम्भ में महाभारत और गीता में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।[1] पर धीरे-धीरे इसके अर्थों में परिवर्तन होता गया। आचार्य शंकर के अनुसार यह यौगिक ब्रह्म से विलक्षण सत्य संकल्पादि गुणों से विनिर्मुक्त आत्मतत्त्व का वाचक है। रामानुज और रामानन्द प्रभृति आचार्यों के अनुसार यह शब्द जरा-मरण आदि गुणों से रहित ब्रह्म का वाचक है। इनके अनुसार परब्रह्म में गुणों का नितान्त अभाव नहीं है। इनके अनुसार निर्गुण का अर्थ है—प्राकृत हेय गुणों से रहित होना।[2] आनन्द भाष्य के मत से निर्गुण और सगुण शब्द से एक ही ब्रह्म का निर्देश होता है। प्राकृत हेय गुणों से रहित होना निर्गुणत्व और असंख्य दिव्य कल्याणकारी मुख्य गुणों से युक्त होना ही सगुणत्व है। पर हमने यहाँ निर्गुण शब्द का अत्यधिक प्रचलित और व्यापक अर्थ ही स्वीकार किया है। सामान्यतया निर्गुण ब्रह्म से उस ब्रह्म का अर्थ लिया जाता है जो निराकार है और किसी भी कारणवश अवतार नहीं लेता। इसी व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हुए हमने निर्गुण के अन्दर ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी दोनों ही भक्ति-मार्गों का समावेश किया है।

सगुण से अन्तर

सगुणवादी ईश्वर में सभी मानवीय गुणों का आरोप करते हैं। उनके अनुसार उनका ब्रह्म भू-भार उतारने और लीला के लिए विविध रूपों में पृथ्वी पर अवतरित होता है। आवश्यकता होने पर मानवीय रूप के अतिरिक्त वह वराह, मत्स्य और नृसिंह (अर्धपुरुष और अर्धमानव) रूप भी धारण करता है। साकारवादी ईश्वर के निराकार

---

१. हिन्दी निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ८
२. रा० सं० हि० सा० उ० प्र०, पृष्ठ ३५

रूप को यद्यपि सिद्धान्त रूप से स्वीकार अवश्य करते हैं पर उनका विशेष आग्रह साकार के प्रति है। इनकी दृष्टि में 'अन्तरजामी' की अपेक्षा 'बाहर जामी' बड़े हैं। यही कारण है कि इनके ईश्वर शक्ति, शील और सौन्दर्य के आगार होने से प्रेम और श्रद्धा के पात्र हैं। वे इन्द्रियातीत न होकर इन्द्रियगम्य हैं। हम उन्हें नेत्रों से देख सकते हैं, करों से उनका स्पर्श कर सकते हैं। इन सब बातों के विपरीत निर्गुणवादियों का ईश्वर केवल अनुभूति का विषय है। उन्हीं के शब्दों में, वह 'गूँगे केरी शर्करा' है जिसे शब्दों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता।

इस मुख्य अन्तर के अलावा दोनों के दृष्टिकोण में अन्य भी अन्तर हैं। निर्गुण-वादी शास्त्रों की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर जो 'वेदकतेब' की निन्दा की है उसका कारण यही है कि इन पुस्तकों का कथन अनुभव से मेल नहीं खाता। पुस्तकीय ज्ञान अन्धकूप है, उसका आकार सीमित है। ये कवि इसीलिए साधक को उस अन्ध-कूप के बाहर निकालकर अनुभव के विस्तृत प्रांगण में झाँकने की सलाह देते हैं। कबीर ने "संस्कीरत है कूप जल भाषा बहता नीर" कहकर भी यही भाव व्यक्त किया है कि संस्कृत का ज्ञान शास्त्र-ग्रंथों तक ही सीमित है और उसमें लोक-मत की अवहेलना है। भाषा लोक-मत की अभिव्यक्ति होने से नवीन प्रकार की स्फूर्ति देने वाली है, उसमें कितने ही, अप्रसिद्ध पर पहुँचे हुए, साधकों के अनुभव छिपे हुए हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा में सर्वोपरि महत्ता ज्ञान की है और इस महत्ता के कारण ही इस का नाम ज्ञान-भक्ति शाखा पड़ा है। भगवान् कृष्ण ने गीता में यद्यपि अनासक्त भाव-से कर्म करते रहने को सर्वश्रेष्ठ बताया है तथापि उन्होंने ज्ञान पर बड़ा भारी बल दिया है। सही बात तो यह है, कि ज्ञान के बिना 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' वाली स्थिति आ ही नहीं सकती। अर्जुन को समझाते हुए उन्होंने बताया है कि काम और क्रोध ही मानव के सबसे बड़े शत्रु हैं और इन दोनों में भी काम अधिक शक्तिशाली है। जिस प्रकार धूम अग्नि को ढक लेता है, मल जैसे दर्पण की स्वच्छता का अपहरण कर लेता है और उल्ब (जेर) जैसे गर्भ को ढक लेती है वैसे ही काम ज्ञान को आच्छादित कर लेता है। यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने वश में कर मानव को कहीं-का-कहीं ला पटक देता है। इस प्रबल शत्रु पर विजय पाने का सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र उपाय ज्ञान की उपलब्धि है।

जब तक हृदय-प्रदेश में अज्ञान का निविड़ अन्धकार छाया हुआ है तब तक भगवान् के दर्शनों की आशा दुराशामात्र है। माया के दुस्तर प्रलोभन बीच-बीच में जीव को इधर-उधर भटका देते हैं। यद्यपि कस्तूरी मृग की नाभि में ही रहती है पर वह अज्ञानवश उसे ढूंढ़ने के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरता है, थककर चकनाचूर हो जाता

है पर उसे कस्तूरी का पता नहीं चलता । यही स्थिति मानव की है । अपने हृदय में स्थित भगवान् को न देख पाने के कारण वह इधर-उधर चक्कर काटता है पर उसे उसके दर्शन उसी समय होते हैं जब किसी तरह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । इसीलिए गीता में कहा गया है कि बड़े-से-बड़ा पापी भी ज्ञानरूपी नौका का सहारा पाकर पाप-सागर के पार उतर जाता है । जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सारे ईंधन को जला देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को जलाकर भस्मसात् कर देती है । इसीलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र तत्त्व विश्व में अन्य कोई नहीं है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ (गीता, ४।३८)

ज्ञान को सर्वोपरि माननेवाले इन सन्त कवियों ने ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में किया है । उनका यह ज्ञान शास्त्रों पर आधारित नहीं, सुनी-सुनायी बातें भी उसकी बुनियाद नहीं । यह ज्ञान अनुभूति के द्वारा उपलब्ध होता है । गुरु की महत्ता का इतना प्रतिपादन भी इसीलिए है कि वह भटकते हुए शिष्य को ज्ञान के ऐसे प्रकाश में लाकर खड़ा कर देता है कि वहाँ सब-कुछ स्पष्टतः दीख पड़ने लगता है । ज्ञान आँधी के समान है जिसके आने पर एकबार तो उथल-पुथल भले ही मच जाय, पर अन्त में वातावरण में शान्ति और मधुरता छा जाती है । कबीर के ही शब्दों में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार है—

संतो भाई, आई ग्यान की आँधी रे !
भ्रम की टाटी सबै उडाणी, माया रहै न बांधी ॥
हित चित की द्वै थूँनी गिरानी, मोह बलींडा टूटा ।
त्रिस्नां छाँनि परी घर ऊपरि कुबुधि का भाँड़ा फूटा ॥
जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी ।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणी ॥
आँधी पीछे जो जल बूढ़ा, प्रेम हरी जन मींना ।
कहै कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम पीना ॥[1]

गुरु नानक का कथन है कि सच्चे ज्ञान के बिना सारे प्राणी अज्ञान में भटकते रहते हैं और वे इस बात को नहीं जानते कि सत्य परमात्मा सभी में रम रहा है—

गियान विहूणी भवै सवाई ।
साचा रवि रहिआ लिवलाई ॥[2]

उनका यह भी कहना है कि जिसने ज्ञान द्वारा ब्रह्म के सच्चे स्वरूप को पहचान लिया उसके लिए बाह्य कर्मों का कोई भी महत्त्व नहीं रहता—

१. कबीर-ग्रन्थावली, परिशिष्ट, पद १६
२. नानक-वाणी, मास सोलहे १४

जो जाणसि ब्रह्म में करमं । स्वमि फोकट निसचउ करमं ।[1]

अर्जुनदेव का भी यही विश्वास है कि ज्ञान-रूपी अंजन से अज्ञान-रूपी अन्धकार का नाश हो जाता है—

गिआन-अंजनु गुरि दीआ, अगियान अंधेर बिनासु ।
हरि किरण ते संत भेटिआ, नानक मनि परगासु ।।[2]

सुन्दरदास का कहना है कि संसार की सारी उलझनें ज्ञान की कमी के कारण होती हैं। जब तक अन्दर के नेत्र नहीं खुलते तब तक अन्तर्यामी के दर्शन नहीं होते। हरि ही वह सच्ची कामधेनु है जिसे पा लेने पर सब-कुछ मिल जाता है।

ज्ञान बिन अधिक अरुझत है रे !
नैन भये तो कौन काम के, नेंक न सूझत है रे !
सब मैं व्यापक अन्तरजामी, ताहि न बूझत है रे !
... ...
सुन्दर घट में कामधेनु हरि, निशि दिन दूझत है रे ।।[3]

ज्ञान का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि ज्ञान को कर्म के बन्धन नहीं बांधते; यह उस अग्नि के समान है जिससे मक्खियाँ दूर भागती हैं; यह पहरेदार है जिसके रहते हुए चोर नहीं आता; यह बिल्ली है जिसे देखकर चूहे दूर भाग जाते हैं—

जाकै हिरदै ज्ञान है, ताहि कर्म न लागे ।
सब परि बैठे मक्षिका, पावक ते भागै ।
जहाँ पाहरू जागहीं, तहाँ चोर न जाहीं ।
आँखिन देखत सिंह को, पशु दूरि पलाहीं ।
जा घर माँहि मंजारि है तहाँ मूषक नासै ।
शब्द सुनत ही मोर का अहि रहै न पासै ।
ज्यों रवि निकट न देखिये कबहूँ अँधियारा ।
सुन्दर सदा प्रकास में, सबहीं तै न्यारा ।।[4]

दरियासाहब के यहाँ भी सर्वाधिक महत्त्व ज्ञान का है। उनका कहना है कि ज्ञान के बिना सच्ची दृष्टि नहीं आती—

ज्ञान बिना नहिं दीठ दिखाई ।[5]

---

१. नानक-वाणी, आसा की बार
२. सं० सु० सा०, पृ० ३६६
३. वही, पृ० ६५४
४. सं० सु० सा०, पृ० ६५६
५. हि० वि० का० औ० उ० दा०, पृ० भू० ४६६

निर्गुण प्रेम-मार्गी शाखा

यों तो भक्ति के अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्रेम की स्वीकृति सभी भक्ति मार्गों में है, पर इस भक्ति-शाखा में प्रेम को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इनका विश्वास है कि एक बार हृदय में प्रेम-तत्त्व का उदय हो जाने पर ईश्वर के दर्शन या प्राप्ति होने में सन्देह नहीं रह जाता। आरम्भ में यह प्रेम लोकोन्मुख होगा पर धीरे-धीरे यह ईश्वरोन्मुख हो जायेगा। प्रथम सोपान के रूप में लौकिक प्रेम की स्वीकृति होने से उसे भी त्याज्य नहीं ठहराया गया है। अन्ततोगत्वा यद्यपि इसमें सांसारिकता से ऊपर उठकर अलौकिक तत्त्व में समा जाने की स्थिति को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है पर फिर भी इसमें निवृत्ति को वैसी प्रधानता नहीं मिली जैसी भक्ति-मार्ग की अन्य शाखाओं में है। श्री चन्द्रबली पाण्डेय के शब्दों में कहा जा सकता है कि "सूफियों के प्रकृत विभावन ने रति के व्यापार को इतना प्रबल किया कि उसके सामने विरति का सारा पक्ष निर्बल पड़ गया। भारतीय उपासना अथवा माधुर्यभाव में विरति का पक्ष कुछ-न-कुछ बना ही रहता है। भारतीय भक्त परमात्मा के व्यक्त स्वरूप में अनुरक्त हो संसार से विरक्त पड़ जाते हैं। उनको किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु सूफियों में यह बात नहीं। उनके मत में सामान्य प्रेम विशेष प्रेम का सोपान है और किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़कर ही प्रेम का अनुष्ठान भली-भाँति किया जा सकता है।"[१]

रामभक्ति शाखा

भगवान् विष्णु के राम-रूप को ही आराध्य मानकर जिस शाखा का प्रचलन हुआ, वह रामभक्ति शाखा के नाम से अभिहित हुई। इसमें भगवान् के लोक-रक्षक रूप को प्रधानता मिली। इनके यहाँ भगवान् का अवतार केवल लीला के लिए न होकर भू का भार दूर करने के लिए हुआ था। इसमें भगवान् के उस रूप का चित्रण है जो अनन्त सामर्थ्यवान् हैं और जिनके दर्शनमात्र से ही सज्जनों में रक्षा का और दुर्जनों में त्रास का संचार होता है। इनके भगवान् जब चलते हैं तो हाथों में धनुष होता है और कमर में तरकस। इस शाखा के सर्वाधिक प्रमुख कवि तुलसी को अपने आराध्य की यही छवि पसन्द है। कहा जाता है कि मथुरा में जाने पर भगवान् कृष्ण ने तुलसी के इस धनुषधारी रूप के झुकाव को देखकर उन्हें इसी रूप में दर्शन दिये थे।

लोक-रक्षक रूप के प्रति इस आग्रह के कारण राम आदि से अन्त तक आदर्श और वीर राजकुमार तथा राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं। बचपन में ऋषियों के यज्ञ की रक्षा के लिए वनगमन, सुबाहु आदि राक्षसों का विनाश, विमाता के अनुरोध की रक्षा के लिए चौदह वर्ष का वनवास, ऋषियों और मुनियों को अभय देना

१. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १२०

और अन्त में दशशीश का विनाश, उनके इन समाज-हितकारी कार्यों का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। उनके सभी कार्य दूसरों के लिए हैं, 'पर' के सामने उनका 'स्व' सभी स्थानों पर दबा हुआ है। प्रजा के कहने पर उन्हें प्राणाधिक प्यारी सीता को छोड़ने में भी संकोच नहीं। वे सभी स्थानों पर शील की मूर्ति हैं। वे सौन्दर्य के भी निधान हैं पर यह सौन्दर्य उन्मादकारी के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। लोक-रक्षक रूप के प्रति आग्रह के परिणामस्वरूप ही उनकी भक्ति दास्य-रूप में की गयी है। भगवान् और भक्त के बीच अन्तर को यहाँ जानबूझकर रखा गया है। जैसा हमने आगे स्पष्ट किया है कि राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय के भी कवि और साधक हुए हैं पर कुल मिलाकर यह शाखा अपने मर्यादावादी रूप के लिए ही प्रसिद्ध है।

कृष्ण-भक्ति शाखा

विष्णु के कृष्ण रूप को प्रधानता देने वाली भक्ति-शाखा कृष्ण-भक्ति शाखा के नाम से अभिहित हुई। इसमें भगवान् के लोकरक्षक रूप की अपेक्षा लोक-रंजक रूप की प्रधानता है। इनके यहाँ भगवान् के अवतार का उद्देश्य भू-भार-हरण न होकर लीला करना है। इस मार्ग में महाभारत के योगिराज परमवीर और नीतिज्ञ कृष्ण की चर्चा नहीं के बराबर है। उन्होंने अन्याय के दमन के लिए कंस, जरासन्ध और शिशुपाल प्रभृति अत्याचारी एवं मदान्ध राजाओं का विनाश किया, कौरवों और पाण्डवों में सन्धि कराने के लिए दौत्य कार्य स्वीकार किया और अन्त में कोई दूसरा मार्ग न देखकर युद्ध में अर्जुन के सारथि-रूप में पाण्डवों का साथ दिया, इन बातों की ओर संकेत मिल जायं तो भले ही मिल जायं, पर इनके वर्णन में किसी कवि का चित्त रमता नहीं दीख पड़ता। इन कवियों को उनका माखन चुराना, दही के मटके फोड़ना, वंशी-वादन, गोचारण और रासलीला ही पसन्द है। लोक-रंजक पक्ष की प्रधानता के कारण ही इसमें माधुर्य पक्ष की ओर अधिकाधिक झुकाव होता गया।

वल्लभ-सम्प्रदाय में आरम्भ में भगवान् के बाल-रूप की पूजा का विधान था। अष्टछाप के सभी कवियों ने इसी कारण इनकी बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। उसमें नारी के मातृ-पक्ष के जैसे सुन्दर दर्शन होते हैं वैसे अन्यत्र कहीं नहीं होते। पर धीरे-धीरे उसमें युगल सरकार की पूजा का विधान प्रमुखता से आ गया और उसका अन्त हुआ राधा की प्रमुखता में। आराध्य का स्थान राधा को मिला और कृष्ण उसके आराधक बन गए। यहीं यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि भक्ति के क्षेत्र में धीरे-धीरे कृष्ण के रूप का संकोच होता गया। महाभारत में उनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था, भागवत में वे उत्तर भारत तक सीमित रह गये, वल्लभ-सम्प्रदाय में यह सिमट कर ब्रज और द्वारका तक रह गया, चैतन्य के यहाँ केवल ब्रज रह गया, निम्बार्क में वृन्दावन, और राधावल्लभ के यहाँ नित्य वृन्दावन के निकुंजों में केलि करने के सिवाय उनके लिए कोई अन्य कार्य अवशिष्ट नहीं रहा।

देव-भावना के दृष्टिकोण से हमने साहित्य का जो वर्गीकरण किया है उसके विषय में इतना कह देना आवश्यक है कि साहित्य में किन्हीं सुनिश्चित विभाजक रेखाओं का खींच सकना दुःसाध्य कार्य है। देव-भावना की निर्गुण और सगुण दोनों धाराएँ एक-दूसरे से प्रभावित हैं। सिद्धान्ततः परब्रह्म को निर्गुण और निराकार मानते हुए भी निर्गुण धारा के कवि अपने को साकार ईश्वर के प्रभाव से दूर नहीं कर सके। हमने 'पौराणिकता या साकार रूप का प्रभाव' नामक प्रकरण में इस विषय की सविस्तार चर्चा की है। भावावेश में अमूर्त को मूर्त रूप देने की क्रिया इतनी स्वाभाविक है कि उससे किसी का बच सकना सम्भव नहीं। सगुणवादियों ने यद्यपि अपना विशेष आग्रह सगुण के प्रति ही दिखाया है और स्थान-स्थान पर उन्होंने साकार रूप की स्थापना के लिए निराकार का खंडन भी किया है पर फिर भी उनके इष्टदेव अजन्मा, अनादि, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म ही हैं। उनके अनुसार उनका जन्म न होकर प्राकट्य होता है। सूर और तुलसी उनके लौकिक कृत्यों का वर्णन करते हुए भी स्थान-स्थान पर उनके अविनाशी और जगदाधार रूप की ओर संकेत करते चलते हैं। बिहारी ने यद्यपि अपनी सतसई का आरम्भ राधा नागरी की स्तुति से किया है और कृष्ण के पौराणिक और साकार रूप पर कितने ही दोहे लिखे हैं पर उनकी रचना में निर्गुण का प्रभाव भी एकदम स्पष्ट है। कितने ही दोहों में तो स्वर भी वही है। केशव की रचनाएँ भी निर्गुण सम्प्रदाय के प्रभाव से मुक्त नहीं कही जा सकतीं।

यही बात कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति शाखाओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है। कृष्ण-भक्ति के सर्वाधिक प्रमुख कवि सूरदास ने राम के सम्बन्ध में पर्याप्त पद लिखे हैं। तुलसी ने कृष्ण को लेकर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। इन दोनों ही कवियों की दृष्टि में राम और कृष्ण मूलतः अभिन्न हैं, अतः दोनों के द्वारा दोनों का वर्णन स्वाभाविक ही है। किसी समय समाज में शैवों तथा वैष्णवों में तीव्र विरोध था, तुलसी के समय में भी यह विरोध एकदम समाप्त नहीं हो गया था, पर फिर भी वैष्णव तुलसी ने शिव की स्तुति आराध्य देवता के रूप में की है। राम-भक्ति शाखा का सम्भवतः कोई ही कवि ऐसा होगा जिसने शिव के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित न किया हो। कृष्ण-भक्ति शाखा में दास्य भाव की उपासना निषिद्ध भले ही न हो, पर उसे वे हीन कोटि की उपासना मानते हैं। आचार्य वल्लभ से प्रथम बार भेंट होने पर सूरदास ने जब उन्हें दास्यभाव का पद गाकर सुनाया तो उन्होंने कहा था कि सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो? उनके यहाँ भगवान् से बराबरी का सम्बन्ध माना जाता है। उनके यहाँ जो सख्य और माधुर्य-भाव से उपासना होती है वह इसी कारण से है। पर फिर भी इस शाखा में दास्य और विनयभाव के पदों की कमी नहीं। साम्प्रदायिकता के आग्रह के बावजूद भी वे पद सदैव आदर एवं प्रेम के साथ सुने और पढ़े गये हैं। असली बात यह है कि हृदय को साम्प्रदायिकता की संकीर्ण परिधि में

बाँधकर रख सकना आसान कार्य नहीं। तुलसी राम-भक्ति की मर्यादावादी शाखा के सर्वाधिक प्रमुख कवि हैं पर उन पर भी रसिक सम्प्रदाय का प्रभाव आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है, ऐसा बहुत-से विद्वानों का मत है।

जन-जीवन में सामंजस्य की जो प्रक्रिया चल रही थी, उससे एकदम अप्रभावित रह सकना किसी के लिए भी न तो सम्भव था और न वांछनीय ही। किसी समय श्रमणों और ब्राह्मणों में जन्म-जात वैर समझा जाता था। "येषां च विरोध: शाश्वतिक:—" पाणिनि के इस सूत्र के उदाहरण के लिए जहाँ नकुल और सर्प का नाम लिया जाता था वहीं श्रमणों और ब्राह्मणों का भी। पर जिस समन्वयात्मिका प्रवृत्ति के द्वारा गौतम बुद्ध की गणना चौबीस अवतारों में होने लगी थी, उसी के कारण इस शाश्वतो विरोध का भी अन्त हो गया था। पुराणों में यह प्रवृत्ति अपने प्रबलतम रूप में है। इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण ही शास्त्रवादी तुलसी भी "नानापुराण-निगमागम-सम्मतम्" तथा "क्वचिदन्यतोऽपि" की घोषणा करने के बाद ही रामचरितमानस लिखने चले थे। हिन्दी के मध्यकाल तक भक्ति की विभिन्न धाराओं का एक-दूसरे में समावेश बहुत सीमा तक हो चुका था। ऐसी स्थिति में किसी भी धारा का एक-दूसरे से प्रभावित हुए बिना बह सकना सम्भव नहीं था। यही कारण है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना सम्बन्धी सभी धाराएँ एक-दूसरे से प्रभावित हैं। ऊपर जो वर्गीकरण किया गया है वह रचनाओं के अनुपात के आधार पर सामान्य पाठक की सुविधा के लिए है।

ज्ञानाश्रयी शाखा का देववाद और विशेषताएँ

आराध्य का रूप—देव शब्द की व्युत्पत्ति और उससे गृहीत अर्थ को समझाते हुए हम पीछे कह आये हैं कि जो शक्तियाँ मानवोत्तर हों और मानव-जीवन के लिए शुभ हों उन्हें हम देव कहते हैं। यह देव साकार भी हो सकता है और निराकार भी। कबीर और ज्ञानाश्रयी शाखा के अनुयायी अन्य सन्त कवि उस लोकोत्तर सत्ता में विश्वास रखते हैं। उनका भक्ति-प्रासाद इस सत्ता की स्वीकृति पर ही टिका है, "खालिक खलक-खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई", और, "जहँ देखों तहँ एक ही साहब का दीदार"—में यही भाव निहित है। पर उनका देव निराकार है, वे उसमें मानवीय गुणों का आरोप नहीं करते इसलिए उसे निर्गुण भी कहा जा सकता है। कबीर के ही शब्दों में वह परब्रह्म निर्गुण है और उसकी गति को कोई देख नहीं पाता—

> निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई,
> अविगति की गति लखी न जाई॥[1]

इसी कारण वे पण्डित से उस ईश्वर का विचार करने के लिए कहते हैं कि कि जिसका न कोई रूप है, न रेखा है और न वर्ण ही। इन्हीं कारणों से उसकी कोई

---

१. क० ग्र०, पद ४९, पृ० १०४

भौतिक इन्द्रियाँ भी नहीं। स्थूल रूप के अभाव में उसे हर व्यक्ति देख ही नहीं पाता—

अलख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है सोई।
सुनि असथूल रूप नहिं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा।
बरन अबरन कथ्यों नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई॥
आदि अंति ताहि नहीं मधे, कथ्यो न जाई आहि अकथे।
अपरंपार उपजै नहीं बिनसै, जुगति न जानिये कथिये कैसै।[1]

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्य स्थानों पर कहा है कि उसका मुख नहीं फिर भी वह खाता है; उसके चरण नहीं, फिर भी वह चलता है। वह शब्द और स्वाद से परे है, न उसकी माँ है, न पिता और न सास-ससुर ही। इन्हीं कारणों से वह मोह की सीमा से भी परे है—

(क) बिन मुख खाई चरन बिन चालै।
बिन जिह्वा गुन गावै॥
(ख) ना तिस सबद न स्वाद न सोहा।
ना तिहि मात पिता नहिं मोहा।
ना तिहि सास ससुर नहिं सारा।
ना तिहि रोज न रोवन हारा॥

नानक का आराध्य भी निराकार ही है। उनकी दृष्टि में यह सदैव विद्यमान रहता है और कभी काल-कवलित नहीं होता—

ॐ कार सतिनामु करता पुरखु निरमऊ।
निर्वेस अकाल मूरति अजूनी सैभं गुरु प्रसादि।[2]

उस आराध्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह न रहा जाय इसीलिए उन्होंने एक अन्य स्थान पर फिर उसे अनादि और सदैव एक वेश रखने वाला कहकर पुकारा है—

आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगुजुगु एको बेसु।[3]

सुन्दरदास की दृष्टि में भी आराध्य देव निराकार ही है। उसमें किसी भी प्रकार के मानवीय गुणों का आरोप नहीं किया जा सकता—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥[4]

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २३०-३१
२. सं० सु० सा०, पृ० २०८
३. वही, पृ० २३१
४. सं० द०, पृ० १५१

सुन्दरदास को अपने आराध्य का निर्गुण रूप इतना अधिक पसन्द है कि वे स्थान-स्थाग पर उनके निर्गुणत्व का ही प्रतिपादन करते है—

जो उपज्यौ कछु आइ जहाँ लग सो सब नास निरन्तर होई ।
रूप धर्‌यो सु रहै नहिं निश्चय तीनहु लोक गनै कहा कोई ।
राजस तामस सात्विक जो गुन देखत काल ग्रसै पुनि कोई ।
आपहु एक रहै जु निरंतर सुन्दर के मन भाषत सोई ।।[१]

गुलालसाहब (जन्म संवत् १७५० वि०) को भी अपने आराध्य का वही रूप पसन्द है जो एक-सा रहता है, उत्पत्ति और विनाश की सीमा से बाहर है तथा जिसकी न कोई माँ है और न पिता—

ना वह उपजै ना वह बिनसै, ना भरमै चौरासी ।
है सतगुरु सतपुरुष अकेला, अजर अमर अविनासी ।।
ना वाके बाप नहीं वाके. माता, वाके मोह न माया ।
ना वाके जोग योग वाके नाहीं, ना कहुँ गया न आया ।।[२]

जो ईश्वर निराकार है उसे ढूंढ़ने के लिए इधर-उधर मारे फिरना मूर्खता है। जो आराध्य देव घट में ही विद्यमान है उसके लिए सिंहलद्वीप जाने से क्या लाभ ? इस प्रकार व्यर्थ परिश्रम करनेवाले और समय गंवाने वाले व्यक्ति की उपमा इन कवियों ने कस्तूरी मृग से दी है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपने पेट में रखी हुई कस्तूरी को न जानकर उसे ढूँढ़ने के लिए वन-वन भटकता फिरता है, ऐसी ही दशा भगवान् को बाहर ढूँढ़ने वाली की है। वह तो हम में इस तरह समाया हुआ है जिस तरह नेत्रों में पुतली—

ज्यूँ नैनूँ में पूतली, त्यूं खालिक घट माँहि ।
मूरिख लोग न जाणहि, बाहर ढूँढण जाहिं ।।[३]

इस शाखा के किसी भी कवि को ले लीजिये, वह भगवान् को हृदय में ही ढूंढ़ने का परामर्श देगा। मलूकदास भी उस हृत्तन्त्री के वादक को हृदय में ही ढूंढ़ने की बात कहते हैं—

सब बाजे हिरदै बजैं, प्रेम पखावज तार ।
मंदिर ढूंढ़त को फिरै, मिल्यो बजावनहार ।।[४]

दादूदयाल का भी आरा ध्यदेव निराकार तो है ही, साथ ही वह सब स्थानों

---

१. सुं० द०, पृ० १५२
२. स० सु० सा०, पृ० १५२
३. क० ग्रं०, पृ० ८२
४. सं० सु० सा०, पृ० ३७

में व्याप्त है। जिस प्रकार कबीर को अपने लाल की लाली के सिवाय कुछ और नहीं दीखता, उसी प्रकार दादू को भी सब स्थानों में अपने आराध्य के ही दर्शन होते हैं। जिस प्रकार घी दूध में रमा रहता है पर मिलता उसी को है जो मथता है, उसी प्रकार उस भगवान् का साक्षात्कार विरले अध्यवसायी को ही मिलता है। उनका पक्का विचार है कि इस सर्वव्यापक देव की आराधना के लिए इधर-उधर भटकने की जरूरत नहीं। वह न तो मंदिर में है और न मस्जिद में। वह हृदय में है, उसे वहीं देखा जा सकता है और वहीं उसकी सेवा की जा सकती है—

यहु मसीत यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बन्दगी, बाहिर काहे जाइ ॥[१]

घट में ही देव-दर्शन की सुभलता के कारण उन्हें तीर्थ और व्रत भी व्यर्थ लगते हैं। ये सब बाह्य विधान है। इनमें फंसा हुआ आदमी बाहर ही भटका रह जाता है, सार तक नहीं पहुँच पाता। इनका साध्य तो दूर रह जाता है, साधन ही साध्य बन जाता है। भगवान् के दर्शनों के लिए काशी और द्वारका तक दौड़ना इन्हें पसन्द नहीं—

दादू कोई दौड़े द्वारका, कोई काशी जाइ।
कोई मथुरा को चलै, साहब घट ही माँहि ॥[२]

नानक का कहना है कि घट-घट में व्यापक उस अविनाशी को खोजने के लिए वन-वन में भटकना व्यर्थ है। वह तो सब स्थानों पर एक-सा ही है फिर उसे हृदय में ही क्यों न ढूँढ़ा जाय ?

काहे रे, वन खोजन जाई !
सर्वनिवासी सदा अलेपा, तोहे संग समाई ॥
बाहर भीतर एकै जानै यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हे मिटे न भ्रम की काई ॥[३]

पलटू साहब को भी अपने आराध्य देव का वही रूप पसन्द है जो हृदय में बसता है। निराकार की पूजा या आराधना में विश्वास के कारण ये ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूजा नहीं करना चाहते—

ब्रह्मा विष्णु महेश न पूजिहौं ना मूरत चित लइहौं।
जो प्यारा मोरे घट माँ बसत है वाही को माथ नवइहौं ॥

---

१. स० सा०, पृ० २७१
२. सं० सु० सा०, पृ० २४५
३. सं० सु० सा०, पृ० २४४

साकार रूप का खण्डन

अपने मत के प्रतिपादन के लिए कभी-कभी विरोधी मत का खण्डन आवश्यक हो जाता है। इनकी दृष्टि में निराकार और साकार में परस्पर विरोधी भावना है। इन साधकों के समय में ईश्वर के साकार रूप की प्रबलता थी। निराकार रूप की न केवल उपेक्षा ही थी अपितु सगुणोपासक उसका खण्डन करने में भी नहीं झिझकते थे। ऐसी स्थिति में इन कवियों ने ईश्वर के सच्चे रूप के प्रतिपादन के लिए उस रूप का खण्डन किया जो इनकी दृष्टि में भ्रामक एवं असत्य था। उनका राम (ईश्वर) अनादि एवं अनन्त है, उसकी रचना अन्य किसी ने नहीं की। उसे अपने आधार के लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं में परिपूर्ण है। वह लोक से तो परे है ही, वेद से भी परे है। यह समस्त संसार उसी से आच्छादित है। उसका न गाँव है न ठाँव है और न कोई खेड़ा है, इसलिए वह वर्णनातीत है। अजन्मा होने से वह न युवा है और न वृद्ध है और न बालक है। न वह दूर है, न समीप है, न उष्ण है और न शीत है। लिंग-भेद से भी वह ऊपर है। न उसे पुरुष कहा जा सकता है और न स्त्री। उसका रंग भी कोई नहीं, न वह श्वेत है और न श्याम; न उसका विवाह होता है और न उसकी बारात चढ़ती है। वह न पीताम्बर धारण करता है और न किसी भी कारण उसे अवतार लेने की आवश्यकता होती है—

ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लंका का राव सतावा।
देवे कूख न औतरि आवा, ना जसवे लैं गोद खिलावा।।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन ले ना कर धरिया।
बाँवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी वेद लेन उधरिया।।
गंडक सालिगराम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बदरी वैस्य ध्यान नहिं लावा, परसराम ह्वै खत्री न सतावा।।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, ले जगन्नाथ प्यंड न गाड़ा।।[1]

उनका स्पष्ट कथन है कि राम का अर्थ दशरथ-सुत (दाशरथि राम) राम नहीं है। जो लोग ऐसा समझते हैं वे भ्रम में हैं। जो राम जन्म धारण करते हैं, सीता के कहने से स्वर्ण-मृग के पीछे दौड़ते हैं, छिपकर बालि का वध करते हैं, सीता के वियोग में वन के वृक्षों, लताओं और मृगों से सीता का पता पूछते फिरते हैं, वे हमारे भगवान् नहीं हो सकते। जो भगवान् सर्वशक्तिसम्पन्न है, जिनके संकेत-मात्र से सब-कुछ चल रहा है, जो सृष्टि के उत्पादक, पालक और संहारक हैं, वे साधारण-से राक्षसों के नाश के लिए पृथ्वी पर उतर कर आयेंगे—यह बात समझ में नहीं आती।

कबीर ने राम के अवतार का तो कथन किया ही है, साथ ही कृष्ण के अवतार का भी खण्डन किया है। उनका कथन है कि जिस समय न तो यह पृथ्वी थी, न

१. क० ग्र०, पृ० २४३

यह आकाश था, उस समय नन्द-नन्दन कहाँ थे ? अनादि और अविनाशी तो निरंजन है। सगुणोपासकों का नंद-नंदन चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते-करते थक गया है।[१] उन्होंने यह भी कहा है कि कृष्ण भी मर जाते हैं और दूसरे लोग भी मर जाते हैं। जो कभी नहीं मरता, वह सृष्टि का सृजन करने वाला है—

मूए कृष्ण मूए करतारा। एक न मुआ जो सिरजनहारा।[२]

× × ×

केतिक कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अन्त न पाया।[३]

सुन्दरदास का स्पष्ट मत है कि कि ब्रह्म निरीह है, निरामय है, निर्गुण है और अखण्डित है, नीचे-ऊपर सब स्थानों पर स्वयं ही व्याप्त है अतः अवतार के रूप में उसके साकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो उत्पन्न होता है वह ब्रह्म नहीं, कुछ और है—

(क) जो उपजै बिनसै गुन धारत सो यह जानहु अंजन माया।
आवै जाइ मरै नहिं जीवन अच्युत एक निरंजन राया।।[४]

(ख) पूरन ब्रह्म निरंजन राया, जिनि यहु नख सिख साज वनाया।
ताकहुँ भूलि गये बिभचारी, अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी।।[५]

रैदास भी साकार ईश्वर के आराधक नहीं। वे भी ऐसे ईश्वर की पूजा करते हैं जिसका न कोई स्थान है और न कोई नाम है—

जोई जोइ पूजिय सोइ सोइ कांची, सहज भाव सति होई।
कहि रैदास मैं ताहि को पूजूँ, जाके ठाँव नाँव नहिं कोई।।[६]

गुरु अमरदास का आराध्य भी निराकार है, वह भौतिक इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होने के कारण अगम और अगोचर है—

अगम अगोचर, तेरा अंतु न पाइया।[७]

गुरु रामदास के आराध्य भी अनादि हैं, अपरम्पार हैं और युग-युगान्तर में एक-से रहने वाले हैं —

---

१. क० ग्र०, पृ० १०३
२. कबीर-बीजक, पृ० ४५
३. वही, पृ० ३५
४. सुं० द०, पृ० १५२
५. स० सु० सा०, भाग २, पृ० ६०१
६. वही, पृ० १४
७. वही, पृ० २८६

तूँ आदि पुरखु अपरम्पार करता जी तुधु जो कहु अवर न कोई ।
तूँ जुगु जुगु एको सदा तुँ एको जी तूँ निहचलु करता सोई ।।[१]

दरिया साहब ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उस पुराण पुरुष का अवतार कभी नहीं होता—

पुरुष पुरान न होइ अवतारा, गाढ़ै ज्योति करै उजियारा ।
ज्योतिरूप जगत सब धरई, जहाँ जहाँ दुष्टन सब दरई ।।[२]

गुलाल साहब के आराध्यदेव का भी न कभी जन्म होता है और न विनाश । उसके न कोई माँ है और न पिता, न वह कहीं जाता है और न आता है—

ना वह उपजै ना वह विनसै ना भरमै चौरासी ।
है सतगुरु सत पुरुष अकेला अजर अमर अविनासी ।।
ना वाके बाप नहीं वाके माता, वाके मोह न माया ।
ना वाके जोग भोग वाके नाहीं, ना कहुँ गया न आया ।।

मूर्ति-पूजा का खण्डन

ईश्वर के साकार या सगुण रूप में विश्वास मूर्ति-पूजा की ओर परिचालित करता है और निराकार या निर्गुण में आस्था मूर्ति-पूजा के खण्डन की ओर प्रवृत्त करती है । इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि इन कवियों ने मूर्ति-पूजा का खण्डन बड़े ही तीव्र शब्दों में किया है । पाषाण की पूजा करते देखकर कबीर को उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है । उनका कहना है कि पत्थर के पूजन से यदि भगवान् की प्राप्ति हो जाया करती तो मैं पहाड़ की पूजा शुरू कर देता । पत्थर की पूजा से भगवान् की प्राप्ति का मार्ग यदि इतना सरल है तो लोग घर में रखी चक्की की पूजा क्यों नहीं करते ? जब पुजारी लड्डू को मूर्ति के सामने करके झट स्वयं खा लेता है, कबीर को लगता है मानों वह मूर्ति को चिढ़ा रहा है । इनका विश्वास है कि पाहन-पूजा से मन की शान्ति कभी नहीं मिली—

सेवें सालिगराम कूँ, मन की भ्रान्ति न जाइ ।
सीतलता सुपिनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ।।

उन्हें प्रसन्नता है कि वे गुरु-कृपा से सन्मार्ग पर आ गये और इस चक्र से निकल गये । अब उनका बोझ हलका हो गया—

हम भी पाहन पूजते, होते वन के रोझ ।
सतगुर की किरपा भयी, डार्‌या सिर थे बोझ ।।

---

१. सं० सु० सा०, पृ० ३१८
२. हि० वि० का० ओ० उ० दा०, पृ० ४३

गुरु नानक भी मूर्ति-पूजा को निस्सार समझते हैं। उनका कहना है कि वे एक प्रकार से अंधे और गूंगे हैं। उनके अनुसार, "हिन्दू बिल्कुल भूले हुए कुमार्ग पर जा रहे हैं। जो नारद ने कहा है, वही पूजा करते हैं। उन अंधों और गूँगों के लिए घन-घोर अंधकार है। वे मूर्ख और गँवार पत्थर लेकर पूज रहे हैं। हे भाई, जिन पत्थरों की तुम पूजा करते हो, यदि वे स्वयं ही पानी में डूब जाते हैं तो उन्हें पूजकर संसार-सागर से किस प्रकार तर सकते हो ?"[1]

दादू को भी पत्थर की पूजा व्यर्थ ही लगती है। हृदय में स्थित देव को छोड़ कर अन्य की पूजा क्यों की जाए ? पत्थर तो वैसे ही निष्प्राण है, उसे पूजनेवाला अन्त में पत्थर ही हो जायेगा—

(क) दादू जिन कंकर पत्थर सेविया, सो अपना मूल गँवाइ।
अलख देव अंतरि बसै, क्या दूजी जगह जाइ ॥
(ख) पत्थर पीवै धोइ करि, पत्थर पूजै प्राण।
अन्तिकाल पत्थर भये, बहु बूड़े इहि ग्यान ॥

दादू का कहना है कि भगवान् चिंतामणि हैं, उनसे माँगने से सभी मनोरथ पूरे होते हैं। जो भगवान् का ध्यान न कर मूर्ति की पूजा करते हैं वे उस व्यक्ति के समान हैं जिसने पत्थर के बदले चिंतामणि बेच दी है। स्फटिकमणि सुन्दर है, पर क्या उससे सूर्य का काम लिया जा सकता है ? अंधकार का नाश तो उसी समय होगा जब असली सूर्य उदित होगा। पाषाण की मूर्ति में भगवान् को बन्द करने वाले संसार-सागर में डूब जाते हैं—

चिंतामणि कांकर किया, माँगे कछू न देइ।
दादू कंकर डारि दै, चिंतामणि कर लेइ ॥
सूरिज फटिक पषाण का, बासों तिमिर न जाइ।
साचा सूरिज परगटै, दादू तिमिर नसाइ ॥
मूरति पड़ी पषाण की, कीया सिरजनहार।
दादू साध सूझै नहीं, यूँ डूबा संसार ॥

मलूकदास की दृष्टि में भी सजीव को छोड़कर निर्जीव की पूजा से क्या लाभ है—

जेती देखे आत्मा, तेते सालिगराम।
बोलनहारा पूजिये, पत्थर से क्या काम ॥[2]

कबीर के ही समान इनका भी कहना है कि जब पत्थर की ही पूजा करनी है तो फिर उस चक्की की पूजा क्यों न की जाय जिसका पिसा आटा संसार खाता है।

---

१. नानक-वाणी, विहागड़ की वार, सलोक २

देवल पूजे कि देवता, की पूजे पाहाड़।
पूजन को जाँचा भला, जो पीस खाय संसार ॥[1]

दरिया साहब (बिहार वाले) का भी विचार है कि भगवान् के निर्मल रूप की पूजा करनी चाहिए। जो लोग पत्थर की पूजा करते हैं वे यम के शिकार बनते हैं—

परमातम के पूजते, निर्मल नाम अधार।
पंडित पत्थर पूजते, भटके जम के द्वार ॥[2]

बाह्याचार का विरोध

मूर्ति-पूजा तो भक्त को भगवान् के असली रूप से दूर रखती ही है पर समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के बाह्याचार भी भक्त के लिए उलझन बनकर रह जाते हैं। यदि पथिक पड़ाव को ही गन्तव्य समझकर रुका रह जाय तो वह गन्तव्य तक पहुँच कैसे सकेगा? इस प्रकार के बाह्य आचारों में व्रत, रोजा, नमाज और तीर्थाटन प्रभृति को लिया जा सकता है। व्रत शारीरिक शुद्धि के लिए किसी सीमा तक संभवतः ठीक हैं, पर व्रतों के द्वारा शरीर को कृश बना देना ही जिनकी दृष्टि में आराध्य देव को प्रसन्न करने का उपाय है ऐसे व्यक्तियों को इन निर्गुणियों ने आड़े हाथों लिया है। शरीर की कृशता को व्यर्थ समझकर ही भगवान् बुद्ध ने उसका परित्याग कर सुजाता की खीर को ग्रहण किया था। दिन भर अनशन रखना और फिर पेट को कोठी के समान भर लेना अपने को भ्रम में रखना है। मुसलमानों का रोजा भी इसी कारण इन कवियों को पसन्द नहीं आया। उनका दिन भर अन्न-जल के बिना रहना और रात्रि में गाय को मारकर अल्लाह को खुश रखने या करने की भावना उपहासास्पद ही है। कबीर ने इसीलिए उन्हें फटकारते हुए लिखा है—

दिन भर रोजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।
कैसा खून यह बन्दगी, कैसी खुसी खुदाय ॥

इसी प्रकार मस्जिद में बैठकर मुल्ला का जोर-जोर से बाँग देना और खुदा को प्रसन्न करने का कार्य इन साधकों को कभी नहीं जँचा। उन्हें तो यह ढोंग ही प्रतीत हुआ—

काँकर पाथर जोरिकै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय ॥

इन कवियों की दृष्टि में जोर-जोर से बाँग देने का अर्थ खुदा को बहिरा समझना है। जो घट-घट में व्यापक है वह क्या नहीं सुनता? रोजा-नमाज और कलमा, इनसे आराध्य देव को प्रसन्न नहीं किया जा सकता—

---

१. सं० सु०, पृष्ठ ३८
२. वही, भाग २, पृष्ठ ६७

रोजा धरै निवाजु गुजारै, कलमा भिस्त न होई ।
सत्तरि कावा घट ही भीतर, जे करि जानै कोई ।।
निवाजु सोइ जो न्याय बिचारे कलमा अकलहि जानै ।
पाँचहुँ मुसि मुसला बिछायै तब तो दीन पछानै ।।[१]

इसी प्रकार तीर्थाटन, गंगा-स्नान, वेद-मन्त्रों का पाठ, केशों का कटाना, इन सब बातों से इष्टदेव के सामीप्य की प्राप्ति की बात सोचना मूर्खता ही है । यदि तीर्थ-यात्रा से मुक्ति हो जाती, भगवान् के दर्शन मिल जाते, तो वहाँ रहने वाले सभी भगवान् के प्रिय हो जाते । गंगा-स्नान ही यदि भगवत्-प्राप्ति में सहायक होता तो वहाँ की मछलियाँ भी भगवान् में मिल जातीं । केशों को कटवाने से यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते तो भगवत्-प्राप्ति का मार्ग बहुत आसान हो जाता । कबीर का सीधा-सा परामर्श मन को शुद्ध करने का है—

केसन कहा बिगारियो, जो मूँडो सौ बार ।
मन को क्यों नहीं मूंडिये जामें बिषै बिकार ।।

बहुत-से व्यक्ति नागा बनकर नंगे फिरने लगते हैं और बहुत-से सिर मुँडा लेते हैं । ऐसे व्यक्तियों को समझाते हुए कबीर ने कहा है कि यदि ऐसा करने से मुक्ति मिल जाया करती तो वन के मृग और भेड़ कभी के मुक्त हो चुके होते—

नागे फिरे जोग जो होई वन का मृग मुकति गया कोई ।
मूँड मुडाये जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई ।।[२]

यों तो कबीर स्वतन्त्र विचारक थे, पर फिर भी वैष्णव धर्म की ओर उनका काफी झुकाव था । इन वैष्णवों में भी जहाँ-जहाँ उन्हें आडम्बर दीख पड़ा है, उन्होंने उसका खण्डन किया है । छापे और तिलक को सब-कुछ मानने वालों के लिए उन्होंने कहा है—

वैसनों भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दाध्या लोक अनेक ।।[३]

उन्होंने यह भी कहा है कि यदि केवल स्नान से ही ईश्वर-प्राप्ति हो जाया करती, सिद्धि मिल जाती, तो सबसे पहले मछलियों को सिद्धि मिलनी चाहिए थी—

जल के मंजन जो गति होई, मीना नितही न्हावै ।
जैसा मीन तैसा नरा, फिरि फिरि जोगी आवै ।।[४]

---

१. क० ग्र०, पृष्ठ ३३३
२. वही, पृष्ठ १३०
३. वही, पृष्ठ ५६
४. वही, पृ० २०४

इसी कारण कबीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में हृदय की शुद्धि पर बल दिया है फिर चाहे केश रखो या न रखो—

(क) साई सेही साच चल, औरों सो सुध भाय।
भावै लम्बे केस कर, भावै धुरडि मुडाय॥[१]
(ख) हरि न मिलै बिन हिरदे सूध॥

वेद-मन्त्रों के पढ़ने से यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते तो जप, तप और यम-नियमों का पालन करने का कष्ट कौन उठाता ? यदि गधे की पीठ पर कुरान-शरीफ या वेद लाद दिया जाय तो क्या वह गधा भगवान् को प्रिय हो जायेगा ? निरुक्तकार यास्क ने भी ऐसे मन्त्रपाठियों को भारवाही गधा ही कहा है। इन सब कवियों ने इस बाह्याचार और कर्मकाण्ड का भी समर्थन नहीं किया। धर्मदास का कहना है कि वेद पढ़ने वाले पण्डित झूठे हैं। यदि वेद-मन्त्रों के पठन-मात्र से इतनी शक्ति मिल जाती है तो वे उस शक्ति से अपने पूर्वजों को क्यों नहीं जिला देते—

झूठे पंडित वेद पढ़ि पढ़ि जग भरमाई।
उसके पुरखा मरि गये उन काहे न जिवाई॥[२]

गुरु नानक भी धर्म को बाह्याडम्बरों और रूढ़ियों से मुक्त कराना चाहते थे। उनका सारा बल आन्तरिक भावों को ग्रहण करने पर है। बाहर के जनेऊ धारण करने से ही लाभ नहीं होता। सच्चे जनेऊ का अर्थ समझाते हुए उन्होंने कहा है "वह जनेऊ जिसकी कपास दया हो, जिसका सूत सन्तोष हो, जिसकी गाँठ संयम हो, जिसकी पूरन सत्त्वगुण हो, हे पंडित, यदि तुम्हारे पास इस प्रकार का जनेऊ हो तो मेरे गले में पहना दो। ऐसा जनेऊ न तो टूटता है, न गन्दा होता है, न जलता है और न कभी नष्ट होता है। हे नानक, वे ही मनुष्य धन्य हैं जो अपने गले में ऐसा जनेऊ पहनकर (परलोक) जाते हैं।"[३]

इसी प्रकार मुसलमानों को भी समझाते हुए उन्होंने कहा है कि रोजा और सुन्नत वह नहीं जिसे वे समझते हैं। केवल तसवीह (माला) खुदा के पास नहीं पहुँचा देती। इनके असली रूप को समझाते हुए वे कहते हैं—

"प्राणियों के ऊपर दया-भावना की मस्जिद बनाओ और श्रद्धा को मुसल्ला। हक की कमाई को कुरान और बुरे कर्मों के प्रति लज्जा को सुन्नत मानो। शान्त स्वभाव को रोजा बनाओ, हे भाई, इस विधि से मुसलमान बनो। शुभ कर्मों को रोजा, सच्चाई को पीर, सुन्दर और दयापूर्ण कर्म, को कलमा और नमाज बनाओ।

१. क० ग्र०, पृ० ४
२. सुं० दा० ग्र०, पृ० ३०१
३. नानक-वाणी, आसा की वार, सलोक २

जो बात खुदा को अच्छी लगे, उसी को मानना तुम्हारी तसबीह हो। हे नानक, खुदा ऐसे ही मुसलमान की लज्जा रखता है।"[1]

गुलाल साहब का भी कहना है कि लोग बाहरी बातों में उलझ गये हैं, मर्म को नहीं समझते। वे सांसारिकता तथा वेद में लीन हो गये हैं, यही दुख का कारण है।[2] सुन्दरदास ने भी सभी प्रकार के बाह्याचार का खण्डन करते हुए कहा है—तू क्यों परिश्रम करता है, क्यों व्यर्थ तीर्थ के लिए भटकता है, सत्य तो घर-बैठे ही आता है। कोई दूध पीता है, कोई सिद्धि के लिए पागल हो गया है, केवल सन्त ही गाय के ऐसे बछड़े हैं जो नित्य ही बिना परिश्रम के जल पीते हैं और मस्त रहते हैं। यन्त्र, मन्त्र और झाड़-फूंक करना व्यर्थ है, रसायन-क्रिया भी व्यर्थ है, इन सब बाह्य क्रियावादियों के सिर पर रेत पड़ती है।[3] गुरु तेगबहादुर भी कहते हैं कि यदि सच्चे हृदय से भगवान् की शरण में नहीं गये तो तीर्थ, व्रत, योग, यज्ञ, सभी उसके लिए व्यर्थ हैं। जिस प्रकार पानी में पड़ा हुआ पत्थर पत्थर ही रहता है, उसमें कोमलता नहीं आती, उसी तरह तीर्थ में रहने पर भी हृदय की शुद्धि के बिना कोई लाभ नहीं—

> कहा भइउ तीरथ व्रत कीए, राम सरनि नहिं आवै।
> जोग जग्य निहफल तिह मानौ जो प्रभु-जसु बिसरावै॥
> ... ...
> तीरथ करै बिरत मुनि राखै, नहि मनुवा बसि जाको।
> निहफल धरम ताहि तुम मानों साँचु कहत मैं थाको॥
> जैसे पाहन जल महिं राखिउ भेदै नहिं तिहि पानी।
> वैसे ही तुम ताहि पछानों भगति हीन जो प्रानी॥[4]

दादू का कहना है कि यदि भगवान् के सिवाय अन्य किसी का ध्यान न किया जाय, तो वही सच्ची नमाज है और यदि मन में यह समाया हुआ है तो तसबीह (माला) फेरने की कोई जरूरत नहीं—

> दादू काया महल में निमाज गुजारूँ, तहँ ओर न आने पावै।
> मन मणके करि तसबी फेरूँ, तब साहिब के मन भावै॥[5]

बाहरी वेशभूषा और रोजा-नमाज से ही कोई मुसलमान नहीं हो जाता। ये तो सब बाहरी निशान हैं, सच्चा मुसलमान होने के लिए अल्लाह का कहना मानना जरूरी है—

---

१. नानक-वाणी, माझ की वार, सलोक १०
२. सुं० दा० ग्र०,
३. वही, पृ० ७३३
४. वही, पृ० ३९२
५. वही, पृ० ४७९

मुसलमान जो राखै मान, साईं का मानै फ़ुरमान।
सारों का सुखदाई होई, मुसलमान करि जानूँ सोई।।[1]

सुन्दरदास का भी कहना है कि जो लोग कृत्रिम पूजा और तीर्थ-व्रत में लगे रहते हैं और गुरु की शरण में नहीं जाते, वे सच्ची राह कभी नहीं पाते—

तो भक्त न भावै, दूरि बतावै, तीरथ जावै फिरि आवै।
जो कृत्रिम गावै, पूजी लावै, झूठ दिढावै बहिकावै।।
अरु माला नावै, तिलक बनावै, क्यों पावै गुरु बिन गेला।
दादू का चेला, भरग पछेला, सुन्दर न्यारा ह्वै खेला।।[2]

बहुत-से व्यक्ति बालों को नोचने और कान फुड़वाने में ही सिद्धि का अनुभव करते हैं, सुन्दरदास का कहना है कि ये ढोंगी लोगों को व्यर्थ ही हँसने का मौका देते हैं—

केस लुचाइ न ह्वै जती, कान पराइन जोग।
सुन्दर सिद्धि कहा भई, बादि हँसाये लोग।।

जाति-पाँति का खण्डन

इस भक्ति-शाखा में ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है, यह पीछे कहा जा चुका है। उच्चता और नीचता का मापक यन्त्र ज्ञान होने से जन्मगत जातिपाँति का महत्त्व इनके यहाँ बिल्कुल नहीं है। भगवान् सबके पिता हैं, फिर पिता की दृष्टि में कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र ? भगवान् का जो भजन करता है वही हरि का जन है, यहाँ जातिपाँति नहीं पूछी जाती। यदि कुछ पूछना ही है तो ज्ञान को पूछना चाहिए—

जाति न पूछो साधु की, पूँछ लीजिये ग्यान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।

ब्राह्मण होने से ही कोई आराध्य देव को प्रिय होता हो और शूद्र होने से ही अप्रिय, यह बात समझ में नहीं आती। भगवान् ज्ञान से प्राप्त होते हैं और ज्ञान किसी वर्ण-विशेष की बपौती नहीं। यदि कबीर जुलाहे के घर पैदा हुए थे तो क्या वे इसी कारण छोटे हो गये ? काशी के ब्राह्मण को ललकारते हुए वे कहते हैं—

तूँ बाम्हन मैं कासी का जुलहा, बूझहु मोर गियाना।
तुमतौ पाचे भूपति राजे हरि सों मोर धियाना।।[3]

उनका दृढ़ विश्वास है कि हिन्दू और मुसलमान तथा ब्राह्मण और शूद्र का

१. सं० सु० सा०, पृ० ४७८
२. वही, पृ० ५६१
३. क० ग्र०, पृ० ३३०

अन्तर कृत्रिम है। यह अपने को बड़ा मानने वालों का दम्भ है। यदि भगवान् को यह अन्तर पसन्द होता तो वे हिन्दू और मुसलमान में तथा ब्राह्मण और शूद्र में अपने हाथ से अन्तर करके भेजते। इसी कारण व्यर्थाभिमानी तुर्क और पण्डित को फटकारते हुए वे कहते हैं —

नहिं को ऊँचा नहिं को नीचा।
जाका प्यंड ताही का सींचा॥
जो तू बांभन वंभनि जाया॥
तो आन बाट ह्वै क्यूँ नहिं आया।
जो तूँ तुरक तुरकिनी जाया,
तौ भीतरि खतना क्यूँ न कराया॥
कहै कबीर मधिम नहीं कोई।
सो मधिम जा मुखि राम न होई॥[1]

इसी भाव को दुहराते हुए उन्होंने एक अन्य स्थान पर मानव मात्र की समता पर बल दिया है—

एक बूँद एकै मल मूतर, एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थे सब उत्पन्ना को बाम्हन कोन सूदा॥
... ...
कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।[2]

कबीर का यह भी कहना है कि परम्परागत हिन्दू और मुसलमान घरों में जन्म लेने से कोई हिन्दू और मुसलमान नहीं हो जाता। जिस आदमी का ईमान बना हुआ है, जिसने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है, वही ब्राह्मण और काजी कहलाने का अधिकारी है—

सो हिन्दू सो मुसलमान, जाका दुरुस्त रहे ईमान।
सो बाम्हन कथै ब्रह्म-गिआन, काजी सो जो जानै रहिमान॥

मुसलमान समझते हैं कि खुदा मस्जिद में ही रहता है और हिन्दू समझते हैं कि उसका निवास मूर्ति में ही है। कबीर का कहना है कि ये दोनों ही भ्रम में हैं। दोनों ही तत्त्व-ज्ञान से शून्य हैं—

जो रे खुदाय मसीत वसतु है, अंवर मुलुक किहि केरा।
हिंदु खुरति नाम बिसरी, दुहु मति तत्तु न हेरा॥

प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कबीर और तत्कालीन

---

१. क० ग्र०, पृ० १०२
२. क० ग्र०, पृ० १०६

अन्य सन्तों के समय में ज्ञान के द्वार सबके लिए नहीं खुले थे। सूत्रकाल में "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का जो सिद्धान्त प्रचलित हुआ था वह अपनी चरम सीमा पर था। वेदों के अध्ययन का मार्ग तो शूद्रों के लिए अवरुद्ध था ही, उन्हें देव-मंदिर में जाने का भी अधिकार न था। जनेऊ पहनने का अधिकार न होने से ये लोग कण्ठी पहनते थे। स्वयं कबीर को रामानन्द का शिष्य बनने के लिए अँधेरे में गंगा के घाट की सीढ़ियों पर लेटना पड़ा था। समाज के अन्याय को इन्होंने स्वयं सहा था। भगवत्-प्राप्ति के मार्ग की सब बाधाओं को दूर करने निकले थे। सिद्धान्ततः और मुक्त-भोगी होने के नाते भी इन्हें जाति-पाँति से घृणा थी। हिन्दू और मुसलमान के झगड़ों ने उनकी दृष्टि में जाति-पाँति की व्यर्थता सिद्ध कर दी थी।

गुरु नानक भी जाति-पाँति के बन्धनों को व्यर्थ मानते हैं। यह भेद मानव-मानव के बीच भारी खाई को खोद देता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के भेद मानव-कृत हैं। उनका कहना है कि जीव-मात्र में परमात्मा की ज्योति समझो। जाति के सम्बन्ध में प्रश्न न करो, क्योंकि आगे भी किसी प्रकार की जाति नहीं थी—

जोगीहु जाति न पूछहु जाति आगे न थी जाति न ह्वै है।[1]

दादू का भी विश्वास है कि भगवान् के दरबार में मानव मात्र एक है। वहाँ न कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान। ये भेद तो कृत्रिम हैं। मानव का कल्याण तो इसी में है कि उसके बीच की यह जाति की दीवार दूर हो जाय। इसीलिए वे अपने को न हिन्दू कहते हैं और न मुसलमान—

दादू ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मुसलमान।
षट् दर्शन में हम नहीं, हम राते रहिमान॥[2]

यही कारण है कि वे न मन्दिर के पक्ष में हैं और न मस्जिद के। उन्हें तो इन दोनों से ऊपर उठकर उस अलख से भेंट की लगन है—

दादू हिन्दू लागे देहुरे, मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलख सों, सदा निरन्तर प्रीति॥[3]

सुन्दरदास भी इन कृत्रिम भेदों में विश्वास नहीं करते। ब्राह्मण और शूद्र का भेद तो उनकी दृष्टि में व्यर्थ है ही, वे अन्य सन्तों के समान मानवमात्र को एक मानते हुए हिन्दू और मुसलमान के भेद से ऊपर उठने की सलाह देते हैं—

चिन्ह बिना सब कोई आए। इहाँ भए दोइ पन्थ चलाए।
हिन्दू तुरक उठ्यो यह मर्मा, हम दोऊ का छाड्यो धर्मा॥

---

१. नानक-वाणी, आसा, सबद ३
२. सं० सु० सा०, पृष्ठ ४८६
३. वही, पृ० ५९७

× × ×

हिन्दू की हद छाड़िकै, तजी तुरक की राह ।
सुन्दर सहजे चीन्हियाँ, एकै राम अलाह ।।[१]

पौराणिकता या साकार रूप का प्रभाव

ऊपर निर्गुण सम्प्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रायः सभी प्रमुख कवियों की रचनाओं में जो उदाहरण दिये गये हैं वे स्पष्टरूप से सिद्ध करते हैं कि ये सभी कवि सिद्धान्ततः ईश्वर को निराकार मानते हैं। जिस देव-सत्ता में इनका विश्वास है वह अलख और अरूप है पर फिर भी साकार देव के दर्शन न होते हों, ऐसी बात नहीं। सगुणोपासक कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली ही इन कवियों ने अपनायी हो, इतनी ही बात नहीं, सगुण लीला का वर्णन भी इन कवियों ने विस्तारपूर्वक किया है। ऐसा होने के अनेक कारण हो सकते हैं। कबीर रामानन्द के शिष्य थे और अपने गुरु की साकारोपासना का उन पर यदि कुछ प्रभाव रह गया हो तो स्वाभाविक ही है। इस शाखा के प्रायः सभी कवि किसी-न-किसी रूप में कबीर से प्रभावित हैं अतः साकारोपासना का थोड़ा-बहुत प्रभाव कबीर के ही माध्यम से उनकी रचनाओं में भी मिल ही जाता है। दूसरा कारण पौराणिक शैली की प्रभविष्णुता कहा जा सकता है। वैष्णव कवियों ने अवतारवाद में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति भर दी थी और अपनी शैली को इन्होंने कुछ इतना अधिक आकर्षक बना लिया था कि जनता बलात् उधर खिची आती थी। ये पौराणिक कथाकार दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या पर कम बल देते थे और कथा-कहानियों पर अधिक। कथा-कहानी के माध्यम से कही हुई बात हृदय को अधिक सुगमता से स्पर्श करती है। जनता को भगवान् के प्रति उन्मुख करने के लिए इन सब कवियों ने साकार ईश्वर के नामों, भक्तों की कथाओं और भगवान् की अवतार-लीलाओं को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है।

कबीर का देव 'पुहुप-बास से पातला' और 'पाणी ही ते भीन' है सही, पर स्थान-स्थान पर वह साकार भी हो उठा है। वे गोविन्द, गोपीनाथ, मुरारी और बनवारी-जैसे साकार भावपरक विशेषणों का प्रयोग करते हैं, ब्रह्मा और महेश का उल्लेख करते हैं और इन्द्र तथा शिव के लोकों की चर्चा करते हैं। पौराणिक कथाशास्त्र का शायद ही कोई ऐसा विशेषण है जिसका प्रयोग कबीर की रचनाओं में न हुआ हो पर बात इतनी ही नहीं है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि नाम के प्रताप से पाषाण जल में तैर जाते हैं और अधम भील और गणिका विमान पर चढ़कर स्वर्ग चले जाते हैं—

है हरि भजन को प्रवाँन।
नीच पावै ऊँच पदवी बाजते नीसांन ।।

---

१. सं० सु० सा०, पृ० ५९७

भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाखान ।
अधम भील कुजाति गनिका, चढ़े जात विमान ।।[1]

एक अन्य पद में प्रह्लाद की पूरी कथा दी गयी है । कहा गया है कि जब राम-नाम न छोड़ने पर हिरण्यकशिपु ने प्रहलाद को खम्भे से बाँधकर मारना चाहा, तो देवाधिदेव नृसिंह रूप में प्रगट हुए और उन्होंने प्रह्लाद की रक्षा की—

तब काढ़ि खड्ग कोप्यौ रिसाइ, कहँ राखनहारौ मोहि बताइ ।
तब खम्भा फारि प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकुस मार्‌यौ नख बिदारि ।।
हे महापुरुख देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रगट कियो भगति भेव ।
कहँ कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबार्‌यौ अनेक बार ।।[2]

विष्णु की नाभि के कमल से ब्रह्मा के और चरणों से गंगा के उत्पन्न होने की बात भी कबीर ने कही है—

वाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंगा तरंग रे ।।[3]

भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन के राजकीय सम्मान का तिरस्कार कर निर्धन विदुर के घर जो साग-पात का भोजन किया, उससे भी कबीर का भावुक हृदय अत्यधिक प्रभावित हुआ है और उन्होंने इसका वर्णन इन शब्दों में किया है—

राजन, कौन तुम्हारे आवै ।
ऐसौ भाव विदुर को देख्यौ वह गरीब मोहि भावै ।[4]

राधा-कृष्ण के पौराणिक रूप का वर्णन भी दर्शनीय है—

इहि बंनि बाजै मदन भेरि रे, उह बंनि बाजै तूरा रे ।
इहि बंनि खेले राही रुकमनि, उहि बंन कान्ह अहीरा रे ।।
आसि पासि तुरसी कौ बिरवा, माहि द्वारिका गाउँ रे ।
तहाँ मेरौ ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नाउँ रे ।।

यही नहीं, शार्ङ्गपाणि भगवान् का उनका चित्रण भी उनके पौराणिक ढंग से ही हुआ है—

राजा अम्बरीष के कारणि चक्र सुदरसन जोरे ।
दास कबीर को ठाकुर ऐसौ भगतन को सर न उबारौ ।।[5]

एक अन्य पद में प्रायः सभी पौराणिक देवी-देवताओं के नाम इकट्ठे ही आ

---

१. क० ग्र०, पृष्ठ १९०
२. वही, पृष्ठ २१४
३. वही, पृष्ठ २१८
४. वही, पृष्ठ ३१९
५. वही, पृष्ठ १२९

गये हैं। वे कहते हैं कि मैं केवल भगवान् राम से याचना करता हूँ, अन्य देवों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। राम के यहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते है, करोड़ों महादेव, कैलास पर्वत हैं। करोड़ों ब्रह्मा वेदपाठ करते हैं, करोड़ों दुर्गा पैर दबाती हैं, करोड़ों चन्द्रमा दीपक का कार्य करते हैं। तैंतीस करोड़ देवता जिसके यहाँ भोजन करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिसके दरबार में खड़े हैं, धर्मराज जिसकी ड्यौढ़ी पर प्रतिहार बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर जिसके कोष के भण्डारी हैं, करोड़ों लक्ष्मी जिसका शृंगार करती हैं, करोड़ों गन्धर्व जिसका जय-जयकार कर रहे हैं करोड़ों विद्याएँ जिसके गुणों का वर्णन नहीं कर पातीं, करोड़ों वासुकि जिसकी शय्या तैयार करते हैं, करोड़ों पवन परिक्रमा करते हैं, करोड़ों समुद्र जिसका पानी भरते हैं, ५२ करोड़ कोतवाल जिसके नगर के क्षेत्रपाल बने हुए हैं, जिसकी लटें बिखरी हुई हैं, उस नटवर गोपाल की कलाएँ अनन्त हैं। करोड़ों कन्दर्प जिसका लावण्य बढ़ाते है उस शार्ङ्गपाणि भगवान् का भजन करना चाहिए—

जो जाँचौ तो केवल राम, आँन देव सूँ नाहीं काम।
जाके सूरिज कोटि करें परकास, कोटि महादेव गिरिकविलास॥
ब्रह्मा कोटि वेद उचरैं, दुर्गा कोटि जाके मरदन करैं।
कोटि चन्द्रमा गहै चिराक, सुर तेतीसुं जीमें पाक॥
नौ ग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौलि प्रतिहार।
कोटि कुबेर जाके भरै भण्डार, लक्ष्मी कोटि करैं सिंगार॥
कोटि पाप पुनि व्योहरैं, इन्द्र कोटि जाकी सेवा करैं॥
लगी कोटि जाके दरबार, गंध्रप कोटि करै जैकार।
विद्या कोटि सबै गुण कहै, पारब्रह्म कौ पार न लहै॥
बासिग कोटि सैज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारे फिरैं।
कोटि समुद्र जाके पणिहारा, रोमावलि अठारह भारा॥
असंखि कोटि जाकै जमावली, रावण सैन्य जाथैं चली।
सहसबाहं के हरै पराण, जरजौधन घाल्यौ सै मान॥
बावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।
लट छूटी खेलै बिकराल, अनत कला नटवर गोपाल॥
कंद्रप कोटि जाके लाँवन करैं, घट-घट भीतरि मनसा हरैं।
दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद माँगो दान॥[१]

दादू की स्थिति की ऐसी ही है। पौराणिक शब्दावली के अतिरिक्त उन्होंने उनके गो-चारण, वंशी-वादन और रास का भी उल्लेख किया है—

---

१. क० ग्र०, पद ३४०

प्रभु बोलि स्वामी अन्तरबाणी, तेरा सबद सुहावै राम जी।
धेनु चरावन, बैनु बजावन, दर्स दिखावन कामिनी॥
विरह उपावन, तपन बुझावन, अंगि लगावन भामिनी।
संग खिलावन, रास बनावन, गोपी भावन भूधरा॥
दादूतारन, दुर्तनिवारन, संत सुधारण राम जी॥

नानक भी साकार रूप से आकृष्ट हुए हैं। भगवान् का असुर-संहारक रूप उन्हें बड़ा पसन्द है—

असुर संहारण रामु हमारा। घटि रमहवाँ राम पिवारा।[1]

एक अन्य पद में इंद्र, ब्रह्मा और कृष्ण की चर्चा है—

(क) आखहि वेद पाठ पुराण। आखहि पढ़े करहि बखिआन।
आखहि बरमै आखहि इन्द्र। आखहि गोपी ते गोविन्द॥
आखहि ईसर आखहि सिद्ध। आखहि कैते कीते बुद्ध।
आखहि दानव आखहि देव। आखहि सुरि नर मुनि जन सेव॥[2]

(ख) गावहि ईसरु बरमा देवी साहनि सदा सवासे।
गावहि इन्द इन्दासणि बैठे दैवतिआ दरि नाले॥[3]

जो रैदास वर्ण, नाम और स्थान की सीमा में न बँधने वाले देव की पूजा करते हैं वही गणिका को पार उतारने वाले साकार विष्णु की भी पूजा करते हैं—

ऐसे जानि जपो रे, जीव जपिल्यो राम न भरमो जीव।
गनिका थी किस करमा जोग, पर पुरुष से रमती भोग॥
निसिबासर दुष्करम कसाई, राम कहउ बैकुण्ठे जाई।
मोर जाति कुचिल में बासी, भगत चरन हरि चरन निवास॥

एक अन्य पद में वे अपने देव से कहते हैं कि यदि तुमने अजामिल, गणिका और कुंजर को पार उतार दिया है तो मेरी बारी आने पर ढील क्यों करते हो?—

लाग वाकी कहाँ जाने तीन लोक पर्यन्तरे।
अजामील गजगणिका तारी, तारी कुंजर की वात रे।
ऐसे दुरगत मुक्त किए तो क्यों न तरे रैदास रे।[4]

जिस शिव के शरीर में भस्म लगी रहती है, छाती पर सर्प लटके रहते हैं और जिसके तीन नेत्र हैं, उस शिव के विषय में भी रैदास का यह पद दर्शनीय है—

---

१. गु० ग्र० सा०, पृ० १०२८
२. सं० सु० सा०, पृ० २२७
३. वही, पृ० ४२८
४. स० वा० कल्याण, २१६

गोविन्दे तुम्हारे से समाधि लागी।
उह भुजंग भस्म अंग संतत वैरागी ।।
तीन नैन, अमृत बैन, सीस जटाधारी।
कोटि-कल्प, घ्यान अलप, मदन ग्रंतकारी ।।

सुन्दरदास भी साकार की मोहिनी से बच नहीं सके। उन्होंने गौरी, शंकर और प्रह्लाद की चर्चा किस प्रकार की है, यह निम्नलिखित पद में देखिये—

राम नाम शंकर कर्यो गौरी को उपदेस।
सुन्दर ताही राम को, सदा जपुत है सेस ।।
राम नाम नारद कर्यौ सोअहि ध्रुव के ध्यान।
प्रगट भये प्रहलाद पुनि सुन्दर के भगवान् ।।

मलूकदास के राम कहीं-कहीं रावण के मारने वाले रघुवंशी राम भी हैं—

गर्व न कीजै बावरे, हरि गर्व प्रहारी।
गर्बहि ते रावन गया, पाया दुख भारी ।।[१]

गुरु अर्जुनदेव ने एक पद में विष्णु के पौराणिक रूप का वर्णन करने के अतिरिक्त उनके अवतारों एवं अवतारी कार्यों का भी वर्णन किया है—

(क) धरणी धर हँस नरसिंह नारायण। दाढा बने प्रथमि धारण।
बावन रूप कीना ।।[२]

(ख) मुकुन्द मनोहर लखमी नारायण द्रौपदी लाज निवारि उधारण।
कमला कान्त करहि कंतुहल···।।[३]

गुरु तेगबहादुर को भी भगवान् का वह रूप पसन्द है जिसने अजामिल और गणिका का उद्धार किया था, भरी सभा में पांचाली की लाज बचायी थी—

हरि को नामु सदा सुखदाई !
जाको सिमिरि अजामिल उधर्यौ गनकाहू गति पाई ।।
पंचाली को राजसभा में राम नाम सुधि आई।
ताको दुक्ख हर्यौ करुनामय अपनी पैज पढ़ाई ।।[४]
मन रे प्रभु की सरनि बिचारौ।

× × ×

जिह सिमिरत गनिका सी उधरी, ताको जसु उर धारौ ।।

---

१. स० वा० कल्याण, पृ० २३७
२. गु० ग्रं० सा०, पृष्ठ १०८५
३. वही, पृ० १०८५
४. स० सु० सा०, पृष्ठ ३८८-८९

अटल भयौ ध्रुव जाके सिमिरत अरु निरभै पदु पाइआ।
दुखहरता इह बिधि को स्वामी तै काहे बिसराइआ॥
जब ही सरनि गही किरपानिधि, गज गराह लै छूटा।
महिमा नाम कहाँ लगि बरनउं, राम कहत बंधन तिह छूटा॥
अजामेलु पापी जगु जाने, निगम माँहि निसतारा।
नानक कहत चेत चितामनि, ते मो उतरहि पारा॥

रही बात गुरु गोविन्दसिंह की, उनके भावुक हृदय से देवी चण्डी की स्तुति में जो पद निकले हैं वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। शुम्भ और निशुम्भ का वध करने वाली देवी चण्डी की स्तुति कर अन्त में वे उससे यही वर माँगते हैं—

देइ सिवा बर मोहि इहै सुभ-करमन से कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सौं जब जाइ लरौं निसचै कर अपनी जीत करौं॥[1]

उनकी ही लेखनी से लिखा गया रासलीला का यह वर्णन भी पठनीय है—

जब आई है कातक की रुत शीतल, कान्ह तबै अतिही रसिया।
सँग गोपिन खेल विचार कर्यौ, जो हुतौ भगवान महारसिया॥
अपवित्रन लोगन के जिह के, पग लागत पाप सबै नसिया।
तिह को सुनि तिरियन के संग खेल, निवारहु काम इहै बसिया॥[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण सम्प्रदाय की शाखा के ऊपर पौराणिकता का पर्याप्त प्रभाव है।

एक बात हम फिर स्पष्ट कर दें कि जहाँ कहीं यह पौराणिक प्रभाव है, उसे साकार रूप की सैद्धातिन्क स्वीकृति के रूप में नहीं समझना चाहिए। अपने सिद्धान्त के विषय में इन कवियों के मन में अणु-मात्र भी सन्देह नहीं है। उनका देव निराकार है, अजन्मा, अनादि और सर्व-व्यापक है। पौराणिक शैली का ग्रहण इन कवियों ने जन-मन को आकृष्ट करने के लिए ही किया है, सिद्धान्त रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया।

विविध सम्बन्धों की स्थापना

यद्यपि ये कवि निराकार और निर्गुण ईश्वर में विश्वास रखते थे, पर अमूर्त को मूर्त बनाने की स्वाभाविक प्रक्रिया में ये बच नहीं सके। वेदों में भी ईश्वर निराकार है, वहाँ उसे अकाय और अव्रण कहा गया है; पर वैदिक ऋषि का भावुक हृदय अपने आराध्य के अमूर्त रूप से ही सन्तुष्ट नहीं रह सका। उन्होंने किस प्रकार ईश्वर को माता-पिता, मित्र और पति-रूप में संबोधित किया है, यह पीछे कहा जा चुका है।

---

१. च० च०, पृ० २३१

२. स० वा० अंक 'कल्याण', पृ० ३८८

इन कवियों का भावुक हृदय भी अपने देव से विविध संबन्ध स्थापित करने के लिए व्याकुल हो उठा है। कबीर एक स्थान पर अपने को पुत्र कहते हैं और भगवान् को माता। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के सारे अवगुणों को भुलाकर हृदय का सम्पूर्ण प्यार देती है उसी प्रकार कबीर भगवान् के प्यार की आशा करते हैं—

हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न ओगुण बक्सहु मेरा।
सुत अपराध करे दिन केते, जननी के चित रहे न तेते ॥
कर गहि केस करे जो धाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥[१]

माता और पुत्र का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है पर फिर भी इसमें व्यवधान है। ज्यों-ज्यों पुत्र बढ़ता जाता है, यह व्यवधान बढ़ता जाता है। अभेद के स्थान पर यह भेद किसी अपूर्णता को पैदा करता है, इस दृष्टि से पति-पत्नी का सम्बन्ध अधिक स्पृहणीय है। इसमें शरीरों का पार्थक्य होते हुए भी एकात्मता आ जाती है, किसी भी प्रकार का अन्तर दोनों के बीच में नहीं रहता। इसीलिए कबीर अपने को राम की बहुरिया कहते हैं और राम को अपना भरतार। उनका अपने प्रिय के साथ मिलन होता है और सखियाँ मंगलाचार गाती हैं—

दुलहिन गाओ मंगलाचार हमारे घर आए राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं पाँच तत्व बराती।
राम देव मोहि व्याहन आये मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचारा।
राम देव सँग भाँवरि लैहों धनि धनि भाग हमारा ॥[२]

इस पद के अलावा भी न जाने कितने स्थलों पर उन्होंने अपने को राम की बहुरिया और राम को अपना पीव कहा है।

हरि मेरा पीव, भाई, हरि मेरा पीव!
हरि विन रहि न सके मेरा जीव!
हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया,
राम वड़े, मैं छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन के ताईं,
काहे न मिलो राजा राम गुसाईं।
अबकी बेर मिलन को पाऊँ,
कहैं कबीर भौ जलि नहीं आऊँ ॥[३]

रैदास भी अपने देव से तरह-तरह के संबन्ध जोड़ते हैं। वे राम-रूपी घन के

१. क० ग्रं०, पृ० ८७
२. वही, ८७
३. वही, पृ० ८७

लिए मोर, चंद के लिए चकोर, दीपक के लिए बाती और मोती के लिए धागा बनने को तैयार हैं—

प्रभु जी ! तुम चंदन हम पानी,
जाकी अँग अँग बास समानी !

प्रभु जी ! तुम घन हम बन मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा।
प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती ॥
प्रभु जी ! तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।
प्रभु जी ! तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भगति करै रैदासा ॥[1]

सुन्दरदास अपने को पत्नी और भगवान् को पति मानकर विरह की दशा का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—

बिरहिन है तुम दरस पियासी।
क्यों न मिलै मेरे पिय अविनासी !

येते दिन हो काहि बिसारी निसिदिन मरत है नारी।
बिभिचारिन ही होती नाही, ते पतिव्रतहिं रही मन मांही।
तुम तो बहुत त्रियन संग कीनों, मैं तो एक तुमहि चित दीनों ॥

दादू भी एक ही साँस में अपने देव से न जाने कितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं—

तूँ ही तूँ आधार हमारे, सेवग सुत हम राम तुम्हारे।
माई बाप तू साहिब मेरा, भगतिहीन मैं सेवग तेरा ॥
मात पिता तू बान्धव भाई, तुम ही मेरे सजन सहाई।
तुम ही तात और तुम ही मात, तुम ही जात तुम ही तात।
कुल कुटुम्ब तू सब परिवार, दादू का तू कारणहार ॥

गुलाल साहब भी कमी भगवान् को मां और कभी पति कहकर पुकारते हैं—

आठ पहर तहँ सुरति निहारी। जस बालक पालै महतारी।[2]
... ...
लागलि नेह हमारी पिया मोर।
चुनि चुनि कलियाँ सेज बिछावौं, करौं मैं मंगलाचार ॥
रुको घरी पिया नहीं सइले, होइया मोहि धिरकार।
आठों याम रैन दिन जौहां, नेक न हृदय बिसार ॥
... ...
कहै गुलाल पावौं भरि पूरन मौजो मौज हमार ॥[3]

---

१. सं० वा० अंक (कल्याण), पृ० २१६
२. सं० सु० सा०, पृष्ठ १२६
३. वही, पृष्ठ १२४

गुरु अर्जुनदेव भी उस निराकार से तरह-तरह के संबन्ध स्थापित करते हैं। उनके आराध्य उनके सखा हैं, प्रियतम हैं। जिस तरह वे रखें, उन्हें रहना स्वीकार है :

तू मेरा सखा तू ही मेरा मीतु। तू मेरा प्रीतम तुम संग हीतु।
तू मेरा पति, तू है मेरा गहणा। तुम बितु निमस न जाइ रहणा।
तू मेरे लालन तू मेरे प्राण, तू मेरे साहब तू मेरे खान ॥[1]

धर्मदास अपने देव को माँ तथा पिता मानकर अनुग्रह की कामना करते हैं—

साहिब दीन बन्धु हितकारी।
कोटिक औगुन बालक करई, मात पिता चित एक न धरई।
तुम गुरु मात पिता जीवन के मैं अति दीन दुखारी ॥[2]

प्रेम का महत्त्व

ज्ञानाश्रयी शाखा में ज्ञान की महत्ता है। ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, हृदय से उसका कोई लगाव नहीं। इस कारण इस शाखा में प्रेम का कोई महत्त्व नहीं, ऐसा मानना इस शाखा के साथ अन्याय करना होगा। इस शाखा के प्रवर्तक कबीर हैं और उन्होंने ही उत्तरी भारत में भक्ति को प्रवाहित किया। किवदन्ती है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखण्ड ॥

भक्ति की उत्पत्ति द्रविड़ों की देन है या उसका मूल वेदों में है, यह हमारी चर्चा का विषय नहीं है। हम तो इतना ही कहना चाहते हैं कि जन-जीवन में ज्ञान और भक्ति के अनूठे समन्वय का श्रेय कबीर को ही प्राप्त है। ज्ञान और भक्ति के संमिश्रण से उन्होंने जिस सुरसरि को प्रवाहित किया उससे जनता का नैराश्य-कल्मष दूर हुआ और एक नवीन आशा के आलोक से जन-जीवन जाग उठा। जिस व्यक्ति को सातों द्वीपों और नवों खण्डों में भक्ति को प्रसारित करने का श्रेय प्राप्त हो वह प्रेम से शून्य कैसे हो सकता है ? प्रेम जब लौकिक ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो वही भक्ति की संज्ञा पा लेता है। इसीलिए कबीर ने शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा प्रेम पर अधिक बल दिया है। उनका कहना है कि सच्चा पंडित वही है जिसने प्रेम को पा लिया है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ ॥[3]

---

१. स० वा०अं० (कल्याण), पृ० ३६३
२. वही, पृ० २१५
३. क० ग्रं०, पृ० ३६

जीवन का महत्त्व प्रेम से ही है। प्रेम-रहित मानव का जीवन न होने के बराबर है। जिस व्यक्ति ने इस अमृत का स्वाद नहीं चखा, उसका जीवन व्यर्थ हो गया—

जिहि घट प्रीत न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम ॥[1]

जो मानव सच्चे हृदय से भगवान् के साथ प्रेम करते हैं उनका जीवन धन्य हो जाता है। उनका प्राप्य उन्हें मिल जाता है। प्रेम की शीतल एवं मधुर फुहारों से शरीर रोमांचित हो उठता है, ऐसा लगता है मानो अमृत की वर्षा हो रही हो—

प्रेम भगति ऐसी कीजिये मुख अमृत बरसे चन्द।

पर यह प्रेम दुर्लभ वस्तु है। इसे पाने के लिए बहुत खोना पड़ता है। इसका मूल्य भारी है, हर व्यक्ति इसे चुका नहीं सकता। जो व्यक्ति अपने प्राणों से खेलने का साहस रखता हो, वही इस मार्ग पर चलने का अधिकारी है—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथ धरि, सो पैठे घर माहिं॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरैं, तब निर्वहि प्रेम का स्वाद॥

दादू की दृष्टि में भी जीवन में सबसे अधिक महत्त्व प्रेम का ही है। केवल पुस्तकीय ज्ञान हमें कहीं नहीं पहुँचाता—

दादू पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़े, प्रेम बिना क्या होइ॥[2]

दादू का यह भी कहना है कि जो कोई बिरला साधक इस मार्ग पर चलता है फिर उसे पाने के लिए कुछ बचा नहीं रहता। इस प्रेम रस को पीने के बाद उसे भगवान् की प्राप्ति हो जाती है और वह सारी दुनिया को भूल जाता है—

आतम चेतनि कीजिए, प्रेमरस पीवै।
दादू भूले देहगुण, ऐसे जन जीवै॥

अहं का नाश

अहं के नाश के ऊपर इन सभी कवियों ने बड़ा बल दिया है। जब तक जीव अपने अहं में फंसा रहेगा तब तक उसे सच्चे प्रेम की अनुभूति नहीं होगी, भगवान् उससे दूर ही रहेंगे। इनके रहते हुए जीव में वह विनम्रता नहीं आ सकती जिससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् को रिझाने की पहली शर्त है आपे को मेटना। या तो भक्त

१. सं० सु० सा०, पृ० ६५
२. वही, पृ० ४८०
३. वही, पृ० ४५४

भगवान् का ध्यान कर सकता है या आपे का। एक म्यान में दो तलवारों के लिए स्थान कहाँ ? इस दोहे में यही बात कही है—

पीया चाहे प्रेमरस, राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खडग, देखा सुना न कान ।।

यह मेरे का भाव भक्त को आगे नहीं बढ़ने देता, उसके पैर की बेड़ी बनकर उसे वहीं रोक लेता है—

मैं मैं मेरी जिनि करे, मेरी मूल बिनास।
मेरी पग का पैखरा, मेरी गल की फाँस ।।[1]

दादू ने भी अहं को भगवत्प्राप्ति में विघ्नरूप ही माना है और उन्होंने जीव को परामर्श दिया है सृजनहार के सामने गर्व करना व्यर्थ है—

गर्व न कीजिए रे, गर्वै होई बिनास।
गर्वै गोविन्द ना मिले, गर्वै नरक निवास ।।
... ...
गर्वै बहुत विनास है, गर्वै बहुत विकार।
दादू गर्व न कीजिए, सन्मुख सिरजनहार ।।[2]

उन्होंने कहा है कि संसार में जीव का यदि सबसे बड़ा कोई वैरी है तो वह उसका मैं ही है। जिसमें मैं नहीं, उसे कोई नहीं मार सकता, और जिसमें मैं है उसे मारने की जरूरत नहीं, वह तो मरा हुआ ही है।

दादू मेरा वैरी मैं मुआ, मुझे न मारे कोई।
मैं ही मुझ को मारता, मैं मर जीवा होई ।।[3]

यह अहं द्वैत भावना पैदा करता है। इसमें भक्त अपने महत्त्व को अधिक समझता है। उसमें अकड़ बनी रहती है। इस अहं के कारण वह पूरी तरह आत्म-समर्पण नहीं कर पाता। कबीर का कथन है कि जब तक मैं का भाव बना हुआ है तब तक हरि का मिलन असंभव है, और जब हरि मिल जाते तो मैं का टिकना सम्भव नहीं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं।

इसीलिए कबीर भक्त को अधिक-से-अधिक विनम्र होने का परामर्श देते हैं। जिस प्रकार सेवक परम स्वामिभक्त होता है और अपने स्वामी की सब प्रकार से सेवा करना कर्त्तव्य समझता है उसी प्रकार भक्त को भगवान् का आज्ञाकारी होना चाहिए। कबीर इससे भी अधिक आगे बढ़कर कुत्ते के समान स्वामी के वशवर्ती होने को तैयार हैं—

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ २७
२. संत-सुधा-सार, पृष्ठ ४३१

कबीर कुतिया राम की, मुतिया मेरा नाऊँ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खेचें तित जाऊँ ।।[१]

पर विनीत कवि को इतने से ही संतोष नहीं होता । कुत्ता स्वामी का वश-वर्ती होकर भी बदले में कुछ न कुछ पाता अवश्य है । कबीर इसीलिए भक्त को मार्ग का रोड़ा होने की सलाह देते हैं । रोड़ा मार्ग में चुपचाप पड़ा रहता है और किसी से कुछ नहीं चाहता । पर कुछ और सोचने पर कबीर का असंतोष फिर जाग्रत हो जाता है । रोड़ा कभी-कभी पथिक के लिए दुःखदायी हो उठता है । उससे ठोकर खाकर पथिक का पैर लहूलुहान हो उठता है । यह रूप भी सेवा और विनम्रता के लिए बाधक है । कबीर इसीलिए भक्त को धूल बनने का परामर्श देते हैं--

रोड़ा ह्वै रहु बाट का, तजि पाखंड अभिमान ।
ऐसा जो जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान् ।।
रोड़ा हुआ तो क्या हुआ, पंथी को दुख देइ ।
ऐसा तेरा दासु है, जिमि धरनी महि खेइ ।।

शरणागत-वत्सलता

इनके मत में भगवान् निराकार भले ही हों पर वे भक्तवत्सल हैं और शरणागत के भय को दूर करने वाले हैं । इन कवियों में जहाँ-जहाँ साकार रूप का प्रभाव आया है वहाँ प्रायः भगवान् की भक्त-वत्सलता का ही उल्लेख है । इस प्रकार के उदाहरणों का कुछ का उल्लेख दूसरे स्थान पर हो चुका है । विस्तार में न जाकर हम इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि कबीर तथा अन्य कवियों ने भगवान् के प्रह्लाद, अजामिल और गणिका के उद्धार करने वाले रूप का वर्णन पर्याप्त मात्रा में किया है ।

कबीर को अपने भगवान् पर विश्वास है । उनका कहना है कि राम शरणागत के रक्षक हैं—"जिस दिन किसी की भी सहायता नहीं मिलती, उस दिन राम ही सदा सहायक होते हैं । मुझे तन्त्र-मन्त्र का ज्ञान नहीं है, न मुझे वेद मालूम है न भेद; राम ने पंडितों की ओर मन्दिर का पिछवाड़ा कर दिया और मुख उधर जिधर नामदेव थे । राजा अम्बरीष के लिए भी चक्र सुदर्शन उन्होंने ही चलाया था, कबीर का ठाकुर भक्तों का हितकारी है ।"[२]

भगवान् के इस रूप को समझाने के लिए कहा है, कि भगवान् गाय है और भक्त बछड़ा । जहाँ-जहाँ बछड़ा जाता है वहीं-वहीं भगवान् भी जाते हैं—

---

१. क० ग्र०, पृ० २०
२. वही, पृ० १८७

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ-तहाँ फिरै गाय।
कहँ मलूक हँज संत जन, तहाँ रमैया जाय ॥[१]

उनका यह भी कहना है कि जिस किसी ने भगवान् की ओट ले ली वह चैन की नींद सोता है, उसे अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं रहती, उसकी रक्षा तो भगवान् स्वयं करते हैं। ऐसे शरणागत को माला जपने की भी जरूरत नहीं, यह सब काम तो स्वत: भगवान् ही अपने ऊपर ले लेते हैं—

कह मलूक हम जबहि ते, लीन्हीं हरि की ओट।
सोवत हैं सुख नींद भरि, डारि भरम की पोट ॥
माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या रटौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पाया बिसराम ॥[२]

रैदास के अनुसार गरीब पर दया करने वाले केवल भगवान् ही हैं। जिसे देखने से भी संसार को पाप लगने का डर लगता है, भगवान् उस पर भी कृपा करते हैं—

ऐसी लाल तुझ बिन कौन करै।
गरीब निवाजु गुसैयाँ, मेरे माथे छत्र धरै ॥
जाकी योखि जगत कौ लागौ, तापर तुही डरै।
नीचहि ऊँच करै मोरा गोविन्द, काहू ते न डरै ॥
नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सदना सैनु तरै।
कहै रविदास सुनहु रे संतो, हरि जीउ ते सभै सरै ॥[३]

गुरु अमरदास का कहना है कि भगवान् बड़े दयालु हैं, माता के गर्भ में बच्चे को वे ही आहार पहुँचाते हैं, ऐसे दाता को बिसारना भारी गलती है—

माता के उदर महि प्रतिपाल सो किउ मनहु बिसारिए।
मनहु किउ बिसारिए एवडु दाता जि अगनि महि आहार पहुंचावए ॥
ओसनों किहु पोहि न सकी जिसनउ आपणी लिव लावए।
कहैं नानकु एवडु दाता सो किउ मनहु बिसारिए ॥[४]

गुरु अर्जुनदेव को भी भगवान् के शरण-वत्सल होने पर पूरा विश्वास है। उनका ब्रह्म पतितपावन है और समर्थ है—

पतित उधारण पार ब्रह्मु समरथ पुरखु अपारु।
जिसहि उधारे नानका सो सिमरै सिरजणहारु ॥[५]

---

१. संतसुधासार, भाग २, पृष्ठ ३६
२. वही, पृष्ठ ३७
३. वही, भाग १, पृष्ठ १९३
४. वही, पृष्ठ २९२
५. वही, भाग १, पृ० ३८०

दादूदयाल का कहना है कि जो सुख प्रभु की शरण में मिलता है और कहीं नहीं मिलता। उसकी शरण में जाते ही सारे भवबन्धन कट जाते हैं और भ्रम की निशा कट जाती है। भगवान् पारस की उस मणि के समान हैं जिसका स्पर्श पाकर लोहा भी सोना बन जाता है—

सरनि तुम्हारी केसवा, मैं अनन्त सुख पाया।
भाग बड़े तूं भेटिया, हौं चरनौं आया॥
मेरी तपति मिटी तुम्ह देखतां, शीतल भयौ भारी।
भव बन्धन मुकता भया जब मिल्या मुरारी॥
भरम भेद सब भूलिया, चेतनि चित लाया।
पारस सूं परचा भया, उनि सहज लखाया॥[१]

आगे वे फिर कहते हैं कि प्रभु के समान गरीबनिवाज दूसरा कोई नहीं है। वे नीच को ऊँच कर सकते हैं और जिसे वे एक बार ऊँचे आसन पर बैठा देते हैं उसे फिर वहाँ से उतारने वाला कोई नहीं। नामदेव, कबीर और रैदास-सब उसी की कृपा से पार उतरे हैं—

तुम्हें बिन ऐसे कौन करै।
गरीब निवाज गुसाईं मेरे माथे मुकुट धरै॥
नीच ऊँच ले करै गुसाईं, टार्यौ हू न टरै।
हस्त कँवल की छाया रखै, काहू थैं न डरै॥
जाकी छोति जगत को लागै तापरि तूं ही ढरै।
अमर आप ले करै गुसाईं, मार्यौ हू न मरै॥
नामदेव, कबीर जुलाहों, जन रैदास तिरै।
दादू बेगि बार नहिं लागै, हरि सौं संबे सरै॥[२]

तन्मयता और अनन्यता

आराध्य देव साकार हो या निराकार, एकान्त निष्ठा से उसका ध्यान एवं भजन भक्त के लिए अनिवार्य है। सर्वतोभावेन समर्पण किए बिना भक्ति संभव ही नहीं। आपे को मिटाए बिना आराधना कैसे संभव है? इन सभी भक्तों की वृत्ति ईश्वराभिमुख है और ये अपने को अपने देव में लीन कर देने के लिए व्यग्र हैं। अपने को उसमें लीन किए बिना, अपने आप को मिटाए बिना प्रेमरस को चखा ही नहीं जा सकता। कबीर के ही शब्दों में, प्रेम रस को पीने की अभिलाषा करना और पूरी तरह आत्मसमर्पण न करना, दोनों बातें साथ-ही-साथ नहीं चलतीं। यही कारण है

१. सं० सु० सा०, पृष्ठ ४३६
२. वही, भाग १, पृष्ठ ४४०-४१

कि वे सब कुछ भूलकर अहर्निश उस आराध्य का स्मरण करते हैं और उसी का ध्यान करते हैं। उसके आने का मार्ग जोहते-जोहते उनकी आखों में झाईं पड़ गई है और जीभ में छाले—

अंखड़ियाँ झाँई पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाल्या पड्या राम पुकारि पुकारि ॥[१]

प्रिय से मिलन ही उनके जीवन का लक्ष्य है, प्रिय के दर्शन ही उनका एकमात्र काव्य है। उसके बिना उन्हें बहिश्त भी पसन्द नहीं—

भिस्त न मेरे चाहिये, बाझ पियारे तुझ ॥[२]

पर प्रिय का मिलन क्या उतना आसान है? हँसते-खेलते ही यदि वह मिल जाता तो कोई भी उसे प्राप्त कर लेता। प्रेम का घर खाला का घर नहीं। यहाँ तो वही पैठ सकता है जो सिर हाथों पर रख कर मैदान में आ जाए। फिर वह देव बड़ा कठोर परीक्षक है, वह नापतोल कर अंक देता है। अभी साधक उस स्थिति पर नहीं पहुँचा, साधना अभी अधूरी है, उसके पूर्ण होने में देर है, परीक्षा की स्थिति अभी चल ही रही है। हृदय में मिलन की इच्छा तीव्र से तीव्रतर होती जाती है, साधक को बेचैनी है, न उसे खाना अच्छा लगता है और न नींद ही आती है—

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै ॥[३]

अब सुख मिले चाहे दुख मिले, पर जब एक बार लौ लग गई तो लग ही गई। पतिव्रता स्त्री के समान अन्य किसी का ध्यान भी उसके लिए पाप है, जिन आँखों में प्रीतम बसा हुआ है उनमें अन्य किसी के लिए जगह ही कहाँ?—

कबीर रेख स्यन्दूर की, अब तो दई न जाय।
नैननि प्रीतम रम रहा, दूजा कहाँ समाय ॥[४]

भक्त की इच्छा है कि जैसे भी हो, अपने आराध्यदेव के साथ सान्निध्य की प्राप्ति हो, बीच की दूरी और व्यवधान समाप्त हो। जिसे हम चाहते हैं, जिसके साथ हमारे प्रेम को संसार जानता है, वही अगर हमें न मिले तो प्रेम ही क्या? कबीर अपने और अपने आराध्य के बीच की दूरी को मिटा देने के लिए उत्सुक हैं—

सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे ॥

---

१. क० ग्र०, पृष्ठ ९
२. वही, पृ० १९
३. वही, पृष्ठ ११
४. वही, पृ० १९

आन न भावै नींद न आवै, गिह बन धरै न धीर रे ।
ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे ॥
है कोई ऐसा पर उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे ।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे ॥[१]

रैदास में भी यही अनन्यता है । नाम की जो रट लग गई है, वह छुटाये नहीं छुटती । वे अपने देव से तरह-तरह के सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिससे कि उसका सान्निध्य बना रहे । मोर को जो प्रेम घन से है और चकोर को चन्द्रमा से है वही प्रेम रैदास को अपने आराध्य से है । उनकी भावना उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

प्रभुजी, तुम घन, हम बन मोरा,
जैसे चितवत चंद चकोरा ।
प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती,
जाकी ज्योति बरै दिन राती ।
प्रभुजी, तुम मोती, हम धागा,
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा ।
प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा,
ऐसी भक्ति करै रैदासा ॥[२]

रैदास के लिए भगवान् को छोड़कर अन्य कोई गति नहीं । वही उनकी गति है, उनकी मति है । वे राम से तोड़कर अन्य किसी से जोड़ना पसन्द नहीं करते । उन्हें अपने कर्मों पर भरोसा कम है और भगवान् पर अधिक । सारे संसार को परखने के बाद उन्होंने केवल भगवान् पर ही आशा बाँधी है—

जो तुम तोरो राम मैं नहीं तोरौं, तुम सौं तोरि कवन सौं जोरौं ।
तीरथ बरतन करौं अंदेसा, तुम्हरे चरण कमल का भरोसा ॥
जहँ जहँ जावौं तुम्हरी पूजा, तुम सा देव और नहि दूजा ।
मै अपनो मन हरि सो जोर्यौ, हरि सौं जोरि सवन सौं तोर्यौ ॥
सबहीं पहर तुम्हारी आसा, मन क्रम बचन कहै रैदासा ॥[३]

दादू की अनन्यता भी ऐसी ही है । जिस तरह नशेवाले का ध्यान नशे में रहता है, शूरवीर का ध्यान संग्राम की ओर रहता है, निर्धन के मन में धन की कामना रहती है, उसी प्रकार दादू के मन में उनका आराध्य बसा हुआ है—

ज्यूँ अमली के चित्त अमल है सूरे के संग्राम ।
निर्धन के चित धन बसै, त्यौं दादू कै राम ॥

---

१. क० ग्र०, पृष्ठ १९२
२. सं० सु० सा०, पृष्ठ १९१
३. वही पृष्ठ ४५८
४. वही, पृष्ठ ४५८

दादू का यह भी कहना है कि प्रिय की प्रीति मेरे-रोम रोम में बसी हुई है और उसमें किसी दूसरे के बसने की गुंजायश ही नहीं—

प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि ।
रोम रोम पिव पिव करे, दादू दूसर नांहि ॥[१]

मलूकदास में भी अपने प्रिय के दर्शनों के लिए यही व्याकुलता पायी जाती है। वे अपने देव के दर्शनों के बिना जीवन व्यर्थ समझते हैं। वे सोचते हैं कि उन्हें जोगिया से कौन मिलायेगा ? मिलन जरूरी है, उसके बिना रहा ही नहीं जाता, दिल नहीं लगता, उसके बिना इन प्राणों का रहना न संभव है और न सार्थक है—

कौन मिलाए जोगिया हो, जोगिया बिन रहा न जाइ ।
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पीव पीव ।
जो जोगिया नहि मिलिहै हो, तो तुरत निकासूँ जीव ॥[२]

सुन्दरदास के हृदय में भी अपने देव से मिलन की चाह बड़ी तीव्र है। उनकी प्यास भी चातक की प्यास है। चातक मुँह ऊपर को उठाये जिस तरह तृषित एवं उत्सुक नेत्रों से स्वाति नक्षत्र की ओर देखता रहता है, उसी तरह सुन्दरदास अपने आराध्य से लौ लगाये रहते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि एक देव की आराधना को छोड़कर जो कोई दूसरे देव की आराधना करता है वह अपनी फजीहत स्वयं करता है। भक्त को तो पतिव्रता स्त्री के समान एक का भक्त होना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, उसे किसी से भी आदर-मान नहीं मिलता—

जो हरि को तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहति होई ।
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई फिरि है बिभिचारिनि कोई ॥
सुन्दर ताहि न आदर मान फिरै बिमुखी अपनी पति खोई ।
बूँड़ि भरै किन कूप मझार कहा जग जीवन है सठ सोई ॥

(ख) जल को सनेही मीन बिछुरत तजै प्राण,
मणि बिन अहि जैसे जीवत न लहिए ।
स्वाति बूँद के सनेही प्रगट जगत मांहि,
एक सीप दूसरो सु चातकउ कहिये ॥
रवि कौ सनेही पुनि कंवल सरोवर में,
ससि को सनेहीऊ चकोर जैसे रहिये ।
तैसे ही सुन्दर एक प्रभु सौं सनेह जोरि,
और कछु देखि काहू कोर नहि कहिये ॥[३]

१. स० सु० सा०, पृष्ठ ४६०
२. वही, भाग २, पृष्ठ २६
३. वही, पृ० ६२४-२५

गुरु अर्जुन देव ने भी अपने को सर्वात्मना भगवान् के अर्पित कर दिया है। उनके लिए शरीर की सार्थकता ही इस बात में है कि उससे भगवान् का ध्यान किया जाय, उसके गुणों का गान किया जाय, अगर नेत्रों से उसके दर्शन न हुए तो नेत्रों से क्या लाभ ? कानों ने उसका गुणगान नहीं सुना और जिह्वा से उसका नाम नहीं लिया तो इनका न होना ही अच्छा था—

> नैन न देखहि साधसि नैण बिहालिआ।
> करन न सुनही नादु, करन मुंदि थालिआ।।
> रसना जपै ना नाम तिलु तिलु करि कटिए।
> हरि हाँ, जब बिसरै गोविन्दराइ दिनों दिन घटिए।।[1]

अनन्यता और तन्मयता के उदाहरण देते हुए सुन्दरदास ने कहा है कि जिस प्रकार नीर के बिना मछली व्याकुल हो जाती है, माँ के दूध के बिना जैसे शिशु परेशान हो जाता है, चातक जिस प्रकार स्वाति बूँद के बिना जीवन को निरर्थक समझता है और चकोर जैसे चन्द्रमा को ही सर्वस्व समझता है, ठीक उसी प्रकार की अनन्यता भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति होनी चाहिए—

> नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
> पीर जाके औखद बिनु कैसे रह्यौ जात है।
> चातक ज्यों स्वाँति बूंद, चंद को चकोर जैसे,
> चंदन की चाह करि सर्प अकुलात है।
> निर्धन ज्यों धन चाहै, कामिनी को कन्त चाहै,
> ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है।
> प्रेम को प्रभाव ऐसौ प्रेम तहाँ नेम कैसो,
> सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है।।

विरह—प्रिय के प्रति प्रेम और अनन्यता का सदैव मिलन में ही अन्त नहीं होता। जीवन में पग-पग पर बाधाएँ हैं, यहाँ रुक-रुककर चलना पड़ता है और कभी-कभी तो गति एकदम ही अवरुद्ध हो जाती है। फिर वह देव इतनी जल्दी नहीं रीझ जाता। वह भक्त की बड़ी कठोर परीक्षा लेता है, अपनी झाँकी दिखा कर सहसा लुप्त हो जाता है और भक्त उसे ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भटकता रहता है। विरह का भुजंगम अन्दर ही अन्दर उसे डंसता रहता है। फिर इसका विष ऐसा तीव्र है कि किसी भी मन्त्र से नहीं उतरता। इस विष को उतारने वाला गारुड़ी तो चुपचाप बैठा है, यह उतरे तो कैसे ? इसका इलाज तो उसी के हाथ में है जिसके कारण यह विष चढ़ा है, बेचारा वैद्य करे तो क्या करे ? वह जानता है कि उसका काटा कभी नहीं जीता और यदि जीता है तो अपनी सुध-बुध खो बैठता है। उसे विरह की यह स्थिति

१. सं० सु० स०, पृष्ठ ३७८

दादू का यह भी कहना है कि प्रिय की प्रीति मेरे-रोम रोम में बसी हुई है और उसमें किसी दूसरे के बसने की गुंजायश ही नहीं—

प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिव करे, दादू दूसर नांहि ।।[१]

मलूकदास में भी अपने प्रिय के दर्शनों के लिए यही व्याकुलता पायी जाती है। वे अपने देव के दर्शनों के बिना जीवन व्यर्थ समझते हैं। वे सोचते हैं कि उन्हें जोगिया से कौन मिलायेगा? मिलन जरूरी है, उसके बिना रहा ही नहीं जाता, दिल नहीं लगता, उसके बिना इन प्राणों का रहना न संभव है और न सार्थक है—

कौन मिलाए जोगिया हो, जोगिया बिन रहा न जाइ।
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पीव पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै हो, तो तुरत निकासूँ जीव ।।[२]

सुन्दरदास के हृदय में भी अपने देव से मिलन की चाह बड़ी तीव्र है। उनकी प्यास भी चातक की प्यास है। चातक मुँह ऊपर को उठाये जिस तरह तृषित एवं उत्सुक नेत्रों से स्वाति नक्षत्र की ओर देखता रहता है, उसी तरह सुन्दरदास अपने आराध्य से लौ लगाये रहते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि एक देव की आराधना को छोड़कर जो कोई दूसरे देव की आराधना करता है वह अपनी फजीहत स्वयं करता है। भक्त को तो पतिव्रता स्त्री के समान एक का भक्त होना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता, उसे किसी से भी आदर-मान नहीं मिलता—

जो हरि को तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहति होई।
ज्यों अपने भरतारहि छाँड़ि भई फिरि है बिभिचारिनि कोई ।।
सुन्दर ताहि न आदर मान फिरै बिमुखी अपनी पति खोई।
बूँड़ि भरै किन कूप मझार कहा जग जीवन है सठ सोई ।।

(ख) जल को सनेही मीन बिछुरत तजै प्राण,
मणि बिन अहि जैसे जीवत न लहिए।
स्वाति बूँद के सनेही प्रगट जगत मांहि,
एक सीप दूसरो सु चातकउ कहिये ।।
रवि कौ सनेही पुनि कंवल सरोवर में,
ससि को सनेहीऊ चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही सुन्दर एक प्रभु सौं सनेह जोरि,
और कछु देखि काहू कोर नहिं कहिये ।।[३]

---

१. स० सु० सा०, पृष्ठ ४६०
२. वही, भाग २, पृष्ठ २६
३. वही, पृ० ६२४-२५

गुरु अर्जुन देव ने भी अपने को सर्वात्मना भगवान् के अर्पित कर दिया है। उनके लिए शरीर की सार्थकता ही इस बात में है कि उससे भगवान् का ध्यान किया जाय, उसके गुणों का गान किया जाय, अगर नेत्रों से उसके दर्शन न हुए तो नेत्रों से क्या लाभ? कानों ने उसका गुणगान नहीं सुना और जिह्वा से उसका नाम नहीं लिया तो इनका न होना ही अच्छा था—

नैन न देखहि साधसि नैण बिहालिआ।
करन न सुनही नादु, करन मुंदि थालिआ॥
रसना जपै ना नाम तिलु तिलु करि कटिए।
हरि हाँ, जब बिसरै गोविन्दराइ दिनों दिन घटिए॥[1]

अनन्यता और तन्मयता के उदाहरण देते हुए सुन्दरदास ने कहा है कि जिस प्रकार नीर के बिना मछली व्याकुल हो जाती है, माँ के दूध के बिना जैसे शिशु परेशान हो जाता है, चातक जिस प्रकार स्वाति बूँद के बिना जीवन को निरर्थक समझता है और चकोर जैसे चन्द्रमा को ही सर्वस्व समझता है, ठीक उसी प्रकार की अनन्यता भक्त के हृदय में भगवान् के प्रति होनी चाहिए—

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जैसे,
पीर जाके औखद बिनु कैसे रह्यौ जात है।
चातक ज्यों स्वाँति बूँद, चंद को चकोर जैसे,
चंदन की चाह करि सर्प अकुलात है।
निर्धन ज्यों धन चाहै, कामिनी को कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम को प्रभाव ऐसौ प्रेम तहाँ नेम कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है॥

विरह—प्रिय के प्रति प्रेम और अनन्यता का सदैव मिलन में ही अन्त नहीं होता। जीवन में पग-पग पर बाधाएँ हैं, यहाँ रुक-रुककर चलना पड़ता है और कभी-कभी तो गति एकदम ही अवरुद्ध हो जाती है। फिर वह देव इतनी जल्दी नहीं रीझ जाता। वह भक्त की बड़ी कठोर परीक्षा लेता है, अपनी झाँकी दिखा कर सहसा लुप्त हो जाता है और भक्त उसे ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भटकता रहता है। विरह का भुजंगम अन्दर ही अन्दर उसे डंसता रहता है। फिर इसका विष ऐसा तीव्र है कि किसी भी मन्त्र से नहीं उतरता। इस विष को उतारने वाला गारुड़ी तो चुपचाप बैठा है, यह उतरे तो कैसे? इसका इलाज तो उसी के हाथ में है जिसके कारण यह विष चढ़ा है, बेचारा वैद्य करे तो क्या करे? वह जानता है कि उसका काटा कभी नहीं जीता और यदि जीता है तो अपनी सुध-बुध खो बैठता है। उसे विरह की यह स्थिति

१. सं० सु० स०, पृष्ठ ३७८

असह्य है। उसकी इच्छा है कि या तो मृत्यु उसे अपने अंक में समेट ले या फिर उसे देव के दर्शन ही हो जायें—

के विरहिणि कू मीच दे, कै आपा बिसराय।
रात दिवस का दाझणा, मोपै सहा न जाय॥[१]

वियोग भी जारी है। आँखों से पानी निरन्तर इस तरह बह रहा है मानो रहट द्वारा कूप का सारा जल बाहर खींचा जा रहा है। उसकी स्थिति विचित्र है, न मिलन हो रहा है और न मिलने की आशा ही समाप्त हो रही है। न हँसते ही बनता है और न रोते ही। जिस तरह काठ में लगा घुन उसे अन्दर-ही-अन्दर खाता रहता है उसी तरह विरही अन्दर-ही-अन्दर सूखता जाता है। मिलने की आशा में प्रयत्न जारी है। मिलने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है, इसके लिए उसे कोई भी मूल्य अधिक नहीं लगता—

यह जन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करौं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥[२]

दिनभर आराम न मिलने और रातभर जागते रहने में भक्त की बेचैनी बढ़ गई है। आँखों में जो प्रेम की लालिमा है उसे देखकर लोग समझते हैं कि आँखें दूखने लगी हैं। वह किसे समझाये और क्या कहें? वह अपने प्रेमी को मनाना चाहता है, समीप जाने पर वह निर्दयी दूसरी ओर मुंह फेर लेता है। उसका यह करवट बदलना उसे आरे के चलने से भी अधिक भयानक लगता है—

करबतु भला न करबट तेरी। लागु गले सुन बिनती मेरी।
हौं बारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोको काहे को मारै॥
जो तन चीरहि अंगन मोरों। पिंड परै तो प्रीति न तोरौं।[३]

यहाँ यह और कह देना आवश्यक है कि यद्यपि विरह में तड़पन है और उसका दुख असह्य है तथापि उसे कहीं बुरा नहीं कहा गया है। इष्टदेव से मिलनेवाले साधन के रूप में इसे आवश्यक माना गया है—

बिरहा कहै कबीर सों तू जिनि छोड़ै मोहि।
पारब्रह्म के तेज में तहाँ ले राखौं तोहि॥

विरह की तड़पन दादू में भी उसी तरह की है। दादू आतुर विरहिणी के समान कहते हैं कि न जाने प्रिय के दर्शन कब होंगे? उनके वियोग में मेरे प्राण तड़प रहे हैं, दर्शनों के बना अब बहुत दिन बीत गए हैं। उनकी प्रतीक्षा करते-करते रात्रि के बाद प्रभात आ गया और प्रभात के बाद रात्रि आ गयी। नेत्र उनकी उत्सुकता

१. क० ग्र०, पृष्ठ २०
२. वही, पृष्ठ ८
३. वही, पृ० २७५

पूर्वक उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं जितनी उत्सुकता के साथ चकोर चन्द्रमा की प्रतीक्षा करता है—

अजहुँ ना निकसैं प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर॥
चारि पहर चार्‌यौं जुग बीते, रैनि गँवाई भोर।
अवधि गई अजहूँ नहिं आए, कतहूँ रहे चित चोर॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर।
दादू ऐसे आतुर बिरहिणि, जैसे चन्द चकोर॥[१]

उनकी दृष्टि में विरह की अनुभूति परम आवश्यक है। प्रिय-मिलन का यह एक अनिवार्य सोपान है। जब तक विरह की उत्पत्ति नहीं होती तब तक प्रिय के दर्शन कैसे हो सकते हैं? विरह के आने पर ही तो राम मीठा लगता है—

(क) दादू चोट न लगी बिरह की, पीड़ न उपजी आई।
जागि न रोवै धाह दे, सोवत गई बिहाई॥
(ख) अंदरि पीड़ न ऊभरै, बाहरि करै पुकार।
दादू सो क्यों करि लहै, साहिब का दीदार॥
(ग) जब बिरहा आया दरद, तब मीठा लागा राम।
काया लागी काल सै, कड़वे लागे काम॥
(घ) बिरह जगावै दरद को, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति को, सुरति जगावै पीव॥[२]

श्रृंगार और भजन सब प्रीतम को रिझाने के लिए किए जाते हैं। विरहिणि किसके लिए सुन्दर वस्त्र पहने? विरह की व्यथा उसके सारे शरीर में व्याप्त हो रही है, घर-बार की तो बात ही क्या, उसे अपनी देह की भी सुध-बुध नहीं रही। इस प्रकार के वियोग में जीवन कितने दिन चल सकता है? मरण निश्चित है और साधक को मरण से भय भी नहीं। वह तो ऐसे मरण का स्वागत ही करेगा, कम-से-कम उसमें विरह की जलन तो नहीं रहेगी। पर मरने से पूर्व यदि एक बार प्रीतम के दर्शन हो जायँ तो मरण भी सफल है—

तौ लग जिनि मारै तूँ मोहि, जौ लग मैं देखौं नहिं तोहि॥[३]

कबीर के समान दादू का भी कहना है कि सारे संसार में मेरे समान दुखी कोई दूसरा नहीं है। सारा संसार सुख से है और मैंने रो-रोकर संसार को भर दिया है। साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि उनके भाग्य में सुख लिखा ही नहीं है। उनके

---

१. सं० सु० सा०, पृ० ४२६
२. सं० सु० सा०, पृ० ४६०-६१
३. वही, पृ० ४६०-६१

दु:ख के काटने का तरीका यही है कि जिस प्रिय के वियोग में यह पीड़ा हो रही है वही स्वयं दर्शन दे और अपने हाथों से उपचार करे—

ना वह मिलै न मैं सुखी, कहु क्यों जीवन होइ ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ ।।[1]

आगे फिर उनका कहना है कि मेरी इच्छा यह है कि प्रिय को देखता रहूँ और प्रिय मुझे देखते रहें—

दादू पिवजी देखें मुझ को, हूँ भी देखौं पीव ।
हूँ देखौं, देखत मिलै, तौ सुख पावै जीव ।।[2]

सुन्दरदास को भी मिलने में बाधाएँ दीख पड़ रही हैं । विरह का काँटा उनके हृदय में भी चुभ रहा है । विरह की घड़ियाँ काटे नहीं कट रही हैं, आँखों में सावन-भादों का सा दृश्य उपस्थित है—

(क) सुन्दर बिरहिनि अति दुखी, पीव मिलन की चाह ।
निश दिन बैठी अनमनी, नैनन नीर प्रवाह ।।
(ख) सुन्दर तलफै बिरहिनी, बिलखि तुम्हारे नेह ।
नैन स्रवै घन नीर ज्यों, सूख गई सब देह ।।

इतना होने पर भी साधक के पास एक यही मार्ग है कि वह प्रिय की ओर निहारता रहे । कल तो उस तरह भी नहीं मिलती, इस तरह भी नहीं मिलती । प्रतीक्षा की घड़ियों में कुछ-न-कुछ सुख तो है ही । कभी-कभी ऐसा लगता है मानो प्रिय रूठ गया है । उससे कोई-न-कोई भारी अपराध हुआ है और प्रिय कहीं बाहर चला गया है । उनके चले जाने के बाद दिल को चैन नहीं, यदि वे न आए तो प्राण धारण करना ही व्यर्थ है—

मेरौ पिय परदेस लुभानौ री !
जानत हौं अजहूँ नहिं आयौ, काहू सौं उरझानौ री ।।
ता दिन तैं मोहि कल न परत है, जबतैं कियौ पयानौ री ।
भूख पियास नींद नहिं आवै, चितवत होत बिहानौ री ।।
बिरह अगिनि मोहि अधिक जरावै, नैननि मैं पहिचानौ री ।
बिन देखे हौं प्रान तजौंगी, यह तुम साँची मानौ री ।।
बहुत दिनन की पंथ निहारत, किनहु सँदेस न आनौ री ।
अब मोहि रह्यौ परत नहिं सजनी, तन तैं हँस उड़ानौ री ।।
भई उदास फिरत हौं ब्याकुल, छूटौ ठौर ठिकानौ री ।
सुन्दर बिरहिनि को दुख दीरघ, जो जानौ सौ जानौ री ।।[3]

---

१. स० सु० सा०, पृ० ४५८
२. वही, पृ० ४५८
३. वही, पृ० ६६०-६१

धर्मदास को भी यह पीर लग चुकी है, उनका तन-मन भी उसी पीड़ा से व्याकुल है, आठों याम वे उसी को पुकारते हैं और आँखों से पानी बहता जाता है—

भूल गई तन मन धन सारा, व्याकुल भया सरीर।
बिरह पुकारै बिरहिनी, ढरकत नैनन नीर ॥[1]

जैसा कि स्वाभाविक है, प्रिय के बिना उन्हें नींद नहीं आती। उनकी झाँकी तो मिलती है, पर दर्शन नहीं होते—

पिया बिन मोहि नींद न आवै।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, ऊपर तैं मोहिं झाँकि दिखावै।

... ...

जोगिन ह्वै मैं बन बन ढूँढूँ, काऊ न सुधि बतलावै।
धरमदास बिनवै कर जोरी, कोई नेरे कोई दूर बतावै ॥[2]

मलूकदास भी अपने देव के दर्शनों के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हैं। उनके सामने समस्या है कि उन्हें जोगिया से कौन मिलायेगा ? मिलना जरूरी है, वही तो प्राणों का आधार है, उसके बिना रहा ही नहीं जाता। उसके बिना इन प्राणों का रहना न तो सम्भव है और न सार्थक—

कौन मिलावै जोगिया हो, जोगिया बिन रह्यौ न जाइ।
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पिव पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै, तो तुरत निकासूँ जीव ॥[3]

विरह की चोट बड़ी टेढ़ी होती है, इसका अनुभव वही कर सकता है जो भुक्त-भोगी है। इसमें न खाना अच्छा लगता है न पीना, न दिन को चैन है और न रात को नींद है—

रात न आवै नींदड़ी, थर-थर काँपै जीव।
ना जानूँ क्या करेगा, जालिम मेरा पीव ॥[4]

मिलन

लक्ष्य जितना महान् होगा उसकी प्राप्ति उतनी ही देर में होगी और बाधाएँ भी उतनी ही अधिक आयेंगी। भगवान् से तदाकार होना, एकमेक हो जाना मानव की उच्चतम एवं श्रेष्ठतम कामना है। इन सभी साधकों का लक्ष्य उसमें विलीन हो जाना रहा है। इसके लिए उन्हें अनेक कष्ट झेलने पड़े हैं।

---

१. सं० सु० सा०, पृ० ७
२. वही, पृ० ६
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० ३७

विरह की असह्य तपन सहनी पड़ी है। भगवान् बाहर से कठोर दीखते हैं, कठिन परीक्षा भी लेते हैं पर हृदय उनका बड़ा कोमल है। भक्त साधक की अनन्यता से प्रसन्न होकर वे उसे अपना लेते हैं। कबीर बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जिस दिन विरह का अन्त होगा और उनके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी होगी—

वे दिन कब आवेंगे माई!
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबो अंग लगाई।[१]

अन्ततः प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त होती है। अन्धकार के गर्भ को चीर कर जिस प्रकार ऊषा मुस्कराती हुई गगन-मंडल पर उदित होती है, उसी प्रकार विरह-निशीथ के बाद मिलन का प्रात सामने दीख पड़ता है। भक्त की जन्म-जन्म की साधना पूरी होती दीख पड़ती है। विषाद हर्ष में परिणत होता है और साधक आनन्दातिरेक में कह उठता है—

हम न मरैं मरिहै संसारा। हमकूँ मिला मिलावनहारा।
... ...
हरि मरिहैं तो हमहू मरिहैं। हरि न मरैं हम काहे कू मरिहैं॥

रात-दिन का रोना कभी व्यर्थ नहीं जाता। अन्त में दादू को भी आराध्य देव के दर्शन हो ही जाते हैं—

राति दिवस का रोवणा, पहर पलक का नाँहि।
रोवत रोवत मिलि गया, दादू साहिब माँहि॥

सुन्दरदास को भी आशा है कि उनके देव उन्हें दर्शन देंगे। उसके स्वागत के लिए वे सेज तैयार कर रहे हैं—

सुन्दर बिगसै बिरहिनी, मन में भया उछाह।
फूल बिछाऊँ सेज री, आज पधारैं नाहं॥

आराध्य देव को रिझाने का मार्ग कुछ ऐसा ही विचित्र है। इसमें नम्रता इतनी रखनी पड़ती है कि देखने वाला रीझ जाये और आत्म-विश्वास भी इतना बनाये रखना पड़ता है कि गगन के शिखर को छूता हुआ दीख पड़े। इस भक्ति शाखा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि कबीर में नम्रता और अक्खड़पन का ऐसा ही विचित्र सम्मिश्रण है जो अन्यत्र कठिनता से ही मिलेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के भक्तिमार्ग की विशेषता बताते हुए लिखा है—"प्रेम भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषार-पात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल-भेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढहा सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है

१. क० ग्रं०, पृ० १९१

पर मस्ती है, कर्कशता नहीं पर कठोरता है, असंयय नहीं पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं पर विश्वास है, उजड्डता नहीं पर अक्खड़ता है। इसकी प्रचंडता सरसता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम वज्र से भी अधिक कठोर है, कुसुम से भी कोमल है। इसमें हार भी जीत है और जीत भी जीत है।[१]

ब्रह्मवाद—इसका संक्षिप्त विवेचन गत अध्यायों में हो चुका है और वहाँ जो कुछ कहा गया है उसे बिना दुहराये कहा जा सकता है कि इसका अर्थ उस सिद्धान्त से है जो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उनके अनुसार इस चराचर सृष्टि में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म का ही रूप है। सब पदार्थ उसी में से निकले हैं, उसी के नाना रूप हैं और अन्त में उसी में समा जाते हैं। उपनिषदों में अनेकता का खण्डन किया है और एकता का प्रतिपादन। विभिन्न प्रकार के उदाहरणों द्वारा वहाँ इस सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। आत्माओं के नानात्व का खण्डन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शुद्ध जल को शुद्ध जल में डाल दें तो वह शुद्ध रहता है, अशुद्ध में डाल दें तो वह अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार शुद्ध आत्मा शुद्ध परमात्मा के साथ मिल जाने पर शुद्ध दीख पड़ती है और अशुद्ध रूप में आ जाने पर अशुद्ध—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥[२]

कठोपनिषद् में बहुत से उदाहरण देते हुए समझाया गया है कि जिस प्रकार अग्नि और वायु प्रत्येक वस्तु के भीतर वर्तमान हैं, उन्होंने अपने रूप को उन्हीं वस्तुओं के अनुकूल बना लिया है, इसी प्रकार सब भूतों की अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर से और बाहर से प्रत्येक के अनुरूप बना हुआ है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूप प्रतिरूपो बहिश्च॥[३]

सूर्य का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि सूर्य संसार की आँख है, हमारी आँखों के दोषों से उसमें जिस प्रकार कोई दोष नहीं आता, इसी तरह भूतों के दोषों का प्रभाव ब्रह्म पर नहीं पड़ता। अपने इसी आशय को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने कहा है कि सब भूतों में वही एक वशी समाया हुआ है, एक होते हुए भी

---

१. कबीर, पृ० १६२-६३
२. कठोपनिषद्, पृ० २।१।१५
३. वही, पृ० २।२।६,१०

वह अनेक दीख पड़ता है। जो आत्मस्थ उस वशी को देखे लेते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं।[1] नित्य दीख पड़ने वाले पदार्थों में जो नित्यता है वह उसी की है; चेतनों में जो चेतनता है वह भी उसकी ही है। साधारण पदार्थों और प्राणियों की तो बात ही क्या, सूर्य और चन्द्रमा में भी जो प्रकाश है वह उसी का है। किं बहुना, समस्त विश्व उसी की कान्ति से कान्तिमान् हो रहा है।[2] मुण्डकोपनिषत् में कहा गया है कि प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी — ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं और सब स्थानों में उसी की महिमा फैली हुई है। यजुर्वेद में कहा गया है कि वह सब भूतों का अधिष्ठाता है और सब भूत उसी में आश्रय पाते हैं।[3] इसी वेद के अन्य मन्त्र में कहा है कि वही वायु है, वही आदित्य है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है, वही आपः हैं और वही प्रजापति है।[4] इसमें ब्रह्म और जीव की एकता स्वीकृत है। मूलतः दोनों एक हैं; जो अन्तर है वही प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव का ब्रह्म से मिलने का यत्न करना स्वाभाविक ही है।

ज्ञानमार्गी शाखा के प्रायः सभी कवियों में इस ब्रह्मवाद के दर्शन होते हैं। इनका अटूट विश्वास है कि चराचर जगत् में जो कुछ भी है, सब उसी का रूप है। वह सब भूतों में समाया हुआ है और सब भूत उसमें समाये हुए हैं। इसी भाव को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है --

खालिक खलक, खलक में खालिक, सब घट रह्यौ समाई।

यह नानारूपात्मक जगत् उसी की लीला का विस्तार है, इस भाव की अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है—

इनमें आप आप सबहिन में, आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै॥

इस भाव को समझाने के लिए भारतीय विद्वानों ने चिरकाल से 'कनककुण्डल-न्याय' के दृष्टान्त का सहारा लिया है। कनक से कुंडल बनता है और वही कुंडल फिर पिघलकर कनक बन जाता है। कबीर ने भी इसी पद्धति का आश्रय लेते हुए कनक-कुंडल के साथ-साथ जल और हिम का दृष्टान्त दिया है—

(क) जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोग वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावहिंगे॥

---

१. कठोपनिषद्, ५।१२
२. वही, पृ० ५।१५
३. यजु०, पृ० २०।३२
४. वही, पृ० ३२।१

(ख) पाणी ही तें हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सो ही भया, अब कुछ कहा न जाइ ॥[1]

(ग) जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ॥

रैदास में भी इसी ब्रह्मवाद के दर्शन होते हैं। इनका कहना है कि स्थावर और जंगम, सभी में वह समाया हुआ है।

थावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रह्यो हरि राई।

वे अपने को और ब्रह्म को अलग-अलग न मानकर एक ही मानते हैं। जिस प्रकार जल से उठी लहर जल में ही समा जाती है उसी तरह ब्रह्म से निकला जीव ब्रह्म में समा जाता है—

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू है, मैं नाहीं।
अतल अगम जैसे लहरि भइ उदधि, जल केवल जल माहीं ॥

दादू का भी कहना है कि जिस प्रकार दूध में घी रमा रहता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म सारे विश्व में समाया हुआ है—

घीव दूधि में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।

नानक की दृष्टि में भी संसार के सारे प्रसार के भीतर वही समाया हुआ है—

काहे रे, बन खोजन जाई !
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई।

जहाँ तक इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रश्न है, उसका प्रभाव इस कवियों पर नहीं के बराबर है। इस्लाम के एकेश्वरवाद में स्थूलता है, उनका भगवान् किसी-न-किसी रूप में साकार है और वह शासक अधिक है, दयालु कम। इन कवियों की दृष्टि में जो कुछ है वह ब्रह्ममय ही है, सिद्धान्ततः वह ही निखिल सृष्टि में समाया हुआ है। ये बातें इस्लाम के एकेश्वरवाद के विरुद्ध हैं, इसका विवेचन अन्यत्र भी हो चुका है।

---

१. क० ग्रं०, पृ० १३

षष्ठ अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव-भावना का रूप

निर्गुण प्रेममार्गी शाखा : उसकी देव-भावना का स्वरूप और विशेषताएँ : सीमित रचनाओं का अध्ययन

प्रेम-मार्गी शाखा में हमने जिन कवियों की रचनाओं को अपने अध्ययन का विषय बनाया है वे जन्मना मुसलमान हैं। पर ऐसा करने में हमारा यह भाव कदापि नहीं कि प्रेम-मार्गी आख्यानों की परम्परा पर मुसलमानों का ही एकाधिपत्य है। ऐसे बहुत-से हिन्दू कवि हैं जिन्होंने इस विषय पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव के इस कथन से कि "इस दिशा में भारतीय प्रेमाख्यानों की सूचियों से इतर परम्परा सांस्कृतिक और साहित्यिक दोनों ही विचारों से महत्त्वपूर्ण है", हम भी पूर्णतया सहमत हैं। भारतीय प्रेमाख्यानों की अपनी एक परम्परा है और इसमें हिन्दू कवियों का सहयोग किसी भी प्रकार से नगण्य नहीं। पर उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी हमने यदि यहाँ उनकी चर्चा नहीं की तो इसका कारण यह है कि इन कवियों की रचनाएँ विशुद्ध लौकिक प्रेम तक ही सीमित रही हैं। इन कवियों का लक्ष्य भी दाम्पत्य-सुख के लाभ का चित्रण ही है। इन कवियों ने कहीं भी अलौकिक सत्ता के प्रेम की ओर इंगित नहीं किया। इनके वर्णन चुम्बन, आलिंगन और रति के वर्णनों तक ही सीमित रहे। इस प्रकार के वर्णन जायसी आदि में न मिलते हों, ऐसी बात नहीं। वहाँ भी ये वर्णन प्रचुर मात्रा में हैं पर फिर भी वहाँ लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अलौकिक प्रेम का वर्णन ही उनका अभीष्ट रहा है। स्थान-स्थान पर वहाँ उस अलौकिक सत्ता की ओर संकेत है जो घट-घट में व्याप्त है और अन्ततोगत्वा जो हमारी आत्मा का लक्ष्य है। हमारा लक्ष्य मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में प्राप्त देव-भावना का चित्रण है अतः हमने यहाँ विशुद्ध लौकिक प्रेम का वर्णन करने वाली रचनाओं की चर्चा नहीं की है।

रही केवल सीमित रचनाओं के अध्ययन की बात, उनके विषय में इतना ही निवेदन और स्पष्टीकरण पर्याप्त होगा कि ये सभी सूफी कवि विशेष विचारधारा में दीक्षित थे। सबकी विचारधारा प्रायः मिलती-जुलती है। हमारा लक्ष्य तो बानगी

भर उपस्थित करना है। वैसे तो सूफी काव्य पर अनेक विशालकाय ग्रन्थ लिखे गए हैं और लिखे जा सकते हैं पर विस्तार के भय से हमने विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत न करके इन्हीं कवियों की रचनाओं तक सीमित रहना उचित समझा है।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिमार्ग की जो शाखा प्रेम को एकमात्र साधन मानकर चली वह प्रेममार्गी शाखा के नाम से अभिहित होती है। इस मार्ग के अधिकांश प्रमुख कवि मुसलमान सूफी थे, अतः यह सूफी-मार्ग या सूफी-शाखा भी कहलाती है। सूफी कवियों की इस प्रमुखता के कारण यहाँ सूफी शब्द पर थोड़ा-सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। कुछ की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने सुफ्फा (चबूतरा) था, उस पर बैठने वाले फकीर सूफी कहलाये। अन्य व्यक्तियों के अनुसार सूफी के मूल में सफ (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदाचार एवं व्यवहार के कारण औरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किये जायेंगे, वे सूफी कहलाते हैं। तीसरे मत के अनुसार सूफी की व्युत्पत्ति सफा है। सफा का अर्थ है पवित्रता। जो व्यक्ति आचरण-सम्बन्धी पवित्रता में विश्वास रखते हैं वे सूफी कहलाये। पर ये तीनों ही व्युत्पत्तियाँ उतनी अधिक मान्य नहीं। अधिक मान्य मत के अनुसार, सूफ शब्द का अर्थ ऊन है और उसे धारण करने वाले सूफी कहलाये। इनके अनुसार पैगम्बर तथा उनके बाद के अनुयायी सादगी के लिए ऊन का प्रयोग करते थे। शब्दगत व्युत्पत्ति के फेर में न पड़कर हम कह सकते हैं कि सूफी का भाव उस व्यक्ति से है जो परमात्मा के सत्य को जानता हो और सांसारिक वस्तुओं का त्याग करता हो। सूफी सन्त आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार की शुद्धियों पर बल देता है। सूफीमत के लिए एक अन्य शब्द का भी प्रयोग होता है और वह है तसव्वुफ। इस शब्द का अर्थ है परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करना।

सूफी धर्म की उत्पत्ति

हजरत मुहम्मद के निधन के पश्चात् उत्तराधिकार को लेकर जो झगड़े उठ खड़े हुए और उनमें जो भयंकर रक्तपात हुआ, उसने कितने ही समझदार व्यक्तियों को सोचने के लिए विवश किया होगा। इस नरमेध से तंग आकर, उन व्यक्तियों ने धर्म के इस विकृत रूप के स्थान पर उसके सच्चे स्वरूप को समझने की चेष्टा की होगी। कुरान के भी एक से अधिक अर्थ लगाये गए हैं। मुसलमानी धर्म उस समय फारस तक पहुँच चुका था। फारस में ही यह नया सुधारवादी आन्दोलन सलमन पारसी द्वारा आरम्भ किया गया। इसमें ईश्वर के निराकार रूप पर अत्यधिक बल दिया गया और उसके तथा मानव के बीच में प्रेम-सम्बन्ध पर बल दिया गया। इसे सूफी धर्म का अंकुर कहा जा सकता है। इस प्रकार सातवीं शती में इसका

आरम्भ माना जा सकता है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है।[१]

मुस्लिम मत का सूफी-भारतीय अवतारवाद से साम्य

शिया मत के कुछ सम्प्रदायों में प्रचलित अवतारवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त भारतीय अवतारवाद से बहुत साम्य रखते हैं। विशेषकर शिया सम्प्रदाय के फारस-निवासी गुलाम नामक विचारक के कतिपय सिद्धान्त हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इनके दो शब्द विशेषरूप से ज्ञातव्य हैं : उनमें पहला है गुलुब और दूसरा है तकसीर। गुलुब से इनका तात्पर्य है कि मनुष्य उत्क्रमण करते-करते ईश्वर की अवस्था तक पहुँच जाए और तकसीर के अनुसार ईश्वर संकुचित होते-होते मनुष्य की अवस्था तक पहुँच जाए।

सूफी मार्ग के प्रमुख सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय यद्यपि हिन्दी पाठकों के लिए एकदम नवीन वस्तु नहीं, तथापि उसके विषय में यहाँ उसके प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। यों तो इसके बहुत से भेद हैं पर प्रमुख सम्प्रदाय चार हैं और वे निम्नलिखित हैं—

(१) चिश्ती सम्प्रदाय—सूफी सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्रमुख सम्प्रदाय यही है। भारतवर्ष में इसके प्रवर्तक ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती हैं। सूफी साधकों में इनका बड़ा सम्मान था। ये अपने समय में 'आफताबे-हिन्द' (भारत-भास्कर) के नाम से पुकारे जाते थे। इस सम्प्रदाय में संगीत को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनके अनुसार संगीत सुनते-सुनते साधक भावाविष्टावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। ख्वाजा मुईनुद्दीन का कहना था कि संगीत आत्मा का भोजन है।

(२) सुहरावर्दी—चिश्ती सम्प्रदाय के बाद यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। भारत में इसके सर्वप्रथम प्रचार का श्रेय बहाउद्दीन जकरिया मुलतानी को है। ये शिहाबउद्दीन के शिष्य थे। इस मत की एक विशेषता यह है कि इसकी नियमावली कट्टर इस्लाम धर्म की स्वीकृत बातों के विपरीत है। इसीलिए ये लोग किसी समय मलामती (निन्दनीय) कहलाते थे।

(३) कादिरी—यह कट्टर पन्थ इस्लाम के अधिक निकट रहा और इसका प्रचार भी स्वभावतः कुछ अधिक आसानी के साथ हुआ। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। इनका दूसरा नाम बालापीर भी था। भारत में आने के बाद इन्होंने अपने रहने के लिए सिन्ध में उच्च नामक स्थान को चुना था। ये फारस-निवासी और इस मत के मूल प्रवर्तक अब्दुल कादिरमल जीलानी के वंशज थे। इस

१. हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य, पृ० १०१

सम्प्रदाय में संगीत को कोई स्थान रहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग अपनी टोपी में गुलाब का फूल लगाए रहते हैं। यह फूल इस सम्प्रदाय में अत्यधिक पवित्र माना जाता है।

(४) नक्शबन्दी--इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक ख्वाजा बहाउद्दीन कपड़ों पर चित्र बनाकर जीविकोपार्जन किया करते थे अतः इस सम्प्रदाय का नाम नक्शबन्दी पड़ा, ऐसा बहुत से व्यक्तियों का मत है। अन्यों के अनुसार वे आध्यात्मिक चित्र (नक्शे) बनाकर उसमें रंग भरा करते थे अतः उनके अनुयायी नक्शबन्दी कहलाए। भारत में इनका प्रसार ख्वाजा बाकी बिल्लाह बैरंग के इस देश में प्रवेश के साथ माना जाता है।

सूफी मत और कट्टर इस्लाम में अन्तर

सूफी भी कुरान और हदीसों के अनुसार चलते हैं पर वे व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। हजरत मुहम्मद के समय में भी ऐसे कितने ही व्यक्ति विद्यमान थे जो अपने को कट्टर मुसलमान तो कहते थे पर वे कुरान के वचनों का अर्थ अपने ढंग से करते थे। इस अपनी व्याख्या का ही यह परिणाम हुआ कि कट्टरपन्थी इस्लाम और सूफियों में अन्तर बढ़ता गया। ये सूफी साधक बाह्याचार की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धता पर बल देते थे। इनमें से कुछ को बाह्याचार की प्रतीक मस्जिदें भी नापसन्द थीं। ईरान के एक बड़े प्रसिद्ध सूफी अबू सईद इब्न अबी अलसैर की प्रसिद्ध घोषणा में यह अन्तर पूरी तरह व्यक्त हुआ है। उनकी घोषणा थी कि सूर्य के नीचे जितनी मस्जिदें हैं जब तक वे ढह नहीं जातीं तब तक हमारा धार्मिक अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता और जब तक ईमान और कुफ्र एक नहीं समझे जाते, तब तक कहीं भी सच्चा मुसलमान नहीं दीख पड़ता।[१]

इस स्वर में कुछ प्रखरता हा सकती है और यह भी ठीक है कि परवर्ती सभी सूफी साधकों का स्वर इतना तीव्र नहीं रहा और उन्होंने खुलकर इस्लाम का विरोध नहीं किया, पर दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर सदैव ही बना रहा। हिन्दी-साहित्य की प्रेम-मार्गी शाखा के कवियों में यह अन्तर एकदम स्पष्ट है। ये सभी कवि निष्ठा-सम्पन्न मुसलमान थे। उन्होंने खुदा की स्तुति कुरान के अनुसार की है। ये सभी अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के कट्टर अनुयायी थे। इन सभी ने मुहम्मद, खलीफाओं और मुहम्मद-पंथ की प्रशंसा जी खोलकर की है। इनके बहिश्त और दोजख (स्वर्ग और नरक) के वर्णन भी कुरान के अनुसार हैं। कुरान के सभी सिद्धान्त उन्हें उसी प्रकार मान्य हैं जिस प्रकार कट्टर मुल्लाओं को। नमाज के पढ़नेवालों को वे भी गुणी मानते हैं पर फिर भी इनमें और कट्टर मुसलमानों में अन्तर है। सूफी सन्त दूसरे

---

१. सूफी मत : साधना और सिद्धान्त, पृ० ३

धर्मवालों के प्रति उदार और सहिष्णु हैं। स्वयं अपने धर्म का पालन करते हुए भी वे दूसरे धर्मों के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड के प्रति भी इन का उतना आग्रह नहीं। इसके अलावा इन्होंने अल्लाह के बल और प्रताप (जलाल) के स्थान पर उसके रहीम (करुणामय) रूप पर ही अधिक बल दिया है। इसके अलावा इनके अद्वैत और इस्लाम के स्थूल एकेश्वरवाद में भी महान् अन्तर है। कट्टर मुल्लाओं के अनुसार मानव ईश्वर के साथ तदाकार नहीं हो सकता; जब कि सूफियों का लक्ष्य ही शराब और पानी की तरह मिलकर एकाकार हो जाना है। कट्टर इस्लामी पंथ में मानव और अल्लाह के बीच व्यवधान पर बड़ा बल दिया जाता है। इनके अनुसार मनुष्य परमात्मा का दास है और उसके आदर्शों का पालन कर उसका थोड़ा-बहुत अनुग्रह प्राप्त कर सकता है और उसके दंड से बच सकता है। एक स्वामी है तो दूसरा सेवक है। दोनों में समता कैसी ? इसके विपरीत सूफी सारे संसार में अल्लाह का ही नूर देखते हैं। वह सबमें तो है ही, यह दृश्यमान जगत् भी उसी का अपना रूप है। यही कारण है कि उनकी उपासना माधुर्यभाव की है, पति और पत्नी या प्रेमी और प्रेयसी की है।

प्रेम का महत्त्व

भक्तिमार्ग की इस शाखा में ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम को माना गया है, अतः स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक महत्व प्रेम को ही दिया गया है। इनके अनुसार एक बार हृदय में सच्चे प्रेम का उदय हो जाने पर साधक का ध्यान सांसारिकता की ओर से स्वतः ही हट जाता है। प्रेम की अनन्यता की पहचान ही यह है कि प्रेमास्पद के ध्यान के सिवाय अन्य किसी के ध्यान के लिए न तो इच्छा ही होती है और न अवकाश ही मिलता है। जिस प्रकार भरी सराय देखकर पथिक स्वतः ही लौट जाता है उसी तरह हृदय को ईश्वर के प्रेम से आपूरित देखकर लौकिक भोगों की इच्छाएँ स्वतः समाप्त हो जाती हैं। एक म्यान में एक ही खड्ग रह सकता है, दो नहीं। प्रसिद्ध साधक अलसिबली के शब्दों में प्रेम उस प्रज्वलित अग्नि के समान है जो परम प्रियतम की इच्छा के सिवाय हृदय की समस्त वस्तुओं को जलाकर खाक कर डालती है।[१] अलशिवली ने जो कुछ कहा था, वह परवर्ती साधकों को भी उसी रूप में मान्य रहा। ठीक इसी भाव की अभिव्यक्ति मंझन कवि के इन शब्दों में मिलती है---

प्रेम प्रीति जो जिय उदगरई। प्रीतम राखि और सब जरई ।।[२]

असली बात तो यह है कि सूफी साधकों की दृष्टि में जन्म लेना तभी सफल है जब हृदय में प्रेम की अनुभूति हो—

---

१. सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ० ९

२. मधुमालती, पृ० ४६

जगत जन्म फल जीवन ताही । प्रेम पीर उपजी जिय जाही ।।[१]

जायसी भी कहते हैं कि प्रेम का मार्ग कठिन भले ही हो, पर संसार को तैरता वही है जो प्रेम का खेल खेल सकता है। जिस व्यक्ति ने प्रेम के रस का अनुभव नहीं किया, जो प्रेम के मार्ग पर नहीं चला, उसका तो जन्म ही व्यर्थ है—

भलेहि पेम है कठिन दुहेला । उइ जगतरा पैम जेंइ खेला ।।
दुख भीतर जो पेममधु राखा । गंजन भरन सहै जो चाखा ।।
जेंइ नहिं सीस पेम पथ लावा । सो प्रिथिमी महं काहे को आवा ।।[२]

जिसके हृदय में प्रेम की भावना जाग्रत हो जाती है, जो उसके रस को एक बार चख लेता है वह फिर शान्त होकर नहीं बैठा रहता। जायसी का कथन है कि प्रेम के मद से दीपक जलाकर ज्योति जलाये रखना चाहिए। साधक यदि उस रस को पीना चाहता है तो उसे प्रेम रूपी दीपक का पतंगा बनना होगा, ऐसा किये बिना वह उस रस को चख नहीं सकता। प्रेम के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि वह जीव धन्य है जो प्रेम से दग्ध हुआ है। ऐसा प्रेम-दग्ध व्यक्ति ही दही रूपी संसार को मथकर तत्त्वरूपी घी निकाल सकता है। प्रेम की शक्ति भी अद्भुत है। जिसके हृदय में प्रेम है उसे अग्नि चन्दन के समान शीतल लगती है; पर जो प्रेम से शून्य है उसे सदैव भय ही लगा रहता है। जिसने एक बार प्रेम का अनुभव किया वह जला भले ही हो, पर उसका जलना व्यर्थ नहीं जाता—

प्रेम की आगि जरै जो कोई । ताकर दुख नहिं बिरथा होई ।।[३]

प्रेम के दोनों ही पक्ष हैं। यह अमृत भी है और विष भी है। अमृत उसके लिए है जो इसका निर्वाह अन्त तक कर सकता है। आरम्भ में तो इसमें कष्ट-ही-कष्ट हैं। इस पर चलना अपने को तिल-तिल करके गलाने के समान है। अधकचरे साधक को इस पर चलने की अपेक्षा शरीर और प्राण का त्याग अधिक सुखकर लगता है। पर सच्चा साधक प्रेम के समुद्र में डुबकी लगा देता है। या तो यह मणि-माणिक्य लेकर बाहर निकलता है या उसी में डूब जाता है—

धाइ प्रेम समुंद महँ देखूँ दौरि धंसि लेऊँ ।
कै मानिक लै निकरौं कै ओहि पथ जिउ देऊँ ।।[४]

सच्चा साधक तो डूबने और उतराने की बात सोचता ही नहीं। यह डूबने का भय कच्चे साधक को ही है। वह तो पतिंगे के समान दीपक-रूपी लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है। हाँ यह अवश्य है कि ऐसे साधक का विनाश कभी नहीं होता। वह प्रियतम

---

१. मधुमालती, पृ० २३
२. पद्मावत, राजा-सुआ खण्ड, पद ९७
३. पदमावत, सात समुद्र-खण्ड, पद १५२
४. मधुमालती, पद १४१

उससे रीझकर स्वयं उसकी रक्षा करता है। प्रेमी प्रेम की आँच सहकर अमर हो जाता है।

प्रेम की आगि सही जेइ आँचा। सो जग जनमि काल तेउ बाँचा।।
प्रेम सरनि जोइ आपु उबारा। सो न मरै काहू का मारा।।[1]

कवि का यह भी कहना है कि जो काल से भय करता हो उसे प्रेम की शरण में आ जाना चाहिए। प्रेम में वह शक्ति है कि वह प्रेमी को काल से बचा लेता है—

जो जिउ जानहि काल भौ, प्रेम सरनि करि नेम।
कीटै दुहुँ जग काल भौ, सरन साल जग प्रेम।।[2]

जो प्रेम-संसार पयोधि को लाँघने का एकमात्र उपाय है, जो इतना शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण है उसकी उपलब्धि भी प्रत्येक को नहीं होती। प्रेम का संचार किसी सौभाग्यशाली के हृदय में ही होता है, सब में नहीं। जो प्रेम के पंथ में सिर देता है वही राजा होता है—

बिरला कोइ जाके सिर भागू। सो पावै यह प्रेम सोहागू।।
सबद ऊँच चरिहूँ जुग बाजा। प्रेम पंथ देऊ सो राजा।।[3]

जो प्रेम व्यक्ति को इतना ऊँचा उठाता है उसके स्वरूप के विषय में भी थोड़ा-बहुत जान लेना चाहिए। यों तो प्रेम का दावा सभी करते हैं पर असली प्रेम वही है जिसका न आदि है न अन्त। ऐसा प्रेम इहलोक और परलोक, दोनों ही में प्रेमी के यश को उज्ज्वल करता है—

प्रीति तो ऐसी कीजिए, आदि अन्त जेहि नेह।
दुहुँ जग जो यह निरबहै, तौ कहु कौन सँदेह।।[4]

प्रेम की यह कथा एक जन्म की नहीं, जन्म-जन्मान्तर की है। प्रेम तो साधना है और यह साधना एक ही जन्म में पूरी नहीं होती। मनोहर मधुमालती से कहता है कि हे राजकुमारी! तुझ में और मुझ में प्रीति विधाता ने पहले ही रच दी थी। मैं तो जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ। इसी भाव को मनोहर दूसरी बार व्यक्त करते हुए कहता है कि अब तक मैं अपने जीवन को बिना जीव के सम्हालता रहा। आज तुझे देखने के बाद ही मैंने जीव को सम्हाला है। क्षणमात्र में आज तुम्हें देखकर मैंने पहचान लिया कि यही वह रूप था जिसने पहले भी मुझे अपने वश में कर लिया था। यही रूप सब जगह समाया हुआ है, यही रूप त्रिभुवन की सीमा है और यही रूप सृष्टि में बहुत वेशों में प्रगट हुआ है—

१. मधुमालती, पद १४१
२. वही, पद ५३८
३. वही, पद २८
४. वही, पद १३०

अब लहि विभु जिव जीवन सारा। आजु देखि तोहि जीउ सँभारा ।।
देखत खिन पहिचाना तोही। इहै रूप जेंइ छंदरा मोही ।।
इहै रूप तब अहेउ छपाना। इहै रूप अब सिस्टि समाना ।।
इहै रूप सकती औ सीऊँ। इहै रूप त्रिभुवन कर जीऊँ ।।
इहै रूप परगट बहु भेषा। इहै रूप जग रोक नरेसा ।।[१]

इस विषय में इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि इन कवियों और साधकों का लक्ष्य परात्पर ब्रह्म की प्राप्ति है और इस प्रकार इनके प्रेम का स्तर आध्यात्मिक है पर सांसारिक प्रेम को भी इन्होंने तुच्छ नहीं समझा। अधिक स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि अलौकिक प्रेम के लिए लौकिक प्रेम का होना आवश्यक है। सोपान रूप में इस लौकिक प्रेम का भी अपना महत्त्व है। प्रसिद्ध सूफी जामी ने अपनी कविता में कहा था—इस संसार में तुम सैकड़ों उपाय कर सकते हो, लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है जो अहं से भी तुम्हारी रक्षा करेगा। सांसारिक प्रेम से भी तुम मुख मत मोड़ो, क्योंकि परम सत्य तक पहुँचने में यह तुम्हारा सहायक सिद्ध होगा।[२]

प्रेम-मार्ग की कठिनाइयाँ

प्रेम के मार्ग पर चलने वाला पथिक प्रियतम तक पहुँच तो जाता है पर उस पर चलना आसान नहीं। पद-पद पर रुकावटें हैं, मार्ग काँटों से भरा है, विषय-भोग रूपी बटमार हैं, बीहड़ वन हैं जिसमें खोये जाने या भटक जाने का भय बना रहता है; विशाल समुद्र हैं जिन्हें पार करने में बड़े-बड़े बीरों का साहस डगमगा जाता है। उसमान ने भी इस मार्ग पर चलनेवालों को इन शब्दों में कठिनाइयों से परिचित कराया है—

कहेसि कुँअर यह पंथ दुहेला, उस जनि जानि हँसी औ खेला ।।
अगम पहार विषम गढ़ घाटी, पंखी न जाइ चढ़ै नहिं चाँटी ।।[३]

इस पर वही चल सकता है जिसे अपने प्राणों का मोह न हो और जो प्रिय के लिए सब-कुछ होम देने को तैयार रहता है। जायसी ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किहा है—

कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नहिं हँसी न रोज, मुहम्मद ऐसे ठाँव वह ।।[४]

---

१. मधुमालती, पृष्ठ ११६
२. सूफीमत : साधना और साहित्य, पृ० ३१६
३. चित्रावली-खण्ड, पद ४७, पृ० ७६
४. जा० ग्रं०, पृ० ३२० (षष्ठ संस्करण)

सुन्दर वस्तु को पाने की कामना कौन नहीं करता ? मणि-माणिक्य किसे बुरे लगते हैं ? पर वे सड़कों पर बिखरे नहीं रहते । उनकी प्राप्ति के लिए प्राणों पर खेल कर समुद्र के गर्भ में गोते लगाने पड़ते हैं । वह प्रिय भी हृदय की उस गहराई में छिपा हुआ है जो समुद्र की गहराई से भी अधिक गहरी है । उसे पाने के लिए अपने को मिटाना जरूरी है, वह हँसी-खेल में ही नहीं मिल जाता—

देखि समुद महँ सीप, बिनु बूड़े पावै नहीं ।
होइ पतंग जलदीप, मुहमद तेहि धारी लीजिये ॥[1]

तथा

मरन खेल देखा सो हंसा, होइ पतंग दीवक महं धँसा ।
तन फनिग कै भिंरिग कै नाईं, सिद्ध होइ सो जुग जुगताई ।
बिनु जिउ दिए न पावै कोई, जो मरजिया अमर भा सोई ॥[2]

पद्मावती ने अपने संदेश में रतनसेन से जो कुछ कहा है उसमें उसने प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों की चर्चा करते हुए ऐसे अनेक व्यक्तियों का उल्लेख किया है, जिन्होंने इस मार्ग में आने के बाद अनेक कष्ट उठाए हैं । उसने स्पष्ट रूप में कहा है कि मैं उसे ही मिल सकती हूँ जो पाने से पहले अपने को मिटा देने को तैयार हो—

हौं रानी पद्मावति, सात सरग पर बास ।
हाथ चढ़ौं सो लेहिकै प्रथम जो आपुहि नास ॥[3]

शिव ने रतनसेन से स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो दुःख सहता है उसे ही शिवलोक की प्राप्ति होती है । अब तूने पर्याप्त साधना करली है, तुझे सिद्धि मिल गई है । और तू उस स्वच्छ दर्पण के समान हो गया है जिस पर से काई उतर गई है—

जो दुख सहै होइ सुख ओकाँ । दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकाँ ॥
अब तू सिद्ध भया सिधि पाई । दरपन कथा छूटिगी काई ॥[4]

मंझन भी प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों से अपरिचित नहीं । लक्ष्य जितना महान् होगा विघ्न उतने ही अधिक होंगे । हँसते-खेलते ही यदि प्रेमी को प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाती तो हर व्यक्ति प्रेमी बन जाया करता, पर यह मार्ग उतना सरल नहीं है जितना बाहर से दीख पड़ता है । इस मार्ग में लेना बाद में है, देना पहले है । जो अपने प्राणों से खेल सकता है उसे ही इस मार्ग पर पैर रखना चाहिए—

---

१. जा० ग्रं०, पृ० ३३२
२. जा० ग्रं०, पृष्ठ ३२८ (षष्ठ संस्करण)
३. पद्मावत, राजागढ़छेका खण्ड, पद २३३
४. वही, पार्वती-महेश खण्ड, पद २१४

प्रथमहि सीस हाथ कै लेई । पाछें यहि मारग पगु देई ।।[1]

इस मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए मंझन ने बताया है कि मनोहर जब मधुमालती की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है तो उसे अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है । एक बार जब नाव समुद्र में छोड़ देता है तो चार मास तक पानी में चलना पड़ता है; फिर दुर्दिन आता है, समुद्र की लहरें अन्धकारमयी दिखायी देती हैं । कर्णधार दिशा भूल जाता है और नाव भारी भँवर में पड़ जाती है ।[2] आगे चलकर कहा है कि वह राजकुमार वन में अकेला चल रहा है। उसका मार्ग अगम, कठिन और कष्टपूर्ण है । सिंह, शार्दूल और हाथी चिंघाड़ रहे हैं, दूसरा कोई साथी नहीं ।[3]

कवि नूरमोहम्मद भी प्रेम-मार्ग की दुरूहता और कठिनाइयों से भली भाँति परिचित हैं । उनका कहना है कि सबसे पहले प्रेम की पीर आसमान को मिली थी पर उसने इसे लेना अस्वीकार कर दिया । उसने जब इस भार को असह्य समझा तब यह भार मानव को मिला । इस भारी बोझ को सम्हालना विरले का ही काम है । जिस प्रकार मछली पानी के वियोग में (स्थल पर) छटपटाती रहती है, उसी प्रकार वियोगी तड़पता रहता है । प्रेम का यह मार्ग उस कान्तार के समान है जिसमें भयंकर शेर-चीते मिलते हैं—

चतुर अकास प्रेम कहँ चीन्हा । यातें ताको भार न लीन्हा ।।
या दधि तिरब होइ सकै न कासों । जल उच्छास लहर नित जासों ।।
एहि कांतार नांहि को पारै । केहरि विग बहुतन कहँ मारै ।।
तरफराइ जिमि बन सरजादू । तिमि प्रेमी को है मरजादू ।।[4]

इसी प्रकरण में कुछ और आगे चलकर कवि ने कहा है कि प्रेम-मार्ग पर चलना बड़ा कठिन है । इसमें इतनी बाधाएँ हैं कि बस प्राणों पर आ बनती है :

है सनेह कै संचर गाढ़ी । दुर्ग समुद्र लेत जिउ काढ़ी ।।
जो सनेह मग भएउ बटोही । पंथ सरम जानै नहीं ओही ।।[5]

इस मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलना है । इस पर तो वही चल सकता है जो अपना शोणित बहाने को तैयार हो । जिसका कलेजा सवा मन का हो, उसे ही इधर पग रखना चाहिए । इस मैदान को जीतना हँसी-खेल नहीं । अर्जुन और भीम-जैसे बली भी यहाँ हार जाते हैं । अंगद-जैसा वीर अपना पैर नहीं जमा पाता—

जो सनेह मग पर पग राखै । सो करेज को सोनित चाखै ।।
जिय सों गरू होइ जो कोई । सो सनेह को पथिक होई ।।

---

१. मधुमालती, पद २३४
२. वही, पद १७७
३. वही, पद १५२
४. अनुराग-बाँसुरी, पृ० १८ (दोहा २८ के बाद)
५. वही, पृ० १९ (दोहा ३२ के बाद)

यह मैदान न जीतै पारै । अर्जुन भीस अस्त्र जहँ डारै ।।
है सनेह कै कठिन लड़ाई । मकती पाइ लखन मरि जाई ।।
अंगद इहाँ न रोपै पाऊ । बरसै खडग बरन कै घाऊ ।।[1]

देव-भावना का स्वरूप

इस भक्ति-शाखा के सूफी कवि जिस आराध्यदेव में विश्वास करते हैं वह निराकार है और घट-घट में समाया हुआ है । जायसी ने अपने पद्मावत के आरम्भ में उस ईश्वर का स्मरण किया है जिसने संसार को बनाया है । अग्नि, हवा, जल, स्वर्ग, नरक और पाताल की रचना भी उसी ने की है, तरह-तरह की योनियों को भी उसी ने बनाया है । और क्या कहा जाये, दिन, रात्रि, सूर्य और चन्द्रमा भी उसी ने बनाये हैं ।[2] आगे उन्होंने बताया है कि जो भी वस्तु जहाँ कहीं दीख पड़ती है, उन सब का कर्ता भी वही है । उसकी शक्ति अपार है । वह जिसे चाहे राजा बना सकता है, जिसे चाहे रंक । संसार में ऐसा दूसरा कोई प्राणी नहीं जो उसकी समता कर सके । वह सबके देखते-देखते पर्वतों को राई में बदल सकता है और चींटी को हाथी के बराबर कर सकता है । उसके इस कर्तारूप से किसी को उसके साकार होने का सन्देह न हो जाय, इसलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि वह अलक्ष्य है, वर्णरहित है, प्रकट और गुप्त रूप से सबमें समाया हुआ है । न उसका कोई पिता है, न उसकी माता है और न कोई उसका पुत्र ही है । सृष्टि के आदि में वह था, अब भी है और आगे भी बना रहेगा—

अलख अरुप अबरन सो करता । वह सबसों सब ओहि सों वरता ।।
परगट गुपुत सो सरब बियापी । धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी ।।
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना ओहि कुटुंब न कोई सँगनाता ।।

... ...

हुत पहिलेहूँ औ अब है सोई । पुनि सो रहा रहिहिं नहिं कोई ।।[3]

इनका देव उपनिषदों के देव से मिलता-जुलता है । वहाँ कहा गया है कि वह वाणी की सीमा से बाहर है पर वाणी उसी से शक्ति ग्रहण करती है; मन की पहुँच वहाँ तक नहीं पर मन की सत्ता उसी से है; श्रोत्र उस तक नहीं जा पाते पर उनकी श्रवण शक्ति उसी के कारण बनी हुई है । जायसी ने कहा है कि उसमें जीव नहीं है पर फिर भी वह जीता है; उसके हाथ नहीं हैं पर वह फिर भी सब-कुछ करता है—सब भौतिक इन्द्रियों से रहित होते हुए भी वह सारे कार्य उसी प्रकार करता है जिस

---

१. अनुराग-बाँसुरी पृ० २६ (दोहा १८ के बाद)
२. पद्मावत, स्तुति-खण्ड, पद १
३. वही, स्तुति-खण्ड, पद ७

प्रकार हम लोग करते हैं। असली बात तो यह है कि न यह मिला हुआ है और न बाहर है फिर भी संसार भर में व्याप्त है; निकट भी है और दूर भी है; दीखता भी है और नहीं भी दीखता --

जीऊ नाहिं पर जियइ गुसाईं। कर नाहीं पै करइ सवाई ॥
जीभ नाहिं पै सब किछु बोला। तन नाहिं जो डोलाव सो डोला ॥
स्रवन नाहिं पै सब किछु सुना। हिय नाहीं गुन ना सब गुना ॥
नैन नाहिं पै सब किछु देखा। कवन भाँति अस जाइ बिसेखा ॥

ना वह मिला न बहरा, अइस रहा भरपूरि।
दिस्टिवंत कहँ नीयरे, अंध पुरुष कहँ दूरि ॥[१]

जो ईश्वर ऐसा है उसकी स्तुति करने की इच्छा होती तो है पर चाहते हुए भी उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह शब्दों की सीमा से परे है। जायसी का कहना है कि यदि सातों आसमानों को कागज बनाया जाय, धरती के सातों समुद्रों में स्याही भरी जाय, सारे वृक्षों की टहनियों की लेखनी बनाई जाय और सारा संसार लिखने लगे, तब भी उसकी महिमा का वर्णन नहीं हो सकता।

मंझन की देव-भावना का स्वरूप भी लगभग ऐसा ही है। उसके अनुसार भी सारे संसार में एक ही ज्योति फैली हुई है—

त्रिभुवन अयुरी पूरि के, एक जोति सब ठाँउ।
जोतिहि अनवत मूरति, मूरति अनवत नाँउ ॥[२]

वह देव अवर्णनीय है। कवि के शब्दों में कह सकते हैं कि जो बहुवेशों में तीनों भुवनों में समाया हुआ है उसका वर्णन संभव नहीं—

जो बहु भेसन लोक समाना। सो कैसे के जाइ बखाना ॥[३]

वह शक्ति सभी युगों में प्रकट रहती है पर कोई विरला ही उसे पहचानता है। तीनों भुवनों की स्वामिनी वह शक्ति सदैव विद्यमान रहती है। आदि में भी वही थी और अन्त में भी वही रहेगी—

तीनि भुवन चहुँ जुग तै राजा। आदि अन्त जग तोहि पै छाजा ॥
... ...

तीनि भुअन घट घट महँ, अनवन रूप बेलास।
एक जीभि कहु ताहि कै, अस्तुति करै हवास ॥[४]

---

१. पद्मावत, स्तुतिखण्ड, पद ८
२. मधुमालती, पद २, पृ० ४
३. वही, पद ४, पृ० ६
४. वही, पद १, पृ० १

तीनों भुवनों और चारों युगों में एक और अकेला होकर भी वह परमात्मा तरह-तरह के खेल रचता है। वह यद्यपि अदृश्य है और निर्लिप्त है, तथापि अनेक वेश धारण करता है। कहीं वह भिखारी बनता है और कहीं नरेश। उसमें परस्पर-विरोधी गुणों का समावेश है, वह गुप्त भी है और प्रकट भी। उसके समान कोई दूसरा न तो हुआ है और न होगा—

> गुपुत रहे परगट जस बरसै, सरब बियापक सोइ।
> दूजा कोइ न आहै, और भवा नहिं होइ ।।[१]

वह अनादि है। सृष्टि के आदि में उससे पहले कोई नहीं था इसलिए वह आदि का भी आदि है और अन्त में भी वह बचा रहता है अतः उसे अन्त का भी अन्त कहा जा सकता है—

> आदिहि आदि अन्त ही अन्ता। एकहि अरथ रूप जो अनंता ।।
> एक अहै दोसर कोइ नाहीं। तेहि सम सिष्टि रूप मुख जाहीं ।।[२]

इस निखिल ब्रह्माण्ड में एक भी शक्ति ऐसी नहीं हैं जिसमें वह न समाया हुआ हो। छोटे-छोटे कण में, विशालकाय पर्वत में, समुद्र की गहराई में और अनन्त की विशालता में वही समाया हुआ है। जो कुछ कहीं है वह उसी का रूप है—

> कौन सो ठाउँ जहाँ पै नाहीं, तीनि भुवन उजिआर।
> निरखि देखु ते सरबस पूरे सब ठाँ तोर बेवहार ।।[३]

उसमान ने भी जिस देव-भावना का चित्रण किया है, वह इसी से मिलती-जुलती है। उनका ईश्वर भी सर्वव्यापक है और उसका कोई आकार नहीं है। वह प्रकट भी है और गुप्त भी है अतः सामान्य पुरुष की सीमा से बाहर है। वह हृदय में ही है अतः दूर नहीं; पर किसी को दिखाई नहीं देता अतः समीप भी नहीं। उसे ढूंढ़ने के लिए घर से बाहर जाने की जरूरत नहीं है हम सब के रूप में वही समाया हुआ है, प्रश्न केवल उसे पहचानने का है—

> सो करता सब माँह समाना। परगट गुपुत जाइ नहिं जाना ।।
> गुपुत कहो तो गुपुत न होई। परगट कहउ न परगट सोई ।।
> दूर कहौ तो दूर न लेखा। नियरे कहउँ तो जाइ न देखा ।।
> सब वहि भीतर वह सब माँहीं। सबै आपु दूसर कोउ नाहीं ।।
> जो सब आपु रहा जग पूरी। तासौं कहाँ नेर अरु दूरी ।।[४]

---

१. मधुमालती, पद ४, पृ० ६
२. वही, पद ६, पृ० ७
३. वही, पद ३१, पृ० २७
४. चित्रावली, स्तुति-खण्ड, पद १

यह संसार स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ, इसका बनाने वाला परमात्मा है। इसमें जो तरह-तरह के रूप हैं वे सब उसी के दिए हुए हैं। वह यद्यपि निराकार है, उसकी कोई मूर्ति नहीं, तथापि ये सब मूर्तियाँ उसी की हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह न हो। फिर भी विचित्र बात यह है कि इतने निकट होते हुए भी वह हमारी इन्द्रियों की पहुँच के बाहर है, वह इन्द्रियातीत है। जिह्वा बेचारी की तो बात ही क्या, मन की भी पहुँच वहाँ तक नहीं है—

करता जिन जग रूप सँवारा। तेहिक रूप को बरनै पारा॥
आपु अमूरति मुरति उपाई। मूरति माँहीं तहाँ समाई॥
मरन के चरन पंगु जेहि ठाई। बपुरी जीभ चलइ कहँ ताई॥

... ...

परगट गुपुत बिधाता सोई। दूसर और जगत नहिं कोई॥
है सब ठाउँ नाहिं कोइ ठाईं। मुनिगत लखहिं कि अलख गुसाईं॥
सृस्टि अनेक लखै नहिं पाई। सिरजनहार लखा केहि जाई॥
अलख अमूरत सोइ विधि, लखै न मूरति कोइ।
सो सब कीन्ह जो चाहा, कीन्ह चहै सो होइ॥[1]

नूर मोहम्मद का देव भी सर्वव्यापक है, उसकी दरगाह छोड़कर अन्य किस दिशा में जाया जा सकता है—

मोहि करतार भरोसा, है सब ठाउँ।
ता दरगाह छाँड़ि के, केहि दिसि जाउँ॥[2]

यह सर्वव्यापक देव निराकार है। उसकी कोई मूर्ति नहीं। राजकुमार अन्तःकरण सुए के उपदेश से मन्दिर (देवहरा) में जाता है तो वहाँ अमूर्त का ही ध्यान करता है—

निसिदिव तहाँ अमूरत पूजा। मूरति नाहिं देवता दूजा॥
जहाँ अमूरत पूजा करै। तहाँ देवता माथा धरै॥[3]

साकार रूप और पौराणिकता का अभाव

इस धारा के सभी कवि निराकार ईश्वर के मानने वाले हैं। ये सभी इस्लाम धर्म में दृढ़ आस्था रखते हैं अतः उनके यहाँ आराध्य देव की साकार भावना के दर्शन होने का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। कबीर इत्यादि यद्यपि निराकार ईश्वर के उपा-

---

१. चित्रावली, स्तुति-खण्ड, पद २
२. अनुराग-बाँसुरी, दोहा ६, पृ० ३
३. वही, पृ० ४९

सक हैं पर फिर भी यदि उनमें कहीं-कहीं साकार की झलक दीख पड़ती है तो इसे उस काल की पौराणिकता का ही प्रभाव मानना चाहिए, ऐसा हम गत अध्याय में कह आये हैं। पर सूफी-धारा के कवि मुसलमान हैं अतः इनकी रचनाओं में पौराणिकता का भी प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। पद्मावत में शिव का जो वर्णन है उसमें उन का पौराणिक रूप उभर कर आया है पर उसे अपवाद ही समझना चाहिए। हिन्दू देवों के प्रति हार्दिक श्रद्धा और संस्कार के अभाव में इन कवियों की रचनाओं में पौराणिक रूप का भी दर्शन नहीं होता। इन कवियों का लक्ष्य कथा कहना है और उस प्रसंग में जिन-जिन देवों और देवियों के नामों का उल्लेख अनिवार्य था, उन्हीं का उल्लेख उन्होंने किया है।

अनन्यता और तादात्म्य

अनन्यता या एकनिष्ठता ही प्रेम की कसौटी है। इधर-उधर न भटक कर जो अपने आराध्य देव का ही अहर्निश ध्यान करते हैं वे ही अनन्य प्रेमी कहलाते हैं। इन साधकों का एकमात्र लक्ष्य अपना आराध्य खुदा ही रहता है; इन्हें न स्वर्ग की चिन्ता है और न अपवर्ग ही की। राबिया नामक प्रसिद्ध साधिका ने अपने हृद्गत भावों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—हे खुदा ! इस संसार में तूने मेरे लिए जो कुछ भाग लगाया है उसे अपने शत्रुओं को प्रदान करके और दूसरी दुनिया में (स्वर्ग में) मेरे लिए जो भाग लगाया है उसे अपने शत्रुओं को प्रदान कर दे। मेरे लिए तो तू ही बहुत है। हे खुदा ! यदि मैं नरक के भय से तेरी उपासना करती हूँ तो तू मुझे नरक में जला और यदि तेरी उपासना स्वर्ग-प्राप्ति की आशा से करती हूँ तो मुझे स्वर्ग से वंचित रख; किन्तु यदि मैं तेरी उपासना केवल तेरे लिए ही करती हूँ तू अपने चिर सौन्दर्य मुझ से दूर मत रख।[1]

प्रेम की परीक्षा के लिए तरह-तरह के प्रलोभनों को लाँघना पड़ता है। जब साधक अपने अनन्य प्रेम का परिचय दे देता है तभी आराध्यदेव संतुष्ट होते हैं, अन्यथा नहीं। पद्मिनी की प्राप्ति से पूर्व रत्नसेन को इसी परीक्षा में से गुजरना पड़ता है। उसका प्रेम कच्चा है या पक्का, यह जानने के लिए पार्वती अप्सरा का रूप धारण कर उसके सामने आती हैं और अपने मोहक सौन्दर्य से उसे लुभाने का यत्न करती हैं। पर रत्नसेन का प्रेम पक्का है, वह उनके लुभाने पर भी टस-से-मस नहीं होता। वह स्पष्टरूप से कहता है कि हे अप्सरा ! तेरा रूप तो भले ही सुन्दर हो, पर मैं तो पद्मावती को छोड़कर अन्य किसी से बात करना भी अच्छा नहीं समझता। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं उसके द्वार पर अपने जीवन को वार दूँगा और अपना सिर न्योछावर कर दूँगा—

---

१. इस्लाम के सूफी साधक, पृष्ठ १००

भलेहि रंग तोहि आछरि राता । मोहि दोसरे सों भाव न बाता ।।
... ...
ओहिके बार जीवनहिं वारौं । सिर उतारि नेवछावरि डारौं ।।[1]

जब हीरामन तोता रत्नसेन का पत्र लेकर पद्मावती के पास पहुँचता है तो वह जो उत्तर देती है उसमें भी प्रेम की अनन्यता को ही सर्वोपरि कहा गया है। वह कहती है कि मिलने को तो मैं आज ही उससे मिल लूँ पर प्रेम के क्षेत्र में अभी तक वह पक्का नहीं है। मुझे पता नहीं कि वह मेरे विरह में जलकर भौंरे के रंग का हुआ या नहीं ? मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि वह मेरे प्रेम-रूपी दीपक का पतंगा बना या नहीं ?

कहेसि सुआ मों सो सुनु बाता । चहौं तो आजु मिलौं जस राता ।।
पै सो मरमु न जानै मोरा । जानै प्रीति जो मरि कै जोरा ।।
हौं जानति हों अबहूँ काँचा । न जनहुँ प्रीति रंग थिर राँचा ।
... ...
न जनहु होइ भँवर कर रंगू । न जनहु दीपक होइ पतंगू ।।
न जनहु करा भृंगी कै होई । न जनहु अवहिं जिग्रै मरि सोई ।।[2]

यह अनन्यता धीरे-धीरे दोनों के बीच में भेद को मिटाकर तादात्म्य की सृष्टि कर देती है। दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं, तू और मैं का भेद मिट जाता है। जब तक यह भेदभाव बना रहता है तब तक प्रियतम की प्राप्ति संभव नहीं। द्वैत को मिटाये बिना अद्वैत हो ही कैसे सकता है ? प्रियतम से मिलन कब और कैसे संभव होता है, इसका वर्णन जलालुद्दीन रूमी ने मसनवी में दिया है। प्रियतम के दरवाजे को किसी ने खटखटाया। भीतर से आवाज आई—कौन है ? उसने जवाब दिया—मैं हूँ। भीतर से आवाज आई—इस घर में तेरे और मेरे, दोनों के लिए स्थान नहीं है। प्रेमी चला गया। उसने एकान्त-सेवन किया, प्रार्थना की, उपवास किया, फिर लौटा। फिर दरवाजा खटखटाया। आवाज आई—कौन। प्रेमी ने उत्तर दिया—तू है। दरवाजा खुल गया।[3] दोनों के बीच का व्यवधान मिट जाने पर एक विशेष प्रकार की भावाविष्टावस्था आ जाती है। वह ऐसी अवस्था है कि उसके आ जाने पर साधक कुछ कहना-सुनना भूल जाता है। आत्मा और परमात्मा के मिलन की अवस्था को सहज भाव से समझाने के लिए सादी ने एक स्थान पर कहा है—एक दरवेश से उनके अन्य साथियों ने व्यंग्य करते हुए पूछा कि उस आनन्द की फुलवारी से लौट कर वह कौन-सा उपहार ले आया है ? दरवेश ने जवाब दिया कि उस गुलाब

१. पद्मावत, पार्वती-महेश खण्ड, पृ० २००
२. वही, राजा गढ़छेका-खण्ड, पृ० २२१
३. सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ० ९

(परमात्मा) की झाड़ी के पास पहुँच कर उसकी इच्छा हुई कि मैं बहुत-से गुलाब के फूल तोड़ कर ले चलूँ जिससे कि मैं अपने साथियों को उपहार दे सकूँ। लेकिन जब वह वहाँ था तब गुलाब की झाड़ी की खुशबू से इतना मस्त हो गया कि उसकी पोशाक की खूँट उसके हाथों से छूट गई। जिसने परमात्मा को जान लिया है उसकी जिह्वा में शक्ति नहीं रह जाती कि वह कुछ कह सके।[1]

जायसी ने काव्य में भी आत्मा और परमात्मा के अभेद-भाव को पद्मावती और रत्नसेन के अभेद-भाव द्वारा स्पष्ट किया है। पद्मावती की प्राप्ति के लिए रत्नसेन ने गन्धर्वसेन के किले पर चढ़ाई की और पकड़ा गया। पकड़े जाने पर उसे शूली की आज्ञा हुई। उसे शूली देने की आज्ञा से पद्मावती को जो पीड़ा हो रही है उसका कारण समझाते हुए हीरामन तोता पद्मावती से कहता है कि हे पद्मावती! तुममें और रत्नसेन में भेद नहीं है। तुम जीव हो और वह काया है, काया की पीड़ा से ही जीव को पीड़ा हो रही है। आगे वह कहता है कि अपने जीव को तुम्हारे रूप का करके रत्नसेन ने दूसरा शरीर प्राप्त किया है। तुम्हारे शरीर के एक भाग में उसका आपा छिपा हुआ है अतः मृत्यु उसे ढूँढ़ नहीं पाती—

अब लै देइ गए ओहि सूरी। तेहि सो अगाह बिथा तुम्ह पूरी॥
अब तुम्ह जीव कया वह जोगी। कया क रोग जीव पै रोगी॥
रूप तुम्हार जीव के आपन पिउ कमावा फेरि।
आपु हेराइ रहा तेहि खण्ड होइ काल न पावै हेरि॥[2]

पद्मावती द्वारा और आगे पूछे जाने पर तोता कहता है कि हे पद्मावती! तुम गुरु हो और रत्नसेन चेला है। तुम्हें देखते ही तुम्हारा रूप उसके हृदय में भर गया और उसका जीव तुम्हारे हाथों में आ गया। तब से वह शरीर है और तुम जीव हो। अब उसकी काया को जो धूप और शीत लगते हैं, उनको उसकी काया नहीं जानती, पर तुम्हारा जीव जानता है। तुम उसके घट में हो और वह तुम्हारे घट में है, ऐसी दशाओं में काल उसकी छाया कैसे पा सकता है—

रूप गुरूकर चेले डीठा। चित समाह होइ चित्र पईठा॥
जीव काढ़ि लै तुम्ह उपसई। वह भा कया जीव तुम्ह भई॥
कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान जान पै जीऊ॥
भोग तुम्हार मिला ओहि जाई। जो ओहि बिथा सो तुम्ह कहँ आई॥
तुम्ह ओहि घट वह तुम्ह घट माँहा। काल कहाँ पावै ओहि छाँहा॥
अस वह जोगी अमर भा, परकाया पर बेस॥
आव काल तुम्हहि तहँ देखे बहुरै कै आदेस॥[3]

---

१. सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ० २९३
२. पद्मावत, गन्धर्वसेन-मन्त्री खण्ड, पृ० २४६
३. वही, पृ० २४७

रत्नसेन की दशा सुनकर पद्मावती जो कुछ कहती है भी वह भेद को मिटाकर अभेद को, द्वैत को मिटाकर अद्वैत को व्यक्त करता है। वह हीरामन से कहती है कि जाओ और रत्नसेन से कहो कि अब वह सिद्ध हो गया है। उसने मुझे प्राप्त कर लिया है। अब मैं उससे दूर नहीं हूँ। यदि उसे शूली लगी तो वह मेरे नेत्रों में भी गड़ेगी। यदि उसका प्राण घटा तो मेरे प्राण भी घटेंगे, अब उसका कष्ट मेरा कष्ट है—

कहौ जाइ अब मोर सँदेसू। तजौ जोग अब, होइ नरेसू॥
जिनि जानहु हौं तुम्ह सों दूरी। नयनन्हि माँझ गड़ी वह सूरी॥
तुम्ह परदेस घटइ घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहिं बेरा॥
... ...

जौं रे जियहिं मिलि गर रहहिं, मरहिं त एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ॥[1]

शूली दिए जाते समय राजा गन्धर्वसेन द्वारा पूछे जाने पर रत्नसेन कहता है कि अब तो मैं मरने को तैयार हूँ। मेरे हर श्वास में उसी का स्वर समाया हुआ है। मेरी काया में रक्त की जितनी बूँदें हैं उन सब में पद्मावती ही समायी हुई है। मेरी नस-नस में अगर कोई ध्वनि उठ रही है तो वह पद्मावती की ही है—

हाड़हि हाड़ सबद सो होई। नस-नस माँह उठे धुनि सोई॥
जागा विरह तहाँ का गूद माँसु कै हान।
हौं पुनि साँचा होइ रहा ओहि के रूप समान॥[2]

मंझन भी प्रेम की अनन्यता में उसी प्रकार का अटूट विश्वास रखते हैं जिस प्रकार का विश्वास जायसी को है। एक बार जब हृदय में प्रेम का उदग्र हुआ तो फिर हर स्थान पर प्रिय-ही-प्रिय दिखायी देता है, उसके सिवाय अन्य किसी की सत्ता उसे दीख नहीं पड़ती—

जेहि जिय परै पेम के रेखा। जहँ देखै तहँ देख अदेखा॥[3]

यह प्रेम जो सब स्थानों पर प्रिय की ही सत्ता देखता है, एक दिन में ही पैदा नहीं हो जाता। प्रिय और प्रेमी का संबन्ध तो जन्म-जन्मान्तर का है। मनोहर मधुमालती से कहता है कि हे राजकुमारी! तुझ में और मुझ में प्रीति विधाता ने पहले ही रच दी थी। मैं तो जन्म-जन्मान्तर से तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ—

मैं न आजु तोर दुख्ख दुखारी। तोर दुख सेउ मोहि आदि चिन्हारी॥
अजहुँ मोहि न चीन्हेसि बारी। सँवरि देखु चित आदि चिन्हारी॥

---

१. पदमावत, गन्धर्वसेन-मन्त्री खण्ड, पृ० २४७
२. वही, रत्नसेन-सूली खण्ड, पृ० २५०

इसी भाव को राजकुमार मनोहर ने मधुमालती से कहा कि हे राजकुमारी, तुम शरीर हो तो मैं छाया हूँ, तुम चन्द्रमा हो तो मैं ज्योत्स्ना हूँ, तुम प्राण हो तो मैं काया हूँ। मैंने अपना पृथक् अस्तित्व तो उसी दिन छोड़ दिया था कि जिस दिन तुम्हारे प्रेम को हृदय में धारण किया था—

तोहि बिनु मोहि जग जीवन नाहीं। तुम्ह सरीर मैं तुम्हँ परछाईं।।
तुम्ह सों प्रान मैं कया तुम्हारी। तुम्ह ससि मैं तोरी उजियारी।।
प्रान कया कहँ जोउ प्रतिपारै। ससि संतत उजियारी सारै।।
मैं आपुन तेहि दिन परिहरा। जेहि दिन तोर पेम जिय धरा।।
तुइँ जो समुद मैं लहरि तुम्हारी। मैं तो जो बिरिख तुइँ मूल।।
तेहिं मोहि सपत बचा दहुँ। कैसी मैं सुवास तुइँ फूल।।[१]

मंझन का जीवन-दर्शन भी आत्मा और परमात्मा के अद्वैत को स्वीकार करता है। उनके अनुसार देह से भिन्न आत्मा (जीव) ही सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है। सृष्टि-रूपी गृह में वही दीपक है, संसार के समस्त सुख-दु:ख उसी जीव को अनुभूत होते हैं। उनका कथन है—

तुइँ दीपक तेहि सिस्टि के गेहा। अबहुँ जीव जनि जानसि देहा।।
दुख सुख सम स्यंसारकर, जेत भावै तेत होउ।।
सो सम परसै आइ तोहि, दोसर और न कोउ।।[२]

इसी भाव को स्पष्ट तरते हुए वे अगले पद में कहते हैं कि हे जीव ! तेरा ही मुख त्रिभुवन की उज्ज्वलता है, समस्त सृष्टि तेरे ही मुख के लिए दर्पण है, तेरी ही ज्योति से त्रिभुवन में प्रकाश का विस्तार हुआ है। समस्त सृष्टि में व्यक्त तू ही है, तेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं, सर्वत्र तू ही व्याप्त है और तू ही सब-कुछ है—

तैं जलनिधि सबनिधि कर भरा। काहे परसि, गरब कस परा।।
तोर बदन तिरभुवन अजोरा। सकल सिस्टि मुख दरपन तोरा।।
तोरिय जोति सकल परगासा। मितुलोक पाताल भगासा।।
सकल सिस्टि महँ परगट तुहीं। सरबस तुइँ दोसर कोइ नहीं।।
जो कोइ खोव सोइ पै जोवा। सोका जोइ जेहिं नहि किछु खोवा।।

कौन सौ ठाउँ जहाँ ते नाहीं, तीनि भुवन उजियार।
निरख देखु तै सरबस पूरे, सबठाँ तोर बेवहार।।[३]

जिस प्रकार जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती दोनों को एक ही माना है इसी

१. मधुमालती, पद १२९
२. वही, पद ३०
३. वही, पद ३१

प्रकार मंझन ने भी मनोहर के मुख से मनोहर और मधुमालती दोनों को एक ही कहलाया है। मनोहर मधुमालती से कहता है कि तू और मैं, दोनों संग-संग रहने वाले थे और सदैव एक ही देह में निवास करते थे। दोनों का एक ही शरीर था, दोनों एक ही मिट्टी के बने थे, एक ही जल दोनों में बहता है, एक ही दीपक दो घरों में प्रकाश करता है, एक ही जीव दो शरीरों में संचरित है, एक ही अग्नि दो स्थानों पर जल रही है, एक ही के दो भाग दीख पड़ रहे हैं, एक ही मंदिर के हम दो भाग हैं—

तू मैं दुवौ सदा संघ वासी। औ संतत एक देह नेवासी॥
औ मैं तुइँ दुइ एक सरीरा। दुइ माटी सानी एक नीरा॥
एक बारी दुइ बहै पनारी। एक दिया दुइ घर उजियारी॥
एक जीउ दुइ घर संचारा। एक अगनि दुइ ठाँए बारा॥
एकै हम दुइ कै औतारे। एक मंदिल दुइ किए दुवारे॥
एकै जोति रूप पुनि एकै इक परान इक देह॥
आपुहि आप जो देइ कोइ चाहै, तेहि कर कौन संदेह॥[१]

काव्य में आरम्भ से अन्त तक कितने ही स्थानों पर प्रेम-सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का कहा गया है, उसका भी भाव यही है।

विरह

उसमान का कथन है कि जहाँ रूप और प्रेम है वहाँ विरह की सृष्टि स्वत: ही हो जाती है। प्रेम और विरह का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विरह का जीवन में बड़ा महत्त्व है अतः इसे कभी छोटा नहीं समझना चाहिए। जहाँ भी प्रेम की अग्नि है वहीं विरह वायु बनकर उसे सुलगाता है, बढ़ावा देता है ज्योंहि हृदय में प्रेम का अंकुर पैदा हुआ त्योंही विरह की उत्पत्ति हुई। इस विरहाग्नि की जलन को वही जानता है जिसे इसका सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार काठ में लगी अग्नि उसे अन्दर-ही-अन्दर जलाती रहती है और धुँआ बाहर नहीं निकलता, ठीक ऐसी ही स्थिति विरही की होती है। सारा संसार चैन की नींद सोता है और विरही रातभर तारे गिनता रहता है--

बिरह अगिनि उर महँ बरै, एहि तन जानै सोइ।
सुलगै काठ बिलूत ज्यों, धुँआ न परगट होइ॥[२]
... ...
पिय बिनु पोठ फाट नहिं छाती। तारे गनन जात सब राती॥[३]

---

१. मधुमालती, पद ३१
२. चित्रावली, चित्रावली-खण्ड पद १
३. वही, चित्रावली-खण्ड, पद २

वियोगी की दशा बड़ी करुणापूर्ण होती है। न वह जीता है और न मरता है। प्रिय के अभाव में जीवन मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी लगता है। और प्रिय-मिलन की आशा जीने के लिए विवश करती है। चित्रावली से साक्षात्कार होने के बाद जब राजकुमार सुजान को देव मढ़ी में ले जाते हैं तब उसकी दशा दयनीय हो जाती है। तेजस्वी मुख कुम्हलाकर पीला पड़ जाता है, रक्त सूखने के कारण शरीर पीले पत्ते के समान हो गया है, आँखें खुल नहीं पातीं और न वह किसी से अपनी बात कहता है और न किसी को पूछता है—

अरुन बदन पियरायगा, सहिर सूखिगा गात।
रहा झाँपि लोचन दोऊ, कहै न पूछै बात।।[१]

... ...

कल न परै पल अति विकरारा। हाथ पाँव सिर दे दे मारा।।[२]

विरह की स्थिति कुछ विचित्र स्थिति होती है। यदि किसी की आँखें आयी हुई हों तो जैसे उस व्यक्ति को शीतल वायु भी दुःख देने वाली होती है उसी प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर वस्तुएँ भी विरही को काटने दौड़ती हैं। वियोग में चित्रावली को चित्रसारी ऐसी लगती है मानो काली नागिन हो और फूल ऐसे लगते हैं जैसे अंगार हों—

चित्रावलि कहँ सो चितसारी। जानहु भई भुअंगिनि कारी।।
फूल अँगार भये फुलवारी। कछु न सुहाय बिरह की मारी।।[३]

मंझन की दृष्टि में भी बिरह का अत्यधिक महत्त्व है। उसके अनुसार यह प्रेम की कसौटी तो है ही, पर इसकी प्राप्ति भी सौभाग्य की निशानी है। इसकी प्राप्ति सौभाग्यशाली व्यक्ति को ही होती है—

सिस्टिमूल बिरहा जग आवा। पै विनु पुव्व पुन्नि को पावा।।

... ...

कीनौ पाठ पढ़े नहिं पाइअ, विरह बुद्धि औ सिद्धि।
जा कहँ देइ दयाल करि, सौ पावै यह निद्धि।।[४]

पूर्व पुण्यों से मिलने वाला यह विरह जिसे मिलता है वह धन्य है। वह ईश्वर का विशेष कृपा-पात्र है, वह साधारण नहीं असाधारण है। बादलों की सभी बूँदें मोती नहीं बनतीं, सभी के घट से विरह की ज्योति नहीं निकलती, रत्न प्रत्येक सागर में नहीं होते, प्रत्येक गज के गंडस्थल से मोती नहीं निकलते, हर वन में चन्दन पैदा नहीं होता—

---

१. चित्रावली, पृ० ३७
२. वही, पृ० ३८
३. वही, पृ० ५४
४. मधुमालती, पृ० २५

(क) धनि जीवन तेहि केरा भारी । जो जग भएउ बिरह बलिहारी ।।
सरग बूँद सभ होहिं न मोती । सभ घट बिरह देइ नहिं जोती ।।
कोटि माहिं बिरुला जग कोई । जाहि सरीर बिरह दुख होई ।।
रतन कि सागर सायरहिं, गज मुकुता गज कोइ ।
चंदन कि बन बन ऊपजै, बिरह कि सब तन होइ ।।[1]

(ख) जेहि जिय दैव बिरह उपजावा । निहचै तीनि भुवन सो राजा ।।[2]

विरह अमूल्य हीरा है। प्रिय को प्राप्त करने की अचूक कुंजी है। यह अग्नि अवश्य है, आरम्भ में जलाती भी है पर अन्ततोगत्वा शीतलता भी इसी से मिलती है। जिसे यह मोती नहीं मिला उसका जन्म व्यर्थ ही गया। जन्म तो उसी का धन्य है जिसे इस अग्नि में जलने का सुअवसर मिल सका—

बिरह अगिनि जिय लागि न जाही । एहि जग जनम अँबिरथा ताही ।।
जेइ जिउ पेम तंत नहिं लावा । जीवन कर तेहि जनमि न पावा ।।
एहि जग जनमि लहा तेइँ लाहा । बिरह अगिनि महँ जोइ जिउ दाहा ।।

विरह के महत्त्व को प्रतिपादित करते-करते मंझन ने बार-बार इस बात को दुहराया है कि जिसने विरह का रस नहीं चखा, उसका जन्म व्यर्थ ही है—

मंझन एहि जग जनमि कै, बिरह न कीता चाउ ।
सूने घर का पाहुनाँ, जेउ आया तेउँ जाउ ।।[3]

सर्वाधिक व्यापक तत्त्व विरह ही है। मानव में ही नहीं, सृष्टि के कण-कण में यह फैल रहा है। सूर्य, चन्द्र, तारागण, कुबेर भी प्रेमी के विरह में रो रहे हैं। प्रेमी ने जो रक्त के आँसू गिराये थे उनसे ही तोते का मुँह लाल है और पिक और काक यदि काले पड़ गये हैं तो उसकी दुःखाग्नि से ही। प्रकृति के अन्य पदार्थों में भी तत्त्व फैला हुआ है।[4]

पर इस विरह को निभा सकना बड़ा कठिन काम है। इसकी पहली शर्त त्याग है। जो व्यक्ति अपना सिर हाथ में लेने को तैयार हो, उसे ही इस मार्ग पर बढ़ने का साहस करना चाहिए—

प्रथमहि सीस हाथ कै लेई । पाछें ओहि मारग पगु देई ।।[5]

विरह की पीर का झेलना बड़ी टेढ़ी बात है। इसमें तो रोना ही रोना है।

---

१. मधुमालती, पद १३२
२. वही, पद २३३
३. वही, पद २३६
४. वही, पद २१८-२२०
५. वही, पद २३४

कनक के समान सुन्दर देह धूल मिट्टी में मिल जाती है। न दिन में चैन पड़ती है और न रात्रि में। कार्तिक की शीतल रात्रि विरही को जलाने वाली प्रतीत होती है, चन्द्रमा अंगारों का पिण्ड लगता है, बूंदें बाणों के समान चुभती हैं और कोई मार्ग सूझ नहीं पड़ता। विचित्र बात तो यह है कि इस दुःख का वर्णन भी नहीं किया जा सकता, करे भी तो किसके आगे, उसे तो कोई भुक्त-भोगी ही समझ सकता है—

दुखिया कर दुख जानै, जेहि दुख होइ सरीर।
बिनु दुख करि पीरा का जानै, दुख दाधै के पीर॥[1]

यह रोग ही विचित्र है। इसकी दवा किसी बाजार में नहीं मिलती। इसके दर्द की दवा भी उसी के पास है जिसने दर्द पैदा किया है। यदि वह नहीं पिघला, सदय नहीं हुआ, तो फिर रोग से छुटकारा मृत्यु ही दिला सकती है। मनोहर ने इसी भाव को इस तरह व्यक्त किया है—

बिरह अगिनि सुनु धाई, मोहि तन लागी आइ।
कै मधुमालति मिलि बुझै कै, मोहि मुएं बुझाइ॥[2]

विरह का दुःख सचमुच अवर्णनीय है। यदि सातों समुद्रों की स्याही बनायी जाये, सातों आकाश कागज बनें और कोई कुशल लेखक युग-युग तक लिखता रहे तो भी वह लिख नहीं सकेगा—

सातउ समुँद जो होहि मसि, कागद सात अकास।
जुग जुग लिखत न निघटै, पेमा बिरह उदासि॥[3]

नूर मुहम्मद ने भी विरह के अपार दुःख का वर्णन किया है। अपने पति के वियोग में रानी महामोहिनी की दशा शोचनीय हो गयी है। वह सूखकर कुम्हलाये हुए पुष्प के समान हो गयी है। विरह की अग्नि में वह रात-दिन जल रही है। वे आभूषण जो किसी समय शरीर की शोभा बढ़ाया करते थे, अब चिनगारी के समान जलाने वाले रोग के समान हैं। शरीर को सुख देने वाला शीतल पवन बाण के समान चुभ रहा है, शीतल चन्दन का अनुलेपन शरीर में मदन-भाव को बढ़ावा दे रहा है। क्या दिन और क्या रात, उसे किसी भी समय नींद नहीं आती। रात्रि का अंधेरा और ज्योत्स्ना दोनों ही समान रूप से दुःखदायी हैं। वह विरहिणी सूखे पत्ते के समान एकदम रसहीन और पीली हो गयी है—

महामोहिनी सुन्दर रानी। कोमल पुहुप समाँ कुम्हिलानी॥
जरै बिरह की आगि पियारी। भूखन-चुनी लगैं चिनगारी॥

---

१. मधुमालती, पद २३४
२. वही, पद १४८
३. वही, पद २२३

सीतल पवन बान सम लागै । चंदन लगत मदन तन जागै ।।
वासर बीच बियोग सतावै । रैन नैन सों नींद न आवै ।।
आइ तमिस्रा सब सुख लेई । अधिक चाँदनी निसि दुख देई ।।
पीयर बरन बिरहिनी भई । प्रीतम बिनु दुर्बल होइ गई ।।[१]

आगे चलकर कहा गया है कि विरह के कारण रानी को उन्माद और जड़ता ने आ घेरा है। वह चेतना खो बैठी है और तरह-तरह के प्रलाप कर रही है। कोकिला का सुन्दर शब्द अब उसे बाण की तरह चुभता है। पुष्प को देखकर उसे उन्माद होने लगा है। उद्वेग के कारण वह स्थिर नहीं रह पाती, कभी अन्दर जाती है और कभी बाहर। व्याधियों ने शरीर को एकदम कृश कर दिया है और विरह की दसों दशाएँ उसमें दिखायी पड़ रही हैं। प्रिय का स्मरण करते-करते वह अचेत हो जाती है। उसका वियोगजन्य दुःख सचमुच अवर्णनीय है—

बढ़ेउ समिरिति अवस्था, दिन औ रैन।
सुमिरै प्रीतम को मुख, रद छद बैन।।

पिय को चाल सुमिरि वह प्यारी। होइ अचेत, होइ मतवारी।
सुमिरि नैन, घायल होइ परै। रदछद सुमिरन फाहा धरै।।
चिंता कठिन परगटै तासौं। कहै, कहौं बिछुरन दुख कासौं।।[२]

इस काव्य-धारा में भारतीयता और वैदेशिकता

दो जातियाँ जब साथ-साथ रहने लगती हैं तो वे एक-दूसरी से इस प्रकार घुल-मिल जाती हैं कि उनके रहन-सहन और विचारधारा में कोई विशेष अन्तर नहीं जाता। आदान-प्रदान जीवन का स्वाभाविक नियम है। लेन-देन का यह क्रम इतनी सरलता और स्वाभाविकता के साथ होता है कि साधारण व्यक्ति को इसका अनुभव ही नहीं हो पाता। सूफी काव्य-धारा के विषय में भी यही बात लागू होती है। इस काव्यधारा का जन्म फारस में हुआ था। इसके आरम्भिक साधक भी बाहर के ही थे। सुधारवादी और उदारतावादी होते हुए भी वे इस्लाम के अनुयायी थे। हिन्दी-साहित्य के सूफी कवि भी धार्मिक विश्वास के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस्लाम और उसके संस्थापक मुहम्मद साहब के प्रति उनकी चरम आस्था थी। सूफी-सम्प्रदाय के परम्परागत सिद्धान्तों से वे भली-भाँति परिचित थे। इधर भारत में जन्म लेने के कारण इन पर यहाँ के दर्शन और विचारधारा का सीधा प्रभाव था। उस समय यहाँ जो अन्य धार्मिक आंदोलन चल रहे थे उनका प्रभाव भी उन पर किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही पड़ा था। ऐसी अवस्था में यदि उनके काव्य में भारतीय और

---

१. अनुराग-बाँसुरी, पृ० ८७
२. वही, पृ० ८८

वैदेशिक, दोनों ही प्रभाव दृष्टिगोचर होते हों तो यह स्वाभाविक है। कुल मिलाकर इनके काव्य पर भारतीयता की छाप अधिक है अतः पहले उसी की चर्चा करना उपयुक्त होगा।

भारतीयता—सर्वप्रथम हम उनकी ईश्वर-विषयक धारणा को लेकर विचार करेंगे। इस्लाम में ईश्वर को एक माना गया है। उसकी सत्ता वहाँ सर्वोपरि है। इन कवियों ने भी स्थान-स्थान पर एक ही ईश्वर के गुणों का गान किया है। आपाततः सामान्य पाठक को यह इस्लाम की देन मालूम पड़ती है पर वास्तव में ईश्वर को लेकर सनातनपंथी इस्लाम और उदार सूफीमत में बहुत बड़ा भेद है। सनातनपंथी इस्लाम परमात्मा और मनुष्य के बीच के व्यवधान पर बहुत जोर देता है। उसे यह कभी भी मान्य नहीं कि परमात्मा के साथ एकमेक हुआ जा सकता है अथवा उसके और मनुष्य के बीच प्रेमी और प्रियतमा का संबन्ध स्थापित हो सकता है। उसके अनुसार मनुष्य परमात्मा का दास है। वह उसके आदेशों का पालन कर उसका अनुग्रह प्राप्त कर सकता है तथा दण्ड से बच सकता है। इसमें भय की प्रधानता है। सूफी भी अल्लाह को सर्वोपरि मानते हैं पर उनकी साधना में भक्त और भगवान् के बीच में प्रेम का सम्बन्ध है। यह प्रेम-भावना ही इनका सर्वस्व है। इनके अनुसार जगत् में जन्म लेने का फल उसी को मिलता है जिसके हृदय में प्रेम की पीर उत्पन्न होती है।

भय के स्थान पर प्रेम की प्रधानता का ही यह परिणाम है कि उनकी साधना में दाम्पत्य-भाव की प्रधानता है। आरम्भ से ही इन्होंने प्रेमी और प्रेयसी की भावना को अपनाया है। बसरा में रहने वाली राबिया नामक साधिका अपने को अल्लाह की पत्नी मानती थी और अल्लाह को अपना पति। जायसी प्रभृति हिन्दी-सूफी कवियों ने भी दाम्पत्य-भावना के माध्यम से ही आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का वर्णन किया है। सूफियों की यह दाम्पत्य-भावना इस्लाम के स्थूल एकेश्वरवाद के विरोध में है और भारतीय अद्वैतवाद के अधिक निकट है। प्रसंगवश यदि यहाँ पैगम्बरी एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया जाय, तो विवेच्य विषय को समझने में आसानी रहेगी। एकेश्वरवाद को मानने का अर्थ एक ऐसी सत्ता में विश्वास रखना है जो सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करती है। अद्वैतभाव का भाव है कि दृश्यमान जगत् की तह में उसका आधारस्वरूप एक ही अखण्ड, नित्य तत्त्व है और वही सत्य है। उससे स्वतन्त्र और कोई अलग सत्ता नहीं है और न आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद है। इस प्रकार इन दोनों में मोटा अन्तर यह हुआ कि एकेश्वरवाद में जीवात्मा, परमात्मा और जड़ जगत्—तीनों की अलग-अलग सत्ता है, पर अद्वैतवाद में शुद्ध परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं मानी जाती। अतः स्थूल दृष्टि वाले पैगम्बरी एकेश्वरवाद में आत्मा और परमात्मा को एक मानना कुफ्र है। स्पष्ट है कि सूफियों के ऊपर भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रभाव है।

रही दाम्पत्य-भावना की बात के आधार पर उसे विदेशी घोषित करने की,

बात, हम पीछे सविस्तार दिखा आये हैं कि माधुर्यभाव की उपासना भारतीय परम्परा है और उसका पूर्वरूप हमें वेदों में उपलब्ध होता है। प्रपत्ति और गुरुभक्ति की चर्चा भी हो चुकी है, प्रपत्ति की भावना भगवद्‌गीता में उपलब्ध होती है। वहाँ कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से सारे कर्मों को भगवद्-अर्पण करके निश्चिन्त हो जाने की बात कही है।

गुरु-भक्ति की भावना कितनी प्राचीन है और उसके लिए भारत को किसी का ऋणी होने की आवश्यकता नहीं, इसकी भी विस्तारपूर्वक चर्चा पीछे हो चुकी है। उसको फिर से दुहराना पिष्टपेषण ही होगा। रही जाति-पाँति की उदारता की बात, विश्वभ्रातृत्व या सबको बराबर मानने की बात भी इस्लाम की देन नहीं। अपने मूलरूप में यह भावना भारतीय है और किस प्रकार यह बौद्धों के माध्यम से सन्तों तक तक पहुँची है, इसका भी उल्लेख पीछे हो चुका है।

ये सब बातें तो अपने मूलरूप में भारतीय हैं ही, इनके अलावा अन्य बहुत-सी बातों में भी ये कवि भारतीयता से प्रभावित हैं।

नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव

अन्य प्रभावों के साथ-साथ सूफियों पर नाथ सप्रम्दाय का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के सूफी काव्यों का नायक जब सिद्धि के लिए (नायिका-प्राप्ति के लिए) घर से निकलता है तो उसकी वेशभूषा नाथपंथियों की वेश-भूषा होती है। जायसी का रत्नसेन जब घर से निकलता है तो उसके हाथ में किंगरी होती है, सिर पर जटा है, शरीर पर भभूत है, मेखला है, सिंगी है, चक्र और धंधारी है, रुद्राक्ष की माला है, कंथा पहने हुए है, एक हाथ में डंडा दूसरे में कमंडलु है, कानों में मुद्रा है, कंधे पर मृगछाला है, पैरों में खड़ाऊँ हैं, सिर पर छाता है, बगल में खप्पर है, गेरुए वस्त्र हैं और मुँह से वह गोरख का नाम लिये जार हा है।[1]

मधुमालती में भी मनोहर जब घर से निकलता है तो यही नाथपंथी वेष धारण करता है। जब विरहा का कठिन दुःख उसको सम्हालना दुस्सह हो गया तो उसने योगियों के खप्पर, दण्ड तथा अधारी माँगी। सिर पर उसने चक्र रखा, मुख पर भस्म लगायी, कानों में मुद्रा पहनी, हाथों में कमंडलु लिया, किंगरी हाथ में ले ली, गुदड़ी, मेखला, फटे-पुराने चीथड़े सम्हाले, सिर पर जटा बढ़ायी, कौपीन बाँधी और गोरखपंथियों का वेष कर लिया।[2] चित्रावली में भी राजकुमार सुजान घर से निकलते समय सुन्दर वस्त्रों को उतार कर फटे-पुराने कपड़े पहन लेता है, मणि-कुण्डलों के स्थान पर मुद्रा पहनता है, चन्दन के स्थान पर भस्म लगाता है और हाथ में किंगरी

---

१. पदमावत, जोगी खण्ड, पृ० १२६

२. मधुमालती, पद १७२

लेता है, धंधारी, सुमिरनी और चक्र लेता है, सिंगी धारण करता है, जटा बढ़ाता है, भीख के लिए खप्पर लेता है, कंधे पर मृगछाला डालता है, गले में रुद्राक्ष की माला है और मुँह से वह श्री गोरख कह रहा है। इस वेश-भूषा के साथ-साथ उसने नेत्रों में लुकमंजन लगा लिया, झोली ले ली, मुँह में गुटिका और हाथ में डंडा लेकर गुरु परेवा तथा चेला राजकुमार दोनों चल पड़े। इन सिद्धियों के प्रभाव से वे तो सब कुछ देख सकते थे, पर उन्हें कोई नहीं देख सकता था।[१]

इन सब बातों पर विचार करने के बाद हम इतना कहना और पसन्द करेंगे कि जिन सूफी कवियों ने भारत में रहकर रचना की थी उनपर तो भारतीय प्रभाव है ही, पर उसके उद्गम-काल के साधक भी भारतीय प्रभाव से मुक्त नहीं थे, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है। सूफियों का फना (भगवान में विलीन) होने का सिद्धान्त बौद्ध धर्म से प्रभावित है। श्री रेनाल्ड ए० निकलसन ने इस मत की पुष्टि में अनेक तर्क देने के बाद अपने मत को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"कर्म के सिद्धान्त को, जो सूफी मत के लिए विदेशी है, छोड़कर फना और निर्वाण की ये परिभाषाएँ लगभग अक्षरशः मिलती-जुलती हैं। और अधिक तुलना करना व्यर्थ की बात होगी किन्तु मेरा विचार है कि हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सूफियों का फना का सिद्धान्त किसी हद तक बौद्ध धर्म तथा भारतीय-ईरानी विश्वात्मवाद से प्रभावित हुआ है।"[२]

यह तो सर्वविदित ही है कि इस्लाम के उद्भव से बहुत पूर्व बौद्ध धर्म एशिया और यूरोप में फैल चुका था। नव्य अफलातूनी मत भारतीय दर्शन से प्रभावित था और नव्य अफलातूनी मत से प्रभावित सूफी धर्म पर भारतीय प्रभाव को मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। डा० सरला शुक्ल ने भी इन्हीं भावों को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"इतिहास में उपलब्ध प्रमाण, मध्य एशिया में प्राप्त बौद्ध मूर्तियाँ ईसा-पूर्व दूसरी और तीसरी शताब्दी की काला आदि गुफाओं में अंकित यवन व्यापारियों के बौद्ध मठों को दिए गए दान, तथा ईसा-पूर्व पहली सदी में लंका के चैत्यमाल के उद्घाटनोत्सव में सिकन्दरिया के बौद्ध भिक्षु धर्मरक्षित के आने आदि के प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि नव्य अफलातूनी मत का उद्भव-स्थल यूनान स्वयं भारतीय दर्शन से प्रभावित था।[३]

जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, उसमें भी मुस्लिम रहन-सहन हिन्दू रहन-सहन से अत्यधिक प्रभावित हुआ है जो इस बात का सूचक है कि इन मुसलमानों पर भारतीय प्रभाव अधिक पड़ा है। श्री तिवारी ने लिखा है कि—"आर्नल्ड का कहना है कि पंजाब के मेवात और गुडगांवा जिले के बहुत-से मुसलमान केवल नाम-

१. चित्रावली, पद ४९-५०
२. इस्लाम के सूफी साधक, पृ० १५
३. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और उनका काव्य, पृष्ठ २

मात्र के लिए मुसलमान हैं, इस्लाम के बारे में कुछ नहीं जानते, उनके यहाँ मस्जिदें भी नहीं हैं। राजपूताना के मेवात मुसलमान भी पहले शादी में हिन्दुओं के विधि-विधान का पालन करते थे।"[1] हिन्दुओं के अन्य प्रभावों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि "टाइसट ने मुसलमानों में कई प्रकार की मूर्ति-पूजा की चर्चा की है जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध है। यू०पी० के चूड़िहार सहजामाई की पूजा करते हैं और हिन्दुओं की तरह ही श्राद्ध करते हैं। पंजाब के मेव और सियासी मंगल और ललची की पूजा करते है। मेव हिन्दुओं के व्रतों और त्यौहारों को उन्हीं की तरह मनाते हैं। वे गाँव के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। ब्राह्मणों को अपना पुरोहित रखते हैं। अमृतसर के मिरासी दुर्गा-भवानी की और पूर्वी बंगाल के तुर्कनवास लक्ष्मी की पूजा करते हैं।[2]

विदेशी प्रभाव

निःसंदेह इन पर भारतीय प्रभाव अत्यधिक है पर विदेशी प्रभाव से ये कवि एकदम मुक्त नहीं। सूफी-भावना का पालन-पोषण ईरान में हुआ था, अतः वहाँ की संस्कृति का प्रभाव इन कवियों की रचनाओं में पर्याप्त स्थलों पर है। भारतीय परम्परा में प्रणय का निवेदन नारी की ओर से होता है और ईरानी परम्परा में पुरुष की ओर से। सूफियों ने ईरानी पद्धति का ही आश्रय लिया है। सूफियों के यहाँ चीखना, तड़पना, आहें भरना और इसी तरह के कष्ट उठाना पुरुषों के कार्य दिखाये गये हैं, नारी के नहीं। भारतीय परम्परा में पुरुष वियोग-जन्य दुःख का अनुभव एकदम न करता हो, ऐसी बात नहीं। कोमल भावनाओं पर चोट पहुँचते ही आदमी तड़प न उठे, यह कैसे सम्भव है? वह न तो निर्मम है और न जड़ पाषाण। उस पर भी कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ता है पर अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य के कारण वह उन्हें सह जाता है। पुरुष कठोर है और नारी कोमल। यदि वह (नारी) दुःख की आँच में जल्दी ही पिघल उठे तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिए भारतीय परम्परा में नारी ही मूर्च्छित होती है, पुरुष नहीं। इसके अतिरिक्त विरहपक्ष में बीभत्स रस का वर्णन भारतीय परम्परा से गृहीत न होकर ईरानी परम्परा से गृहीत है। प्रिया की तलाश में चले नायक के पैरों में छालों का पड़ना तथा पीव और मवाद का बहना भी भारतीय परम्परा के विरुद्ध है।

यद्यपि ये सूफी सन्त सहिष्णु थे और उनका दृष्टिकोण भी उदार था पर फिर भी इस्लाम धर्म को ये सर्वोत्कृष्ट मानते थे, इसमें सन्देह नहीं। दूसरों के धर्म के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करते हुए भी इस्लाम के प्रचार में ये किसी कट्टर मुसलमान से पीछे नहीं थे। हाँ, इनका तरीका उनसे अलग था। इन्होंने हिन्दू घरों में प्रचलित

---

१. सूफी मत : साधना और साहित्य, पृष्ठ ४२२

२. वही, पृष्ठ ४२२

कहानियों को अपनी रचना का विषय बनाने के बाद भी इस्लाम के प्रचार का स्वर्ण-अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। बीच-बीच में इस्लाम की श्रेष्ठता की घोषणा उन्होंने स्पष्ट शब्दों में की है—

(क) बिधना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवाँ जेते।
तेहि महँ पंथ कहो मन लाई, जेहि दूनो जग छाज बड़ाई ।।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा, छै सुन्दर कविलास बसेरा।
लिखि पुरान बिधि पठवाँ साँचा, भा परवान दुहूँ जग वाँचा ।।[1]

(ख) वह मारग जो पावै, सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होइ अनतही, तेहि लूटा बटमार ।।[2]

अवसर मिलने पर उन्होंने नमाज की भी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

ना नमाज है दीपक थूनी। पढ़े नमाज सोइ बड़गूनी ।।[3]

यद्यपि साधारणतया इन कवियों ने हिन्दू पात्रों के मुख से हिन्दू देवी-देवताओं का ही उल्लेख कराया है पर मंझन ने एक स्थान पर हिन्दू पात्र के मुख से भी मुहम्मद का स्मरण कराया है—

प्रथमहि संवरौं नाउँ गोसाईं। जो भरिपूरि रहा सब ठाईं ।।
दूजे लेउँ नाउँ तेहि केरा। उतरब पार लागि जेहि केरा ।।

जो बात मंझन के विषय में कही गई है वही बात कुछ अधिक मात्रा में नूर मोहम्मद के विषय में कही जा सकती है। उनकी रचना का तो प्रधान कारण ही दीन का प्रचार करना है। उनकी 'इन्द्रावती' में संतप्त इन्द्रावती अपने उद्धार का मार्ग इस्लाम के रसूल में ही पाती है—

हौं मैं पाप भरी जग माँहीं। आस मुकुति के है किछु नाहीं।
हैं मोहि बीच दोष जहँ ताईं। डसै करहि कैसे जग साईं ।।
साहस देत परान हमारा। अहै रसूल निबाहनहारा ।।
निसि दिन सुमिरुँ मोहम्मद नाउँ। जासौं मिलै सरन मों ठाउँ ।।

... ...

न करूँ सोच अगम को, राखूँ हिरदएं आस।
जाके दीन बीच मैं, सो दैहै सुख बास ।।

देखिये, इन्द्रावती सुख के लिए विष्णु या शिव का स्मरण न कर मुहम्मद का स्मरण करती है—

---

१. जायसी-ग्रंथावली, पृ० ३२१ (षष्ठ संस्करण)
२. वही, पृष्ठ ३२१
३. वही, पृष्ठ ३२१

मुहम्मदी बोली में वह करामात है कि उसके सामने देवों की (दूसरे धर्म वालों की) मूर्तियाँ उलटी होकर गिर पड़ती हैं, उससे मंदिर गिर जाते है और मंदिरों में शंख बजना बन्द हो जाता है—

यह मुहम्मदी जन की बोली। जामों करैं न बातैं धोलीं ॥
बहुत देवता को चित हरैं। बहु मूरति औंधी होइ परैं ॥
बहु देवहरा ढाहि गिरावैं। संख बाद की रीति मिटावैं ॥
जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
वहाँ सकल सुख मंगल, कष्ट नसात ॥[१]

हिन्दी भाषा में अपनी रचना करने के कारण उनका कोई सहधर्मी उन्हें उदार विचार वाला न समझ ले, इस बात की आशंका से वह स्वयं ही स्पष्टीकरण देता है। उसका कहना है कि उसने हिन्दी का आश्रय तो इस्लाम के प्रचार के लिए ही लिया है, कुछ हिन्दी-प्रेम के कारण नहीं। जिसके मन में अल्लाह और उसका रसूल बसता है उसे और किसी असुर (राक्षस, हिन्दू-देवता) से क्या प्रयोजन ?—

जानत है वह सिरजन हारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ। का जो बहुतै हिंदी भाखेउँ ॥
जहाँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत करै मुक्तावन हारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे आवै। जच्छ असुर सुर काज न आवै ॥[२]

कवि का उद्देश्य इस्लाम का प्रचार है। इस दृष्टि से यह रचना धर्म-कथा है। इसका गुप्तार्थ कुछ और है और प्रकटार्थ कुछ और। उसने पात्रों का वर्गीकरण भी इसी आधार पर किया है।[३]

स्थूलता

यद्यपि इनकी कहानियाँ हिन्दू घरों में प्रचलित कहानियाँ हैं और यहीं के निवासी होने के कारण इनकी रचनाओं में यहाँ की काव्य-पद्धति का भी प्रभाव है; पर साथ ही उसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं। उनके काव्य की प्रथम विशेषता स्थूलता है। सूफियों का प्रेमास्पद व्यक्ति होता है। पाठक उनकी चेष्टाओं को अलौकिक सत्ता की चेष्टाएँ भले ही मान लें पर अन्ततः उनकी पार्थिवता बनी ही रहती है। तुलसी राम और सीता के श्रृंगार का वर्णन करते हैं पर बीच-बीच में वे पाठक को उनके भगवान् और भगवान् की शक्ति होने का संकेत देते रहते हैं। सूरदास ने भी कृष्ण और राधा के प्रेम का वर्णन किया है, बीच-बीच में नख-क्षत आदि का भी

---

१. अनुराग-बाँसुरी, पृ० ४
२. वही, पृ० ५
३. अनुराग-बाँसुरी (भूमिका-भाग पृ० ७-९; 'दीन का प्रचार' शीर्षक)।

वर्णन किया है पर वे भी स्थान-स्थान पर उनके आध्यात्मिक पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करते जाते हैं । मुसलमानों में खुदा स्वयं अवतार नहीं लेता, अतः वहाँ जिस व्यक्ति का वर्णन होता है वह सामान्य व्यक्ति होता है ।

विरति का अभाव

इस मार्ग में लौकिक प्रेम का बड़ा महत्व है । आध्यात्मिकता के सर्वोच्च सोपान पर पहुँचने के लिए इस प्रथा सोपान का पार करना अनिवार्य है । इसी कारण रति का इतना अधिक महत्व है । पर इसके उद्दाम रूप के कारण विरति का पक्ष दब-सा गया है । श्रीचन्द्रबली पाण्डे के शब्दों में, सूफियों के प्रकृत विभावन ने रति के व्यापार को इतना प्रबल किया कि उसके सामने विरति का सारा पक्ष निर्बल पड़ गया, भारतीय उपासना अथवा माधुर्यभाव में विरति का पक्ष कुछ-न-कुछ बना ही रहता है । भारतीय भक्त परमात्मा के व्यक्त स्वरूप में अनुरक्त होकर संसार से विरक्त पड़ जाते हैं । उनको किसी व्यक्ति-विशेष से प्रेम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु सूफियों में यह बात नहीं है, उनके मत में सामान्य प्रेम विशेष प्रेम का सोपान है और किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़ कर ही परम प्रेम का अनुष्ठान भलीभाँति किया जा सकता है ।[१]

यह तो रही उन पर भाव या दर्शन पक्ष के प्रभाव की बात, कलापक्ष की दृष्टि से भी उनमें अपनी कुछ विशेषताएँ हैं । उनकी शैली मसनवी है जो फारसी है । इसके अलावा उनके अनुभाव बड़े विकट होते हैं । प्रियतम के लिए सूफी क्या नहीं करते ? उसके लिए आँखें बिछाते हैं, पथ बुहारते हैं, सिर के बल चलते हैं, आँसुओं की नदी बहाते हैं, पहाड़ खोदते हैं, व्रत रखते हैं, उपवास करते हैं, रण ठानते हैं, आह से एक नया आसमान बनाते हैं, रकीबों को कोसते हैं, शरीर पर घाव करते हैं, कहाँ तक कहें, कलेजे का कलेवा भी करते हैं । उनकी यह अर्चना फूल-पत्तों की नहीं होती, उसमें प्राण चढ़ाये जाते हैं । कभी-कभी सूफियों के कार्य इतने भीषण और बीभत्स हो जाते हैं कि उनसे सुरुचि को धक्का लगता है, पर उन्हें तो किसी भी प्रकार रिझाकर उसमें दया उत्पन्न करनी है ।[२]

भारतीय साहित्य पर प्रभाव

अभी हमने इस मत की भारतीयता और वैदेशिकता पर पर विचार किया है। हमने देखा है कि यद्यपि इसके अनेक तत्व विदेशी भी हैं । कुल मिलाकर इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ हैं और समूचे भारतीय साहित्य पर—हमारा भाव हिन्दी-

---

१. तस० सूफी०, पृ० १२०
२. वही, पृ० १२२

साहित्य से है—इसका प्रभाव पड़ा है। संत-सम्प्रदाय पर तो इसका प्रभाव एकदम स्पष्ट है। प्रेम का वर्णन तो भारतीय साहित्य में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है पर प्रेम की मादकता निःसन्देह इन सूफियों की ही देन है। कबीर ने माया का जैसा मानवीकरण किया है वह भी इनसे प्रभावित है। उसका रूप इनके शैतान से मिलता-जुलता है। संत-सम्प्रदाय पर जो अनेक प्रभाव पड़े हैं उसकी चर्चा करते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सूफीमत की रूपकों से सम्पन्न रहस्यवाद-मयी मादकता और माया के मानवीकरण को प्रमुख स्थान दिया है।[1]

डा० रामरतन भटनागर का मत भी इसी प्रकार का है। उनका कथन है कि संत-साहित्य में प्रेम का जो उद्दाम रूप मिलता है वह सूफियों की ही देन है; उसे वैष्णव प्रभाव कहकर टालने का यत्न करना व्यर्थ है। उनके ही शब्दों में उनके विचार इस प्रकार हैं—हिन्दी-सूफी-काव्य की बहुत-सी कड़ियाँ अभी ढूँढ़ी नहीं जा सकी हैं। संत-विचारधारा को ही लीजिये। इस विचार-धारा पर सूफी मत का बड़ा गहरा प्रभाव है, परन्तु समालोचक इसे मानने को तैयार नहीं। वे कबीर को रामानन्द से सम्बन्धित करेंगे, शेख तकी से नहीं। कबीर संत हैं, सूफी हों या न हों। बुल्लेशाह और यारी-जैसे सूफियों को संत कहकर उन्हें आर्य-विचाराधारा के पास रखने का यत्न बराबर हो रहा है। हिन्दू-मस्तिष्क सूफियों की इस्लामी साधना और विचार-धारा के प्रति बहुत अधिक सहिष्णु नहीं हो सका है। इसी का फल है कि सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि में सूफियों की महत्ता को हम देख भी नहीं सके हैं। अवध के सूफियों के अत्यन्त प्राणवान् साहित्य को प्रेमाख्यात्मक कथाकाव्य वा प्रेमाश्रयी निर्गुणधारा की रचनाएँ कहकर हम किसी बड़े सत्य का प्रकाशन नहीं करते। संतों की साधना और विचार-धारा का मर्मस्थान प्रेम है। यह प्रेम सूफियों के इश्क से भिन्न नहीं है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सांस्कृतिक आदान-प्रदान का ही समर्थन करती है, परन्तु विद्वान् और आलो-चक साहित्य के वर्ग बनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि फरीद शकरगंज की रचनाओं से लेकर कबीर, जायसी, यारी, बुलाकी की रचनाओं तक एक ही सूत्र दौड़ता दिखायी देता है। उसे वैष्णव प्रभाव कहकर दृष्टि-पथ से हटा देना असंभव है। उसकी व्याख्या सूफी मतवाद और सूफी-साधना के माध्यम से ही हो सकती है।[2]

डा० मुंशीराम शर्मा भी सूफी प्रभाव को स्वीकार करते हैं। सारे संसार को प्रभु के प्रेम के रूप में देखना निःसन्देह सूफियों की देन है। कबीर को जो चारों ओर लाली-ही-लाली दिखायी दे रही है वह सूफी प्रभाव ही है। डा० शर्मा के विचार उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार हैं—मनुष्य का प्रेम चारों ओर अभिव्यक्त हो रहा है। सूफी भक्तों के शब्दों में—दरियाए-इश्क बह रहा लहरों में बेशुमार—प्रेम का दरिया बेशु-

---

१. हिन्दी-साहित्य, खण्ड २, पृ० १९५

२. वही, पृ० २५७-५८

मार लहरों में बह रहा है। जो भक्त हैं, साधक हैं, उन्हें इस प्रेम-पारावार के दर्शन होते हैं। सूफी सन्त प्रकृति के दृश्यों में उसी प्रेममयी भगवच्छवि के दर्शन करते हैं। उनकी प्रेम-प्रणाली में खुदाबन्द करीम लैला हैं और भक्त मजनू हैं। इस पद्धति का हमारे मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। पुष्टि-सम्प्रदाय में ही नहीं, राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी यह प्रभाव परिलक्षित होता हैं और अन्त में आकर राम-सम्प्रदाय भी उससे अछूता नहीं रह सका।[१]

प्रमुख देवी-देवता

मुहम्मद : जैसा कि सर्वविदित है, इस भक्ति-शाखा के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कवि मुसलमान थे। दूसरे धर्मों के प्रति आदर की भावना और उदार दृष्टिकोण रखते हुए भी ये कवि अपनी धार्मिक निष्ठाओं में कट्टर थे। कुरान-सिद्धान्तों में इनकी पूरी आस्था थी। कुरान का सिद्धान्त है कि एक ईश्वर के सिवाय अन्य कोई देवी-देवता नहीं, 'लाइलाह इल्लिल्लाह' का यही अर्थ है। इस्लाम का अभारभूत सिद्धान्त यही है कि खुदा के अलावा अन्य कोई पूजा का अधिकारी नहीं है। श्री सैयद अब्दुल लतीफ के शब्दों में, हर सच्चे मुसलमान को यह कहना पड़ता है कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके सन्देशवाहक भर हैं—

I affirm that there is none worthy of worship except God, that He is one; with none to associate with, and I affirm that Mohammad is His servant and messege-bearer.[२]

अर्थात् मैं पक्के रूप से यह कहता हूँ कि ईश्वर के सिवा कोई दूसरा पूजा का अधिकारी नहीं है। वह ईश्वर केवल एक है और उसका कोई दूसरा साथी नहीं है। मैं यह भी कहता हूँ कि मोहम्मद उसका सेवक और सन्देशवाहक है।

मुहम्मद साहब के श्वसुर अबूबकर, जो प्रथम खलीफा थे, ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि जो हजरत मुहम्मद की पूजा करते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि हजरत मर चुके हैं—

He who, worshipth Mohammad, let him know that Mohammad is dead, and who worshipth God, let him know the God is living and never dieth.[३]

भाव यह है कि जो मुहम्मद की पूजा करता है उसे यह ज्ञात होना चाहिए

---

१. भारतीय साधना का स्वरूप, पृ० १०६

२. बेसिक आफ इस्लामिक कल्चर, पृ० ७

३. वही, पृ० ७

मुहम्मद मर चुका है और जो ईश्वर की पूजा करता है उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि ईश्वर जीवित है और वह कभी नहीं मरता।

अवतारवाद का भी इनके यहाँ निषेध है, इसीलिए वहाँ मूर्ति-पूजा कुफ्र है। अतः उनके साहित्य में अल्लाह के सिवाय अन्य देवी-देवताओं की खोज करना व्यर्थ का ही प्रयास होगा। पर हजरत मुहम्मद की स्तुति जिस ढंग से की गयी है उससे उनके देवरूप में माने जाने की आशंका होने लगती है।

इनके यहां पैगम्बर मुहम्मद न तो ईश्वर है और न सामान्य पुरुष। उनका सिद्धान्त उन्हें ईश्वर का रूप मानने से रोकता है, पर श्रद्धातिरेक उन्हें सामान्य पुरुष को कोटि में नहीं रहने देता। अल्लाह का पैगाम लाने के कारण उनका विशेष स्थान है। उनपर ईमान लाना भी अनिवार्य है। जो कोई अल्लाह का अनुग्रह चाहता है उसे मुहम्मद का अनुग्रह अवश्य प्राप्त करना होगा। जिस किसी ने उसका आश्रय नहीं लिया, उसे समाज का कोप-भाजन बनना पड़ता था। इसी कोप से बचने के लिए बसरा-निवासिनी राबिया को कहना पड़ा था—हे रसूल! भला ऐसा कौन होगा जिसे आप प्रिय न हों। पर मेरी दशा तो कुछ और ही है। मेरे हृदय में परमेश्वर का इतना अधिक प्रसार हो गया है कि उसमें उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नहीं।[१] सभी कवियों ने अपनी रचनाओं के आरम्भ में मुहम्मद को याद किया है। मंझन ने त्रिलोकी के रचयिता परमात्मा कीस् तुति के पश्चात् उनकी महिमा का वर्णन किया है—

नांव मुहम्मद त्रिभुवन राऊ। वोहि लागी भौ सिस्टिक चाऊ॥[२]

... ...

वाकी अंगुरी करके अग्या, चांद भयौ दुइ खंड।
वाकी धूरि जो पाँव की, अचल भयो ब्रह्मण्ड॥

उनकी दृष्टि में मुहम्मद ही सबकुछ हैं, वे उनके नाम को गली-कूचे में पुकारते फिरते हैं—

ऊँचे कहौं पुकार के, जगत सुनो सब कोइ।
प्रगट नाऊ मुहम्मद, गुपुत ते जानेहु सोइ॥[३]

असली बात तो यह है कि मंझन की दृष्टि में मुहम्मद त्रिलोकीनाथ ही है—

मूल मुहम्मद सब जग राखा। विविध नौ लाख मुकुट सिर राखा॥
योहि पटतर दोसर कोउ नाहीं। वोह सरीर यह सब परछाहीं॥[४]

---

१. तस० सूफी, पृ० ३४
२. मधुमालती, पद ७, पृ० ५
३. वही, पद ६, पृ० ५
४. वही, (सं० डॉ० शिवगोपाल सिंह), पृ० १३

जायसी की स्थिति भी ऐसी ही है। उनके अनुसार मुहम्मद-रूपी नूर की रचना उस समय हुई थी जब चाँद और सूर्य नहीं थे और अन्धकार-ही-अन्धकार था। एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि अल्लाह ने एक निर्मल पुरुष की रचना की और उसका नाम मुहम्मद रखा और उसी के प्रेम से सृष्टि की रचना की। संसार को मार्ग दिखाने और उजाला फैलाने का काम उसी ने किया। यदि वह संसार में न आया होता तो सब जगह अंधेरा-ही-अंधेरा रहता। अल्लाह ने अपने से दूसरे स्थान पर उसका नाम लिखा। जिन्होंने उसका उपदेश सुना वे धर्मी कहलाये। वह संसार में अल्लाह का दूत बनकर आया, उसका नाम लेने से दोनों लोक तर गए। जिसने उसका नाम नहीं लिया वह नरक का वासी बना।[१] उसमान का कहना है कि सृष्टि के सारस्प में अल्लाह ने जिस पुरुष-श्रेष्ठ मुहम्मद की सृष्टि की, वह कोई साधारण पुरुष नहीं था, अपितु भगवान् का ही रूप था और उसका नाम भगवान् ने मुहम्मद रखा।[२]

कहा जा सकता है कि मुहम्मद की इस प्रकार की स्तुति भी उन्हें देव-कोटि में नहीं पहुँचा सकती। भारतीय परम्परा में गुरु की अत्यधिक प्रशंसा है। "गुरुः ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु र्देवो बृहस्पतिः" में गुरु को ब्रह्मा और विष्णु के समक्ष बैठा दिया गया है। उपनिषदों में गुरु को देव शब्द से पुकारा गया है। कबीर ने गुरु को गोविन्द से भी ऊँचा स्थान दिया है। यह तो काव्य का एक ढंग है। अतिशयोक्ति में बात को बढ़ाकर कहा ही जाता है। ये सूफी कवि तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा भी इसी भाँति अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से किया करते थे। इनके वर्णनों को अलंकार रूप में लेना या इन प्रशंसाओं से मुहम्मद को देवता समझना इन सूफियों के सिद्धान्तों को जानबूझ कर गलत समझने का यत्न होगा।

पर हम समझते हैं कि मुहम्मद की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण प्रणाली से कुछ भिन्न है। उसमें इन श्रद्धा-विगलित दृश्यों के उद्‌गारों की झलक अधिक है और काव्य की शैली के निर्वाह का आग्रह कम। जायसी ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रलय के दिन जब सब प्राणियों के कर्मों का लेखा-जोखा होगा तो विधाता प्रत्येक से उसके पापों की और पुण्यों की बात पूछेंगे, उस समय मुहम्मद आगे बढ़कर अल्लाह के सामने विनती करेंगे और जगत् का मोक्ष करायेंगे—

गुन अवगुन विधि पूंछत होइहि लेख भाउ जोख।
जोन्ह विनउब आगे होइ, करब जगत कर मोख ॥[३]

हिन्दुओं में जो स्थिति अंशावतारों की है कुछ वैसी ही स्थिति मुसलमान सूफी कवियों में मुहम्मद साहब की है। एक ओर सिद्धान्त का भय है तो दूसरी ओर हृदय का

---

१. पदमावत, सुरतिखण्ड, पद ११
२. चित्रावली, पृष्ठ ५
३. पदमावत, सुरतिखण्ड, पद ११

अनुरोध । श्रद्धातिरेक उन्हें साधारण मानव नहीं रहने देता और कुरान की आज्ञा उन्हें ईश्वर के पद या उनके अवतार तक नहीं पहुँचने देती । वे मानव होते हुए भी सामान्य मानवीय धरातल से बहुत ऊपर उठ गए हैं, इतने ऊपर कि उन्हें अंशावतार कहना ही ठीक होगा ।

हिन्दू देवी-देवता

जायसी-कृत पद्मावत में भी कथा के प्रसंग में स्थान-स्थान पर हिन्दू देवों का उल्लेख है । तोता पद्मावती के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है कि वह ज्योतिष, व्याकरण, पिंगल और पुराणों के पाठ में साक्षात् सरस्वती है ।[1] शिव का उल्लेख तो अनेक स्थानों पर है । कहा गया है कि पुष्प वही है जो शिव के सिर पर चढ़े ।[2] तोते द्वारा राजा से कहला कर कि वहाँ महादेव के मन्दिर का द्वार है, यह भी कहा गया है कि मन्दिर के पूर्व भाग में ही सिर नवाना चाहिए । आगे चल कर यह भी कहा गया है कि पद्मावती अभीष्ट-सिद्धि के लिए शिव की पूजा और कलश चढ़ाने की मानता मनाती है ।[3] शिव कौन है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह न रह जाय, इसी उद्देश्य से मानो शिव की पूरी वेशभूषा का वर्णन दे दिया गया है । बताया गया है कि उनका वाहन बैल है, वेश कुष्ठी का है, शरीर पर कथरी है और अस्थियों की माला है । कन्धे पर हत्था है, कण्ठ में शेषनाग को माला की तरह डाला हुआ है, शरीर में भभूत रमाये हुए हैं, हाथी की खाल ओढ़े हुए हैं, रुद्राक्ष और कमलगट्टों की पहुँची हैं, मस्तक पर चन्द्रमा है । जटाओं में गंगा है, हाथ में चँवर है, घंटा है, डमरू है और साथ में पार्वती हैं ।[4] एक दूसरे स्थान पर बहुत-से देवों के नाम आये हैं । पद्मावती के पिता गन्धर्वसेन जब सेना को तैयार होने का आदेश देते हैं तो इन्द्र डर जाता है, वासुकि मन-ही-मन काँपने लगता है, पृथ्वी 'का भार सम्हालने वाला कूर्म भयातुर हो जाता है कि कहीं पीठ न टूट जाये ।[5] इस युद्ध में जब रत्नसेन बन्दी बन जाता है तो भाट राजा को उसके (रत्नसेन के) वास्तविक रूप का परिचय देते हुए कहता है कि महादेव ने अपना रण-घंटा बजा दिया है जिसका शब्द सुनकर ब्रह्मा और श्री-कृष्ण चले आ रहे हैं, इन्द्रलोक में गुहार मच गई है, शेषनाग फण निकाले तैयार है और तैंतीस करोड़ देवता सहायता के लिए उपस्थित हैं ।[6] कुबेर के लिए कहा गया है

१. वही, नखशिख खण्ड, दोहा १०
२. वही, नखशिख राजागजपति खण्ड, पृ० १२७
३. पद्मावत, राजा गजपति खण्ड, पृ० १८३
४. वही, पार्वती-महेश खण्ड, पृ० १६८
५. वही, गन्धर्वसेन-मंत्री खण्ड, पृ० २३१
६. वही, रत्नसेन-सूली खण्ड, पृ० २५१

कि वह अपने संग्रह के बोझ से ही डूबा जाता है ।[1] लक्ष्मी का उल्लेख उसके पौराणिक रूप में है । कहा गया है कि वह समुद्र से उत्पन्न होती है, चंचल है और दूसरे को छलना उसका स्वभाव है ।[2]

रत्नसेन नारायण को उपास्य देव के रूप में प्रणाम करता है । एक स्थान पर गोरा कहता है कि आज मैं वह चतुर्भुज बनूँगा कि जिसके सामने कंस भी नहीं ठहरा, फिर औरों की तो बात ही क्या है ।[3] रत्नसेन के बन्दी हो जाने पर उसकी दशा के वर्णन में वराह, राम, कृष्ण, वामन और मत्स्य आदि भगवान् के विविध रूपों के पराक्रमों का उल्लेख है ।

जैसा हम कह आये हैं, इस्लाम में एक अल्लाह के अलावा अन्य किसी देवी-देवता की स्वीकृति नहीं । श्रद्धातिरेक के कारण मुहम्मद का चित्रण अवश्य मानवोत्तर रूप में हुआ है, इसका उल्लेख भी पीछे हो चुका है । इन दो के अलावा किसी अन्य पर ईमान लाना इस्लाम धर्म में कुफ्र है अत: सिद्धान्त रूप में इन कवियों की रचनाओं में अन्य देवी-देवता की चर्चा नहीं है । पर फिर भी ये कवि अपने कर्तव्य के लिए हिन्दू-घरों में प्रचलित कहानियों को माध्यम बनाकर चले थे, अत: बीच-बीच में हिन्दू देवी-देवताओं का उल्लेख पर्याप्त स्थलों पर हुआ है । पर यह ध्यान रहे कि इन देवी-देवताओं के प्रति व्यक्त उद्‌गार उनके अपने उद्‌गार नहीं हैं । उन्हें उनके विश्वास के रूप में स्वीकार करना भारी गलती होगी ।

मंझन-कृत मधुमालती में कहीं वर्णन के प्रसंग में और कहीं किसी पात्र के मुख से बहुत-से देवताओं का उल्लेख हुआ है । मनोहर राजकुमार के जन्म के प्रसंग में उसके दोनों पैरों में रुद्र रेखा होने की बात कही गई है ।[4] आगे चल कर सुरों और गन्धर्वों की चर्चा के साथ महेश का स्पष्ट उल्लेख है ।[5] कवि का कथन है कि राजकुमारी के श्रृंगार को देख कर सुरों और गन्धर्वों में से किसी को भी ज्ञान नहीं रहा और कपोल को देखकर महेश का ध्यान भी विचलित हो गया ।[6] एक अन्य स्थल पर इन्द्र और इन्द्र-सभा की बात कही गयी है । राजकुमार को अपने कक्ष में पाकर मालती पूछती है कि क्या तुम इन्द्र-सभा के देवता हो, पाताल के नाग हो या मृत्यु-लोक के मानव ?[7] मनोहर से त्रिया-सम्बन्ध में बातें करते समय मालती ब्रह्म का जिक्र करती

१. पद्‌मावत, देशयात्रा खण्ड, पृ० ३६४
२. वही, लक्ष्मी-समुद्र खण्ड, पृ० ४२०
३. वही, गोरा-बादल युद्धखण्ड, ६८७
४. मधुमालती, जन्मौति खण्ड, पृ० १७
५. वही, सिंगारखण्ड, पृ० २८
६. मधुमालती, पृ० २६
७. वही, पृ० ३३

है।[1] इसी प्रकरण में शपथ के सम्बन्ध में इन्द्र, ब्रह्मा और हरि का नाम लिया गया है।[2] देवों के साथ अर्द्ध-देवी माने जाने वाली अप्सराओं का भी कई स्थानों पर उल्लेख है। राक्षस के बन्धन से छूटकर आई हुई अपनी पुत्री प्रेमा से उसके पिता राम के अवतार की बात करते हैं।[3]

नूर मोहम्मद ने भी कहानी के बीच-बीच में हिन्दू-देवों का उल्लेख किया है। अपनी अनुराग-बाँसुरी के महत्व को समझाते हुए कवि ने कहा है कि जो कोई इस बाँसुरी को सुन लेता है वह अपनी सुध-बुध खो देता है; यदि मुरलीधर कृष्ण इसके शब्द सुन लेते तो वे अचेत हो जाते—

सुनते जो यह शब्द मनोहर। होत अचेत कुस्न मुरलीधर॥[4]

फिर आगे चलकर कहा गया है कि कृष्ण की बाँसुरी ने गोपियों को मुग्ध कर लिया था पर कालान्तर में बाँसुरी का यह शब्द लुप्त हो गया। अब कवि की इस अनुराग-बाँसुरी को सुनकर कृष्ण (माधव) भी दौड़े आवेंगे।[5] दर्शनराय राजा की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह राजाओं का भी राजा है और शुनासीर उसका यशोगान करते हैं और वेधा (ब्रह्मा) उसे आशीर्वाद देते हैं। गणेश (द्वैमातुर) उसकी विद्या से लुभा गए हैं और रामचन्द्र उसकी शोभा पर मुग्ध हैं। उसकी कन्या सरस मंगला के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पद्मालया (लक्ष्मी) उसके चरणों की सेवा करती है, इन्द्राणी उसके रूप पर मुग्ध है और पार्वती (ईशानी) उसके सामने अपनी कान्ति को फीकी पा रही है।[6]

इस्लामी एकेश्वरवाद

इस काव्यधारा में भारतीयता और वैदेशिकता नामक प्रकरण में पीछे इस्लामी एकेश्वरवाद की चर्चा हो चुकी है और उसका भारतीय अद्वैतवाद के साथ अन्तर दिखलाया जा चुका है। संक्षिप्त रूप में एकेश्वरवाद उस धार्मिक सिद्धान्त का नाम है जो एक ईश्वर की सत्ता में ही विश्वास करता है, अन्य किसी देवी-देवता में नहीं। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस्लाम का ईश्वर घट-घट में व्यापक नहीं है। न वह निराकार है, न सर्वव्यापक है। सातवें आकाश पर स्थित है और बड़े ही भव्य आसन पर आसीन रहता है। उसके हाथ-पैरों आदि का भी विशद वर्णन है। श्री चन्द्रबली

१. मधुमालती, पृ० ३९
२. वही, पृ० ४०
३. वही, पृ० ८९
४. अनुराग-बाँसुरी, पृ० ३
५. वही, पृ० ६
६. वही, पृ० १२

पाण्डे कुरान के अल्लाह को साकार ही मानते हैं।[1] इस प्रकार यह एकेश्वरवाद स्थूल सिद्धान्त है।

इसमें जीव और ईश्वर में सम्बन्ध शासित और शासक का है। जीव शासित है और ईश्वर शासक। यह सम्बन्ध भय पर आश्रित है। जिस प्रकार सेवक कभी स्वामी का स्थान नहीं ले सकता, उसी प्रकार जीव भी कभी ईश्वर नहीं बन सकता। 'एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब तक केसा नेह रे' इनकी कल्पना से बाहर है, और शरीयत के विरुद्ध होने से कुफ्र है। यहाँ ईश्वर के साथ माधुर्य भाव का सम्बन्ध तो असम्भव है ही, पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी इन्हें स्वीकृत नहीं। पुत्र के पिता से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती, पर यहाँ अल्लाह के पास जाने के लिए हजरत मुहम्मद की शरण में जाना आवश्यक है।

समन्वय का प्रयत्न

ये सब सूफी कवि अपने मुसलमानी धर्म में पूर्ण अवस्था रखने वाले साधक थे, यह हम कह आए हैं। कुरान में जिस प्रकार एक अल्लाह की सत्ता स्वीकृत है वैसे ही इन्हें भी है। हिन्दू-पात्रों के मुख से देवी-देवताओं का उल्लेख इनकी रचनाओं में अवश्य हुआ है पर कथा-प्रसंग में उसका होना अनिवार्य था। उसे इनका अपना विश्वास समझ बैठना भारी गलती होगी। इनके यहाँ अन्य किसी देवता की सत्ता की स्वीकृति नहीं, पर फिर भी ये कवि इस्लाम के एकेश्वरवाद की अपेक्षा भारतीय ब्रह्मवाद के अधिक निकट हैं। इनका अनलहक सिद्धान्त 'अहं ब्रह्मास्मि' का ही सिद्धान्त है। इनके स्वयं के विश्वास के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक है और यह जो द्वैत प्रतीत होता है, इसे मिटाना ही जीवन का लक्ष्य है। इनका अल्लाह भय से शासन नहीं करता; वह प्रेमरूप है और उससे तदाकार होना ही जीवन का स्वाभाविक क्रम है। स्थान-स्थान पर उसी ईश्वर की सत्ता को देखना और अद्वैतवाद का वर्णन उन्हें स्थूल एकेश्वरवाद से बहुत दूर ले जाते हैं। वास्तव में सूफी मत इस्लाम और भारतीय धर्म दोनों ही से प्रभावित है। श्री एम० एम० शुस्टेनि ने भी यही माना है।[2] स्पष्ट है कि इस भक्ति-मार्ग में दोनों मार्गों का समन्वय स्वाभाविक रूप से ही हो गया है।

---

१. तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृष्ठ ६४

२. आ० ला० इ० क०, पृ० ३६५

सप्तम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव-भावना का रूप

रामभक्ति-शाखा : उसकी देव-भावना का स्वरूप

हिन्दी-साहित्य की जिस परम पावन राम-भक्ति-सरिता में अवगाहन कर सहस्रश: सन्तप्त मानवों ने शान्ति-लाभ किया, उसके प्रवर्तक होने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। इस भक्तिधारा के सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि गोस्वामी तुलसीदास रामानन्दजी के ही शिष्य थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामानन्द से बहुत पूर्व आचार्य रामानुज जन-जीवन में रामभक्ति के अंकुर का वपन कर चुके थे, पर इन दोनों के सिद्धान्तों में तात्विक भेद है। हिन्दी-साहित्य में रामभक्ति का जो रूप मिलता है वह रामानन्द के सिद्धान्तों से अधिक प्रभावित है। रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवैष्णव शिव की पूजा नहीं करते, उनके यहाँ यह वर्जित है; जबकि रामभक्ति के प्राय: सभी कवियों ने शिव-पूजा को रामभक्ति का एक अनिवार्य अंग समझा है। स्पष्टरूप से यह राम-पूजा का ही प्रभाव है। रामानुज सम्प्रदाय का मन्त्र "ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय"—है जो द्वादशाक्षरात्मक है। रामानन्द का मन्त्र "ओ३म् रामाय नम:" षडक्षरात्मक है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने दोनों सम्प्रदायों के भेद को अपने शोधग्रन्थ में इस प्रकार प्रकट किया है : (१) रामानुजाचार्य का मन्त्र अष्टाक्षरात्मक या द्वादशाक्षरात्मक है, रामानन्द का मन्त्र षडक्षरात्मक। (२) रामानन्दी मत में ध्यान के निमित सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र जी के ध्यान का आदेश है जो रामानुजाचार्य की पद्धति से भिन्न है। (३) भक्ति को मुक्ति का साधक बताते हुए उसके जनक को सात उपाय बताये गये हैं वे भी भिन्न हैं। (४) रामानन्द के यहाँ वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत का महत्त्व माना गया है (५) बाह्य चिह्नों अर्थात् तिलक और कण्ठी में भी भेद है। (६) रामानुज सम्प्रदाय में भगवत्-सेवा एवं मंत्रजपादि काल में तुलसी या कमलादि की माला धारण करने की प्रथा है किन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय में कंठी, कंठा, हीरा, एकलड़ी, दुलड़ी, पदिक, रामनामी आदि भेद से सर्वदा तुलसी धारण करने का विधान है। (७) पूजा-अर्चा-पद्धति में भी बड़ा भेद है।[1]

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४४-४५

सब बातों को ध्यान में रखते हुए यही मानना उचित होगा कि रामानन्द ने रामानुजाचार्य के तात्विक सिद्धान्तों को ग्रहण कर राम-भक्ति का स्वतन्त्र मत स्थापित किया। डा० दीनदयालु गुप्त का मत भी ऐसा ही है।[1] श्री रामनिरंजन पाण्डेय का मत भी इसी से मिलता-जुलता है।[2] यह भी जनश्रुति है कि रामानुज सम्प्रदाय में प्रचलित जाति-भेद की मान्यता से ऊबकर रामानन्दजी दक्षिण से काशी चले आये। यह भी स्पष्ट है कि भक्ति-मार्ग में जाति-पाँति की उदारता के प्रसार का श्रेय भी रामानन्द को ही है। यह घटना भी उनके स्वतन्त्र चिन्तन और मत-स्थापन की ओर ही संकेत करती है। रामभक्ति-शाखा के प्रवर्तक इन रामानन्द के शिष्यों में से कुछ निराकार रूप को लेकर चले और कुछ साकार रूप को। साकार रूप को लेकर चलने-वाले गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति को इतना व्यापक रूप दिया।

रामभक्ति शाखा में क्षीरसागर-निवासी और शेष-पर्यंक-शायी वैकुण्ठ-विहारी विष्णु के स्वरूप के स्थान पर नररूप में लीला करने वाले दाशरथि राम के रूप को स्वीकार किया गया। इनके इष्टदेव राम हुए और उनका नाम राम इनका मूल मन्त्र बना। जैसा कि सर्वविदित है, राम-भक्ति-शाखा की स्थापना दो मार्गों के विरोध के लिए हुई थी (१) आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित अद्वैतवाद और (२) हठयोगियों का सम्प्रदाय जो बाद में कबीर द्वारा परिवर्द्धित और परिमार्जित होकर निर्गुण सम्प्रदाय के रूप में प्रचलित हुआ। तात्विक दृष्टि से इस निखिल जगत् को केवल भ्रम माननेवाले शंकर के मार्ग में भक्ति का समावेश संभव नहीं था। जब सभी कुछ मिथ्या है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं, तो कौन किसकी भक्ति करे ? स्वामी रामानन्द ने आचार्य रामानुज की भांति चिदचिद्-विशिष्ट मानकर ईश्वर को अंशी और जीव को उसका अंश कहा है। उनके अनुसार जीव ईश्वर का अंश भी है और उससे पृथक् भी है। यह मार्ग विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें ईश्वर तथा जीव का पार्थक्य मान लेने से भक्ति का समावेश आसानी से हो जाता है। हठयोगी ईश्वर को निराकार मानकर उसे घट के भीतर ही ढूंढ़ने का उपदेश दिया करते थे, बाह्य जगत् से उनका लगाव नहीं के बराबर ही था। इस मार्ग में बाह्य कर्मों का भी प्रत्याख्यान ही था। इन दोनों के विरोध में स्वामी रामानन्द ने भगवान् के उस रूप को जनता के सामने प्रस्तुत किया जिसमें अजन्मा, अनादि एवं सर्वशक्तिमान् निराकार ईश्वर भक्तों की करुण पुकार पर राम के रूप में मानव-शरीर धारण कर लीलाओं के लिए अवतरित हुआ।

साकार रूप की प्रधानता

अभी पीछे यह कहा जा चुका है कि भक्तों के लिए साक्षात् परब्रह्म ने ही

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, भूमिका-भाग

२. रामभक्ति शाखा, पृष्ठ ४३ तथा ४७

राम के रूप में अवतार लिया है। जो ब्रह्म स्वभावतः अज, अनादि, अरूप और अनन्त है वही भक्तों के कारण मानव-तनु धारण कर इस लोक में प्रकट होता है। इस प्रकार निराकार और साकार में कोई मौलिक अन्तर नहीं। जो निराकार है वही साकार भी बनता है। एक उसका स्वभाव है तो दूसरा उसकी लीला का रूप है। राम रूप का परिचय देते हुए काकभुशुंडि ने गरुड से कहा है—

सोई सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान राम बल धामा।।
ब्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता।।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।।
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी।।
भगत हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।[१]

पर फिर भी इस भक्ति-शाखा में प्रधान रूप से साकार रूप की ही स्वीकृति है। कबीर ने सगुणवाद का खण्डन करते हुए—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना"—कहकर राम को जो निर्गुण और निराकार का प्रतीक माना था, उसी का खण्डन रामचरितमानस में शिव-पार्वती-संवाद में कराया है। पार्वती पूछती है—"रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखा गति कोई।" शंकर समाधान भी करते हैं और फटकार भी देते हैं। वे कहते हैं—हे भवानी! यद्यपि तुमने यह सब कुछ मोह-वश ही कहा है पर मुझे यह बात अच्छी नहीं लगी। तुमने जो यह कहा है कि दशरथ-सुत राम और वेदों में वर्णित भगवान् पृथक-पृथक हैं, यह कथन उन्हीं को शोभा देता है जो पाखण्डी हैं, हरिपद से विमुख हैं और जो झूठ-सच को नहीं जानते—

एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना।।
कहहि सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखण्डी हरि पद विमुख, जानहिं झूठ न साँच।।[२]

सही बात तो यह है कि साकार ईश्वर के प्रतिपादन और निराकार के खण्डन में इन कवियों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। कहीं तो यह कार्य "ज्ञान कौ पन्थ कृपान की धारा" और सगुण भक्ति के मार्ग को "नीको मोहि लागत राज डगर सौ"—कहकर किया गया है और कहीं साखी-सबदी कहने वालों की निन्दा करके। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में भारत में निर्गुण का उपदेश देने वाले दो प्रकार

१. रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड, पृ० १०६८ (गी० प्रें० सं०)
२. वही, बालकाण्ड, पृ० १२७

के सन्त-फकीर उस समय दिखाई देते हैं : एक वे जो मुक्तक पदों, दोहों अथवा सबदियों के माध्यम से उसके उपदेश देते थे और दूसरे वे जो, कहानी, उपाख्यान वा प्रबन्ध-काव्य के माध्यम से उसका प्रसार करते थे। तुलसी ने—

साखी सबदी दोहरा, कहि किरनी उपमान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं बेद पुरान ॥

में दोनों सन्तों का खण्डन किया है। "तुलसी अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच" में भी उनका व्यंग्य और आक्रोश एकदम स्पष्ट है। कृष्ण-भक्ति शाखा में निर्गुण रूप का खण्डन 'भ्रमरगीत' द्वारा किया गया है और रामचरितमानस में काकभुशुण्डि द्वारा "ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा"—कहने के तुरंत बाद ही भक्ति का प्रतिपादन स्पष्टत: साकार रूप की ओर झुकाव होने का द्योतक है। साथ ही यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इन्होंने "मन वाणी को अगम अगोचर" कहकर निराकार का प्रत्याख्यान नहीं किया। ऐसा कहना शायद इनकी दृष्टि में निराकारवादियों की श्रेष्ठता और अग्रगामिता का परिचायक होता। इनकी दृष्टि में निर्गुण रूप सुलभ है और सगुण रूप अगम। इसी भाव को इन्होंने—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जाने कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ ॥[1]

इन शब्दों में व्यक्त किया है। इसी प्रकार के भाव उन्होंने अन्य स्थानों पर भी व्यक्त किये हैं।

सुगण की स्थापना के साथ-साथ तुलसी ने निर्गुण-सगुण का भी वर्णन किया है—

निर्गुन सगुन विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं ॥
.. ..

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदय निरन्तर बासी ॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी ॥
जो जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तरजामी ॥
जो कोसलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना ॥[2]
जेहि स्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं ॥
सो प्रकट करुना कंद सोभा बृन्द अग जग सोहई।
... ...

जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।

---

१. रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड, पृ० १००० (गी० प्रे० संस्करण)
२. वही, अ० का०, पृ० ७०१-२ (गी० प्रे० सं०)

पस्यन्ति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा ।।
सो राम रमा निवास सन्तत दास बस त्रिभुवन धनी ।।[1]

... ...

कवि केशव का भी विश्वास है कि जो राम पुराणपुरुष हैं, सब प्रकार से परिपूर्ण हैं, वेद जिनका नेति-नेति करके वर्णन करते हैं, वे ही भक्तों के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए भू पर अवतरित हुए हैं—

सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतार-मणि ।[2]

सेनापति ने यद्यपि तुलसीदास के समान निर्गुण का प्रत्याख्यान कर सगुण की स्थापना पर बल नहीं दिया है तथापि साकार के प्रति उनका झुकाव स्पष्ट है । उन्होंने रघुवंश-मणि राम को साक्षात् परब्रह्म मानकर उनके अवतार-रूप का वर्णन रस लेकर किया है । एक कवित्त देखिये—

बीर महाबली, धीर, धरम धुरंधर है,
धरा में धरैया एक सारंग धनुष कौ ।
दानौ दलमलन, मथन कलि मलन कौ,
दलन है देव द्विज दीनन के दुख कौ ।
जग अभिराम, लोक बेद जाकौ नाम, महा-
राज-मनि राम, धाम सेनापति सुख कौ ।
तेज पुंज करौ, चंद सूरौ न समान जाके,
पूरौ अवतार भयौ पूरन पुरुख कौ ।।[3]

परात्पर ब्रह्म को अवतरित मानने वाले सगुणोपासकों की भी दो शाखाएँ की गयीं : एक तो वे जिन्हें मर्यादावादी कहा जाता है और दूसरे वे जिन्हें सुविधा के लिए रसिक भक्त कहा जाता है। भक्त दोनों ही हैं पर दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है । रसिक भक्तों की उपासना-पद्धति सामान्य पाठकों के लिए अब भी अपरिचित सी ही है अतः आरम्भ में उसी का वर्णन दिया जायगा ।

रामभक्ति शाखा (रसिक भावना)

हिन्दी-साहित्य पर तुलसी के महान् व्यक्तित्व का प्रभाव इतनी अधिक व्यापक मात्रा में पड़ा है कि हिन्दी-साहित्य का सामान्य से कुछ अधिक परिचय रखने वाले महानुभाव भी तुलसी को ही राम-भक्ति शाखा का एकमात्र प्रतिनिधि मान बैठे हैं । तुलसी ने भक्ति-भावना में दास्य भाव या सेवक-सेव्य-भाव को प्रधानता दी है अतः

---

१. रा० च० मा०, अ० कां०, पृष्ठ ७३६ (गी० प्रे० सं०)
२. रा० चं०, १।१७
३. कवित्तरत्नाकर, ४।७

इनकी धारणा बन गई है कि साहित्य में राम के किसी दूसरे रूप का चित्रण हुआ ही नहीं। परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। तुलसी से पूर्व और पश्चात् भी राम की रसिक या माधुर्य भाव से उपासना करने वाले साहित्य का निर्माण प्रचुरता में हुआ है। डा० भगवतीसिंह के शब्दों में अनुसंधान स्थिति का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करता है। इधर इस माधुर्य-भाव का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उससे विदित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास की पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती रामोपासना इसी से ओतप्रोत थी। वास्तव में इस साधना-पद्धति के कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसीदास अपने समकालीन भक्ति-क्षेत्र में प्रसूत शृंगारी रामभक्ति के एक अपवाद-से प्रतीत सोते हैं। यह बात दूसरी है कि इस सम्प्रदाय में इतनी प्रखर प्रतिभा का कोई कवि अवतरित नहीं हुआ जो सूर और मीरा की तरह जन-सामान्य को भी इस दिव्य रस का आस्वादन करा सकता।[1]

राम की व्युत्पत्ति भी इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने ढंग से मानी है। इनके अनुरूप क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त 'रम्' धातु से राम शब्द की निष्पत्ति होती है। रसिक भक्तों का विचार है कि राम के अलौकिक सौन्दर्य में जीवमात्र को रमाने की जो अद्भुत क्षमता है उसी के कारण उनका नाम राम पड़ा है। रम् विहार-बोधक है साकेत लोक में जो नित्य शृंगार-क्रीड़ाओं में मग्न रहते हैं, उनका नाम राम होना उचित ही है। डा० भगवतीसिंह के अनुसार राम नाम के इस अर्थ के समर्थक रसिकों ने अनेक प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण एकत्रित किये हैं। इस सम्प्रदाय वालों में सीता का अर्थ भी 'अपनी मधुर चेष्टाओं से (प्रियतम) को वश में करने वाली' दिया गया है। कहा गया है कि सीता शब्द में सकार विष्णु का है, ईकार माया का है, तकार मोक्ष-प्रद सत्य का तथा अकार अमृत का प्रतीक है। यह नाम अव्यक्तरूपिणी महामाया का व्यक्त विग्रह है। इसमें युगल सरकार श्री सीतराम की पूजा होती है। इनकी मधुर लीलाओं के ध्याता ये संत रसिक अथवा भाविक नाम से पुकारे जाते हैं। इस वर्ग के भक्तों की अपनी एक अलग साधना-पद्धति और पृथक् भक्तमाल भी है।

रसिक-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि

डा० भगवतीसिंह ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ७१ से ७६ तक रघुवंश, उत्तररामचरित, जानकीहरण और हनुमन्नाटक के शृंगार रस सम्बन्धी-श्लोकों का सविस्तार उद्धरण दिया है और इनमें ही आगामी रसिक भावना के बीज को सन्निहित माना है। हनुमन्नाटक में शृंगार की यह भावना अत्यधिक मात्रा में है। उसमें आयी हुई सीता हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल की कामासक्ता साधारण नायिका और राम कामुक नायक से अधिक कुछ नहीं मालूम पड़ते। शृंगार का वर्णन वालमीकि रामायण में भी

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ ६६-६७

है पर फिर भी वहाँ राम और सीता का जीवन मर्यादा में बँधा हुआ है, उनमें अत्यधिक आत्म-संयम है जब कि इस नाटक (हनुमन्नाटक) में कामुकता का चित्रण ही नहीं, अपितु नग्न प्रदर्शन भी है। स्वयंवर के बाद अयोध्या जाते समय राम एकदम कामपीड़ित हो जाते हैं। अयोध्या पहुँचने तक का समय बिताना उनके वश में नहीं और व्यग्र होकर वे घोड़ों को दण्ड से मारने लगते हैं।[1] सीता और राम के चुम्बनों का बड़ा ही स्पष्ट वर्णन है।[2] प्रेम-प्रदर्शन के लिए सीता राम के मुख में से पान का टुकड़ा या अंश निकालती हैं और दोनों एक-दूसरे के अधरों का पान करते हैं।[3] स्तनों की लीला को प्रदर्शित करने वाली सीता व्याज-निद्रा से राम को आनन्द देती हैं।[4] राम व्याज-निद्रा में सोयी हुई सीता के मुख को, स्तनों को, भुजमूलों को और रोम-राशि को बार-बार चूमते हैं।[5] आगे इसी अंक के श्लोकों (२३, २५) में राम सीता के सौन्दर्य का बड़े ही भावुक ढंग से वर्णन करते हैं। राम और सीता का यह शृंगारिक वर्णन परवर्ती रसिकों के वर्णनों का आधार बन गया। ये कवि उस काल के हैं जब राम देव रूप में स्वीकृत हो चुके थे, पर फिर भी उनमें कहीं उनके आराध्यरूप के दर्शन नहीं होते। बात यह है कि ये कवि थे, साधक नहीं। कवि होने के नाते स्वाभावतः मधुर-भावना के समर्थक थे। अतः इनकी रचनाएँ परवर्ती रसिक-भावना के लिए पृष्ठभूमि बन गईं।[6]

रसिक साधना का प्रवर्तन

इसका विधिवत् प्रवर्तन कृष्णदास पयहारी के समय से माना जाता है। जो रसिक-परम्परा सदियों से भिन्न-भिन्न स्थानों पर विकसित हो रही थी उसे व्यवस्थित रूप देने का कार्य कृष्णदास जी ने किया। पहले यह साधना व्यष्टि-प्रधान थी। इसके साधक इसे गुह्य मानकर साधारण रूप से किसी पर प्रगट नहीं करते थे। इसके अधिकारी गिने-चुने व्यक्ति ही समझे जाते थे। अनुयायियों की बढ़ती हुई संख्या देखकर अग्रदास जी ने 'ध्यान-मंजरी' द्वारा इसे व्यावहारिक रूप दिया।

अविच्छिन्न परम्परा

जैसा कि आरम्भ में कहा गया है विगत कई सौ वर्षों से इस प्रकार की रचना अबाध गति से होती जा रही थी। तुलसी के समकालीन महात्मा मुक्तामणि और

१. अंक २, श्लोक १
२. वही, श्लोक ११
३. वही, श्लोक १३-१४
४. वही, श्लोक १७
५. वही, श्लोक १८
६. रामभक्ति में रसिक भावना, पृ० ७६

आनन्द माधव रसिक भावना के ही उपासक थे। तुलसी के बाद भी आज तक इस प्रकार की कविता सतत रूप से लिखी जा रही है। वह सब की सब प्रकाशित भले ही न हुई हो, पर उसका प्रचलन अपने पूर्ण वेग के साथ आज भी विद्यमान है। लक्ष्य करने की बात यह है कि आज अयोध्या में अधिकांश मन्दिर, कुंज और वन नाम से अभिहित हैं और श्री कनक भवन के अतिरिक्त भी जितने मुख्य स्थान हैं, वहाँ भी युगलमूर्ति की मधुर उपासना चल रही है। यहाँ के अधिकांश साधु-सन्त एवं साधक या तो कोई लता हैं, या प्रिया या अली, या सखी।[1]

राम-भक्तिशाखा में मधुर भावना का समावेश कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रभाव से हुआ या वह स्वतः ही प्रवाहित हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। इस शाखा के अनुयायी इस पर किसी बाह्य प्रभाव को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार गीतावली में तुलसीदास ने राम की उपासना मधुर भाव से ही की है पर अन्य विद्वानों के मत में यह कृष्ण-भक्ति की देन भले ही न हो, पर उससे प्रभावित अवश्य है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वामी अग्रदास और स्वामी कीलदास को मधुर भक्ति-भावना का साधक मानते हुए कहा है कि इसके पूर्व ही वृन्दावन में श्रीकृष्ण-भक्तों में मधुर रस की उपासना प्रचलित हो चुकी थी। श्री रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी के भक्ति-ग्रन्थ विद्वज्जन का चित्तहरण कर चुके थे। इन गोस्वामियों ने गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिपादन योग्य गम्भीर विषय बना दिया था। जब तक रामोपासक मधुर भक्तों का कोई पुराना साहित्य उपलब्ध नहीं होता, तब तक यही मत ठीक जान पड़ता है कि मधुर भाव की साधना श्रीकृष्णोपासक भक्तों से श्रीरामोपासक भक्तों में आयी है।[2]

रसिक भावना या मधुरोपासना

रसिक शब्द का अर्थ है रस का आस्वादन करने वाला। इस शब्द का प्रयोग साधारण रूप से उन व्यक्तियों के लिए होता है कि जिनकी भावुकता उन्हें प्रेमानन्द में आचूड़ मग्न किये रहती है। अग्रदास जी ने रसिक शब्द का प्रयोग उन अनुयायियों के लिए किया है जो भगवान् राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करते हैं तथा जो उनकी अन्तरंग सेवा के आश्रित रहते हैं।[3] इसमें प्रेम का वर्णन लौकिक ढंग से होता है। इस प्रकार इस धारणा के अनुसार, प्रत्येक ऐसे भक्त का सम्बन्ध अपने इष्टदेव श्रीराम के साथ पति एवं पत्नी के जैसा हो जाता है। इसीलिए इनका परम कर्त्तव्य उन्हें रिझाने के लिए स्त्रीवत् शृंगार करने आदि तक हो जाता है। ये अपने को उनके सान्निध्य में रखना चाहते हैं और इस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं

१. रामभक्ति में रसिक भावना, पृष्ठ ११८
२. मधुराचार्य और उनका मणि-सन्दर्भ ('कल्पना' १९५५), पृ० ६
३. रा० र० स०, पृ० १४०

जिससे श्रृंगारिक आनन्द का अनुभव कर सुखी बने रहें। रसिक सम्प्रदाय की इस शाखा को इसी कारण स्व-सुखी नाम भी दिया गया है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि इसके भक्तों का इष्टदेव के साथ सीधा सम्बन्ध है। उसे ये अपना पतिवत् मानकर तदनुसार व्यवहार करने में सुखी रहा करते हैं तथा ये अपने को श्री सीता तक की श्रेणी का कहते हैं।[1]

जो रसपूर्ण सम्बन्ध कृष्ण और गोपियों के बीच में था, वैसा ही सम्बन्ध राम का सीता की सखियों के साथ था। उनका कार्य तरह-तरह के हावों-भावों से सीता और उसकी सखियों को रिझाना है। 'श्री हनुमत संहिता' में प्रेमामृत महोत्सव का वर्णन इस प्रकार है—जानकी-प्रेमलम्पट रामचन्द्र अपनी प्राणप्रिया तथा असंख्य रूप-यौवन-शालिनी सखियों के साथ सरयू-तट पर पधारते हैं और प्रेमामृत रसवेश में हास्य, लास्य, कटाक्ष तथा मनोहर चाटूक्तियों से परस्पर प्रसन्न करते हुए, कदंब वन में माध्वीक रस का पान करते हैं और फिर माधवी कुंज में पधारते हैं, तत्पश्चात् हरि-चन्द वन में और तब अशोक वन में। यह अशोक वन पुरुषों को दिखाई नहीं देता, केवल स्त्री-भावापन्न साधकों को ही उपलब्ध होता है।

ऐसी कमनीय किशोर मूर्ति को देखकर उन रमणियों के मन में रमण की अभिलाषा जाग्रत होती है और भगवान् उन्हें नाना प्रकार से तृप्त करते हैं। जैसे नक्षत्रों में घिरा चन्द्रमा शोभा पाता है वैसे ही सखियों से घिरे रामचन्द्र नाना प्रकार के लास्य-नृत्यादि से सखियों के चित को आह्लादादि प्रदान करते हुए उनके अधरा-मृत का पान करते हैं। इसके पश्चात् जल-क्रीड़ा होती है।[2] राम की सोलह प्रमुख सखियाँ हैं और बहुत-सी साधारण सखियाँ हैं। श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने 'बृहत् कौशलखंड' का हवाला देते हुए बताया है कि रामावत सम्प्रदाय में भी पूरे रास का विधान था।[3]

गुह्य साधना का लक्ष्य

इस साधना का लक्ष्य भी उस सहज मार्ग की प्राप्ति है जिसे अन्य बहुत से साधकों ने प्राप्त करने की चेष्टा की है। काम जीवन के प्रबलतम भावों में से एक है। इसका वेग बड़ा उद्दाम है। बड़े-बड़े ज्ञानी-ध्यानी इसके सामने परास्त हो जाते हैं। पानी और हवा मात्र का सहारा लेकर तप में लीन रहनेवाले ऋषि-मुनि भी अपने मार्ग से किस प्रकार विरत हो गये, इसके उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। यह काम-

१. भ० सा० म०, पृ० १२६-३०
२. 'रामभक्ति में मधुरोपासना, पृ० ११२-११३
३. वही, पृ० ११४

वासना प्रभु की प्राप्ति में सबसे बड़ा रोड़ा है। उसके प्रत्याख्यान मात्र से काम नहीं चलेगा, यह सोच-समझकर इस मार्ग के साधकों ने उसे भगवदभिमुख करने का परामर्श दिया है। हृदय की समस्त मधुर भावनाओं को यदि भगवान् में ही लगा दिया जाय तो इससे इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति भी बनी रहेगी और भावों का उदात्तीकरण भी होगा। इस लक्ष्य के लिए योगियों ने योग की प्रक्रिया पर बल दिया था तो इन साधकों ने प्रेम की प्रक्रिया पर। इनका विश्वास है कि काँटे को काँटे से ही निकाला जा सकता है और विष को उतारने के लिए सबसे अच्छी औषधि विष ही है।

भ्रमों का परिहार

इन भक्तों के सम्बन्ध में जन-साधारण में बहुत से भ्रम फैले हुए हैं। कुछ के अनुसार इन साधकों के कारण समाज में आचारहीनता फैली है और राम का रूप भी विकृत हुआ है। इस विषय में यह कह देना आवश्यक है कि इस साधना में उन्हीं व्यक्तियों को दीक्षित किया जाता था जो इसके अधिकारी समझे जाते थे अतः उनसे समाज में किसी प्रकार के बुरे प्रभाव की आशंका कम ही है। रही राम के रूप के विकृत होने की बात, यह भी निराधार ही है। राम के एकपत्नीव्रत की रक्षा की ओर इन भक्त साधकों का ध्यान बराबर रहा है। डा० भगवतीसिंह ने इस पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनका कथन है कि भक्तजनों में स्त्री-वेश बनाने की प्रथा का एकदम अभाव है। श्रीरामप्रसाद, रामचरणदास तथा रूपकला जी अपने आराध्य के समक्ष जो सखी रूप में कीर्तन किया करते थे, उनका यह वेश अन्तरंग था। बाहर से वे लोग साधारण साधुओं के समान रहते थे। जहाँ तक इन भक्तों द्वारा अपने को सीताजी की सपत्नी मानने का प्रश्न है, उनका कहना है कि सीता को सपत्नी मानने की बात भी भ्रमपूर्ण है। इसमें सखियाँ अपने को सीताजी की अंगजा, अंशोद्भवा अथवा सगोत्रा मानती हैं। रामचन्द्र से उनका सम्बन्ध सीता के माध्यम से ही है। उनका सुख तत्कृपोपलब्ध है। उनका भाव भोक्ता का न होकर द्रष्टा का है। 'भुशुण्डी रामायण' में सीता को निःसपत्नी कहा है और राम के एकपत्नीव्रत का उल्लेख है।[१] इसी भाव को उन्होंने आगे चलकर इस प्रकार व्यक्त किया है— सखीभाव के उपासक सन्तों ने अपने आचार्यों को युगल सरकार की उन षोडश मुख्य सखियों का अवतार माना है जो सीताजी की बाल सखियाँ और महाराज जनक तथा उनके भाइयों की पुत्रियाँ थीं। वे अपने आत्म-स्वरूप को यूथेश्वरियों की बहिनें अथवा निमिवंश की कुमारियों से अभिन्न मानते हैं और सीता जी के साथ ही राम की परिणीता समझते हैं किन्तु स्वामी से उनका सम्बन्ध सीधा न होकर सीताजी के माध्यम से होता है।[२]

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ० १५-१६
२. वही, पृ० १५१

इस सम्प्रदाय के संत केवल सजातीय साधकों से ही मेल रखते हैं, विजातियों अथवा अन्य संतों से इनके कोई प्रयोजन नहीं। अतः इनकी वेशभूषा आदि का वर्णन साधारण पाठक के लिए ज्ञानवर्द्धक एवं रुचिकर होगा।

वेश-भूषा—गले में तुलसी की माला, मस्तक पर तिलक, दोनों भुजाओं में रामायुध की छाप, कमर में लँगोटी, हाथ में कमण्डल, और शरीर में पीले रंग का एक वस्त्र।

इनमें **पंच संस्कारों** की दीक्षा का बड़ा महत्त्व है। ये पंच संस्कार निम्न-लिखित हैं—

(१) **मुद्रा संस्कार**—मुद्राएँ पाँच हैं—धनुष, बाण, नाम (सीताराम), चन्द्रिका और मुद्रिका। आचार्य दीक्षा के अवसर पर सर्वप्रथम शिष्य के बाएँ हाथ में धनुष, दाहिने में बाण, वक्षःस्थल पर युगल नाम तथा मुद्रिका और ललाट पर चन्द्रिका की छाप देते हैं। धनुष-बाण रामचन्द्र जी के प्रतीक हैं, चन्द्रिका और मुद्रिका सीता जी के और नाम युगलविग्रह के।

(२) **तिलक**—इसका इन भक्तों के लिए इतना ही महत्त्व है जितना सधवा स्त्रियों के लिग सिंदूर का। उनकी दृष्टि में तिलक युगलरूप का प्रतिनिधि है। तिलक का स्वरूप यह है कि मध्य में चरणाकृति का ऊर्ध्वपुण्ड्र, उसके बीच में श्रीबिन्दु अथवा श्री रेखातिलक।

(३) **नाम-संस्कार**—इनके सभी नाम भगवत्संबन्धी होते हैं। उनका कथन है कि प्राकृतिक देहविषयक नाम, ग्राम आदि को भुलाये बिना भगवत्-कृपा की प्राप्ति संभव नहीं। इनके नामों के अन्त में दास नहीं लगता, क्योंकि दास से नरत्व का बोध होता है। इनके नाम शरणान्त होते हैं। सख्य भाव के उपासकों के नाम 'मणि' एवं 'सखा'-शब्दान्त होते हैं।

(४) **मन्त्र संस्कार**—षडक्षर राममन्त्र शिष्य (साधक) के दाहिने कान में कहा जाता है।

(५) **माला** (कंठी)—का भी संस्कार होता है। इस कंठी का संतों में वही महत्व होता है जो द्विजातियों में यज्ञोपवीत का। गुरु साधक को तुलसी काष्ठ की युगल घंटी धारण कराते हैं। उनका विश्वास है कि इस कंठी के स्पर्श से गले के अन्दर आने वाली सभी वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं।

सम्प्रदाय के नाम

इस सम्प्रदाय के नाम दो प्रकार के हैं, एक वे जो सार्वजनिक रूप में प्रयुक्त होते हैं और दूसरे वे जो साधना के क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं। ये सभी नाम स्त्रीत्व-परक हैं। अब तक जितने प्रसिद्ध साधक हुए हैं उनके साम्प्रदायिक नाम इस प्रकार हैं—

१.	श्री हनुमान जी	श्री चारुशीला जी
२.	श्री ब्रह्मा जी	श्री विश्वमोहिनी जी
३.	श्री वसिष्ठ जी	श्री ब्रह्मचारिणी जी
४.	श्री पराशर जी	श्री पापमोचना जी
५.	श्री व्यासदेव जी	श्री व्यासेश्वरी जी
६.	श्री शुकदेव जी	श्री सुनीता जी
७.	श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी	श्री पुनीता जी
८.	श्री गंगाधराचार्य जी	श्री गांधर्वी जी
९.	श्री सदाचार्य जी	श्री सुदर्शना जी
१०.	श्री रामेश्वराचार्य जी	श्री रामकली जी
११.	श्री दारानन्द जी	श्री दाराअली जी
१२.	श्री देवानन्द जी	श्री देवअली जी
१३.	श्री श्यामानन्द जी	श्री श्यामाअली जी
१४.	श्री श्रुतानन्द जी	श्री श्रुताअली जी
१५.	श्री चिदानन्द जी	श्री चिदाअली जी
१६.	श्री पूर्णानन्द जी	श्री पूर्णअली जी
१७.	श्री श्रियानन्द जी	श्री श्रियाअली जी
१८.	श्री हरियानन्द जी	श्री हरिसहचरी जी
१९.	श्री राघवानन्द जी	श्री राघवअली जी
२०.	श्री रामानन्द जी	श्री रामानन्ददायिनी जी
२१.	श्री सुरसुरानन्द जी	श्री सुरेश्वरी जी
२२.	श्री माधवानन्द जी	श्री माधवीअली जी
२३.	श्री गरीबानन्द जी	श्री गर्वहारिणी जी
२४.	श्री लक्ष्मीदास जी	श्री सुलक्षणा जी
२५.	श्री गोपालदास जी	श्री गोपालअली जी
२६.	श्री नरहरिदास जी	श्री नारायणी जी
२७.	श्री अग्रदास जी	श्री अग्रअली जी
२८.	श्री तुलसीदास जी	श्री तुलसी सहचरी जी
२९.	श्री वालानन्द जी	श्री बालअली जी
३०.	श्री केवल कूवाराम जी	श्री कृपाअली जी
३१.	श्री चिन्तामणिदास जी	श्री चिन्तामणि जी
३२.	श्री दामोदरदास जी	श्री मोददायिका जी
३३.	श्री हृदयराम जी	श्री उल्लासिनी जी
३४.	श्री मौजीराम जी	श्री हरिमना जी
३५.	श्री हरिभजनदास जी	श्री हरिलता जी

३६.	श्री कृपाराम जी	श्री करुणाअली जी
३७.	श्री रतनदास जी	श्री रतनाअली जी
३८.	श्री नृपतिदास जी	श्री नीतिलता जी
३९.	श्री शंकरदास जी	श्री सुशीला जी
४०.	श्री जीवाराम जी	श्री युगलप्रिया जी
४१.	श्री युगलानन्दशरण जी	श्री हेमलता जी
४२.	श्री जानकीशरण जी	श्री जानकीशरण जी
४३.	श्री रामवल्लभशरण जी	श्री युगलविहारिणी जी
४४.	श्री सियालालशरण जी	श्री प्रेमलता जी

मर्यादावादी मार्ग

रसिक-मार्ग में भगवान् को रस-रूप मानकर उनसे जो सम्बन्ध स्थपित किये जाते हैं उनमें प्रेमी और प्रियतमा के भाव की प्रधानता होती है। भक्त प्रेयसी बनकर प्रेमी भगवान् को रिझाने की चेष्टा करता है। स्वभावतः उसमें शृंगार रस की प्रधानता रहती है, हाव-भाव का वर्णन रहता है। यह स्थिति कुछ पहुँचे हुए साधकों के लिए तो उपयुक्त हो सकती है पर जनसाधारण में इसका प्रसार एवं प्रचार भ्रष्टाचार की ही सृष्टि करता है। मर्यादारूपी कगारों को तोड़कर बहनेवाली नदी अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर बीच में ही नष्ट न हो जाय, इस बात की आशंका बनी ही रहती है। जीवन-सरिता ठीक-ठीक रूप से आगे को प्रवाहित होती रहे, इसलिए दूरदर्शी एवं अनुभवी व्यक्तियों ने कुछ नियमों की स्थापना कर दी है, विधि और निषेध बना दिये हैं। इनके अनुसार कार्य करने वाले मर्यादावादी मार्ग के अनुयायी कहलाते हैं। राम-भक्ति मार्ग में मर्यादा के पालन पर जोर है। 'श्रुति-सेतु-पालक राम तुम'—में उनके इसी रूप पर बल है। इस मार्ग में इष्ट देव का पूजन मर्यादा में रह कर ही किया जाता है। इसमें स्थान-स्थान पर वेदों के अनुकूल चलने का उल्लेख है, उनका प्रत्याख्यान नहीं।

इष्टदेव का रूप

इनके इष्टदेव सामान्य नर नहीं, देवाधिदेव साक्षात् ब्रह्म हैं। अपने वास्तविक रूप में वे अरूप और अनाम हैं, अजन्मा और अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं और सब जगह व्यापक हैं। भक्तों के हित के लिए वे राम-रूप में अवतरित हुए हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा।।
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना।।[1]

---

१. रा० च० मा०, बालकांड, पृ० २१

वेदों में भगवान् को सर्वत्र व्यापक कहा है। सृष्टि के निर्माण से पूर्व भी उसकी सत्ता थी, आज भी है और कल भी होगी। इस समस्त जगत् का निर्माता, पालक और संहारक वही है। उसके हाथ नहीं तो भी वह सब कुछ करता है; पैर नहीं तो भी सर्वत्र-गामी है, चक्षु नहीं तो भी सब-कुछ देखता है और कान न होने पर भी वह सब कुछ सुनता है। इस शाखा के अनुयायियों के अनुसार इनके भगवान् भी वे ही परब्रह्म हैं—

आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ।।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ।।
अति सबभाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ।।
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाकि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान् ।।[१]

यह निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म गौ, ब्राह्मण और भक्तों के हित के लिए मानव-शरीर धारण करके नाना प्रकार की लीलाएँ करता है। स्थान-स्थान पर 'मानस' के पात्र अपने-अपने ढंग से इसी बात को कहते हैं—

(क) व्यापक ब्रह्म निरंजन-निर्गुण बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ।।[२]
(ख) व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप ।।[३]
(ग) रामसरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अखिल अपार, नेति नेति सब निगम कहिं ।।
चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी ।।
नर तनु धरेउ संत सुर काजा। करहु कहहु जस प्राकृत राजा ।।[४]
(घ) तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला ।।
गौ द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुस तनुधारी ।।[५]
(ङ) अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

सेनापति की दृष्टि में भी राम साक्षात् ब्रह्म हैं, मानव नहीं। उनके अनुसार सब सृष्टि में उसी ब्रह्म की ज्योति रम रही है। सृष्टि के आदि, मध्य और अन्त में भी वही है। वेद उसी का गुणगान गाते हैं और ब्रह्मा आदि ध्यान करने पर भी उसका पार नहीं पाते—

---

१. रा० च० मा०, बा० कां०, पृ० १३१
२. वही, बालकांड, पृ० २०७
३. वही, बालकांड, पृ० २१४
४. वही, बा० कां०, पृ० ४६१-६२
५. वही, सुन्दरकांड, पृ० १।१

(क) परम जोति जाकी अनंत, रमी रही निरंतर।
आदि, मध्य अरु अंत, गगन, दस दिसि, बहिरंतर ।।
गुन पुरान-इतिहास, वेद बंदी जन गावत।
धरत ध्यान अनवरत, पार ब्रह्मादि न पावत ।।
सेनापति आनंद घन, रिद्धि सिद्धि मंगल करन।
नाइक अनेन ब्रह्माण्ड कौ, एक राम संतत सरन ।।[1]

(ख) जाकौ अध-ऊरध, गगन, दस-दिस, उर,
व्यापि रह्यौ तेज तीन लोक कौ अधार है।
पूरन पुरुष, हृषीकेश, गुन धाम राम,
सेनापति ताहि बिनवत बार-बार है।[2]

राम साक्षात् पुराण-पुरुष हैं। वेद ने जिस शक्ति का वर्णन नेति-नेति कहकर किया है वह शक्ति राम ही है। महादेव और ब्रह्मा उसी का वर्णन करते हैं। उसी का ध्यान करते हैं पर उसका पार नहीं मिलता—

गुनी एक रूपी सुनो वेद गावै। महादेव जाको, सदा चित्त लावै
विरंचि गुण देखै। गिरा गुणनि लेखै।
अनंत मुख गावै। विशेषहि न पावै ।।[3]

ऋषि-मुनि उन्हें साक्षात् ब्रह्म ही समझते हैं। यज्ञ का लक्ष्य भी वे ही हैं। अगस्त्य के शब्दों में देखिये—

बैठारि आसन सबै अभिलाष पूजे।
सीता समेत रघुनाथ सबन्धु पूजे ।।
जाके निमित्त हम यज्ञ यज्यो सु पायो।
ब्रह्मांड मण्डन स्वरूप जु वेद गायो ।।[4]

ब्रह्मा स्तुति करते हुए राम से कहते हैं कि हे राम ! तुम अनादि और अनन्त हो, सर्वत्रगामी हो और सब-कुछ जानने वाले हो—

तुम हो अनन्त अनादि सर्वग सर्वदा सर्वज्ञ।
अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ ।।[5]

केशवदास के राम भी साक्षात् परब्रह्म हैं। वे आदिदेव और सर्वज्ञाता हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और चन्द्रमा इत्यादि सब उन्हीं के अंशावतार हैं। ब्रह्मा से

---

१. कवित्तरत्नाकर, १।१
२. वही, ५।१
३. रा० चं०, १।१४-१५
४. वही, ११।११
५. वही, २७।१

लेकर परमाणु तक वे अज अनन्त रघुवीर को ही व्याप्त देखते हैं।[१] वस्तुतः राम आदि, मध्य और अन्त तीनों में एक से हैं पर जीव उन्हें अलग-अलग समझता है। केशव के अनुसार राम के चरणों में लीन रहने वाले को मृत्यु व्याप्त नहीं होती। राम के लंका से लौट जाने पर भरत राम के उन चरणों का प्रक्षालन करते हैं जिनके स्पर्श से गंगा आदि का—जो स्वयं औरों के संताप को दूर करने वाली हैं—संताप मिट जाता है।

उनका अवतार ही भार उतारने के लिए हुआ है—"भार के उतारिबे को अवतरि रामचन्द्र।" देवताओं, ब्राह्मणों और गायों की रक्षा के लिए साक्षात् ब्रह्म राम के रूप में भूतल पर उतरते हैं—

किये विशेष सों अशेष काज देवराय के,
सदा त्रिलोक लोक नाथ धर्म विप्र गाय के,
अनादि सिद्धि राजसिद्ध राज्य आज ली जई।
नृदेवतानि देवतानि दीह्न सुक्ख दी गई॥[२]

शरणागत-वत्सलता

शरणागत की रक्षा भगवान् राम का बाना है। जो कोई शुद्ध भाव से शरण में आ जाता है उसे फिर स्वयं अपने लिए कुछ नहीं सोचना पड़ता। उसे एक बार अपना समर्पण कर देने के बाद अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रह जाता। भक्त अबोध शिशु है तो भगवान् माता। शिशु जितना ही अशक्त और असमर्थ और मातृ-निर्भर होगा, माता उसका उतना ही अधिक ध्यान रखेगी। भक्त को कष्ट हुआ नहीं कि उसकी भनक भगवान् के कानों में पड़ी और शान्त स्वरूप भगवान् की शान्ति भंग हुई। वे क्षण-भर की भी देर किये बिना भक्त को विपत्ति-सागर से बाहर निकालते हैं।

भगवान् की तो स्पष्ट घोषणा है कि वे भक्त को सब-कुछ दे सकते हैं, उसके लिए उन्हें कुछ भी अदेय नहीं—

जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे।[३]

इसी भाव को उन्होंने इन शब्दों में दुहराया है—

---

१. रामचन्द्रिका, १५।२

२. रा० चं० २३।१०

३. रा० च० मा०, अ० का०, पृ० ७४७

सुनु मुनि तोहि कहौं सह रोषा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ।।
करौं सदा तिनकै रखवारी । जिमि बालक राखै महतारी ।।[1]

सुग्रीव की पत्नी को बालि ने रख लिया था और राज्य से बहिष्कृत कर दर-दर का भिखारी बना दिया था, पर राम की शरण में आते ही उसे राज्य भी मिला और पत्नी भी मिली । विभीषण निशाचर था, शत्रु का भाई का, रावण ने लात मार कर घर से बाहन निकाल दिया था, पर राम की कृपा से स्वर्णमयी लंका का अधिपति बना । कपियों और भालुओं को कौन पूछता है ? वे जंगल के निवासी हैं पर राम ने उनकी इस तरह रक्षा की जिस तरह कोई अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है । अपने बड़े भाई रावण की पत्नी मन्दोदरी को पत्नी बनाकर भोग-विलास करने वाला विभीषण यदि सज्जनों में श्रेष्ठ माना गया तो यह भी राम के वरद हस्त का ही फल था—

मीति पुनीति कियो कपि-भालु को, पाल्यो ज्यों काहु न बाल तनूजौ ।
सज्जन-सींव विभीषनु भो अजहूँ बिलसै वरवंधु बधू जौ ।।
कौशलपाल बिना तुलसी सरनागत पाल कृपाल न दूजौ ।
क्रूर, कुजाति कुपूत अघी सबकी सुवरै जो करै नरु पूजौ ।।[2]

इस जीवन में अनेक पाप हैं और उनकी अनेक सजाएँ हैं, घोर नरकों की यन्त्रणाएँ हैं पर राम की शरण में आ जाने पर सब पापों से छुटकारा मिल जाता है । राम की भक्ति वह पतित-पावनी गंगा है जिसमें स्नान कर तन-मन के सारे मैल कट जाते हैं । उनके पद का स्पर्श होते ही गौतम-पत्नी अहल्या शाप से विनिर्मुक्त होकर सुन्दर नारी बन गयी, नीच समझा जानेवाला केवट अक्षय कीर्ति का भागी बना जंगली भीलिनी को स्वर्ग मिला जटायु गीध परमधाम पहुँचा । सचमुच राम के समान दयानिधान अन्य कौन हो सकता है—

रिषिनारि उधारि, कियो सठ केवल मीतु पुनीत, सुकीर्ति लही ।
निज लोकु दियौ सबरी-खग को, कपि थाप्यौ, सो मालुम है सबही ।।
दससीस-विरोध सभीत विभीषनु भूपु कियौ, जग लीक रही ।
करुनानिधि को भजु, रे तुलसी ! रघुनाथु अनाथ के नाथु वही ।।[3]

भक्त का बचन कैसा ही क्यों न हो, भगवान् उसे पूरा करते हैं । प्रह्लाद को खम्भे से बाँधकर हिरण्यकशिपु ने जब उसे मारना चाहा, तो भगवान् खम्भे को चीर-कर प्रकट हो गए, गजराज को जब मकर ने अपने शिकंजे में पकड़ लिया तो भगवान् अविलम्ब ही दौड़ पड़े, भरी सभा में जब सती द्रौपदी को निर्वसन किया जाने लगा

---

१. रा० च० मा०, अ० का०, पृ० ७४६
२. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ५
३. वही, उ० कां०, पृ० १०

और उसने उन्हें याद किया, तो उन्होंने उसके चीर को अनन्त कर दिया। कौन ऐसा भक्त है जिसके प्राणों की रक्षा भगवान् ने न की हो—

प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रकटे नर केहरि खंभ महाँ।
भषराज ग्रस्यौ, गजराज कँपा, तत्काल बिलंबु कियौ न तहाँ॥
सुर साखि दै राखी है पाँडुबधू बटपटत, कोटिक भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच विमोचन को, जन को पनु राम न राख्यौ कहाँ॥[१]

भगवान् को न अपनी चिन्ता है और न अपने परिवार की। छोटे भाई लक्ष्मण शक्ति से घायल होकर मूर्च्छित पड़े हैं, बचने की कोई आशा नहीं है, ऐसे समय भी भक्तवत्सल राम को यदि किसी की चिन्ता है तो शरणागत विभीषण की। ऐसा भक्तवत्सल अन्य और कौन है ?

मेरौ सब पुरुसारथ थाकौ।
बिपति बंटावन बंधु बाहु बिनु, करौं भरोसो काकौ॥
सुनु सुग्रीव ! साँचेहु मोपर फेर्यौ बदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यौ लखन सौ भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा विभीषन की गति, रहि सोच भरि छाती॥

केशव के राम भी दयालु हैं, दानी हैं। जब वे किसी पर दया करते हैं तो थोड़ा-बहुत देकर ही संतुष्ट नहीं हो जाते। सुग्रीव के शरण में आने पर बालि-जैसे शत्रु को मार कर उसकी पत्नी उसे दिलायी और साथ ही राज्य भी दे दिया। विभीषण शत्रु का भाई था पर उसे अपनाकर आपने उसे स्वर्णपुरी का अधिपति बना दिया। अन्य देवता किसी ऐसे व्यक्ति को शरण नहीं देना चाहते जिसने महान् अपराध किये हों, वे अपयश से डरते हैं, पर राम ऐसों को भी हठात् अपनाते हैं—

कहत इनको परम साचे सकल राम-राय।
तनक सेवादास की कटे कोटि गुणित बनाय॥
डरत सब अपलोक ते जे जीव चौदह लोक।
ठौर जाकहँ कहूँ न ताकहँ देत अपनौ लोक॥[२]

मनुष्यों की तो बात ही क्या, उनके नगर में जो पशु बसे हैं उन्हें भी वे सदेह स्वर्ग भेज देते हैं। जिस गति के लिए ऋषियों और मुनियों का मन भी तरसता है वही गति राम श्वानों और शूकरों को देने में संकोच नहीं करते—

अवध के सब जात सूकर स्वान स्वर्ग सदेह।[३]

---

१. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ८
२. रा० चं०, २७।२२
३. वही, २७।२३

उनकी शरणागत वत्सलता-की सीमा नहीं। पशुओं और पक्षियों को भवसागर से पार उतार कर ही वे संतुष्ट नहीं हो जाते। अपने पति के शापवश पाषाण हुई अहल्या भी उनकी शरण में आकर नारी बन जाती है। विश्वामित्र राम से इस घटना का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

गौतम की यह नारि, इन्द्रदोष दुर्गति भई।
देखि तुम्हें नकनारि, परमपतित पावन भई।।[1]

सेनापति के राम भी दीनपालक हैं। जब-जब भक्त पर भीड़ आती है तब-तब वे उसकी रक्षा का भार अपने कन्धों पर लेते हैं। दीनों का प्रतिपालन उनका स्वभाव है और इस कारण सेनापति की सब आशाओं के एकमात्र आधार वे ही हैं। वे भी राम के उस भक्तवत्सल रूप का वर्णन करते-करते नहीं अघाते जो धीवरों के सखा हैं, वनचरों के साथी हैं, गीध के बन्धु हैं, शबरी के मेहमान हैं। भक्त के लिए जो दूत और सारथी का कार्य भी करते हैं, जो अपने भक्त की लात को भी सहर्ष छाती पर सहते हैं। जिस विभीषण को उसके सगे भाई ने अपमानित करके घर से बाहर निकाल दिया, उसे उन्होंने ऐसा ऐश्वर्य दिया कि मानो वह साक्षात् स्वर्गाधिपति इन्द्र हो। घर से तिरस्कृत उस विभीषण के लिए भक्त-वत्सल ने क्या किया, यह सेनापति के ही शब्दों में सुनिये—

देखो दानवीरता, निदान एक दान ही में,
कीने कोऊ दान, को बखानै सत्यसंध कौ।
लंका दसकंधर की दीनी है विभीषन कौं,
संकाऊ विभीषन की दीनी दसकंध कौ।।[2]
... ...
चंद से न तारे हैं न भारे कनकाचल से,
... ...
गंगा सी नदी न है नदीस से न सरवर,
सेना से न दीन हैं न दीनबंधु राम से।।[3]

भगवान् के भक्तजन-रक्षक और असुरदल-विदारक रूप पर उनका अटूट विश्वास है। सच्चे हृदय से भगवान् की शरण में आनेवाले प्रह्लाद के रक्षक नृसिंह-रूप की झाँकी का स्तवन देखने योग्य है। जो गिरते की बाँह थामते हैं, धूप में पड़े को छाया देते हैं और भूखे को भोजन देते हैं, उनसे बढ़कर शरणागतवत्सल अन्य कौन होगा?

---

१. रा० चं०, ५।५
२. कवित्त-रत्नाकर, ४।४०
३. वही, परिशिष्ट, पद १

गिरत गहत बाँह, घाम में करत छाँह,
पालत विपत्ति माँह, कृपारस भीनौ है।
तन को बसन देत, भूख में असन, प्यासे
पानी देतु सब बिन माँगे आनि दीनौ है।
चौकी तुही देत अति हेतु कै गरुड़ केतु,
हौं तो सुख सोवत न सेवा परबीनौ है।
आलस की निधि, बुद्धि बाल सु जगत पति,
सेनापति सेवक कहाँ धौं जान कीनौ है ।।[१]

इष्टदेव के साथ सम्बन्ध

यों तो अपने इष्टदेव के साथ जिस तरह का सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय, वही ठीक है। देव जिस रूप में स्वीकार करलें वही ठीक है, उनका अनुग्रह है। स्वयं तुलसीदास देव से अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। उनके ही शब्दों में—

तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन सरन पावै ।।[२]

पर मर्यादावादी तुलसी को अपने इष्टदेव के साथ जो सम्बन्ध सर्वाधिक प्रिय है वह सेवक और स्वामी भाव का है। भक्त सेवक है, देव स्वामी है; भक्त आराधक है, देव आराध्य है। एक दीन-हीन है तो दूसरा सर्वशक्तिमान् है। सेवक की स्थिति स्वामी के लिए है, उसका कर्तव्य उसकी सर्वतोभावेन सेवा करना है, उसे रिझाना है, जो कुछ करना है सब स्वामी के लिए करना है; वह जिस प्रकार रखे, उसी तरह रहना है। सेवक जब अपने को दीन-से-दीन और हीन-से-हीन समझ कर अपने प्रभु की सेवा करता है, तभी प्रभु प्रसन्न होते हैं। इसमें सेवक अपने हृदय में झाँककर अपने अवगुणों को और स्वामी के गुणों को देखता है। आत्म-निरीक्षण की इस प्रक्रिया में वह प्रभु की महत्ता और अपनी क्षुद्रता से परिचित होता है, भगवान् का खरापन और अपना खोटापन उसे स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है और अनायास ही उसके मुख से ये शब्द निकल जाते हैं—

राम सौं बड़ौ है कौन, मो सौ कौन छोटौ।
राम सौं खरौ है कौन, मो सो कौन खोटौ ।।[३]

इस प्रकार भक्त में दैन्य और निरभिमानता के भाव का उदय होता है। अपनी कमियों से अवगत होने के बाद वह देव की महत्ता का ध्यान करता है और धीरे-धीरे

---

१. कवित्त-रत्नाकर, ५।२४
२. विनयपत्रिका, पद ७६
३. वही, पद ७२

प्रभु-कृपा से उच्चता की ओर अग्रसर होता है। जितनी अधिक मात्रा में दैन्य-भाव की वृद्धि होगी, भक्त का हृदय उतना ही अधिक निष्कलुष होगा। वह तप्त स्वर्ण की भाँति मल-रहित होकर कुन्दन बन जायेगा। यही कारण है कि तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' दैन्य-भाव से आपूरित है। दैन्यभाव-विषयक यह पद देखिये—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं, भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी।
नाथ तू अनाथ कौ, अनाथ कौन मोसौ,
मो समान आरत नहिं आरतिहर तोसौ।[1]

अपने को सेवक मानने से भक्त में अहंभाव नहीं आने पाता। जहाँ यह अहं-भाव आया कि सब-कुछ लुप्त हुआ। यह अहं भक्त और भगवान् के बीच दीवार बन कर खड़ा हो जाता है और दोनों को मिलने नहीं देता। नारद ने काम पर प्रभु-कृपा से जो विजय प्राप्त की, उसे अपनी विजय समझ कर जब वे उस विजय का डंका पीटने लगे, उनका अहं उनमें नहीं समाया, तो वे फिर काम के शिकार हो गए। भगवान् ने उनके अहं को दूर करके ही चैन लिया। काकभुशुण्डि अपने मोह की चर्चा गरुड़ से इस प्रकार करते हैं—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ।।
संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल लोकदायक अभिमाना।।
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अतिभूरी।।[2]

सख्य भाव में तथा दाम्पत्य भाव में समता का भाव होने से अहं भाव के आने की सम्भावना हो सकती है पर सेवक-सेव्यभाव में इसके लिए स्थान नहीं। इसीलिए कहा है कि सेवक-सेव्यभाव के बिना कभी कल्याण नहीं हो सकता, भवसागर को पार नहीं किया जा सकता—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।[3]

अनन्यता

हमने अन्यत्र कहा है कि शिव भी इस भक्ति शाखा के आराध्य देव हैं। शिव के अतिरिक्त पार्वती, गणेश और सूर्य आदि की भी पूजा देव-रूप में की गयी है। इससे मन में शंका हो सकती है कि अपने आराध्य के प्रति जिस अनन्यता के भावों का होना आवश्यक है, उनकी इस भक्ति-मार्ग में कमी है। पर गहराई में आने पर यह शंका

---

१. विनयपत्रिका, पद ७९
२. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ७४
३. वही, दोहा ११९, पृ० ११६१ (गी० प्रे० सं०)

एकदम निर्मूल सिद्ध हो जाती है। सब देवताओं के प्रति श्रद्धा और अनुराग रखते हुए भी उन्होंने उन सबसे राम-भक्ति का ही वर माँगा है। इनकी स्थिति उस पतिव्रता स्त्री के समान है जो अपने पति के सम्बन्ध के कारण पति-गृह के व्यक्तियों को स्नेह प्रदान करती हुई भी सर्वतोभावेन पति की ही पूजा करती है। इन कवियों को ये देवता इसलिए प्रिय हैं कि ये सब देवता भी राम के भक्त हैं, स्वयं राम की भक्ति करते हैं और दूसरों को भी राम की भक्ति देने की सामर्थ्य इनमें है। इन देवों और कवियों का लक्ष्य एक ही है और लक्ष्य-साम्य से इनका झुकाव यदि उधर हो तो स्वाभाविक ही है।

इन सब कवियों का अपने आराध्यदेव राम के प्रति अनन्य अनुराग रहा है। इसका गन्तव्य है राम-भक्ति, इसलिए इन्हें वे ही पथिक प्रिय हैं जो स्वयं इस मार्ग पर चल रहे हों और दूसरों को चलने में सहायता देते हों। माता, पिता, मित्र, भाई बहिन, सबके सम्बन्धों की एक ही कसौटी है—राम का अनुराग। जो इसमें सहायक है उनका स्वागत है; जो विघ्न डालते हैं, वे हेय हैं, त्याज्य हैं। अंजन तभी तक प्यारा है जब तक वह आँखों को लाभ पहुँचाता है या उनकी शोभा को बढ़ाता है; स्वर्ण तभी अच्छा लगता है जब वह सौन्दर्य में वृद्धि करता हो। आँखों को फोड़ने वाले और कानों को तोड़ने वाले अंजन और स्वर्ण से प्रयोजन ही क्या? सच्चे भक्त के लिए राम ही माता है, राम ही पिता है और राम ही बन्धु-बान्धव हैं। उन्हें राम के सिवाय अन्य किसी का भरोसा नहीं—

राम हैं मातु, पिता, गुरु, बंधु, औ संगी सखा, सुत, स्वामि, सनेही।
राम की सौंह, भरोसो है राम कौ। राम रंग्यौ रुचि राच्यौन केही॥
जीवत रामु, मुँए पुनि रामु, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जिए जग में तुलसी न तु डोलत और मुँए धरि देही॥[१]

इन भक्तों के नेत्रों के लिए सीता राम का सौन्दर्य वह अगाध जल है जिसमें उनके नेत्र तैरते रहते हैं, कानों से वे राम की ही कथा सुनते हैं, मुख में राम का नाम रहता है, हृदय में राम का चिन्तन है, उनकी मति और रति का सम्बन्ध केवल राम से है। और-तो-और, जीवन का फल भी यही है कि राम का चिन्तन और ध्यान किया जाये। इन्हें राम का चिन्तन है, उनकी मति और रति का सम्बन्ध केवल राम से है। और तो और, जीवन का फल भी यही है कि राम का चिन्तन और ध्यान किया जाए। इन्हें राम का कहलाना और राम के गुण गाना बहुत ही अच्छा लगता है। ये किसी दूसरे को नहीं मानते हैं और न मानना चाहते हैं—

रावरो कहावौं, गुनु गावौं राम ! रावरोई,
रोटी द्वै, हौं पावौं राम ! रावरी ही कानि हौं।

---

१. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पद ३६

जानतु जहानु, मन मोरेहूँ गुमान बड़ौ,
मान्यौ मैं न दूसरौ, न मानत, न मानिहौं ॥[१]

आदर्श भक्त की अनन्यता को समझाने के लिए तुलसी ने चातक को चुना है। चातक का प्रेम सचमुच ही धन्य है, वह स्वाँति नक्षत्र को छोड़कर अन्य किसी से कुछ भी स्वीकार नहीं करता। ग्रीष्म की प्रखरता से निखिल चराचर तप रहा हो, प्यास के कारण चातक के प्राण गले तक भले ही आ गये हों और सामने स्वच्छ शीतल पेय जल की धारा बह रही हो, पर चातक उसकी ओर आँख उठाकर देखता तक नहीं। गंगा सुरसरि है, साक्षात् शिव की जटाओं से वह निकली है, जन्म-जन्मान्तरों के शारीरिक और मानसिक ताप को दूर करने की शक्ति उसमें है, मरते समय उसके जल की बूंद स्वर्ग का द्वार खोल देने वाली होती है, पर चातक को वह भी ग्राह्य नहीं। बधिक के शर से घायल हुआ चातक-पोत जाह्नवी के बीच में गिर पड़ा। उसे भय हुआ कि इस जल की अगर एक बूंद भी गलती से उसके कण्ठ के नीचे चली गयी तो उसका प्रण भंग हो जायेगा, इसलिए मरते समय भी उसने अपनी चोंच ऊपर को कर ली। अनन्यता का इससे अच्छा उदाहरण क्या मिलेगा ? जिसे बड़े-से-बड़ा प्रलोभन अपनी ओर न खींच सकता हो, भय की पराकाष्ठा जिसे मार्ग से विचलित न कर सकती हो, वही तो सच्चे प्रेम का और अनन्यता का आदर्श बन सकता है। एक का ही ध्यान प्रेम है और अनेक का ध्यान व्यभिचार। इन भक्तों ने चातक के समान अन्य सभी की ओर से अपने ध्यान को खींचकर राम में संग्लन कर दिया है। उनके इस भाव को दिखाने के लिए कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित, चातक तुलसीदास ॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगौ अंग।
तुलसी चातक प्रेम कौ, नित नूतन रुचि रंग ॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की, ताते नाप न जोख ॥
बरसि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक ॥
बध्यौ बधिक पर्यौ पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच ॥[२]

इस अनन्यता के होते हुए भी बहुत से व्यक्तियों को तुलसी की अनन्यता में

---

१. कवितावली, उ० का०, पद ६३
२. दोहावली, दो० २७७, २८०-८३

सन्देह रहा है। उनके अनुसार तुलसीदास एक राम के आराधक न होकर अनेक देवों के आराधक थे। डा० मैकनिकाल ने भी यही सन्देह प्रकट किया है—इस तरह यह प्रतीत हो रहा है कि सर्वोपरि स्थित सर्वशक्तिमान् एकेश्वर जो अपने भक्तों के लिए प्रेम और करुणा से पूर्ण है, उसके लिए कई प्रकार से उच्च और स्वार्थ-रहित आदर के साथ-साथ तुलसी की भक्ति-भावना में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो पूरे चित्र को ही नष्ट कर देती हैं। तुलसी के इस आस्तिकवाद में इतनी शक्ति नहीं कि वह बहुदेव-वाद और सर्वदेववाद को तथा उनके साथ रहने वाली सामाजिक अवस्थाओं को अस्वीकार कर सके। तुलसी की साधना केवल उनकी बगल में स्थान बना सकी है यद्यपि उनके भावावेश के समय यह साधना सर्ववाद, बहुदेववाद तथा उनके द्वारा उत्पन्न की गयी सामाजिक स्थितियों के ऊपर उठी हुई आभासित होती रहती है।[1]

इसके उत्तर में हम पतिव्रता स्त्री के उदाहरण की ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। पति के साथ जिन अन्य व्यक्तियों का संबन्ध है उनके साथ उसका भी संबन्ध अवश्य है। घर में देवर, जेठ, सास एवं सुसर भी रहते हैं, पर पतिव्रता स्त्री आराधना केवल पति की ही करती है। तुलसी ने जिन देवों की स्तुति की है वे सब राम-भक्त हैं और प्रकारान्तर से वह राम की ही स्तुति है। पर तुलसी ने तो उनसे जो कुछ माँगा है वह राम की ही भक्ति है। राम ने काकभुशुण्डि से जो कुछ कहा है उससे भी एक रामपद ही के भरोसे की बात स्पष्ट होती है—

अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब।[2]

हनुमान से भी राम ने जो कुछ कहा है वह अनन्य भक्ति का ही सूचक है—

सो अनन्य बाके असि, मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त॥[3]

तुलसी ने तो स्थान-स्थान पर इस प्रकार की उक्तियाँ कही हैं कि उनकी अनन्य निष्ठा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता—

भरोसो जाहि दूसरौ सो करौ।
मो कौं तो राम नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरौ।
करम उपासन ज्ञान वेदमत सौ सब भाँति खरौ।
मोहि तो सावन कै अन्धहिं, ज्यों सूझत रंग हरौ॥[4]

तुलसी को राम के प्रति इतना अनुराग है कि वे यह भी नहीं याद रखते कि

---

१. रामभक्ति शाखा, पृ० ३४१
२. रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड, पद ८७
३. वही, कि० काण्ड, दो० २
४. विनयपत्रिका, पद २२६

उनके राम साक्षात् परब्रह्म हैं या राजाधिराज। किसी के द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने निम्नलिखित दोहा कहा था जो उनके हृदय को खोलकर रख देता है—

जो जगदीस तौ अतिभलौ, जो भूपति तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भर, राम चरन अनुराग ।।[1]

हम समझते हैं कि तुलसी की अनन्यता में सन्देह करना उन्हें जान-बूझकर न समझने का यत्न करना है।

सेनापति भी अनन्यभाव से राम की पूजा करते हैं। उनके भी एकमात्र वरेण्य राम ही हैं। राम-जैसा आराध्य देव पाने पर उन्हें अन्य देवों से प्रयोजन भी क्या? उन्हें जो कुछ सुनाना है अपने राम को सुनाना है। राम ही उनके धन हैं और राम ही से उन्हें प्रेम है—

देव दयासिंधु सेनापति दीन बन्धु सुनौ,
आपने विरद तुम्हैं कैसैं बिसरत हैं।
तुम हीं हमारे धन, तोसौं बाँध्यौ प्रेम-पन,
और सौं न मानैं मन, तोहि सुमिरत हैं।
तोहि सौं बसाइ, और सूझै न सहाय, हम
यातैं अकुलाइ, पाँइ तेरेई परत हैं।
मानौ कै न मानौ, करौ सोई जोइ जिय जानौ,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं ।।[2]

संसार में जितनी भी इच्छाएँ हैं उन सबकी पूर्ति राम से हो सकती है फिर सेनापति अन्य किसी की ओर देखें भी क्यों? यदि धन की कामना है तो भी सीता-रमण का ही ध्यान करना है। विभीषण का उदाहरण सामने है, राम की कृपा से उसे लंका का राज्य मिला था। यदि नीरोग शरीर और दीर्घ आयु की कामना हो तो भी वे ही पूरी कर सकते हैं, उन्होंने मरे हुए वानरों को पुनः जीवन का दान दिया था। यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो भी उन्हीं की शरण में जाना है। एक आदमी की तो बात ही क्या, उन्होंने पूरी अयोध्या को मुक्ति प्रदान की है। फिर ऐसे सर्वदाता राम को छोड़कर अन्य किसी की शरण में क्या जायें?—

सेनापति ऐसे राजा राम कौं बिसारि जौ पै,
और कौ भजन कीजै, सो धौं कौन फल है।[3]

कवि की दृष्टि जब अपने देश के अतीत पर जाती है तो उसके सामने भगवान्

---

१. दोहावली, दोहा ९१
२. कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, पद ५
३. वही, तरंग ५, पद ९

राम के उन कार्यों का चित्र खिच जाता है जो उन्होंने भक्तों के लिए किये हैं। उसे प्रह्लाद का ध्यान आता है, वह सोचता है कि कठिन विपत्ति में राम के सिवाय रक्षा करने वाला और कोई नहीं है। वह राम से कहता है कि उसकी दौड़ तो केवल उन्हीं तक है—

कीनौ है प्रसाद, मेंटि डार्‌यौ है विषाद, दौरि
पाल्यौ प्रहलाद, रक्षा कीनी दुरदन की।
दीनन सौं प्रीति, तेरी जानि यह रीति, सेना-
पति परतीत कीनी, तैरीऐ सरन की।
कीजै न गहर, बेग मेरौ दुख हर, मेरे
आठ हू पहर आस रावरै चरन की।
सूझत न और कोई, निरमय ठौर राम
देव सिरमौर, तोलौं दौर मेरे मन की॥[1]

चारित्रिक विशेषताएँ

लोकरक्षक रूप—जैसा हमने अभी कहा है, इस भक्ति-शाखा के आराध्यदेव रामचन्द्र ने लीला-विस्तार के लिए राजा दशरथ के घर में जन्म लेकर पापों के बोझ से दबी हुई पृथ्वी के भार को हलका किया। रामचरितमानस में शतशः स्थानों पर उनके असुरदल-संहारक और लोक-रक्षक रूप का उल्लेख है। पराधीनता के पाशों में आबद्ध और सर्वतोभावेन निराश हिन्दू जनता को जिस आत्म-विश्वास की जरूरत थी वह उसे राम के ही रूप में मिला। भक्तों के पालक, मित्रवत्सल और गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालक राम की उपस्थिति से ही देवों के हृदय में विश्वास का संचार होता है और असुरों के हृदय में भय का।

शत्रु-सेना को देखकर उनके मन में भय का तनिक भी संचार नहीं होता। वे शत्रु-दल पर इस निर्भीकता से ताक रहे हैं मानो मतवाले हाथियों के समूह को देखकर सिंह उनकी ओर ताकता हो—

कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि कै॥[2]

"जब कभी धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तभी मैं धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिए अवतार लेता हूँ", गीता में की गयी भगवान् की इस घोषणा का शत-प्रतिशत पालन रामभक्ति शाखा के राम ने ही किया है। किशोरावस्था में ही विश्वामित्र मुनि के साथ बीहड़ वनों में जाकर वे ऋषियों एवं

१. कवितरत्नाकर, तरंग ५, पद १५
२. रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड, पृ० ७१३ (गी० प्रे० सं०)

मुनियों के यज्ञों की रक्षा करते हैं तथा सुबाहु एवं ताड़का का वध करते हैं। विवाह के पश्चात् चौदह वर्ष तक वन में रहकर ऋषियों के मार्ग को अकण्टक करने के लिए वे खर और दूषण का वध करते हैं। बालि को स्वर्गलोक भेजते हैं और असुरराज रावण का सपरिवार विनाश करते हैं। उनका यह रूप सभी स्थलों पर लोक-रक्षक का है, लोक-रंजक का नहीं।

शक्ति—लोक-रक्षा का गुरुतर कार्य वही कर सकता है, जिसकी भुजाओं में आततायी को मसल देने की शक्ति हो। निर्वीर्य व्यक्ति तो अपने लिए कुछ नहीं कर सकता, फिर उससे दूसरे क्या आशा करें ? वीर ही पृथ्वी का भोग करते हैं। असुर-दल-संहारक राम अपूर्व वीर हैं। तुलसी को अपने इष्टदेव का यही रूप सबसे अधिक प्यारा है। उनके इसी रूप की झाँकी उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। "तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लो हाथ" कहने वाले तुलसी का मन अन्यत्र रम भी कैसे सकता है ? वृषभस्कन्ध राम कमर में तरकस कसे और हाथ में धनुष-बाण लिये केसरी की निर्भीक और मस्तानी चाल से जब आगे बढ़ते हैं तो भक्त तुलसी की आँखें दर्शनों से अघातीं नहीं। खर-दूषण के चढ़ आने पर राम कमर में निषंग कसे, बाणों को सुधारते हुए अकेले ही सम्पूर्ण राक्षस-दल की ओर ऐसे निहारते हैं मानो केहरी गज-घटा का मुकाबला करने के लिए सन्नद्ध खड़ा हो। सही बात तो यह है कि जहाँ कहीं राम के सौन्दर्य का भी वर्णन है वहाँ भी उनके धनुर्धारी रूप का उल्लेख करना वे नहीं भूले। उनके रूप का यह अनिवार्य अंग है। चाहे ग्रामवधुएँ उनके रूप पर अपने को वार रही हों या अन्य कोई प्रसंग हो, तुलसी उनके "सुभग सरासन सायक फेरत-कर सर धनु, कटि निसंग, कटि तट कसे निसंग कर निकर धनुतीर, रुचिर कटि तूनीर, या धनु-तून-तीर" का उल्लेख करना नहीं भूलते। 'शोभाढ्यौ' के साथ 'वर-धन्विनौ' कहना तुलसी को इतना अधिक प्रिय है कि उनकी दृष्टि में नर-नारायण का वर्णन इसके बिना पूर्ण ही नहीं जान पड़ता। राम लंका-युद्ध में जब धनुष-बाण हाथ में लेकर फिरने लगते हैं तब ब्रह्माण्ड, दिशाओं के हाथी, कच्छप, शेषनाग पृथ्वी, समुद्र और पर्वत सभी डगमगा उठते हैं। उनके धनुष की कठोर टंकार को सुनते ही ही ब्रह्मा और शिव चौंक उठे, उनकी जटा में समायी हुई गंगा भयातुर होकर बह चली और शिव उसे सँभाल नहीं सके, सारे दिक्पाल भयभीत हो उठे, चौदहों भुवनों में भय का संचार हो गया, लंका में खलबली मच गई, रावण सशंक हो उठा और शत्रु-स्त्रियों के गर्भस्थ बच्चे गिरने लगे।[१]

वीर वही है जिसकी शक्ति का लोहा शत्रु भी मानते हों। राम के शौर्य की कथा शत्रुओं के कानों तक भी पहुँच गयी है। उनके दूत हनुमान द्वारा लंका के जलाए जाने और अंगद द्वारा पैर रोपे जाने के बाद राक्षस-दल में भय का संचार हो गया

---

१. गीतावली, सु० का०, पद २२

है । उनके मन में समा गया है कि राम के कुपित होने पर ब्रह्मा भी उनकी रक्षा नहीं कर सकेंगे—

बाँचिहै न पाछे त्रिपुरारिहु मुरारिहु के,
को है रन रारिको जौं कौसलेसु कोपि हैं ।[१]

सचमुच ही उनकी शक्ति अपार है । वे स्वयं शक्ति का स्रोत जो ठहरे । जब कभी वे समर में कुपित हो जाते हैं तो उनके कोप-भाजन को काल के दाँतों से बचाने की शक्ति न तो किसी सुर में है और न असुर में—

रावन ! जु पै राम रन रोपै ।
को सहि सकै सुरासुर समरथ, बिषिख काल दसनानि ते चोपै ।।[२]

राम की शक्ति और वीरता का वर्णन केशव ने भी किया है । यद्यपि यह ठीक है कि कवि की वृत्ति उनके वीरवेश के वर्णन में उतनी नहीं रमी और वे उस रूप की वैसी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत नहीं कर सके, पर फिर भी उन्होंने अपने इष्टदेव की वीरता का वर्णन किया है । केशव के अनुसार विष्णु ने राम के रूप में जो अवतार लिया है उसका उद्देश्य भू-भार-हरण है—

आय कै संसार में इन हर्यौ भूतलभार ।[३]

भूभार-हरण के लिए वीर-बाना पहनकर आसुरी शक्तियों का विनाश करना आवश्यक है और चौदह वर्ष के वनवास में राम ने वही कार्य किया है । सीता के स्वयंवर के समय ही राम की वीरता का परिचय पाठकों को मिल जाता है । राम ने उस प्रचण्ड धनुष को हाथ में लेकर जब टंकोर दी, तब सारे ब्रह्माण्ड में उसका शब्द गूंज गया और संसार का मद दूर हो गया, उससे सब दिशाएँ कंपित हो गयीं और दिक्-पालों का बल समाप्त हो गया—

प्रथम टँकोर झुकि झारि संसार मद,
चंड कोदंड रह्यौ मण्डि नव खण्ड कौ ।
चालि अचला अचल घालि दिगपाल बल,
पालि ऋषिराज के बचन परचंड कौ ।
... ...
धनुभंग कौ शब्द गयौ भेद ब्रह्मंड कौं ।।[४]

खर और दूषण के साथ हुए राम के युद्ध में भी कवि ने अपने राम की वीरता की प्रशंसा की है । उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार वृषराशि का सूर्य तृण-समूह को

---

१. कवितावली, लं० का०, पद १
२. गीतावली, सु० का०, पद १२
३. रामचन्द्रिका, पृ० २७, पद २४
४. वही, प्र० २७, पद २४

जला डालता है उसी प्रकार राम ने खर और दूषण का नाश कर दिया। जिस प्रकार चतुर वैद्य अपने विद्याबल से त्रिदोषज सन्निपात रोग को दूर कर देता है उसी तरह राम ने अपने बाणों से त्रिशिरा के सिर को दूर कर दिया—

वृष के खरदूषण ज्यों खर दूषण,
सब दूर किए रवि के कुल भूषण।
गदशत्रु त्रिदोष ज्यौं दूरि करै बर,
त्रिशिरा सिर त्यों रघुनन्दन के सर ।।[१]
खर दूषन सौं युद्ध बड़, भयौ अनन्त अपार।
सहस चतुर्दस राक्षसन, मारत लगी न बार ।।[२]

राम की वीर सेना जिधर से निकलती है उसका वर्णन करते हुए कवि का कहना है कि पहाड़ गिरने लगते हैं, वृक्ष टूट जाते हैं, वानरों के उछल कर चलने से पृथ्वी हिलती है, शेष के फण नीचे को झुक जाते हैं—

भार के उतारिबे को अवतरे रामचन्द्र,
किधौं केशोदास भूमि भारत प्रबलदल।
टूटत हैं तरुवर गिरैं गन तीरे वर,
सूखे सब सरवर सरित सकल जल।
उचकि चलत कपि दचकनि दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल-थल।
मचकि खचकि जात सेस है असेस फन,
भागी गई भोगवती अतल वितल तल ।।[३]

सेनापति के राम भी वीर हैं। अपने काव्य के सीमित कलेवर में वे राम के वीररूप की सुन्दर छटा का प्रदर्शन तो नहीं कर पाये, पर फिर भी उन्हें राम के इस रूप ने अपनी ओर आकृष्ट किया है। लंका जाने के लिए जब समुद्र ने शान्तिमय ढंग से मार्ग न दिया तब राम ने क्रुद्ध होकर धनुष पर बाण चढ़ा लिया। उनके बाण से अग्नि की दो लपटें निकलीं, उनका वर्णन कवि ने खूब रस लेकर किया है। उसका कथन है कि ज्वाला की वे लपटें पृथ्वी को फाड़कर पाताल तक चली गयीं और ऊपर सूर्य तक। समुद्र के निवासी जलचर घबरा उठे, पृथ्वी को धारण करने वाले कच्छप की पीठ पर समुद्र के जल की बूँद जाकर ऐसी लगी मानो खौलता हुआ पानी हो और वह तिलमिला गया। वरुण खड़े-खड़े पछता रहे हैं कि अभिमानी समुद्र ने उस समय तो राम की बात अनसुनी कर दी, अब क्या हो सकता है? जो जलचर बड़वानल से

---

१. रामचन्द्रिका, प्र० १२, पद २
२. वही, लंका कांड, पद ३
३. वही, १४।३८

घबरा कर समुद्र की शरण में आये वे अब घबराकर फिर उसी बड़वानल की शरण में जा रहे हैं। राम के बाणों से जो अग्नि उठी है उसके सामने वह बड़वानल अब हिम के समान शीतल लगने लगी है—

सेनापति राम बान पाउक अपार अति,
डार्‌यौ पारावार हूँ कौ गरब गँवाइ कै।
को सकै बरनि बारि—रासि की बरनि, नभ,
झै गयौ झरनि, गयौ तरनि समाइ कै।
जेई जल जीव बड़वानल के त्रास भाजि,
एकत रहे हैं सिंधु सीरे नीर आइ कै।
तेइ बान-पाउक तैं, भाजि कै तुसार जानि,
धाइ कै परे हैं बड़वानल में जाइ कै।।[१]

शील

कोरी वीरता वर्बरता है। उसकी सत्ता मानवता के लिए शुभ नहीं, अशुभ है। वह मानव को दानव के धरातल पर खींच ले जाती है। वीरता तभी वरेण्य है कि जब उस पर शील का, सुन्दर चरित्र का अंकुश हो। राम और रावण में अन्तर शील का ही है। राम के जीवन का बड़ा भारी आकर्षण उनका शील है। राम का जीवन आरम्भ से अन्त तक शील के अनेक प्रशंसनीय उदाहरणों से भरा पड़ा है। माता-पिता, गुरुजन और ऋषिमुनि, सभी के सामने वे विनयावनत रहते हैं। सभी का उचित सम्मान करते हैं और कभी बड़ा बोल नहीं बोलते। सरलता, निश्छलता, नम्रता और विगतस्पृहता शील के अनिवार्य अंग हैं और ये तीनों राम में पूरी मात्रा में हैं। मनसा, वाचा और कर्मणा वे सीधे हैं, उनमें दुराव या छल का लेश भी नहीं। जनकपुर में सीता से साक्षात्कार के बाद जब उनके मन में आकर्षण का कुछ अनुभव होता है तभी वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र पर प्रकट कर देते हैं। अकारण क्रोधी परशुराम के साथ उनका व्यवहार उनकी नम्रता का परिचायक है। विश्वामित्र जैसे सदा-क्रोधी व्यक्ति को उन्होंने अपनी विनय और सेवा से वश में कर लिया है—

रूप के अगार, भूप के कुमार, सुकुमार,
गुरु प्रान के अधार संग सेवकाई हैं।
नीच ज्यों टहल करैं, राखैं रुख अनुसरैं,
कौशिक से कोही बस किए दुहुँ भाई हैं।[२]

---

१. कवित्तरत्नाकर, तरंग ४, पद ४३
२. गीतावली, बा० कां०, पद ७१

राज्याभिषेक के समय उन्हें रघुवंश की बड़े पुत्र का ही राज्याभिषेक करने की नीति पर खेद होता है। वे सोचते हैं कि यह व्यर्थ का अन्तर न होता तो अच्छा था। राज्य मिलने पर उन्हें खुशी नहीं हुई तो वन जाने पर चेहरे पर मलिनता नहीं आयी। जिस कैकेयी को वे अपनी सगी माता से अधिक प्यार करते थे, उसी के हाथों चौदह वर्ष का वनवास पाकर भी उनके मन में कुटिलता नहीं आयी। यही कैकेयी चित्रकूट-मिलन के समय जब ग्लानि से गली जा रही थी और पृथ्वी के अन्दर समा जाने की कामना कर रही थी, तब राम का उसके प्रति व्यवहार उनके शील का ज्वलन्त उदाहरण है। उसके भावों को जानकर वे सबसे पहले उसी से मिले। वनवास से लौटने पर भी वे सबसे पहले कैकेयी से ही मिले।

अपने से छोटे के साथ अच्छा व्यवहार शील का परिचायक है। बड़ों के प्रति हमारा विनम्र व्यवहार सदैव शील का ही परिचायक नहीं होता, उसके पीछे कभी-कभी हमारी विवशता भी छिपी रहती है। अपने से छोटों के प्रति मधुरता और समानता का व्यवहार सौजन्य का चिह्न है। राम इस दृष्टि से भी आदर्श शील के उदाहरण हैं। शबरी और गीध के साथ उनका व्यवहार आत्मीयता के भावों से भरपूर है। गीध के साथ वे ऐसा व्यवहार करते हैं, मानो वह उनके पिता हों—

> राघौ गीध गोद करि लीन्हौ।
> नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हौ।
> सुनहु लखन ! खगपतिहि मिले वन मैं पितु मरन न जान्यौ ॥[1]

वे छोटे-बड़े का भेद नहीं करते। राज्याभिषेक के बाद जब सब अपने-अपने घर लौटने लगते हैं तब वे जिन प्रेम-भरे शब्दों में निषादराज से मिलते रहने का अनुरोध करते हैं वह सचमुच उन्हीं के अनुरूप है—

> तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता ॥[2]

कोई शत्रु-पक्ष का हो या मित्र-पक्ष का, सबके साथ उनका व्यवहार शिष्टता और सौजन्यपूर्ण है। जो व्यक्ति क्षणभर के लिए भी उनके सम्पर्क में आया वह उनके शील से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उन्होंने शील को हाथ से नहीं जाने दिया। भरत चित्रकूट में उन्हें लिवाने आये हैं, यह जानकर भी उन्होंने निर्णय का भार उन्हीं पर छोड़ दिया और अंगद को दूत बनाकर लंका भेजते समय भी उन्होंने यही कहा कि जिससे रावण का हित हो, वही काम करे।

केशव के राम भी शील से एकदम भरपूर हैं। पृथ्वी पर उनके अवतार लेने का कारण मर्यादा की स्थापना है, टूटी हुई मर्यादा की पुनःस्थापना उनका उद्देश्य है। अगर ऐसे राम में भी शील की कमी हो तो फिर उस शील को अन्यत्र आश्रय ही

---

१. कवितावली, पद १३ (अरण्यकाण्ड), पृ० २८०
२. रा० च० मा०, पृ० १४४४ (गी० प्रे०) उ० का०, (१६वें दोहे के बाद)

कहां मिलेगा ? जीवन के आरम्भ से अन्त तक उन्होंने शील का पालन किया है। विमाता का कहना मानकर वे चौदह वर्ष के लिए वन जाते हैं, ऋषियों एवं मुनियों के सामने विनयावनत होकर बात करते हैं। कभी अहंकार से पूर्ण बात नहीं करते। ब्राह्मण भू-सुर हैं, वे धर्म के प्रतीक हैं, वे उन्हें उचित सम्मान देते हैं। वे राजनीति का जो उपदेश देते हैं उसमें उन्होंने कहा है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रजा को कभी कष्ट न दे, उसका पुत्रवत् पालन करे और ब्राह्मण-वंश से कभी वैर न करे। दूसरे की स्त्री को माता के समान समझे, दूसरे के धन को विषवत् त्याज्य समझे और मद, मोह तथा क्रोध को पास न फटकने दे—

बृथा न पीड़िये प्रजाहि पुत्र मान पारिये।
असाधु साधु बूझिकै यथापराध मारिये॥
कुदेव देव-नारि को न बाल चित्त लीजिये।
विरोध विप्रवंश सों स्वप्नहू न कीजिये॥

… … …

पर द्रव्य को तो विषप्राय लेखो।
पर स्त्रीन को ज्यों गुरुस्त्रीन देखो॥
तजौ काम क्रोधो महामोह लोभो।
तजौ गर्व कौं सर्वदा चित्त छोभो॥[1]

द्विजों के द्वार पर आते ही वे उन्हें अन्दर बुलवाते हैं और विधिवत् उनकी पूजा करते हैं। उनकी बातें सुनकर उनका कष्ट दूर करते हैं। यदि दरबार में कुत्ता भी फरियाद लेकर आये तो वे उसकी भी सुनते हैं। निषाद, शबरी और वानरों को आत्मीय समझते हैं।

हाँ, हम यहाँ इतना और स्पष्ट करदें कि केशव के राम शील तथा मर्यादा की दृष्टि से ठीक वही नहीं हैं जो तुलसी के हैं। केशव के राम राजाधिराज राम हैं और केशव ने उनके शयनागार तथा राजमहल का वर्णन खूब बढ़ा-चढ़ाकर किया है। उनके राम नृत्य और संगीत के भी शौकीन हैं। इसीलिए केशव ने रामचन्द्रिका के २९वें प्रकाश में उनका सविस्तार वर्णन किया है कुछ और आगे चलकर केशव ने जल-क्रीड़ा, स्नानान्तर तिय-शोभा और नखशिख के वर्णन में पूरा रस लिया है। इनके राम सीता की दासियों के नखशिख का वर्णन सुनकर मानसिक आनन्द उठाते हैं। कभी-कभी उन्हें रिझाने के लिए सीता का वीणा-वादन शुरू हो जाता है। इनके राम राज-कार्य में उतना समय नहीं बिताते जितना आखेट और रनिवास में।

राम और सीता के पारस्परिक सम्बन्ध में भी इनका दृष्टिकोण एकदम तुलसी के दृष्टिकोण के समान नहीं है। तुलसी की सीता वन में चलते समय राम के

---

१. रामचन्द्रिका, ३९वां प्रकाश, पृ० २८२

चरण-चिह्न को बचाकर चलती हैं और बैठ जाने पर उन्हें पंखा करती हैं। केशव के यहाँ राम अपने अंचल से सीता को पंखा करते हैं और उनका परिश्रम दूर करते हैं, सीता कभी-कभी उनकी ओर निहार कर आँखों से उनका परिश्रम दूर करने की चेष्टा करती है—

मग कौ श्रम श्रीपति दूर करै सिय को शुभ बाकल ग्रंचल सौं।
श्रमतेऊ हरैं तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सौं ॥[1]

इसे हम किसी सीमा तक रसिक सम्प्रदाय की छाप और मुगल दरबार का प्रभाव कह सकते हैं। वैसे कुल मिलाकर केशव के राम शील और मर्यादा के पोषक हैं। श्री रामनिरंजन पाण्डेय ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है—"जीवन-दर्शन को दृष्टि में रखकर केशवदास का अध्ययन किया जाये तो यह पता चलता है कि वे अपने युग की रामभक्ति शाखा के साधकों की प्रवृत्ति के अनुसार ही आदर्शवादी साधक हैं।"[2] सही बात तो यह है कि केशव को राम-चरित लिखने की प्रेरणा ही राम के आदर्शवादी रूप के प्रथम गायक कवि वाल्मीकि से मिली है। वाल्मीकि केशव को स्वप्न में कहते हैं, "तुझे बुरे का ज्ञान नहीं है। तू निरर्थक चर्चा करता और सुनता रहता है। जब तक तू रामदेव की चर्चा नहीं करेगा तब तक तुझे देवलोक प्राप्त नहीं होगा—"

भलौ बुरौ न तू गनै। बृथा कथा कहै सुनै।
न रामदेव गाइहै। न देवलोक पाइहै ॥[3]

स्पष्ट है कि वाल्मीकि के आदेश पर राम के गुणगान करने वाला कवि मर्यादा-वाद के विरुद्ध नहीं जा सकता।

सौन्दर्य

शक्ति और शील के साथ यदि किसी में सौन्दर्य भी हो तो उसके व्यक्तित्व में एक नवीनता आ जाती है। सौन्दर्य का अपना आकर्षण है, चराचर में ऐसा कोई नहीं कि जिस पर सौन्दर्य का जादू न चलता हो। राम में असाधारण सौन्दर्य है। शंख के समान सुन्दर गोल गले में पड़ी हुई तीन रेखाएँ तीनों लोकों की सुन्दरता को फीका कर रही हैं।[4] सभी लोग उन्हें देखकर परम हर्षित होते हैं और उन पर से अपने नेत्र नहीं उठा पाते। शरत्कालीन पूर्णिमा के समान सुन्दर उनका मुख है और शरत्कमल के समान स्वच्छ नेत्र हैं।[5] उनका सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों को लज्जित करनेवाला है और जो कोई उन्हें देखता है उसका मन उन पर मुग्ध हो जाता है—

---

१. रामचन्द्रिका, ९ वाँ प्रकाश, पृ० ४४
२. रामभक्ति शाखा, पृ० ४१७
३. रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छन्द १६
४. रा० च० मा०, बा० कां, पृ० २५० (विवाह-प्रकरण)
५. वही, अयो० कां०, वन प्र०, पृ० ४८१

तुलसी प्रभु जोहत पोहत चित, सोहत मोहत कोटि मयन ।[१]

... ...

नील कंज जलदपुंज मरकत मनि सरिस स्याम ।
काम कोटि सोभा अंग-अंग ऊपर वारी ।।[२]

वे रूप के आगार हैं। स्वयंवर के समय रंगभूमि में उनके आने का समाचार सुनकर नगर के नर-नारी, बाल-वृद्ध, अंधे और लँगड़े भी वहाँ जाने के लिए निहोरे करते हैं। उनके नीलवर्ण शरीर पर पीले-पीले वस्त्र ऐसे शोभा पाते हैं मानों नील जलद पर बिजली चमक गयी हो, उनका एक-एक अंग मानों काम-समूह के सौन्दर्य से बना हो। उनका सौन्दर्य वर्णनातीत है। जगदाधार का सौन्दर्य है, यदि वह विधाता का बनाया हुआ होता तो उसका वर्णन भी किया जा सकता था—

अंग-अंग पर मार निकर मिलि छवि समूह लै लै जनु छाये ।
तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाये ।।[३]

उनका सौन्दर्य सचमुच मादक है। जो कोई देखता है वह अपनी सुध-बुध खो बैठता है। मन पहले से ही चंचल है, उस रूप-आगार को देखकर वह एकदम हाथ से निकल जाता है। वन-गमन के समय बेचारी ग्राम-वधुएँ उस लावण्य के सामने परास्त हो गई हैं, अब उन्हें लोक-लाज और परिवार का भय नहीं रहा। जिसे जो कहना है वह कहता रहे, उन्हें नेत्रों के होने का लाभ तो मिल ही जायेगा—

धरि धीर कहै, चलु देखिअ जाइ, जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं ।
कहिहै जगु पोच न सोच कछू, फलु लोचन तो अपनौ लहिहैं ।।
सुख पाइहैं कान सुनें बतियाँ, कल आपस में कछु पै कहिहैं ।
तुलसी अतिप्रेम लगी पलकें, पुलकीं लखि रामु हिये महिहैं ।।[४]

केशव के राम भी सौन्दर्य के आगार हैं ! संसार में जो भी सौन्दर्य है वह उन्हीं की तो देन है। जो औरों को सौन्दर्य प्रदान करता है वह स्वयं सुन्दर क्यों न होगा ? राम के वनवास-काल में जो भी उन्हें देखते हैं वे उनके रूप पर मुग्ध हो उठते हैं और सोचते हैं कि कि क्या ये सामान्य मानव हैं ?—

रूपहि देखत मोहे, ईश कहो नर को है ?[५]

रास, सीता और लक्ष्मण साथ-साथ चल रहे हैं, उनके सम्मिलित सौन्दर्य का वर्णन केशव के ही शब्दों में देखिये—

---

१. गीतावली, बा० कां०, पद ५१
२. वही, पद २५
३. गीतावली, बा० कां०, पद २६
४. कवितावली, अ० कां०, पद २३
५. रा० चं०, ६।३२

मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरै लसै देह धारी मनो।
भूरि भागीरथी भारती हंसजा अंश के है मनो, भोग भोरे मनो ॥[१]

सेनापति के राम सौन्दर्य के आगार हैं। उनकी मुस्कराहट कोटिशः चन्द्रमाओं की कान्ति से अधिक कान्तिवाली है, उनकी दीप्ति करोड़ों सूर्यों की दीप्ति से अधिक है—

मंद मुसकान कोटि चंद तैं अमंद राजै,
दीपति दिनेस कोटि हू तैं अधिकानियै।[२]

कवि कहता है कि यदि पाँचों कल्पवृक्षों को मिलाकर एक कल्पवृक्ष बनाया जाय और उससे कामदेव बनाया जाय, पूर्णिमा के जितने चन्द्रमा हो चुके हैं और आगे होंगे, उन्हें एकत्र कर नवीन सूर्य का निर्माण हो, तो भी राम के सौन्दर्य और तेज के बराबर ये नहीं बन पायेंगे—

पांचों सुरतरु कौं जो एकै सुरतरु, एक
देह जो बसंत रतिकंत की बनाइयै।
बीते होनहार चंद पून्यौ के सकल जोरि,
चंद करि एकै जो दृगन दिखराइयै।
दसौ लोकपालन कौ एकै लोकपाल, एक
बारह दिनेस को दिनेस ठहराइयै।
सेनापति महाराजा राम को अनूप तब,
राम तेज रूप नैंक बरनि बताइयै ॥[३]

उनके नेत्र विशाल हैं। मस्तक कान्ति से चमक रहा है और उनके सौन्दर्य से कामदेव भी लज्जित होता है—

लोचन बिसाल, राज़ दीपति दिपत भाल,
मूरति उदार कौ लजानौ रतिपति है।[४]

कुछ मिलाकर इस भक्ति शाखा के आराध्य देव राम शक्ति, शील और सौन्दर्य के आगार हैं, उनमें तीनों सुन्दर गुणों का समन्वय है। तीनों के सम्मिलित आकर्षण ने उनके रूप को एक नवीन मनोरम रूप प्रदान किया है। उनके इस रूप में भगवान् की झांकी साधारण प्राणी को भी दीख पड़ती है। श्री जोन्स ने सुन्दर आकृति, सुन्दर आत्मा और सुन्दर कर्मों को ऐसे वातायन कहा है जिनमें प्रभु की झांकी दीख पड़ती है—

---

१. रा० चं०, पद ३५
२. क० रत्ना०, ४।४
३. वही, ४।६
४. वही, ४।१४

Beautiful faces, beautiful souls, fair forms, noble creatures and lofty actions are windows through which the human soul, here in a world of mutability catches glimps of that eternal beauty.[1]

अर्थात् सुन्दर चेहरे, सुन्दर आत्माएँ, सुन्दर आकृति, उत्तम प्राणी और उनके ऊँचे कर्म, ऐसी खिड़कियाँ हैं जिनके द्वारा इस संसार में उस अनन्त सौन्दर्य की झाँकी मिलती है।

राम में ये तीनों ही गुण पूरी तरह विद्यमान हैं। इन तीनों गुणों को पाकर साधारण मानव भी असाधारण बन जाता है, फिर राम तो साक्षात् भगवान् ही ठहरे।

फुटकर कवि—रहीम

फुटकर कवियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम अब्दुर्रहीम खानखाना का है। इन्होंने भक्ति से आपूरित ऐसे सुन्दर भाव व्यक्त किये हैं, राम के मर्यादावादी रूप का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है कि पाठक का मन बलात् उस ओर आकृष्ट हो जाता है। हाथी अपनी सूंड को नीचे की ओर करके, उससे जमीन की गन्ध सूँघता हुआ चलता है। यह उसका स्वभाव है, पर भक्त रहीम को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस धूलि को सिर पर उठाकर रखना चाहता है जिस का स्पर्श पाकर अहल्या को पुनः नारी-रूप प्राप्त हुआ था—

धूर धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

एक अन्य स्थान पर राम से प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा कि मुनि-पत्नी की पाषाणता, वानरों का पशुत्व, गुह का छोटापन सब-कुछ मुझ में है, हे राम ! तुम मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ?

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपि-चमू
गुहो भू-चांडालस्त्रितयमपि नीतं निजपदम्।
अहं चित्तेनाश्मः पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चाण्डालो रघुवर ! न मामुद्धरसि किम्॥[2]

राम के नाम की शक्ति में भी रहीम को पूरा विश्वास है। सच्चे हृदय से लिया गया राम का नाम भवसागर से पार उतरने का अमोघ वाहन है। इसीलिए तो उन्होंने कहा है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर से भरा हुआ आदमी यदि धोखे से भी राम का नाम ले ले तो उसे पूर्ण गति अवश्य प्राप्त हो जायगी।[3] राम की दान-

१. भक्ति का विकास, भूमिका भाग, पृ० ६
२. रहिमन विलास, श्लोक ३, पृ० ६६
३. वही, पृ० २०७

शीलता की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि माँगने पर सब लोग नाहीं कर देते हैं, विपत्ति में साथी भी साथ छोड़ देते हैं, लेकिन रघुनाथ तो माँगने से पहले ही दे देते हैं। वे एक बार जिसे स्वीकार कर लेते हैं उसका साथ कभी नहीं छोड़ते।[१]

जीवन का लक्ष्य

वैदिक युग में ईश्वर-स्तुतिपरक शतशः एवं सहस्रशः मंत्र मिलते हैं। जिस तरह हिन्दी-साहित्य के मध्यकालीन कवियों ने भक्ति-प्रवण हृदय से भावों को मुखरित किया है उसी तरह वेद-मन्त्रों के द्रष्टाओं ने ऋचाओं में अपना हृदय उँड़ेल कर रख दिया है। पर इस साम्य के होते हुए भी स्तुति और भक्ति के लक्ष्य में दोनों में महान् अन्तर है। उस समय का ऋषि धन, बल, ऐश्वर्य की माँग करता था। उसकी कामना थी कि देवता उसके शत्रुओं को अपनी दाढ़ों में दबा लें। ब्राह्मण-युग में जीवन का लक्ष्य स्वर्ग बना—'स्वर्गकामो यजेत'। बौद्ध काल में जीवन को दुःखमय मानकर इससे छुटकारा पाने के यत्नों पर बल दिया गया और निर्वाण जीवन का लक्ष्य बना। जहाँ तक मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के लक्ष्य का प्रश्न है, वह इनसे एकदम पृथक् है और उसके अनुसार भक्ति का लक्ष्य स्वयं भक्ति ही है। इन कवियों को अर्थ, धर्म, काम के प्रति रुचि नहीं, निर्वाण की भी अभिलाषा नहीं, उनका स्पष्ट कथन है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहहुँ निर्वान।
जनम जनम रुचि राम-पद, यह बरदानु न आन॥[२]

... ...

तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा॥
मनहीं मन माँगहिं बस एहू। सीय रामपद पदुम सनेहू॥[३]

... ...

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।[४]

सरभंग ऋषि ने कठोर साधना की, योग, जप, तप और व्रत किये। भगवान् ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर जब उसे इच्छानुसार फल माँगने को कहा तो उसने अपने सभी फलों को भगवान् को समर्पित कर केवल 'भगति में लीन रहने' का ही वर माँगा और सायुज्य मुक्ति को भी ठुकरा दिया—

जोग जाग जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

... ...

---

१. रहिमन दोहावली, पृ० १५०
२. रा० च० मा०, अ० कां०, दो० १९७०
३. वही, पृ० ५२३
४. वही, पृ० ४५९

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा । राम कृपा बैकुंठ सिधारा ।।
ता ते मुनि हरि लीन न भयऊ । प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ ।।[१]

काकभुशुंडि को भी जब इच्छानुसार वर माँगने का अवसर मिला तो उसने भी सब-कुछ छोड़कर भक्ति को ही माँगा—

अविरल भगति बिसुद्ध तव, स्रुति पुरान जो गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ।।
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहिं प्रभु, देहु दया करि राम ।।[२]

इन कवियों को यही स्थिति पसन्द है कि प्रभु के गुण-समूहों का स्मरण करते हुए आँखों से नीर ढलता रहे । राम का सामीप्य मिले तो मृग और तरु, कुछ भी बना जा सकता है—

खेलिबे को मृग तरु, किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं ।
या नाते नरकहु सुख पैहों, या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं ।।

कारण चाहे जो भी हो, इन भक्तों को मुक्ति जरा भी पसन्द नहीं । सच्चे भक्त भक्ति के आगे मुक्ति को हेय समझते हैं—

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।।[३]

इन कवियों का एकमात्र लक्ष्य अपने आराध्य का भजन करना है । अपनी लगन में ये कवि यह भी भूल जाते हैं कि जिसका ये ध्यान कर रहे हैं वह साक्षात् परब्रह्म है या भूपति है । अगर यह याद रह गया तो फिर तन्मयता कैसी ? तुलसी के निम्नलिखित दोहे में यही भाव है—

जो जगदीस तो अति भलौ, जो भूपति तो भाग ।
तुलसी चाहत जनम भर, राम चरन अनुराग ।।[४]

जैसा हमने आरम्भ में कहा है यह भक्ति एकदम निष्काम है । इनका भजन तो केवल भजन के लिए ही है—"तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाहु ।"

इस धारा के प्रमुख देवी-देवता और उनका परिचय

शिव—यद्यपि इस भक्ति मार्ग के परमाराध्य देव राम हैं पर शिव भी आराध्य देव हैं और महत्त्व की दृष्टि से राम के बाद उन्हीं का स्थान है, इस तथ्य के विषय में संभवतः दो मत नहीं हो सकते । शिव की स्तुति एवं आराधना में तुलसी के उद्‌गार

---

१. रा० च० मा०, अ० कां०, दो० ६६७
२. वही, उत्तरकांड, पृ० ११११-१२
३. रा० च० मा०, पृ० ११६१ (गी० प्रे० सं०)
४. दोहावली, पर६१

सच्चे भावुक भक्त के उद्गार है, उन्हें शैव और वैष्णव, दोनों मतों के ऐक्य के लिए किये गये राजनीतिक प्रयत्न कहना तुलसीदास के साथ अन्याय करना है। उनके काव्य में समन्वय की जो विराट् चेष्टा है उसे पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं मानते कि शिव-विषयक उनके उद्गार किसी कुशल राजनीतिज्ञ के प्रयास मात्र हैं। उन्होंने शतशः स्थानों पर शिव का जिस रूप में उल्लेख किया है, वह हार्दिक भक्ति का ही परिचायक है।

रामचरित-मानस के आरम्भ में उन्होंने श्रद्धा और विश्वासरूपी भवानी एवं शंकर की स्तुति तो की ही है, साथ ही यह भी कहा है कि उसके बिना सिद्ध व्यक्ति भी अन्तःस्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर पाते—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।[१]

कुंद और इन्दु के समान गौरवर्ण उमापति बड़े दयालु हैं। कलियुग में सबके कल्याण के लिए उन्होंने ऐसे शाबर मन्त्र-समूहों की रचना की है कि जिनके अक्षर देखने में बेमेल हैं और जिनका अर्थ भी ठीक-ठीक नहीं होता पर जिनका प्रभाव सचमुच अपार है। तुलसी को भी जो सुबुद्धि मिली है वह भी शंभु की इस कृपा का ही फल है—

संभु प्रसाद सुमति हिय तुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।।[२]

इनके परमाराध्य देव राम स्वयं शिव-लिंग की स्थापना और पूजा करते हैं। उनका कथन है कि संसार में उन्हें शिव के समान प्यारा दूसरा कोई नहीं। आगे वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जो व्यक्ति मेरी पूजा करता हो और शंकर से द्रोह करता हो वह मुझे कभी नहीं पा सकता। कोई व्यक्ति अपने को मेरा दास समझता हो और शंकर से द्रोह करता हो तो वह मुझे कभी प्यारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई शंकर को प्रिय समझता हो और मुझ से द्रोह करता हो, तो वह भी नरक का ही भागी होगा—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।।
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।
... ...

संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ वास।।
और एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।।[३]

---

१. रा० च० मा०, बा० कां०, दोहा २

२. वही, ४८

३. रा० च० मा०, बा० कां०, दोहा ४५

यहाँ राम ने अपने में और शिव में अभेद स्थापित किया है और कहा है कि जो व्यक्ति रामेश्वर का दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़ने के बाद मेरा लोक प्राप्त करेंगे तथा इस शिवलिंग पर जो गंगा-जल चढ़ायेंगे वे सायुज्य मुक्ति के अधिकारी होंगे।

अन्य स्थानों पर भी कवि ने शंकर के विषय में जो कुछ कहा है उसमें उनकी हार्दिक भक्ति छलकी पड़ रही है। ब्राह्मण के मुख से शिष्य के शाप-निवारण के लिए जो स्तुति करायी गयी है वह मानो कवि की अपनी ही भावना है। यहाँ शंकर को निर्वाण-रूप, विभु, व्यापक, निर्गुण, निर्विकल्प, निरीह, निराकार, ओंकार-मूल, वाणी और ज्ञान की सीमा से बाहर, महाकाल, गुणागार और संसार-पयोधि को पार करने के लिए नौका कहा गया है। यह भी कहा गया है कि वे हिमाचल के समान गौरवर्ण हैं, करोड़ों कामदेवों से अधिक सुन्दर हैं, उनके सिर पर गंगा शोभित है, ललाट पर चन्द्रमा विराजमान है और गले में सर्पों की माला है। उनका मुख सदैव प्रसन्न रहता है, उनका कंठ नीला है, वे व्याघ्र का चर्म धारण किये हुए हैं और मुण्डों की माला पहने हुए हैं। वे सबका कल्याण करने वाले हैं, रुद्ररूप हैं, करोड़ों सूर्यों के समान उनका प्रकाश है और वे तीनों प्रकार के कष्टों को दूर करने वाले हैं।[१]

तुलसी का कथन है कि शिव दीन-दयालु हैं, भक्तों की विपत्ति को दूर करने वाले हैं और सब प्रकार से समर्थ हैं। जब सुर और असुर सभी कालकूट के ज्वर से जले जा रहे थे तब उन्होंने ही सबका उद्धार किया था। त्रिपुरासुर के त्रास से मुक्ति दिलाना भी उन्हीं का काम था। जिस अगम गति को पाने के लिए सुर-मुनि नर लालायित रहते हैं उसी गति को वे अपनी नगरी (काशी) में मरनेवाले सामान्य-से-सामान्य प्राणी को भी निःसंकोच रूप से देते रहते हैं। वे सचमुच कल्पतरु के समान दाता हैं।[२] अगले पद में भी उनकी दानशीलता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि शंकर के समान कोई दूसरा दानी त्रिलोक में नहीं है। उन्हें याचकों को देखकर उनकी मनोकामना को पूरा कर परम सन्तोष होता है। जिस गति को पाने के लिए साधक करोड़ों वर्षों तक तप करने के बाद भी विष्णु से माँगने में संकोच करते हैं, उसी गति को (मुक्ति को) शिव अपनी नगरी में वास करनेवाले कीट-पतंगों तक को आसानी से दे देते हैं।[३] इससे अगले पद में भी कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से शिव की अपार दानशीलता की प्रशंसा की है। उसका कहना है कि शंकर की दानशीलता से स्वर्ग का सारा ही ढाँचा बदल गया है। जिनके भाग्य में सुख का एक कण भी ब्रह्मा ने नहीं लिखा था, उन्हें स्वर्ग देते-देते ब्रह्माजी तंग आ गए हैं और वे भवानी से प्रार्थना करते हैं कि वे उस अधिकार को किसी अन्य को सौंप दें—

---

१. रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड, पद १०७

२. वि० प०, पद ३

३. वही, पद ४

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निशानी ।
तिन रंकन की नाक सँवारत, हौं आयौ नकवानी ।।
दुखी दीनता दुखियन के दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ।।[१]

शिव औघड़ दानी हैं और कवि इनकी प्रशंसा करते-करते थकता नहीं । अगले तीन पदों में कवि ने बार-बार इसी भाव को दुहराया है । इसके अलावा कवि ने शंकर के अन्य रूपों पर भी प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि शिव मोह-रूपी अन्धकार को नष्ट करनेवाले हैं । करोड़ों कामदेवों के समान सुन्दर हैं, वे शंख, कुन्द, चन्द्रमा और कपूर के समान गौरवर्ण हैं, उनका तेज मध्याह्न में प्रज्वलित करोड़ों सूर्यों के समान है, उनके हाथ में त्रिशूल, बाण, पिनाक नामक धनुष और खड्ग शोभित हैं । वे शत्रु-समूह को इसी प्रकार भस्म कर देते हैं जिस प्रकार अग्नि बिना किसी प्रयास के समस्त वन को भस्मसात् कर सकता है । वे बैल पर सवारी करते हैं, बाघ और हाथी का चर्म धारण करते हैं, सम्पूर्ण ज्ञान के अधिष्ठाता हैं और सिद्धों, देवों और मुनियों से सेवित हैं, । ताण्डव के समय उनके डमरू से डिमडिम की ध्वनि होती है, उनका रूप बाहर तो अशुभ दीख पड़ता है पर वे अन्दर से एकदम शुभ हैं । उनका स्थायी वास तो कैलास है पर वे काशी में रहते हैं । ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता अपने-अपने पदों पर उन्हीं की कृपा के कारण आसीन हैं । वे अजन्मा, निर्विकार और अव्यय हैं ।[२]

कवि ने शिव के उस रूप का भी उल्लेख किया है जिसमें उनके साथ भूत-प्रेत आदि को दिखाया जाता है । वे भूतों और प्रेतों के स्वामी हैं । उनके सिर पर पवित्र गंगा विराजमान है, द्वितीया का चन्द्रमा भी वहीं शोभित रहता है, उनके तीन नेत्र हैं । वे काम का दमन करनेवाले हैं, अस्त्रों-शस्त्रों से सुसज्जित होते हुए भी वे हृदय से करुणा के सागर हैं । कलियुग रूप सर्प का भक्षण करने में वे गरुड़ के समान हैं ।[३]

केशव की दृष्टि में भी शिव आराध्य देव हैं । उन्होंने शिव का जो वर्णन किया है वह एकदम देव रूप में है, ठीक उसी रूप में जिसमें उनके उपासकों द्वारा उन्हें देवाधिदेव माना गया है । उनके वक्षःस्थल पर वासुकि विराजमान है । जटाओं के बीच में गंगा प्रवाहित हो रही है, सब प्रकार की सिद्धियों की देनेवाली पार्वतीजी विराजमान हैं—

ऊजरे उदार उर वासुकी विराजमान,
हार के समान आन उपमा न टोहियै ।

१. वि० प० पद ५
२. वही, पद १०
३. वही, पद ११

शोभिजै जटान बीच गंगा जू के जल बुन्द,
कुन्द की कली सी केसोदास मन मोहियै।
नख की सी रेखा चंद चंदन सी चारु रज,
अंजन सिंगारहू गरल रुचि रोहियै।
सब सुख सिद्धि शिवा सोहैं शिव जू के साथ,
जावक सो पावक लिलार साग्यो सोहियै ॥

सेनापति भी शिव को आराध्य देवता मानते हैं। राम के साथ उन्होंने जिस अन्य देवता की स्तुति की है, वे शिव हैं। शार्दूल का चाम पहनने वाले, त्रिशूलधारी, गौरी-पति की स्तुति में उनका यह पद द्रष्टव्य है—

सोहति उतंग, उतमंग, ससि संग गंग,
गौरि अरधंग, जो अनंग प्रतिकूल है।
देवन कौ मूल, सेनापति अनुकूल, कटि,
चाम सारदूल कौ, सदा कर त्रिसूल है।
कहा भटकत अटकत क्यों न तासों मन,
जाते आठ सिद्धि नवनिद्धि रिद्धि तू लहै।
लैंत ही चढ़ाइबे को जाके एक बेलपात,
चढ़त अगाऊ हाथ चारिफल फूल है ॥[१]

सीता—रामभक्तिशाखा में सीता साधारण मानवी नहीं, देवी हैं। तुलसी ने उन्हें उद्भव, स्थिति और संहारकारिणी आदि विशेषणों से विभूषित तो किया ही है, उन्हें क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करी भी कहा है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥[२]

कृपानिधान भगवान् का रुख देख कर सृष्टि का सृजन, पालन और संहार उन्हीं का काम है। राम जगदीश हैं और सीता उनकी माया है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की ॥[३]

असली बात तो यह है कि सीता आदिशक्ति हैं और वे ही संसार को पैदा करती हैं, इस बात का उल्लेख तुलसी ने अनेक स्थानों पर किया है। सीता अनुपम हैं, अन्य कोई देवी उनकी समता नहीं कर सकती। वे ऐसी रूपवती और गुणवती हैं कि उनके अंशमात्र से अगणित लक्ष्मी, उमा और सरस्वती उत्पन्न हो सकती हैं। उनका

१. कवित्तरत्नाकर, ५।४५
२. रा० च० मा०, अयो० काण्ड, पृष्ठ ४६१
३. वही, बा०कां०, श्लोक ५

सौन्दर्य अद्भुत है। उनका मुख चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है। चन्द्रमा का जन्म समुद्र में होता है, विष उसका भाई है, वह सकलंक है, प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है और राहु से ग्रसित है, कोक को शोक देने वाला है और कमल का विद्रोही है। सीता का मुख इन दोषों से रहित है। सरस्वती सुन्दर तो है पर वाचाल भी है। भवानी का अपना शरीर ही आधा है। रति के पति का शरीर जल गया, वह इसी दुःख में क्षीण हुई जा रही है। इन देवियों की तुलना सीता से कैसे हो सकती है? रही लक्ष्मी की बात, वह भी सीता की तुलना में कहीं नहीं ठहरती। उसके साथ विष और और वारुणी भी पैदा हुए थे, जन्म के संसर्ग का यह दोष कैसे मिटे? कवि के अनुसार सीता की उपमा के लिए तो नवीन सृष्टि ही करनी पड़ेगी। यदि छवि की सुधा का समुद्र हो, सुन्दरतम कच्छप हो, शोभा रस्सी बने, शृंगार मन्दार पर्वत बने, कामदेव अपने सुन्दर हाथों से मंथन का काम करे, यदि इस प्रकार नवीन लक्ष्मी पैदा हो तो फिर भी कुछ-कुछ संकोच के साथ उसकी तुलना सीता के साथ की जा सकती है।[1] चित्रकूट में भरत-मिलाप के समय भी तुलसी ने सीता के देवी-रूप की चर्चा की है। उनकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भरतजी के साथ जब माताएँ बन में गयीं तब सीताजी ने अनेक रूप धारण कर इस प्रकार सेवा की कि सबको यही लगा कि सीता उनके ही पास थी।[2] उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि भरतजी जब बोलने लगे तब बोलने से पूर्व उन्होंने राम और सीता का स्मरण किया।[3] यह भी कहा गया है कि सीताजी ने यह शरीर लीला के लिए ही धारण किया था। जो कुछ होनेवाला है उसे वे पहले से ही जानती थीं। रावण द्वारा अपहृत होने से पूर्व उन्होंने अपने वास्तविक रूप को अग्नि में रख दिया था जिसे अब वे प्रकट कर रही थीं—

सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अन्तर साखी॥[4]

सीताजी का देवी रूप सभी पर प्रगट है। शिवजी का कथन है कि वे ब्रह्मा आदि से वंदित हैं और सदा अनिन्दित हैं—

उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदम्बा संततमनिंदिता॥[5]

'विनयपत्रिका' में भी तुलसी ने सीता को देवी-रूप में ही चित्रित किया है। विस्तार-भय से अधिक उदाहरण देना हमें अभीष्ट नहीं।

केशव की दृष्टि में भी सीता मानवी नहीं, देवी हैं। स्वयंवर के अवसर पर

---

१. रामचरित मानस, अयो० कां०, पृष्ठ २५५
२. वही, अयो० कां०, पृ० ६११
३. वही, अयो कां०, पृ० ६५५
४. वही, लंकाकाण्ड, पृ० ६६३
५. रामचरितमानस, लं० कां०, पृ० १०४६

बाण और रावण के वार्तालाप में बाण स्पष्ट शब्दों में शिव को गुरु और सीता को माता कहकर उनका देवी-रूप प्रकट करता है—

मेरे गुरु कौ धनुष यह, सीता मेरी माय।
दुहू भाँति असमंजसै, बाण चले सुख पाय।।[१]

एक स्थान पर विष्णु को 'सीता-नाथ' कहकर उन्होंने सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व स्थापित किया है—

सोवत सीतानाथ के, भृगुमुनि दीन्ही लात।
भृगु कुलपति की गति हरी, मनो सुमिरि यह बात।।[२]

केशव के अनुसार भी रावण के हाथ वास्तविक सीता नहीं लगी, छाया ही लगी—

केशव अदृष्ट साथ जीव जोति जैसी तैसी
लंकनाथ हाथ परी छाया जाया राम की।।[३]

सीता की अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि देवता प्रकट होकर सीता के देवी-रूप का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं—

श्री रामचन्द्र यह संतत शुद्ध सीता,
ब्रह्मादि देव सब गावत शुभ्र गीता।
हूजै कृपाल गहिजै जनकात्मजा या,
योगीश-ईश तुम हो यह योगमाया।।[४]

सेनापति की दृष्टि में भी सीता साधारण मानवी नहीं, देवी हैं। उन्होंने जहाँ-जहाँ सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया है वहाँ-वहाँ उसमें दिव्य रूप की झलक है। जिनके रूप के सामने देव-नारियाँ गँवार सी लगती हैं, वह सीता साधारण मानवी कैसे हो सकती हैं? उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि जब रावण ने सीता का अपहरण किया, तो उसके हाथ भगवती सीता की छाया ही लगी, उनका वास्तविक रूप नहीं—

बीस भुजदंड दस सीस बरिबंड तब,
गिद्धराज हू के अंग-अंग घोर धाइ कै।
राघव की जाया, ताकी कपट की काया,
सोई छाया हरि लै गया गगन पथ धाइ कै।।[५]

---

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ५, दोहा २८
२. वही, प्रकाश ८, दोहा ५२
३. वही, प्रकाश १२ दोहा २०
४. रामचन्द्रिका, प्रकाश २०, दोहा १३
५. कवित्तरत्नाकर, तरंग ४, पद ३१

हनुमान—राम-भक्ति शाखा में हनुमान साधारण वानर के रूप में गृहीत न होकर देव रूप में गृहीत हुए हैं। सभी राम-भक्त कवियों ने उनकी स्तुति देव-रूप में ही की है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, स्मृतियों में इसकी चर्चा कहीं नहीं। हाँ, पुराणों में इनका उल्लेख स्थान-स्थान पर है। रामायण और पुराणों के बीच में इनकी देवरूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। कुछ के अनुसार ये अनार्य देवता हैं। ला० सीताराम ने लिखा है कि वृष पुंलिंग के लिए द्रविड़ शब्द आण है और यह शब्द कन्नड़, तमिल और मलयालम तीनों भाषाओं में बोला जाता है। तेलुगु में इसके बदले मग और पोट्ु का प्रयोग होता है। कपि (बन्दर) के लिए इन चारों भाषाओं में यह शब्द है (१) करंगु और (२) मंडी। इस प्रकार आण और मंडी के मिलाने से वृषाकपि के अर्थ का द्रविड़ शब्द आणमंडि बन जाता है और वृषाकपि उसका संस्कृतानुवाद है। आणमंडि का संस्कृत रूप हुआ हनुमंत। द्रविड़ शब्दों के संस्कृत रूप बनाने में बहुधा एक 'ह' पहले जोड़ दिया जाता है। इसके बहुत-से उदाहरण हैं जैसे इडुम्बी (तमिल) का हिडिम्बा, अर्थ है गर्वोक्ति।[१]

श्री पार्जिटर का कहना है कि वृषाकपि एक शब्द न होकर दो शब्दों का समूह है—वृषा+कपि, अर्थात् नर-वानर। उनके अनुसार यह संभवतः किसी द्रविड़ शब्द का अनुवाद है। रामायण में वानरों का उल्लेख उस प्रदेश में हुआ है जो गोदावरी नदी से दक्षिण-पश्चिम दिशा में है। यह प्रदेश कन्नड़ भाषा-भाषी प्रदेश के दक्षिण में और तमिल भाषा-भाषी प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में है। स्वभावतः हनुमान (हनुवाला) शब्द की खोज इन दोनों भाषाओं में ही हो सकती है।[२]

अन्य विद्वानों के अनुसार भी हनुमान अनार्य देवता हैं। श्री आर० सी० मजुमदार के अनुसार हनुमान उत्पादन शक्ति के देवता हैं। ये वन्ध्या स्त्रियों को संतान देते हैं और भक्तों के मार्ग में आनेवाली रुकावटों को दूर करते हैं। श्री मजुमदार श्री पार्जिटर के मत से सहमत हैं और कहते हैं कि आरम्भ में कुछ आर्यों द्वारा इस अनार्य देवता के आर्य-परिवार में सम्मिलित किये जाने का विरोध किया गया, पर अन्ततः आर्य देव-परिवार में उन्हें स्थान मिल ही गया। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

He is a fertility-deity, who gives children to barren-women ; and he is the helper at need and remover of obstacles. It seems, on E.F. Parjiter's significant research into the name of Hanumant, warrents us in assuming, that there was a great Monkey-God, who obtained the worship of the Pre-Aryan peoples (namely Dravi-

१. अयोध्या का इतिहास, पृ० २१३

२. हिन्दी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका, (अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ)

dians) of India, and whose name was in the Dravidian, speech just "The Male Monkey" (in Tamil, Anmant) The Aryan speakers came to know thss god, and his name was at first translated into the Aryan's language as Vrisha-kapi. His worship was slowly entering by the backdoor among the Aryan, speakers through contact with the Dravidians, and this was resented by a certain element among the Aryan people...But Vrisha-kapi became admitted into the newly formed Aryan-Non-Aryan-pantheon and his original Dravidian name "An-mant" was then sanskritized into Hanumant.[1]

अर्थात् यह उत्पादन-शक्ति का देवता है जो वन्ध्या स्त्रियों को सन्तान देता है। आवश्यकता के समय यह सहायता करता है और विघ्नों को दूर करता है। पार्जिटर ने हनुमान के नाम के विषय में जो महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्यों से पूर्व के लोगों में, विशेषतः द्रविड़ जाति में, कोई वानर-देवता था और उसे पूजा का अधिकार मिल गया था। द्रविड़ भाषा में उसका नाम पुरुष वानर था और तमिल में 'मनुमन्त' था। आर्य लोगों से जब इसका परिचय हुआ तो आर्य-भाषा में इसका अनुवाद हुआ—वृषाकपि। द्रविड़ों से परिचय होने पर इसकी पूजा अप्रत्यक्ष ढंग से आर्यों में आ रही थी, आर्यों के एक भाग ने इसका विरोध भी किया। पर आर्यों एवं अनार्यों के मिश्रित देव-परिवार में इसे प्रवेश मिल ही गया और इसका द्रविड़ नाम 'मनुमन्त' संस्कृत में 'हनुमान' हो गया।

जहाँ तक शिलालेखों में इनके उल्लेख का प्रश्न है, उत्तरापथ में इनका प्राचीनतम मन्दिर १० वीं शताब्दी का है। उनकी इस प्रतिमा के नीचे हर्ष संवत् ३१६-सन् ९२२ ई०—का एक अग्रलेख भी है।[2]

पूज्य की पूजा करते-करते व्यक्ति स्वयं किस तरह पूज्य बन जाता है इसका सर्वोत्तम उदाहरण हनुमान हैं। आरम्भ में वे साधारण मानव थे, वीर थे और सुग्रीव के मन्त्री थे। राम के साथ सुग्रीव की सन्धि कराने में उन्हीं का प्रमुख हाथ था। बाद में सीता की खोज में तथा लंका के युद्ध में उन्होंने राम की सहायता की। उन्हें राम का पूर्ण विश्वास मिला और फलस्वरूप सान्निध्य भी। वे राम के भक्त बन गये और उनके इन गुणों से रीझकर श्रद्धालु जनता ने उन्हें देव-कोटि में ला बैठाया। वे सेवक से सेव्य बन गये।

एक बार उनके विषय में पूज्य बुद्धि हो जाने पर उनके जन्म और जीवन के सम्बन्ध में अनेक दिव्य कथाएँ जोड़ दी गयीं। सीता की खोज के समय सब वानर अपने

---

१. वैदिक एज, पृ० १६४

२. हि० स० का० सा० भू० (अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ)

पराक्रम का वर्णन कर रहे थे पर हनुमान चुपचाप बैठे थे। उन्हें इस तरह बैठा देख कर जाम्बवान् ने उनके बल का वर्णन किया। उन्होंने बताया कि हनुमान की माँ पहले जन्म में अप्सरा थीं, उनका नाम पुन्जिकस्थला था, ऋषिशापवश उन्हें वानर की योनि मिली। वर्षाऋतु में पहाड़ पर घूमते समय पवन देवता के संसर्ग से उनका जन्म हुआ;[१] हनुमान नाम पड़ने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि जब वे बालक ही थे तो उदित होते हुए सूर्य को फल समझकर वे उसे खाने को दौड़े। इन्द्र ने उन पर वज्र का प्रहार किया जिससे उनकी बाईं (हनु) ठोड़ी टूट गई और उनका नाम इसी कारण हनुमान पड़ गया।[२] इस सारे वर्णन में हनुमान देवरूप में ही दिखाये गये हैं। यही कथा कुछ परिवर्तित रूप में अन्यत्र आयी है। कहा गया है कि केशरी की दो स्त्रियाँ थी, अंजना और अद्रिका। दोनों पहले अप्सराएँ थीं। शापवश अंजना का मुँह वानर का सा हो गया और अद्रिका का बिल्ली का। दोनों अंजन पर्वत पर रहती थीं। अगस्त ऋषि के वरदान से पवनदेव के संसर्ग से अंजना के यहाँ हनुमान का जन्म हुआ और निऋति के संयोग से अद्रिका की कोख से अद्रि नामक पिशाच राजपुत्र का जन्म हुआ। शाप-निवृत्ति के पश्चात् हनुमानजी ने जहाँ अंजना को स्नान कराया तो वह मार्जार, हनुमत् और वृषाकपि नामों से प्रसिद्ध हुआ।[३]

रामायण के पश्चात् महाभारत दूसरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य है। ईसवी की दूसरी या तीसरी सदी तक आते-आते महाभारत को वह रूप प्राप्त हो गया था जो आज हमें उपलब्ध होता है। इसमें भी हनुमान देव-कोटि में गिने गये हैं। वहाँ वर्णन है कि द्रौपदी के आग्रह पर सुगन्धित पुष्प लाने के लिए जब भीम कदलीवन में गये तो हनुमान स्वर्ग का द्वार रोककर मार्ग में लेट गये। उन्होंने अपने शरीर को बड़ा कर लिया था और उनकी पूँछ के शब्द से वज्र की गड़गड़ाहट के समान शब्द होता था। पूँछ के फटकारने के शब्द से वह महान् पर्वत हिल उठा, उसके शिखर झूमते से जान पड़े और वह सब ओर से टूट-टूटकर बिखरने लगा।[४] आगे बढ़ने पर भीम को हनुमान के दर्शन हुए। विद्युत् के समान चकाचौंध पैदा करने के कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अंग-कान्ति गिरती हुई बिजली के समान पिंगल वर्ण की थी। वे विद्युत-पात के समान चंचल प्रतीत होते थे। उनके कन्धे चौड़े और पुष्ट थे। उन्होंने बाँह के मूल भाग को तकिया बनाकर उसी पर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवा को रख छोड़ा था। उनकी लम्बी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ था तथा वह पूँछ ऊपर की ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा के समान सुशोभित

---

१. वा० रा०, कि० कां, ६६ नं०

२. वही, ,, ,,

३. ब्रह्मपुराण, अ० ८४

४. महाभारत, वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व), खण्ड ४६, श्लोक ७०-७१

हो रही थी। उनके होंठ छोटे थे। जीभ और मुख का रंग ताँबे के समान था। कान भी लाल रंग के थे और भौंहें चंचल हो रही थीं।[१] यह सब वर्णन उनके अलौकिक और देवरूप का ही है। उनके देवरूप में कोई सन्देह न रह जाये मानो इसीलिए हनुमान के मुँह से कहलवाया है कि हे भीम ! तुम यहाँ कैसे आ गये ? मानव तो इस स्थान तक पहुँच ही नहीं पाते।

भीम प्रयत्न करने पर भी उनकी पूँछ नहीं हिला सके। उनकी भौंहें तन गयीं। आखें फटी सी रह गयीं और सारे अंग पसीने से तर हो गये। भीम के अनुरोध पर उन्होंने अपना रूप प्रगट किया, चारों युगों के धर्म का वर्णन किया और अपने विशाल रूप के दर्शन दिये।[२] अन्त में भीम पर प्रसन्न होकर उन्होंने वर दिया कि हे वीर ! जब तुम युद्ध में गर्जना करोगे तो मैं उसमें घुसकर गर्जना को बढ़ा दूंगा और अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठ कर शत्रुओं से उसकी रक्षा करूँगा।[३] स्पष्ट है कि इस समय तक उनका देवत्व का रूप जन-मानस में प्रचलित हो चुका था।

हनुमन्नाटक (रचनाकाल १००० ई० के आस-पास) में हनुमान को स्पष्ट रूप से रुद्र का अवतार कहा गया है।[४] सीता का पता लगाने के लिए जब वे लंका की ओर चले तो आकाश में बड़े केतु के समान पूँछ उठी हुई थी, शीघ्रगति से कूदते हुए वे कुलाँचों से बादलों को चीर रह थे, जंघाओं के बल से जलनिधि को उछाल-से रहे थे और उनका रंग सिन्दूर के समान रक्त था।[५] स्पष्ट है कि यह वर्णन उनके अति-मानवीय रूप को प्रकट करता है।

योगी सम्प्रदायाविष्कृत मत्स्येन्द्रनाथ-सम्बन्धी कथाओं में लिखा है कि मत्स्येन्द्र-नाथ ने शिव को प्रसन्न कर महासिद्ध का रूप प्राप्त किया और बाद में सिद्धि के बल से हनुमान, वीर वैताल, वीर भद्र, भद्रकाली और चामुण्डा को पराजित किया।[६] यहाँ उनके साथ जिनका उल्लेख है वे देव तथा देवी हैं और हनुमान भी स्वतः इसी कोटि में आ जाते हैं। एक दूसरी कथा के अनुसार त्रियादेश (सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण और क्षीण पति से असंतुष्ट होकर अन्य योग्य पुरुष की कामना की और उसकी प्राप्ति के लिए हनुमान की कृपा प्रांप्त की। हनुमान जी स्वयं तो बन्धन में नहीं बँधे पर सन्तानोत्पत्ति के लिए उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को भेज दिया। आचार्य हजारीप्रसाद

---

१. महाभारत, वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व) खण्ड ४६, श्लोक ७७-८०
२. वही, वनपर्व अध्याय ६० (तीर्थयात्रा पर्व)
३. वही, अध्याय ५१ (वही)
४. हनुमन्नाटक, अंक ५, श्लोक ३६
५. वही, अंक ६२, श्लोक ४
६. नाथसम्प्रदाय, पृ० ४९

द्विवेदी ने मत्स्येन्द्र का काल नवम शताब्दी के आस-पास माना है। स्पष्ट है कि उस समय तक हनुमान देव रूप प्राप्त कर चुके थे।

राम-भक्ति-शाखा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने पुराणों की इन परम्पराओं को मान्यता दी है, इसके अलावा इन्हें अंजनी-कुमार, केसरी-नन्दन और पवनतनय के रूप में भी गृहीत किया गया है।[१] इसके साथ-साथ उन्होंने उन्हें महानाटक का कवि भी बताया है।[२] वास्तविक बात तो यह है कि तुलसीदास उनकी स्तुति करते-करते थकते नहीं। बाहुओं में पीड़ा हो जाने पर उन्होंने 'हनुमान-बाहुक' की रचना की थी, ऐसी साहित्यिक किंवदन्ती प्राचीन काल से चली आ रही है। इस काव्य-ग्रन्थ में ४४ पदों में उनकी स्तुति की गयी है। सुन्दर से सुन्दर विशेषणों से उन्हें विभूषित करने के बाद भी कवि को तृप्ति नहीं होती। उनके अनुसार वे अंजनी के गर्भरूपी समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा हैं, लोक-संतापहारी हैं, शरणभयहरण हैं, राहु, रवि और शक्र के पवि के गर्व को दूर करने वाले हैं, रुद्र के अवतार हैं, संसार के रक्षक हैं, समर-तैलिक-यन्त्र में राक्षसों का निपीड़न करनेवाले, भूमि, पाताल, जल, और गगन में विचरण करनेवाले हैं; मोह, मद, क्रोध, कामादि से संकुल संसार-निशि में किरणमाला के समान हैं, भुवनत्रयैकभूषण हैं, सिद्ध, सुरवृन्द और योगीन्द्रों से सेवित हैं।[३] उनकी वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उनके शौर्य को देखकर विष्णु, महेश और चंडिका मन-ही-मन प्रसन्न होते हैं।[४] राम-चरित-मानस में भी स्थान-स्थान पर उनकी स्तुति है।

केशव के यहाँ भी हनुमान साधारण मानव के रूप में नहीं, देव के रूप में ही गृहीत हुए हैं। उन्होंने हनुमान के समुद्र को लाँघने, सीता का पता लगाने, रावण की वाटिका को उजाड़ने, उसके रक्षकों को मारने, रावण का अहंकार नष्ट करने, लंका को जलाने, अपनी छाती पर शक्ति की चोट सहकर विभीषण को बचाने, कालनेमि राक्षस को मारकर पर्वत-समेत औषधि लाने का जिस ढंग से वर्णन किया है, वह साधारण मानव का वर्णन नहीं। कवि ने उन्हें 'भक्तन को सिरताज' कहकर भी पुकारा है।[५] साथ ही उनके अनुसार सीता की प्राप्ति, शत्रु-दलन और जयसिद्धि का टीका हनुमान ही को मिला है।[६]

---

१. विनयपत्रिका, पद ३३-३५
२. वही, पद २६
३. वही, पद २६
४. वही, पद २५-३०
५. रामचन्द्रिका, प्रकाश २१, पद ३६
६. वही, प्रकाश २१, पद ३८

राम का व्यक्तित्व : ऐतिहासिक रूप

किसी व्यक्ति को अतिप्राचीन सिद्ध करने के लिए उसके और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों तथा स्थानों के नामों को वेदों में ढूँढ़ निकालने की प्रथा यहाँ नवीन नहीं। कितने ही उत्साही राम-भक्तों ने राम-चरित से संबद्ध सभी प्रधान पात्रों राम, दशरथ, जनक, रावण, सरयू, गंगा-यमुना आदि स्थानों के नाम वैदिक साहित्य में ढूँढ़ निकाले हैं। इतना ही नहीं, राम के पूर्वजों इक्ष्वाकु, सुद्युम्न, सुदास, यौवनाश्व, सगर और उनके पुत्रों तक का अस्तित्व वेदों में ढूँढ़ निकाला गया है। फिर भी उनके इस प्रयत्न की किसी ने गम्भीरतापूर्वक सराहना नहीं की है। मैक्डानल और जैकोबी के अनुसार वहाँ राम का अर्थ इन्द्र है और सीता का अर्थ लांगल-पद्धति हराई या कूँड़ है, दाशरथि राम से इनका कोई संबन्ध नहीं।[1] अन्य विद्वान् भी जिन्होंने इस विषय में अनुसन्धान कार्य किया है, वेदों में राम-कथा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। फादर कामिल बुल्के का निश्चित मत है कि वैदिक काल में आधुनिक रामकथा के अस्तित्व को ढूँढ़ना व्यर्थ का ही प्रयास है। केवल कुछ नामों के सादृश्य के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना किसी भी तरह तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

"इस तरह देखा जा सकता है कि वैदिक रचनाओं में रामायण के एकाध पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं लेकिन न तो इनके पारस्परिक सम्बन्ध की सूचना ही दी गयी है और न इनके विषय में किसी तरह रामायण की कथावस्तु का किंचित् भी निर्देश किया गया है। जनक और सीता का बार-बार उल्लेख होने पर भी दोनों का पिता-पुत्री सम्बन्ध कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है।"[2]

इस विषय पर कुछ और विचार करने के पश्चात् उन्होंने इसी मत को फिर इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"अतः वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा राम-कथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं, इसकी समस्त विस्तृत वैदिक साहित्य में कोई भी सूचना नहीं दी जाती।"[3]

राम का सर्वप्रथम अस्तित्व हमें वाल्मीकि-कृत रामायण में मिलता है। इस रामायण की रचना का आधार क्या है इस विषय में कई मत हो सकते हैं। अधिक ग्राह्य मत यह है कि राम-कथा सम्बन्धी जो आख्यान लोक-जीवन में प्रचलित थे उन्हें लेकर रामायण की रचना हुई। इस विषय में फादर बुल्के ने अपने मत को इस प्रकार व्यक्त किया है—"इस सामग्री की अल्पता का ध्यान रखकर यह निःसंकोच कहा जा

---

१. रामभक्ति में रसिक-भावना का विकास, पृ० ३४-३५

२. राम-कथा, पृ० २८

३. वही, पृ० २९

सकता है कि समस्त रामायण का आधार पाली-गाथाओं में ढूँढ़ना व्यर्थ है। रामायण के राम-कथा-संबन्धी आख्यान-काव्य की थोड़ी सी सामग्री पाली-गाथाओं में आ गयी है। इसका अर्थ यह है कि जिस समय पाली त्रिपिटक बन रहा था (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), उस समय रामकथा को लेकर पर्याप्त मात्रा में आख्यान-काव्य की रचना हो चुकी थी।''[1] रामायण में मानवरूप का वर्णन है, ईश्वर-रूप का नहीं। जिन स्थलों पर अतिमानवीय रूप का वर्णन है वे प्रक्षिप्त हैं, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है।

महाभारत में अरण्य, द्रोण और शान्तिपर्वों में रामायण के कथांश मिलते हैं। रामोपाख्यान में पूरी रामकथा मिलती है। निश्चित है कि यह रामकथा से ली गयी है। अष्टाध्यायी में कोसल, कैकेयी तथा सरयू के नाम हैं पर राम-कथा से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक स्थान पर रावण के विनाश का कारण उसकी इन्द्रिय-लोलुपता बताया गया है।[2] स्पष्ट है कि लेखक राम-कथा से परिचित है। अर्थशास्त्र का निर्माण-काल ४०० ई० पूर्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय तक राम की कथा प्रचलित हो चुकी थी। शिला-लेखों में राम के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख नासिक के गुप्त-शिलालेख में मिलता है। इसमें राम के नाम का उल्लेख दो बार हुआ है। पहला सन्दिग्ध है। दूसरे का उल्लेख नहुष, सागर, अम्बरीष आदि रघुवंशी पूर्वजों के साथ होने से निश्चित रूप से दाशरथि राम का सूचक है। पहले में भी राम का विशेषण धनुर्धारी है। अवतार-भावना से पूर्व दाशरथि राम ही धनुर्धारी रूप में प्रसिद्ध रहे हैं।

शिलालेखों में राम के उतने उल्लेख नहीं मिलते हैं जितने कृष्ण-सम्बन्धी, और जो उल्लेख मिलते हैं वे भी बहुत प्राचीन नहीं। श्री विंटरनित्स ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में इस लक्ष्य की ओर संकेत किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वासु-देव कृष्ण के साम्प्रदायिक विकास का ज्ञान पाणिनि को है, शिलालेखों में जिस प्रकार उसका उल्लेख है, उस प्रकार राम के ऐतिहासिक विकास का परिचायक कोई उल्लेख कहीं नहीं मिलता। राम की ऐतिहासिकता के द्योतक जो दो ग्रंथ वाल्मीकि-रामायण और 'महाभारत' रह जाते हैं, उनका आधुनिक रूप उपदेशात्मक होने के कारण अनु-मानित अधिक कहा जा सकता है। वाल्मीकिरामायण और महाभारत में आये रामो-पाख्यान जनश्रुतिपरक कहे जाते हैं।[3] हाँ, साहित्य के माध्यम से राम जन-जीवन में व्याप्त हो चुके थे। कालिदास ने तो 'रघुवंश' लिखकर पूरे सूर्यवंश का वर्णन किया है और उनसे पूर्व भास कवि भी राम को अपनी रचना का आधार बना चुके थे। जो राम जन-जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं, सदियों से जो कोटिशः मानवों के लिए आराध्य रहे हैं, वे अनैतिहासिक हों, ऐसा नहीं लगता।

---

१. राम-कथा, पृ० ९८
२. कौटिलीय अर्थशास्त्र, १।५।३
३. हि० इंडि० लि०, पृ० ५०८-९

अध्यात्म पक्ष

ऐसे भी व्यक्ति हैं जो राम-कथा को ऐतिहासिक न मानकर उसे अध्यात्म रूप में ग्रहण करते हैं। १४वीं शताब्दी में वेदान्तदेशिक नाम के एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हुए हैं। उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"जानकी जीव है, हनुमान गुरु हैं, लंका शरीर है जिसमें जानकी रूपी जीव बन्द रहता है। लंका के राक्षस दर्प से प्रचंड इन इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ और मन हैं, जो लंका रूपी शरीर में रहते हैं और जानकी रूपी जीव को घेरे रहते हैं। लंका के चारों ओर का समुद्र देह को घेरे रहने वाला भवसिन्धु है। राम परमात्मा हैं। हनुमान रूपी गुरु जब जानकी रूपी जीव को परमात्मा राम का संदेशा देता है तब जीव के मन का भार हल्का हो जाता है। उसकी भव-पीड़ा कम हो जाती है और गुरु की बतायी साधना के द्वारा अपने हृदय पर भगवान् की मुद्रा लगाकर वह उसे प्राप्त कर लेता है।[१]

महात्मा गांधी अपने स्वप्न के राज्य को 'रामराज्य' कहा करते थे। उनकी प्रार्थना में होने वाली रामधुन से सभी परिचित हैं, पर वे भी राम के ऐतिहासिक पक्ष को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए राम की कथा रूपक भर है। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—"और रामचन्द्र? कौन सिद्ध कर सकता है कि रामचन्द्र ने लंका में खून की नदी बहायी थी? दस सिरवाला रावण कब जन्मा? बन्दरों की फौज किसने देखी? रामायण धर्म-ग्रंथ है, वह रूपक है। करोड़ों लोग जिस राम की पूजा करते हैं वह राम घट-घट-व्यापी है। रावण भी हमारे शरीर में रहने वाले, दस सिर वाले विकराल विकारों का प्रतीक है। अगर किसी ऐतिहासिक राम ने ऐतिहासिक रावण से युद्ध भी किया हो तो उससे हमें सीखने को बहुत नहीं मिलता। क्या इस प्राचीन राम-रावण को खोजने की जरूरत है? आज तो वे दर-दर पड़े हैं, सनातन राम ब्रह्म-स्वरूप हैं, सत्य-अहिंसा की मूर्ति हैं।"[२]

रूपक

डाक्टर वेबर भी राम-कथा को रूपक-भर मानते हैं, ऐतिहासिक तथ्य के रूप में उसे स्वीकार नहीं करते। अन्तर केवल इतना है कि वे रूपक मान कर भी उसकी व्याख्या आध्यात्मिक ढंग से नहीं करते। उनके अनुसार राम-कथा आर्य-सभ्यता के विकास की कथा है। उनके मत का जो सारांश डा० फादर कामिल बुल्के ने दिया है, हम यहाँ उसे ही उद्धृत किये देते हैं—

"फिर भी डा० वेबर के अनुसार रामायण का समस्त काव्य एक रूपक मात्र

---

१. रामभक्ति शाखा, पृ० ४०
२. विश्व-धर्म-दर्शन, पृष्ठ ८३

है जिसके द्वारा आर्य सभ्यता और कृषि का प्रचार दिखलाया जाता है। प्रधान पात्र सीता, जिसका हरण और पुनःप्राप्ति काव्य की कथावस्तु है, कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर खेत की सीता (लांगल-पद्धति) का मानवीकरण मात्र है और आर्य-कृषि का प्रतीक माना जाना चाहिए। 'बैदिक सीता' कृषि की अधिष्ठात्री देवी और रामायण की सीता अभिन्न हैं। रामायण में सीता के जन्म और तिरोधान सम्बन्धी वृत्तान्त इसकी ओर निर्देश करते हैं। उनकी बहिन उर्मिला के नाम का अर्थ 'लहराता हुआ' समझना चाहिए। भवभूति के 'उत्तररामचरित' में भी उनके पिता जनक का एक विशेषण सीरध्वज मिलता है, जो कृषि से सम्बन्ध रखता है। (डा० वेल्वलकर उसके पुत्र का भी उल्लेख करते हैं। कुश एक घास का नाम है और लव लुनने से आता है)। आदिवासियों के आक्रमणों से इस सीता, आर्य-कृषि के प्रतीक, की रक्षा राम पर निर्भर है। डा० वेबर के अनुसार राम (दाशरथि) और बलराम (हलभृत्) का सम्बन्ध स्वयंसिद्ध है। प्रारम्भ में वे एक थे, बाद के विकास में वे दो भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में प्रसिद्ध हो गए। राम का वनवास हेमन्त ऋतु का प्रतीक है जब प्रकृति और विशेषकर कृषि का कार्य स्थगित होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत में जहाँ राम-राज्य का वर्णन है, वहाँ इस बात का विशेष उल्लेख मिलता है कि कृषि की असाधारण उन्नति हुई थी। वास्तव में महाभारत के द्रोणपर्व और शान्तिपर्व में रामराज्य का वर्णन किया जाता है। इस वर्णन के अनेक श्लोक रामायण में भी मिलते हैं। केवल शान्तिपर्व में कृषि का उल्लेख हुआ है—

कालावर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥५३॥
नित्यं पुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥५८॥

पर्जन्य यथासमय जल बरसा कर शस्य उत्पन्न करता था। इससे राम के राज्य-शासन के समय किसी भाँति का दुर्भिक्ष नहीं पड़ता था ······वृक्ष सदा फलों-फूलों से युक्त रहते थे, गौएँ बड़े परिमाण में दूध देती थीं।

विष्णु और राम

आज विष्णु और राम की एकता सर्वमान्य है। जो विष्णु हैं, वे ही राम हैं और जो राम हैं वे ही विष्णु हैं। दोनों की इस एकता की खोज के लिए जब हम पीछे की ओर मुड़ते हैं तो हमारी दृष्टि वैदिक साहित्य और वाल्मीकिरामायण की ओर जाती है। अभी पीछे हम कह आये हैं कि बैदिक साहित्य में राम-कथा की कहीं चर्चा नहीं। जब वहाँ राम-कथा का ही अस्तित्व नहीं तब राम और विष्णु के ऐक्य के प्रमाण ढूँढ़ना व्यर्थ ही है। रही बात वाल्मीकि-कृत रामायण की, उसमें ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। वहाँ इस बात का उल्लेख

है कि रावण के अत्याचार से तंग आकर सब देवता ब्रह्मा के साथ विष्णु के पास गये और उनसे लोकहित के लिए दशरथ के घर पुत्र-रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की। विष्णु ने उन्हें आश्वासन दिया और तदनुसार कौशल्या के गर्भ से राम-रूप में अवतरित हुए।[१] आगे चलकर रामरूप में अवतरित होने पर उनके द्वारा अहल्या के उद्धार का उल्लेख है।[२] पर इस उल्लेख के बाद भी इन स्थलों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह बना ही रहता है। बहुत से विद्वान् इन स्थलों को प्रक्षिप्त मानते हैं। भास के समय तक राम और विष्णु की अभिन्नता मान्य हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार मानते हुए लिखा है---

इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम्।
सा भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता॥

कालिदास (रचनाकाल ३ य शती) को भी विष्णु और राम की अभिन्नता मान्य थी। देवताओं से जब रावण के अत्याचार न सहे गए तो वे विष्णु के पास गये। शेष-नाग पर आसीन उन भगवान् विष्णु ने देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्हें अभय दिया और कहा कि मैं दशरथ के यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लेकर रावण के शिरों को रण-भूमि में बलि के योग्य बना दूँगा।[३] राम के विवाह के प्रसंग में परशुराम अपने धनुष पर डोरी चढ़ा दिये जाने पर उन्हें विष्णु कहकर उनकी स्तुति करते हैं। वे कहते हैं कि आपके वैष्णव रूप को देखने की इच्छा से ही मैंने जानबूझ कर क्रोध किया है।[४] आगे कहा गया है कि राम ने जनकल्याण के लिए रावण राक्षस को मारने की प्रतिज्ञा की क्योंकि विष्णु का राम-रूप में जन्म धर्मरक्षा के लिए ही हुआ है।[५] एक अन्य स्थान पर कालिदास ने लव को विष्णु का पुत्र कहा है।[६] माघ कवि ने भी विष्णु, राम और कृष्ण को एक ही माना है। नारदमुनि कृष्ण से बातें करते हुए कहते हैं कि नृसिंह-रूप धारण करके आपने जिस हिरण्यकशिपु का वध किया, वही बाद में रावण बना और वही अब शिशुपाल रूप में उत्पन्न हुआ है।[७]

श्रीमद्भागवत भक्ति-साहित्य का सर्वप्रमुख पुराण है और वैष्णवों के लिए उसका महत्त्व वेदों के महत्त्व से किसी प्रकार कम नहीं। इस पुराण में कहा गया है कि भगवान् के चौबीस अवतारों में से अठारहवाँ अवतार राम के रूप में है।[८] इसी

---

१. वाल्मीकिरामायण, बा० कां० १६
२. वही, उत्तरकांड ३०
३. रघुवंश, १०-४५
४. वही, ११-८५
५. वही, १५-४
६. वही, १६-८२
७. शिशुपालवध, सर्ग १, श्लोक ४२-६६
८. भागवत, स्कन्ध १, अ० ३

अवसर पर पुराण में राम के जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। एक अन्य पुराण में भी राम को विष्णु का अवतार कहा गया है और उनकी पूरी वंशावली भी दी गयी है। वहाँ कहा गया है कि अज के पुत्र दशरथ हुए और दशरथ के पुत्र के रूप में साक्षात् विष्णु ने जन्म लिया।[1] राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् लिखा है कि वे फिर अपने भ्राताओं के सहित स्वर्ग लोक में चले गए। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि हिरण्यकशिपु को मारने के लिए भगवान् विष्णु ने नृसिंहावतार में प्रह्लाद को दर्शन दिये थे। वही हिरण्यकशिपु भगवान् के स्वरूप का बोध प्राप्त न कर सकने के कारण अगले जन्म में रावण बना और उसके विनाश के लिए भगवान् विष्णु राम के रूप में अवतरित हुए।[2]

अध्यात्म-रामायण में राम और विष्णु की एकता का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया है। वहाँ कहा गया है कि जब द्विजों ने यह जान लिया कि राम विष्णु के ही रूप हैं तो उनके हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो गयीं और वे राम का ही चिन्तन करने लगे।[3] चित्रकूट में भरत को समझाते समय वशिष्ठ ने कहा है कि राम साक्षात् विष्णु ही हैं और ब्रह्मा की प्रार्थना तथा अनुरोध पर रावण के वध के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।[4] इसी ग्रन्थ में पृष्ठ ३१७-१८ पर ब्रह्मा द्वारा, पृष्ठ ३१९-२० पर इन्द्र द्वारा और पृष्ठ ३२१ पर शंकर द्वारा जो राम की स्तुति की गयी है वह उन्हें विष्णु का अवतार समझकर ही की गयी है। राम जब जन्म लेते हैं तो उनके सब लक्षण विष्णु के लक्षण हैं। वहाँ कौशल्या के मुख से कहलाया गया है कि शंख, चक्र, गदाधारी, अच्युत, अनन्त, पूर्ण पुरुषोत्तम को नमस्कार हो, तुम मन, वाणी आदि इन्द्रियों से अगोचर हो। सत्त्व, रज और तम से युक्त होकर सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करते हो।[5]

जहाँ तक हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य का प्रश्न है, उसमें तो स्थान-स्थान पर राम और विष्णु को एक माना गया है। स्वामी रामानन्द ने भगवान् विष्णु के विविध रूपों में से राम को छाँट लिया, राम-नाम की पूजा का विधान किया और गोस्वामी तुलसीदास ने राम-नाम को घर-घर तक पहुँचा दिया। रामचरितमानस में शिव पार्वती को समझाते हुए कहते हैं कि मुनि लोग नेति-नेति कहकर जिसका वर्णन करते हैं, वेद-पुराण जिसका यश गाते हैं, उन्हीं सर्वव्यापक विश्वपति ब्रह्मा ने राम के

---

१. विष्णुपुराण, अंश ४, अ० ४
२. वही, अ० १५
३. अध्यात्मरामायण, अयो० कां०, पृ० ८३
४. वही, अयो० कां०, पृ० १११
५. वही, बा० कां०, ३।२०-२७

रूप में अवतार लिया है। इसी प्रसंग में पार्वती द्वारा राम के विविध जन्मों की बात पूछी जाने पर शिव कहते हैं कि जय-विजय नाम के भगवान् विष्णु के दो द्वारपाल सनकादि के शापवश हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बने। एक का विनाश उन्होंने वराह बनकर किया और दूसरे का नृसिंह रूप धारण कर। वह हिरण्यकशिपु फिर जालन्धर बना और बाद में रावण, जिसके उद्धार के लिए विष्णु को राम बनना पड़ा। राम-नाम के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नाम के कारण ही प्रह्लाद भक्त श्रेष्ठ बने। ध्रुव ने नाम ही से भगवान् को वश में कर लिया। हनुमान नाम से ही इतने ऊँचे उठे। अजामिल, गज, गणिका सभी नाम के प्रभाव से मुक्त हो गये। पुराणों में इन सब का उद्धार विष्णु द्वारा दिखलाया गया है। यहाँ विष्णु और राम में अभिन्नता मानकर ही रामनाम द्वारा इनकी सद्गति का वर्णन किया गया है। नारद के माँगने पर जब विष्णु अपना रूप न देकर बन्दर का रूप देते हैं तो नारद उन्हें फटकारते हुए कहते हैं कि तुम तो सदैव के छलिया हो। समुद्र-मन्थन के समय तुमने शंकर को बहकाकर विष का पान करा दिया और स्वयं रमा को छाँट लिया—

मथत सिन्धु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि विषपान करायहु॥

... .

असुर सुरा विष शंकरहि, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम, सदा कपट व्यवहारु॥[1]

यहीं नारद विष्णु को मानव होने और वानरों द्वारा सहायता प्राप्त करने के लिए विवश होने का शाप देते हैं। राम के अवतार का भी यही कारण था।

केशव भी राम और विष्णु को एक ही मानकर चले हैं। उन्होंने ब्रह्मा के मुख से कह कहलाया है—

जहाँ सच्चिदानन्द रूपै धरेंगे। सुत्रैलोग के ताप तीनों हरेंगे॥
कहेंगे सबै नाम श्री राम ताको। स्वयं सिद्ध है शुद्ध उच्चार जाको॥[2]

सेनापति की दृष्टि में भी राम और विष्णु अभिन्न हैं। उन्होंने स्थान-स्थान पर राम को पूर्ण पुरुष का पुरातन अवतार कहकर इसी भावना को व्यक्त किया है।[3] राम की चरण-पादुकाओं की स्तुति करते हुए उन्होंने रानी कमला को "पिय आगम कहन-हारी" कहकर भी दोनों का अभिन्नत्व प्रकट किया है।

राम और विष्णु के भेदवाले स्थल एकदम न मिलते हों, ऐसी बात नहीं है। तुलसी में ही ऐसे अनेक स्थल मिल जाते हैं। रामचरितमानस में सती-प्रसंग में राम ने अनेक विष्णु और ब्राह्म दिखाये—

---

१. रा० च० मा०, बा० कां०, दोहा १३६

२. रा० चं०, २६।५

३. क० रत्ना०, ४।३

देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका ।
अमित प्रभाउ एक ते एका ।।[१]

इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु ने जब राम को देखा तो वे मोहित हो गये—

हरि हित सहित रामु जब देखे…

रावण के दूत लौटकर जब रावण को सारी बातें सुनाते हैं तो लक्ष्मण की पाती भी देते हैं । लक्ष्मण के सन्देश में भी राम और विष्णु का भेद प्रकट होता है—

राम बिरोध न उभरसि सरन बिष्नु अज ईस ।[२]

पर इन सब स्थलों को दोनों के भेद का सूचक मानना तर्कसंगत नहीं होगा । इन सब स्थलों पर राम का सर्वाधिक महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए ही इन्हें विष्णु से उत्कृष्ट कहा गया है । इसका भाव केवल इतना ही है कि कवि को परब्रह्म के विष्णु-रूप की अपेक्षा राम-रूप अधिक पसन्द है । पूर्वापर प्रसंग को ध्यान से देखने पर दोनों का अभिन्नत्व ही सिद्ध होता है ।

राम विष्णु के अवतार हैं, यह मानस में अनेक स्थलों पर वर्णित है । उन्होंने अपने भक्त द्वारपालों को मुक्त कराने के लिए अवतार लिया है । ये भक्त विप्र-शाप से रावण और कुम्भकर्ण के रूप में पैदा हुए थे—

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ । जय अरु विजय जान सब कोऊ ।।
बिप्र साप तें दूनउ भाई । तामस असुर देह तिन पाई ।।
भये निसाचर जाइ तेह, महावीर बलवान ।
कुम्भकरन रावन प्रकट, सुरविजई जग जान ।।
मुकुत न भए हते भगवाना । तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना ।।
एक बार तिन्हके हित लागी । धरेउ सरीर भगत अनुरागी ।।[३]

चित्रकूट की शोभा के प्रसंग में वे कहते हैं कि जिस स्थान पर विष्णु अवतार लेकर रामरूप में निवास करते हों, उसकी शोभा का क्या कहना है ?—

सो बनु सैलु सुभाय सुहावन । मंगलमय अतिपावन पावन ।।
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू । सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ।।
पय पयोधि तजि अवध बिहाई । जहँ सिय लखन राम रहे आई ।।[४]

---

१. रा० च० मा०, पृ० ३८ (गी० प्रे० सं०)
२. वही, पृ० ८५२ (गी० प्रे० सं०)
३. रा० च० मा०, पृ० १३५-६
४. वही, पृ० ५०३ (गी० प्रे० सं०)

कितने ही स्थानों पर उन्हें तुलसी ने 'रमानिवास' और 'सिन्धुसुताप्रिय-कंता' कहकर उनके विष्णु रूप का उल्लेख किया है। बालकांड में देवताओं द्वारा संकट-मोचन की प्रार्थना किये जाने पर आकाशवाणी के रूप में जब भगवान् विष्णु उन्हें अभय देते हैं तो वे कहते हैं कि समय आने पर मैं कश्यप और अदिति को दिये गये वर को पूरा करने के लिए दशरथ और कौशल्या के घर जन्म लूँगा। इसी प्रकार के अन्य उल्लेख भी मानस में पर्याप्त स्थानों पर पाये जाते हैं।

तुलसीदास आरम्भ से ही विष्णु और राम को एक मानकर चले हैं। इस प्रकार की उक्तियों से मानस भरा पड़ा है। मानस के अतिरिक्त 'गीतावली' में राम के रूप में विष्णु के अवतार का उल्लेख है।[1] एक अन्य पद में उनकी स्तुति 'कैटभारे' कह कर की गयी है जो पुराणों में विष्णु का प्रसिद्ध विशेषण है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति-काल तक विष्णु और राम का एकत्व स्थापित हो चुका था, अतः इस शाखा में भी एकत्व का ही प्रतिपादन है।

सीता और लक्ष्मी—राम और विष्णु का अभिनत्व हो जाने पर सीता और लक्ष्मी की अभिन्नता स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए प्रयास की आवश्यकता नहीं। जो प्रमाण वहाँ उद्धृत किये गए हैं उन्हें फिर से उद्धृत करना पिष्टपेषण ही होगा। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि विष्णु और लक्ष्मी का साथ नित्य है। लक्ष्मी की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनका तिरोभाव कभी नहीं होता। वे जगज्जननी नित्य हैं। जिस प्रकार श्री विष्णु भगवान् सर्वव्यापक हैं, वैसे ही यह भी हैं। विष्णु अर्थ हैं और ये वाणी हैं, हरि न्याय हैं और यह नीति हैं, विष्णु बोध हैं और यह बुद्धि हैं, वह धर्म हैं और यह सत्कर्म हैं। भगवान् श्रीधर चन्द्रमा हैं और लक्ष्मी उनकी अक्षय कान्ति हैं। श्री गोविन्द समुद्र हैं और लक्ष्मी जी उनकी तरंग। भगवान गदाधर आश्रय हैं पौर लक्ष्मी जी शक्ति हैं।[2] यह भी कहा गया है कि इस विश्व में जो भी पुरुषवाचक पदार्थ है वह विष्णु है और जो स्त्रीवाचक है वह लक्ष्मी है।[3] उनके विविध अवतारों का भी पुराणों में उल्लेख है।

कहा गया है कि जगत्-स्वामी देवाधिदेव जनार्दन जैसे बार-बार नाना प्रकार से अवतार लेते हैं, उनकी सहायिका श्री या लक्ष्मी देवी भी वैसा ही करती हैं। हरि जब आदित्य हुए थे, लक्ष्मी तब फिर कमल से उत्पन्न हुई थीं, जब भार्गव राम हुए थे तब यह धरणी बनी थीं। राघव के लिए यह सीता बनीं और कृष्ण के लिए रुक्मिणी। अन्य दूसरे अवतारों में भी यह विष्णु की सहायिका रही हैं। यह देवत्व में देवदेहा और मनुष्यत्व में मानुषी बनकर विष्णु के देह के अनुरूप आत्मतनु ग्रहण करती

---

१. गीतावली, बा० कां०, पद २५

२. विष्णुपुराण, १।८।१५-३२

३. विष्णुपुराण, अध्याय ६, श्लोक १७-३५

हैं ।[1] इसी प्रकार के अन्य विविध प्रमाणों का उल्लेख न कर हम इतना ही कह देना ठीक समझते हैं कि वैष्णव धर्म में सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व सर्वमान्य था और हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल के कवियों ने उन्हें अभिन्न भाव से ही ग्रहण किया है । इस पुराण-साहित्य के अतिरिक्त लोक-साहित्य में भी उन्हें लक्ष्मी से अभिन्न ही समझा गया । भास कवि ने 'अभिषेक' नाटक में स्पष्ट शब्दों में दोनों की अभिन्नता को स्वीकार किया है—

> इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम् ।
> सा भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता ।।

अध्यात्मरामायणकार भी राम को परम पुरुष और सीता को उनकी अनादि शक्ति मानते हैं । सीता ने अपने मुखारविन्द से हनुमान से कहा है कि राम को सब उपाधियों से विनिर्मुक्त परम पुरुष और मुझे उनकी प्रकृति समझो । मैं ही उनकी मूल प्रकृति रूप में सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली हूँ—

> रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमव्ययम् ।
> सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ।।
> मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम् ।
> तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता ।।[2]

रामचरितमानस के बालकांड के आरम्भ में सीता की स्तुति करते हुए उन्हें उद्भव, स्थिति और प्रलयकारिणी कहा गया है । वे ही सर्वश्रेयस्करी हैं, क्लेशहारिणी हैं और रामवल्लभा हैं—

> उद्भव-स्थिति-संहार-कारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
> सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।।[3]

इसी काण्ड में यह भी कहा गया है कि किस प्रकार मनु और शतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने उनके यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लेने का वर-दान दिया है ।[4] यहीं भगवान् ने सीता-रूप में आदिशक्ति के जन्म लेने की बात कही है—

> आदिशक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ।।[5]

विष्णु आदिपुरुष हैं तो सीता आदिशक्ति हैं, दोनों अभिन्न हैं । सीता के

---

१. विष्णुपुराण, १।९, श्लोक १४२-१४५
२. अध्यात्मरामायण, १।३२-३४
३. रा० च० मा०, बा० कां०, श्लोक ५
४. वही, दोहा १५१, चौ० १-२
५. वही, चौ० ४

स्वयंवर के समय एकत्र हुए बहुत से राजाओं के मुख से कवि ने सीता को जगदम्बा कहलाया है—

सिख हमार सुनि परम पुनीता । जगदम्बा जानहु जिय सीता ।।

एक अन्य स्थान पर कवि ने वालमीकि मुनि के मुख से राम और सीता का अभिन्नत्व प्रदर्शित कराया है । राम यदि श्रुति-रूपी सेतु के पालक जगदीश हैं तो जानकी उनकी माया हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ।।

केशव को भी सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व स्वीकार है । सीता के देवी रूप में हमने जो पद उद्धृत किये हैं उनमें यह भाव भली प्रकार स्पष्ट है । उन पदों के अलावा यहाँ वह प्रसंग उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा जब राजसूय यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् रामचन्द्र जी दान कर रहे हैं, वहाँ लेखक ने राम और सीता को अभिन्न समझकर राम के लिए 'रमापति' शब्द का प्रयोग किया है—

यज्ञ पूरण के रमापति दान देत अशेष ।
हीर नीरज चीर माणिक वरषि वर्षा वेष ।।[१]

एक अन्य स्थल पर भी कवि ने लक्ष्मी और सीता को अभिन्न मानकर विष्णु के लिए 'सीतानाथ' शब्द का प्रयोग किया है—

सोवत सीतानाथ के, भृगुमुनि दीन्हीं लात ।
भृगु कुलपति की गति हरी, मनो सुमिरि यह बात ।।[२]

यही स्थिति सेनापति की भी है । उन्होंने जहाँ-जहाँ राम के परब्रह्म रूप का उल्लेख किया है वहीं-वहीं सीता का लक्ष्मी के साथ अभिन्नत्व भी उन्हें स्वीकृत है । राम के परब्रह्म की रूप चर्चा करते हुए उन्होंने राम को 'कमलापति' कहकर लक्ष्मी और सीता के अभिन्नत्व का प्रतिपादन किया है—

जगत कौ करता है, धरा हू कौ धरता है,
कमला कौ भरता है हरता बिपति कौ ।[३]

विष्णु और लक्ष्मी

सीता और लक्ष्मी-प्रसंग में हमने पुराणों से जो श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें विष्णु और लक्ष्मी के नित्य साहचर्य का उल्लेख है । आज जन-साधारण इन दोनों के साहचर्य में अटूट विश्वास रखता है और उसे वैदिक काल की देन मानता है पर वस्तु

१. रामचन्द्रिका, प्रकाश ३६, पद १८
२. वही, प्रकाश ७, पद ५२
३. कवित्तरत्नाकर, तरंग ५, पद ७

स्थिति एकदम ऐसी ही नहीं है । वैदिक विष्णु और श्री या लक्ष्मी के दाम्पत्य सम्बन्ध के उल्लेख वेदों में नहीं मिलते । "अवतारवादी विकास की दृष्टि से अवतार धारण-कर्ता विष्णु और लक्ष्मी के जिस युगल रूप का अस्तित्व पुराणों में लक्षित होता है उसका वैदिक विष्णु के साथ कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता क्योंकि वैदिक साहित्य में श्री या लक्ष्मी का स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है । वैदिक साहित्य के मर्मज्ञों ने श्री और लक्ष्मी के स्वतंत्र रूपों को सौन्दर्य और धन की देवी माना है ।[1]

जहाँ तक लक्ष्मी के दमपत्य का प्रश्न है, वहाँ यह सम्बन्ध विष्णु की अपेक्षा ईश और इन्द्र से अधिक स्पष्ट होता है । इसके विपरीत विष्णु का सम्बन्ध पृथक् अस्तित्व वाली एक वैदिक देवी सिनी वाली से विदित होता है । अथर्ववेद की एक ऋचा में सिनीवाली के लिए 'विष्णोः पत्नि' का प्रयोग हुआ है—

या विश्वत्मीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तु काभियन्ती देवी ।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ।।

श्री जे० गोदे ने शतपथ ब्राह्मण (३।४।२।१) के एक आख्यान के आधार पर विष्णु के पूर्व उनके सखा इन्द्र से श्री के सम्बन्ध का अनुमान किया है ।

इन्द्र और श्री का यह सम्बन्ध महाभारत में भी दृष्टिगत होता है । वहाँ अर्जुन को इन्द्र और द्रौपदी को इन्द्र की पूर्व आर्या लक्ष्मी कहा गया है—लक्ष्मी चैषां पूर्व-मेवोपदिष्टा माया यैषा द्रौपदी दिव्य रूपा ।[2] शतपथ में भी अर्जुन इन्द्र का गुह्य नाम बताया गया है—अर्जुनो ह्वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्य नाम (२।१२।११) । महाभारत (१।६७।१५७) में इन्द्राणी, द्रौपदी और लक्ष्मी, इन तीनों को अभिन्न कहा गया है । इससे स्पष्ट है कि पूर्वकाल में लक्ष्मी विष्णु की अपेक्षा इन्द्र-पत्नी के रूप में प्रचलित थी ।[3]

फिर विष्णु और लक्ष्मी के दाम्पत्य सम्बन्ध की धारणा किस प्रकार प्रचलित हुई ? उत्तर में कहा जा सकता है कि ब्राह्मण-काल में जो नारायण 'पुरुष' रूप में स्वरूपित था, उसे तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१।६) में "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णु प्रचोदयात्" में विष्णु रूप से संबद्ध किया गया है और दूसरे स्थल पर तै० आ० (३।१३।२) में "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्यै" में ह्री और लक्ष्मी को पुरुष की पत्नी कहा गया है । यजुर्वेद (३१।२२) में श्री और लक्ष्मी को पुरुष की पत्नी कहा गया है । कालान्तर में पुरुष, विष्णु, नारायण और वासुदेव के एक हो जाने पर श्री और लक्ष्मी भी विष्णु की पत्नी बन गईं ।

इस प्रकार विष्णु और लक्ष्मी की दाम्पत्य भावना वैदिक और पौराणिक काल के बीच की कही जा सकती है ।

---

१. इन० रि० एथि०, पृ० ८०८
२. म० आ०, १।१९६।३४-३५
३. म० का० सा० अ०, पृ० ३८२

लक्ष्मण—

सौमित्र लक्ष्मण साधारण मानव नहीं, उन्होंने लीला के लिए नररूप धारण किया है। कहा गया है कि रावण के अत्याचार से तंग आकर जब देवता विष्णु के पास गये तो उन्होंने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अपने को चार भागों में बाँटकर राजा दशरथ के पुत्र-रूप में जन्म लें और विष्णु ने फिर वैसा ही किया—

अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ।
विष्णो ! पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम् ।।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोक-कण्टकम् ।
अवध्यं दैवतैर्विष्णो ! समरे जहि रावणम् ।।[1]

कालिदास ने भी कहा है कि एक ही विभु दशरथ की तीनों रानियों के गर्भ में विभक्त होकर इस प्रकार रहने लगे जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा अनेक रूपों में दीख पड़ता है।[2]

पुराणों में भी इसी बात का उल्लेख है कि भगवान् विष्णु ने अपने को चतुर्धा विभक्त किया और राम, लक्ष्मण भरत तथा शत्रुघ्न के नाम से वे ज्ञात हुए—

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः ।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितं सुरैः ।।
राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्ना इति संज्ञया ।।[3]

अध्यात्मरामायण के अनुसार लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। वहाँ एक ही श्लोक में राम को साक्षात् नारायण, सीता को उनकी माया और लक्ष्मण को सर्पराज शेषनाग कहा गया है। सम्पाति वानरों को उनके विषय में कहता है—

रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ।
सीता भगवती माया जनसम्मोहनकारिणी ।
लक्ष्मणो भुवनाधारः साक्षाच्छेषः फणीश्वरः ।।[4]

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में वे शेषनाग के अवतार के रूप में ग्रहण किये गये हैं। वे रूप के निधान हैं। हाथ में धनुष-बाण लिये और कमर में तरकस कसे वे वन में यदि फिर रहे हैं तो भू-भार को दूर करने के लिए ही। क्रोध के समय वे प्रलय-काल की अग्नि के समान भयंकर ज्वालाएँ उगलने वाले हैं, उनके शरीर का रंग चम्पे

१. वाल्मीकिरामायण, बा० कां०, १५।२०-२१
२. रघुवंश, १०।४६
३. भागवत, ९।१०।१-२
४. अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड, ७।१६-१६

के फूल के समान है। वे सौन्दर्य के समुद्र हैं और संग्राम में सर्वशक्तिमान् हैं।[1] एक और स्थान पर कहा गया है कि लक्ष्मण चराचर के स्वामी शेष हैं और समस्त पृथ्वी को अपने सिर पर धारण करते हैं।[2] इस बात का भी वर्णन किया गया है कि मेघनाद की शक्ति लग जाने पर जब लक्ष्मण मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो योद्धाओं ने मिलकर उन्हें उठाना चाहा, पर जगदाधार शेषनाग उनसे कैसे उठते ? बहुत से स्थलों पर उन्हें लक्ष्मण न कहकर शेषनाग के वाचक 'अनन्त' और 'अहीश' आदि शब्दों से याद किया गया है।

चाहे उन्हें विष्णु के वंश के रूप में स्वीकार करें, या शेष नाग के अवतार के रूप में, दोनों ही तरह वे देव-कोटि में आते हैं।

राम और अन्य देवी-देवता

राम-भक्ति-शाखा का देव-भावना-सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक उदार रहा है। राम को अपना आराध्य या इष्टदेव मानते हुए भी इसमें अन्य देवी-देवताओं के प्रति उचित सम्मान और आस्था की भावना प्रदर्शित की गयी है। इसमें न तो अन्य देवताओं की छीछालेदर है, न उन पर प्रत्यक्ष ढंग से व्यंग्य के छींटे हैं और न उन्हें किसी तरह छोटा प्रदर्शित करने की भावना है। इसके विपरीत इसमें अन्य देवी-देवताओं का स्मरण ससम्मान किया गया है। अभी पीछे हमने शिव के देवता और आराध्य रूप की चर्चा की है। उनके अतिरिक्त अन्य स्मरणीय देवताओं की चर्चा ही हमारा विषय है।

'विनयपत्रिका' के प्रथम पद में गणेशजी की स्तुति है। यहाँ उन्हें सब सिद्धियों का सदन, विद्या-वारिधि और बुद्धि-निधान जैसे सुन्दर विशेषणों से सुशोभित किया गया है—

> गाइये गनपति जगवंदन। संकर सुवन भवानी नंदन।।
> सिद्धि-सदन गज बदन विनायक। कृपा-सिंधु सुन्दर सब लायक।।
> मोदक प्रिय मुद-मंगल-दाता। विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता।।[3]

इसी पुस्तक में दूसरे पद में सूर्य की स्तुति की गयी है। कहा गया है कि सुरों और असुरों में कोई ऐसा नहीं जो उसकी सेवा न करता हो—

> दीनदयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा।।
> हिम-तम करिकेहरि करमाली। दहन दोष दुख दुरित सजालि।।

---

१. विनयपत्रिका, ३८।३६
२. रा० च० मा०, अ० कां०, पृ० ४६१
३. वि० प०, पद १

लोक कोकनद लोक प्रकासी । तेज प्रताप रूप रस रासी ।।
सारथि पंगु दिव्यरथगामी । हरि-संकर-विधि मूरति स्वामी ।।[१]

अगले पदों में देवी की स्तुति करते हुए कहा गया है कि वह विश्व की मूल हैं और दुष्टों के दलन के लिए हाथ में त्रिशूल लिये रहती हैं—

(क) दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया ।
विश्व मूलासि बन सानुकूलासि शर-शूल-धारिणी महा मूलमाया ।।

(ख) जय-जय जगजननि देवि सुर नर-मुनि असुर सेवि,
भक्ति मुक्ति दायिनि भयहारनि कालिका ।[२]

रामचरितमानस में सीता को 'अन्तर्जामिनी' और 'भव-भामिनी' पार्वती की पूजा करते हुए चित्रित किया गया है । राम धनुष तोड़ने खड़े होते हैं तो सीता आनुकूल्य के लिए गणेश, गौरी और शिव का ध्यान करती हैं ।

केशव की मनःस्थिति भी अन्य देवताओं के विषय में लगभग ऐसी ही है । यह ठीक है कि उन्होंने इतने देवताओं की स्तुति नहीं की जितनों की तुलसी ने की है, पर जहाँ कहीं किसी देवता का उल्लेख आया है वहाँ उसके प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित किया गया है । रामचन्द्रिका के आरम्भ में ही उन्होंने गणेश की स्तुति करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हाथी का शिशु छोटे-छोटे मृणालों को असानी से तोड़ डालता है उसी प्रकार गणेशजी कराल दुःखों को मार भगाते हैं । वे अपने दास के कलंक को दूर करके उसे स्वच्छ रखते हैं । दसों दिशाओं के सभी व्यक्ति गणेशजी की कृपा के लिए उनका मुख ताका करते हैं—

बालक मृणालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख कौ ।
बिपति हरत हठि पद्‌मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि परुवे वलुख कौ ।
दूरिकै कलंक-अंक भव सीस-ससि सम,
राखत है केसोदास दास के वपुख कौ ।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोहै,
दशमुख मुख जावै गजमुख मुख कौ ।।[३]

सरस्वती की स्तुति में उन्होंने कहा है कि ऐसी बुद्धि किसने पायी है जो जगरानी सरस्वती की उदारता का वर्णन कर सके । ब्रह्मा चार मुखों से, महादेव पाँच

१. वि० प०, पद २
२. वि० प०, पद १५-१६
३. रा० चं०, १।१

मुखों से और षडानन अपने छः मुखों से भी जब उसका वर्णन करते हैं तो उनसे कोई-न-कोई बात छूट ही जाती है—

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति कहौ धौं उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध,
कहि कहि हारे सब कहि न कोई लई।
भावी भूत वर्तमान जगत बखानत है,
केसौदास केहू ना बखानी काहू पै गई।
बनैं पति चार मुख पूत बनैं पाँच मुख,
नाती बनैं षट मुख तदपि नई नई।।[1]

१. रा० चं०, १।२

अष्टम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव भावना का रूप

कृष्ण-भक्ति-शाखा

कृष्णभक्ति-शाखा की देव-भावना का सामान्य स्वरूप

जिस प्रकार रामानन्द रामभक्ति शाखा के प्रवर्तक हैं उसी प्रकार वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति शाखा के प्रवर्तक हैं। परम्परानुगत धारणा यह है कि वल्लभाचार्य से पूर्व विष्णुस्वामी ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया था और इन्हीं की शिष्य-परम्परा में आगे चलकर वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने इस भक्ति-शाखा का इतना प्रसार किया। पर इस प्रकार की धारणा के पीछे किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विद्वान् व्यक्ति वल्लभाचार्य को स्वतंत्र रूप से इस मत का प्रवर्तक मानते हैं। वल्लभाचार्य के चरित-लेखक गोपालदास ने वल्लभाचार्य का विष्णुस्वामी के शिष्य होने का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। गुरु उस काल में ईश्वर के समान आदर का पात्र था। यदि विष्णुस्वामी उनके गुरु होते तो इसका उल्लेख उनके (वल्लभाचार्य) जीवन-चरित्र में कहीं-न-कहीं अवश्य होता। उनका शुद्धाद्वैतवाद का सिद्धान्त भी दार्शनिक जगत् के लिए एक नवीन सिद्धान्त था, उसका प्रतिपादन इससे पूर्व इस रूप में किसी भी आचार्य ने नहीं किया। इन्हीं बातों का ध्यान रखते हुए डा० विजेयन्द्र स्नातक ने इस बात को इन शब्दों में कहा है—"एक तरह से उन्होंने (वल्लभ ने) स्वतंत्र प्रतिभा और मेधा के द्वारा ही वल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दार्शनिक जगत् में एकदम नया है और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को आध्यात्मिक स्वरूप में नवीन दृष्टि-कोण से उपन्यस्त करनेवाला है। इस पर न तो विष्णुस्वामी का कोई प्रभाव है और न किसी अन्य आचार्य का।"[1] इसी सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० स्नातक ने प्रो० जी० एच० भट्ट द्वारा मैसूर की ओरियण्टल कान्फ्रेन्स में पढ़े गये निबंध का हवाला देते हुए कहा है कि उनके अनुसार भी ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

---

१. रा० व० सं० सि० सा०, पृ० ४६

इष्टदेव का रूप

कृष्ण-भक्ति शाखा में भगवान् की कृष्ण रूप में पूजा की जाती है, यह तो स्पष्ट ही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कृष्ण कोई साधारण मानव या देवता नहीं हैं। अद्वैत निर्गुण ब्रह्म ही कृष्ण रूप में इस भू पर अवतरित हुआ है। कवि परामर्श देता है कि नयनों से श्याम के स्वरूप को देखो। वही अनूप ज्योति रूप होकर घट-घट में व्याप्त हो रहा है। सप्त पाताल उसके चरण हैं, आकाश सिर है, तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, सब में उसी का प्रकाश है।[1] आगे चल कर कहा गया है कि हरि (कृष्ण) अनादि, सनातन, अविनाशी और निरन्तर घट-घट-वासी हैं, पुराण उन्हें पूर्ण ब्रह्म कहते हैं, शिव और चतुरानन उनका अन्त नहीं पाते। उनके गुणगण अगम हैं, उन्हें निगम भी नहीं पा सकते। वे ही पुरातन पुरुष हैं।[2] नामकरण के समय गर्गमुनि कहते हैं—ये ही रूप-रेखा-हीन आदिप्रभु हैं। इन से भिन्न और कोई प्रभु नहीं है।[3]

नन्ददास के अनुसार भी यशोदा के लाल और हलधर के वीर कृष्ण ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, कालों के काल हैं और शिव के सर्वस्व हैं—

नंद-भवन को भूषन माई।
जसुदा कौ लाल, वीर हलधर कौ राधा रमन परम सुखदाई॥
सिव कौ धन, संतन कौ सरबस, महिमा बेद-पुरानन गाई।
इंद्र कौ इंद्र, देव देवन कौ, ब्रह्म कौ ब्रह्म, अधिक अधिकाई॥
काल कौ काल, ईस ईसन कौ, अतहि अतुल, तौल्यौ नहिं जाई।
'नंददास' कौ जीवन गिरिधर, गोकुल गाम कौ कुँवर कन्हाई॥[4]

---

१. सूरसागर, स० सं०, पद ३७०
२. वही, पद ६२१
३. वही, पद ७०३

आदि अनादि रूपरेखा नहिं। इन ते नहिं प्रभु और भयौ।

एक अन्य पद में पाँडे के मुख से कहलवाया गया है कि गोकुल, यशोदा और नंद धन्य हैं जहाँ भक्तों के लिए हरि ने अवतार लिया है—

सफल जन्म, प्रभु, आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नंद जसोदा, जाकैं हरि अवतार लियौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत फल, दीनबंधु मोहि दरस दियौ।
बारंबार नंद कैं आँगन, लोटत द्विज आनंद भयौ॥
मैं अपराध कियौ बिनु जानैं, को जानै किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत बस जसुमति-गृह आनंद लयौ॥
(सू० सा०, पृ० ३४५, स० सं०)

४. अ० व० स० सि० सा०, पृ० पद

आगे चलकर कवि कहता है कि जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योगी-मुनि ढूँढ़ते फिरते हैं, शंकर समाधि लगाये रहते हैं, शारदा, गणेश, शेषनाग जिनके गुणों का वर्णन नहीं कर पाते, वही ब्रह्म कृष्ण रूप में बाबा नंद की अंगुली पकड़ कर धीरे-धीरे चलना चाहते हैं—

निगम अगम जाकों निगम कहत हैं।
जोगी जन, मुनिजन, ढूँढ़त जतन कीएँ,
संकर समाधि नित लाएँ ही रहत हैं।
सारद गनेस सेस सहस बदन सों,
गुननि गिनत अपार भजहू न लहत हैं।
'नंददास' सोई ब्रह्म नंद की अँगुरि लागैं,
मंद मंद चाल लाल चलन चहत हैं ॥[1]

छीतस्वामी का भी कथन है कि राधिकारमण रूप में संसार को सुख देने के लिए ही हरि अवतरित हुए हैं—

सुख करन जग-तरन, नंद नंद नवल, गोप-पतिनारी वल्लभ मुरारी।
'छीत स्वामी' हरि सकल जीव उद्धारहित प्रकट वल्लभ-सदन दनुजारी।[2]

वैसे तो राम और कृष्ण दोनों एक हैं, पर कालान्तर में उपासना के भेद से इन में अन्तर आ गया है। कृष्ण-भक्तिशाखा में भगवान् के रक्षक रूप की अपेक्षा रंजक रूप की प्रधानता है। अपने वक्तव्य विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कहेंगे कि भगवान् के लोक-रक्षक रूप को प्रमुख मानने से हमें उनके प्रताप और ऐश्वर्य का ध्यान करना होगा। ऐसे भगवान् के गुणों का ध्यान कर हम उन्हें अपने से बहुत ऊँचा समझते हैं। यह रूप भक्त और भगवान् के बीच व्यवधान खड़ा करता है। बीच की यह दीवार भक्तों को पसन्द नहीं। अंश और अंशी के बीच अन्तर कैसा? यही कारण है कि समान स्तर पर न मिलने देने वाले इस रूप की इन भक्त कवियों ने उपेक्षा भी की है और खण्डन भी किया है। कंस, जरासन्ध, शिशुपाल और तदनन्तर कौरवों का नाश करने और करानेवाले भगवान् के रूप में इनका चित्त कभी नहीं रमा, इन्हें तो अपने इष्टदेव का वही रूप अधिक पसन्द है जिसका सम्बन्ध व्रज के जीवन से है—

जहिं जहिं चरन कमल माधो के तहीं तहीं मन मोर।
जे पद कमल फिरत बृन्दावन गोधन संग किसोर॥
चिंतन करौं जसोदानन्दन मुदित साँझ अरु भोर।
कमलनयन घनस्याम सुभगतन पीताम्बर के छोर॥

---

१. सूरसागर, पृ० वही, पद ४४
२. वही, पृ० २७०, पद ३२

इष्टदेवता सब बिधि मेरे जे माखन के चोर।
परमानन्ददास की जीवनि गोपिन पट झकझोर ॥[१]

सूरदास ने गोपी के मुख से इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त कराया है—

हे पथिक ! यदि किसी प्रकार मैं राजसी ठाठबाट को लाँघकर द्वारका में कृष्ण तक पहुँच भी जाऊँ तो ब्रज-निकुंज-रसिक के बिना मैं किस को अपनी दशा सुनाऊँगी ?

हौं कैसे के दरसन पाऊँ ?
सुनहु पथिक, उहिं देस द्वारिका जो तुम्हरैं सँग जाऊँ।
बाहिर भीर बहुत भूपन की बूझत बदन दुराऊँ ॥
... ...
श्रम कै सूर जाउँ प्रभु पासहिं मन मैं भले मनाऊँ।
नव किसोर मुख मुरलि बिना इन नैननि कहा दिखाऊँ ॥

इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कृष्ण के जीवन के एक पक्ष की चर्चा साहित्य में हुई ही नहीं। इन कवियों को कृष्ण का कौन-सा रूप पसन्द है, इसे श्री वियोगी हरि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"सूरदासजी ब्रजवासी नंद-नन्दन के उपासक थे—द्वारकावासी वासुदेव के नहीं। कालिन्दी-कूल की वंशी उन्हें प्यारी लगती थी, द्वारका के मंगल-गान अथवा चारण-गान नहीं। मोर-मुकुट ही उनके नेत्रों में झूमता था, मणिमुकुट नहीं। वह राधिका-रमण के प्रेमी थे, रुक्मिणी-वल्लभ के नहीं। वह भगवान् को कन्हैया कहने में सुख मानते थे, 'कृष्ण' कहने में नहीं। अधिक क्या, वह माधुर्य पर आशिक थे, ऐश्वर्य पर नहीं। ऐश्वर्य भक्त और भगवान् के बीच व्यवधान बन जाता है। वह एक ऐसी ऊँची दीवार है जिसे लाँघ कर जाना सरल नहीं। यही कारण है कि कृष्ण-भक्ति शाखा के सभी कवियों ने कृष्ण के राजसी ठाठ-बाट वाले रूप के प्रति उपेक्षा ही प्रदर्शित की है।

जो बात सूरदास के विषय में कही जा सकती है वही अन्य कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। नन्ददास राम और कृष्ण के भजन का परामर्श देते हुए जो कुछ कहते हैं उससे भी स्पष्ट है कि उन्हें कृष्ण का (भगवान् का) माखन-चोर, लकुट लेकर गायें चराने वाला रूप अधिक पसन्द है—

राम-कृस्न कहिए उठि भोर।
अवध-ईस वे धनुष धहैं हैं, ये ब्रज माखन चोर ॥
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत, सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित गायन सँग नन्दकिसोर ॥

---

१. अ० व० स० सि० सा०, पृ० ५५४

उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर ।
नंददास प्रभु सब तजि भजिये जैसे निरखत चंद चकोर ।।[१]

कुम्भनदास के हरि भी घर के आँगन में नाच नाचने वाले, घर-घर दही खाने-वाले और राधिका के साथ रस-राग करने वाले हैं—

बिलगु जिन मानौ री कोख हरि कौ ।
भोरहि आवत नाच नचावत खात दही घर घर कौ ।।
प्यारा प्रान दीजै जो पइयै नागर नंद-महरि कौ ।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर रसिक राधिका-बर कौ ।।[२]

हरि ने कृष्ण रूप में ब्रज में जो अवतार लिया है उसका उद्देश्य ब्रह्म के 'परमानन्द' स्वरूप की अभिव्यक्ति है । रास-लीला के प्रसंग की अवतारणा रस एवं आनन्द की चरमावस्था के प्रदर्शन के लिए ही है । यद्यपि बीच-बीच में भगवान् के भक्तवत्सल और भक्तरक्षक रूप की भी चर्चा है पर वह संकेत-रूप से है । कवियों का चित्त इन रूपों में नहीं रमा और इसीलिए उन्होंने कहीं भी जम कर उसका वर्णन नहीं किया । इस रसात्मक रूप की महत्ता के प्रदर्शन के लिए ही उन्हें विष्णु के रूप में चित्रित न कर अवतारी के रूप में चित्रित किया गया है । 'भ्रमर-गीत' के प्रसंग में निराकार रूप के खण्डन और साकार के प्रति अत्यधिक आग्रह का भी कारण यही है । रस की महत्ता को सिद्ध करने के लिए ही कवि ने ब्रह्मा के मुख से कहलाया है कि यह संसार मिथ्या है । यह माया मिथ्या है, यह देह मिथ्या है । इस ब्रज में यह रस नित्य है, अब मैंने यहाँ आकर समझा । मैं ब्रज की रज होकर रहूँगा । मुझे ब्रह्म-लोक नहीं सुहाता । हरि के लीलावतार का पार शारदा भी नहीं पा सकती । यह गुरु की कृपा का प्रसाद है, जिससे मैं कुछ कह सकता हूँ ।[३]

पौराणिक काल से अन्तर

रूप का संकोच—प्रसंगवश यह कह देना भी अनुचित न होगा कि ज्यों-ज्यों कृष्ण की पूजा का विस्तार होता गया, त्यों-त्यों उसके रूप में विस्तार की अपेक्षा संकोच आता गया । यहाँ भारत में कृष्ण का क्षेत्र संपूर्ण भारत वर्ष है । वे ही एक-मात्र ऐसा नेता हैं जो समस्त देश की राजनीति का संचालन करते हैं । श्रीमद् भागवत तक आते-आते उनका क्षेत्र सिकुड़ कर उत्तर भारत तक सीमित हो गया है । मध्य-कालीन सम्प्रदायों में इसमें और भी संकोच हुआ है । वल्लभ के मत में उनकी गति-विधि ब्रज और द्वारका तक है । चैतन्य मत में ब्रज तक, निम्बार्क के यहाँ वृन्दावन

१. अ० व० स० सि० सा०, पद ३७, पृ० ३२५
२. वही, पद ४५, पृ० ११५
३. (सूरसागर) स० सं०, पद १११०

तक, राधावल्लभ सम्प्रदाय में नित्य वृन्दावन और निकुंज-केलि तक और टट्टी-सम्प्रदाय में केवल निकुंज-केलि तक।

सगुण रूप की प्रधानता

कहना न होगा कि इस मत में भगवान् के साकार रूप की ही स्वीकृति है, निराकार का यहाँ स्पष्ट रूप में खण्डन किया गया है। उनके समस्त साहित्य में साकार रूप का इतना अधिक प्रतिपादन है कि उसे स्पष्ट करने का यत्न पिष्टपेषण मात्र ही माना जायेगा। जिस ईश्वर का कोई रूप नहीं, रेखा नहीं, गुण नहीं, उस का ध्यान करके करना ही क्या है? उद्धव और गोपियों के संवाद में निराकार रूप की जिस प्रकार खिल्ली उड़ायी गयी है उससे हर सहृदय साहित्यिक परिचित है। यहाँ सूर के दो पद ही इस दिशा में पर्याप्त होंगे—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे कौ, तुम कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो पुनि, गोधन बन-बन चारत।
नैन बिसाल, भौंह बंक करि, देख्यौ कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीताम्बर तेहि सोवत।
सूर स्याम ज्यों देत हमैं त्यों, तुम को सोऊ मोहत?

... ...

ऊनौ कर्म कियौ मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में निर्गुन ते अतिस्वाद॥

नन्ददास तथा अन्य कवियों को भी उनका यह सगुण रूप ही पसन्द है। नन्ददास का एक पद देखिये—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें॥
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच।
गुन तो गुन न्यारे भए, अमर वारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के!

कृष्णदास का भी एतद्विषयक एक पद द्रष्टव्य है—

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यौ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि टटक्यौ॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन है, फिरि चित अनत न भटक्यौ।
कृष्ण दास कियै प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यौ॥

सख्य भाव

इस शाखा के भक्त कवियों ने कृष्ण की भक्ति सखा-रूप में भी की है। सखा की स्थिति समभाव की स्थिति है। इसमें न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। दो मित्रों के बीच में हीनता या महत्ता के भावों के लिए स्थान ही नहीं। समान वय, समान शील और समान व्यसन के कारण इसमें समानता की ही भावना रहती है, गौरव-प्रदर्शन की नहीं। इस सख्य भाव में भक्त सदैव अपने इष्टदेव के साथ रहते हैं। साथ खेलना, साथ गोचारण करना, गाना-बजाना, बस आनन्द-ही-आनन्द है। सूरदास ने इस बाल-जीवन के बड़े ही सुन्दर और मार्मिक चित्र खींचे है। कृष्ण वृन्दावन में धेनु चराने जाते हैं, साथ में सब ग्वाल-बाल हैं और वे चैन से खेल रहे हैं। कोई गा रहा है, कोई मुरली, कोई विषाण और वेणु बजा रहा है। ब्रज बालकों की सेना जुड़ी हुई है, वहाँ विविध प्रकार की पवन बह रही है। सूरदास कहते हैं कि अपने धाम को बिसार कर हरि का यहाँ आगमन इसी सुख के अनुभव के लिए है—

चरावत बृन्दाबन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु॥
कोउ गावत, कोउ मुरलि बजावत, कोउ विषान, कोउ बेनु।
कोउ निरतत कोउ उघटि तार दै, जुरी ब्रज-बालक सेनु॥
त्रिबिध पवन जहँ बसत निसादिन सुभग कुंज घन ऐनु।
सूर स्याम निज धाम बिसारत, आवत यह सुख लैनु॥[1]

इतना ही नहीं, कवि ने भगवान् के श्रीमुख से इस जीवन की महत्ता का वर्णन कराया है। उनका कहना है कि वन में गोचारण में जितने सुख हैं उनके सामने वे वैकुंठ के सुखों और लक्ष्मी को भूल जाते हैं। उन्हें वृन्दावन, यमुना का तट और गायों का संग बहुत सुख देता है—

बृन्दाबन मोकौं अति भावत।
सुनहु सखा तुम सुबल, श्रीदामा, ब्रज तैं बन गौ चारन आवत॥
कामधेनु सुरतरु सुख जितने, रमासहित बैकुंठ भुलावत।
इहिं बृन्दाबन, इहिं जमुना-तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत॥
पुनि-पुनि कहत स्याम स्रीमुख सौं, तुम मेरे मन अतिहि सुहावत।
सूरदास सुनि ग्वाल चक्रत भए, यह लीला हरि प्रगट दिखावत॥[2]

ढेर-का-ढेर भोजन वन में पहुँच जाता है, सब एक साथ बैठकर और एक-दूसरे से छीन कर खाते हैं। कृष्ण हलधर, श्रीदामा तथा अन्य ग्वालों के साथ खेलते हैं। एक-दूसरे के हाथ पर ताली मारकर भागते हैं। कृष्ण आगे-आगे भाग रहे हैं, श्रीदामा उन

१. सूरसागर, पृ० ४१५ पद, १०६६ (स० सं०)
२. वही, पृ० वही, पद १०६७

का पीछा कर रहे हैं। जब श्रीदामा भागकर कृष्ण को पकड़ लेते हैं तब कृष्ण कहने लगते हैं, कि वे जान बूझकर ही खड़े हो गये थे, रुक गये थे।[1] कृष्ण को खीझते देखकर सारे सखा उनके सिर हो जाते हैं और चिढ़ाते हैं। हलधर कहते हैं कि न तो इसके माँ-बाप हैं और न यह हार या जीत को ही ढंग से समझता है। अपने आप हारकर यह सखाओं से झगड़ा करता है, लड़कों पर दोष लगाता है। उसकी बातें सुनकर कृष्ण रोकर घर की ओर चल देते हैं।[2] सारे ग्वाल-बाल खेलने के लिए दो भागों में बँट जाते हैं, खेल जम जाता है। कृष्ण हारने लगते हैं तो घपला कर देते हैं। उन्हें इस प्रकार घपला करते देखकर सुदामा कहने लगते हैं कि ऐसे के साथ कौन खेलेगा ?

वास्तविकता तो यह है कि यह सख्य भावना श्रीदामा के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त की गयी है। साथ रहते-रहते यदि प्रेम होता है तो कभी झगड़ा भी हो जाता है। खेल को खेल न समझकर बार-बार रूठने वाले और रोहठि करने वाले कृष्ण के प्रति उसकी फटकार देखने योग्य है। सुदामा कहता है—तुम जैसे साथी के साथ कौन खेलेगा ? तुम तो बात-बात पर रूठते हो, हार गये तो रोष कैसा ? तुम्हें किस बात का अभिमान है ? न तो तुम जाति में ही हमसे बड़े हो और न हम तुम्हारे अधीन ही हैं। यदि तुम्हारे यहाँ कुछ गौएँ अधिक हैं तो इससे क्या ?

> खेलत में को काकौ गुसैंयाँ ?
> हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैयाँ ।।
> जातिपाँति हम तैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ ।
> अति अधिकार जनाबत या तैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ ।।
> रुहठि करै तासौं को खेलै, रहीं बैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ ।
> सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ ।।[3]

इस सख्य भाव में भी कहीं-न-कहीं सखाओं को कृष्ण के गौरव की प्रतीति हो ही जाती है। पूतना-मारण, वृषभ और बकासुर का विनाश, गोवर्धन का उठाना आदि उनके अनेक लोकोत्तर कार्य उनके असाधारणकीता को यदा-कदा सामने ला ही देते हैं पर सभी स्थलों पर कृष्ण बड़ी चतुरता से उसे दृष्टि से ओझल कर देते हैं। वे इन सभी लोकोत्तर कार्यों की पूर्णता का श्रेय अपने साथियों को देते हैं। बीच-बीच में कवि भी उनके परब्रह्म रूप की ओर संकेत करता रहता है पर फिर भी वर्णन की सजीवता के कारण ये संकेत छिप-से जाते हैं।

---

१. सूरसागर, पृ० ८३१, पद ३३३
२. वही, पृ० ३३३ पद ८३२
३. वही, पृ० ३४३, पद ८६४ (स० सं०)

वात्सल्य

इस शाखा में आरम्भ में भगवान् की पूजा बाल-रूप में ही की जाती थी। इन की पूजा का समस्त विधान इसी भावना को प्रमुख मानकर किया गया है। आठ समय की सेवा का विधान तभी पूरा उतरता है जब भगवान् को बालक मानकर शयन से जगाया जाता है, फिर उन्हें सजाया जाता है तदनंतर वे ग्वाल रूप में गोचारण करने वन में जाते हैं, तदनंतर उन्हें भोजन कराते हैं और रात्रि में संध्या-आरती के बाद उन्हें शयन कराया जाता है। इस भाव की पूजा का उद्देश्य भक्त और भगवान् के अन्तर को मिटाना है। बालक के प्रति माता की ममता न विवेक पर आश्रित होती है और न किसी स्वार्थ पर। यह तो हृदय की एक स्वाभाविक वृत्ति है। इसमें ऐन्द्रियता को भी स्थान नहीं। माता के समान भगवान् के प्रति भक्त की लीनता यदि स्वाभाविक रूप धारण कर ले तो भक्त को किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रज के कुछ नर-नारी कृष्ण को वात्सल्य भाव से ही भजते हैं। इस भाव की अभिव्यक्ति यशोदा के द्वारा हुई है। यद्यपि नंद भी कृष्ण को अपार स्नेह करते हैं और उनके कुशल-मंगल के लिए अहर्निशि उतने ही चिन्तित रहते है जितनी यशोदा, पर फिर भी उसमें उतनी गहनता नहीं। पितृ-हृदय मातृ-हृदय की समता नहीं कर पाता। सृजन-त्याग की जो भावना नारी में है, वह पुरुष में नहीं। उसकी यह भावना स्वाभाविक है। त्याग और ममता उसका स्वभाव है।

इसके अलावा नन्द कृष्ण के अतिलौकिक और अतिप्राकृतिक कार्यों को पूरी तरह विस्मृत नहीं कर पाते, उन्हें उनका स्मरण किसी-न-किसी रूप में बना ही रहता है। यशोदा भी इन कार्यों को देखती है पर देखकर भी भूल जाती है। उसकी दृष्टि में कृष्ण निरीह बालक ही हैं। इसीलिए वह छोटी-से-छोटी बात में उसके अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठती है। यही कारण है कि सभी कवियों ने वात्सल्य-भावना की अभिव्यक्ति यशोदा के द्वारा ही करायी है।

कृष्ण नन्द के साथ बैठे खा रहे हैं। वे कुछ खा रहे है, कुछ हाथों में लिपटा रहे हैं और बाल-सुलभ केलि में निमग्न हैं। खाते-खाते एक बड़ा टुकड़ा तोड़कर मुँह में रख लेते हैं। उसमें मिर्च भी है। बस, फिर क्या था, आँखों में पानी भर आया, रोते-रोते बाहर को दौड़े। यहाँ रोहिणी खड़ी थी, उसने चट से उन्हें गोद में उठा लिया, मीठे-मीठे कौर दिये, तरह-तरह से मनाया, तब कहीं जाकर कृष्ण शान्त हुए—

> जैंवत कान्ह नंद इक ठौरे।
> कछुक खात लपटात दोउ कर, बाल केलि अति भोरे॥
> बरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन टकटौरे।
> तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे॥

फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी, लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कौर दै, कीन्हे सात निहोरे ।।[१]

कृष्ण मणि-निर्मित आँगन में घुटनों के बल चल रहे हैं। प्यार भरे नंद और यशोदा उनकी ओर देख रहे हैं। कभी वे पिता की ओर देखते हैं तो कभी माता की ओर। सिर के बाल माथे पर लटक रहे हैं। भौंहों के ऊपर काजल की बिंदी शोभित हो रही है। कवि का कहना है कि इस प्रकार की शोभा अन्यत्र पृथ्वी पर नहीं दीख पड़ती। कभी बालक कृष्ण घुटनों के बल लपकते हैं, गिर पड़ते हैं और कभी उठकर चलने लगते हैं। कभी नंद उन्हें अपनी ओर बुलाते हैं तो कभी यशोदा बुलाती हैं। उन दोनों के बीच में कृष्ण खिलौना बन गये हैं।[२] कृष्ण को माखन प्रिय है। उन्होंने हाथ में माखन लिया हुआ है। मुख पर दही लिपटी हुई है, उनके कपोल सुन्दर हैं, नेत्र लाल हैं, माथे पर गोरोचन का तिलक दिया हुआ है, काली लटें मधु-लोभी भ्रमरों के समान मुख पर झुकी हुई हैं। सूरदास का कहना है कि यह दृश्य यदि पल भर भी देखने को मिल जाय तो जीवन धन्य है—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत रेनु तन-मंडित, मुख दधि लेप किए ।।
चारु कपोल, लोल लोचन गोरोचन-तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मधुहि पिए ।।
कठुला-कंठ बज्र-केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए ।।[३]

कृष्ण घुटनों के बल खेल रहे हैं, खेलते-खेलते किलकारी मार रहे हैं। घर का आँगन सोने और मणियों से बना हुआ है, उसमें अपना प्रतिबिंब देखकर वे उसे ही पकड़ने दौड़ते हैं—

किलकत कान्ह घुटरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद के आँगन, बिंब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत ।।[४]

अब कृष्ण कुछ और बड़े हो गये हैं। अब घुटनों के बल चलना छोड़कर उन्होंने खड़े होकर चलना आरम्भ कर दिया है। चलने तो लगे हैं पर गिर-गिर पड़ते हैं। माँ झटपट दौड़कर उन्हें अपना हाथ पकड़ा देती है। वह उसके सुन्दर मुख को देखती है और उनकी बलैयाँ लेती है।

---

१. सूरसागर, पद ८४२, पृ० ३३७ (स० सं०)
२. वही, पद ७१६, पृ० २९४-५ (स० सं०)
३. वही, पद ७१७, पृ० २९५
४. वही, पद ७२८, पृ० २९९

सिखवत चलन जसोदा मैया ।
अरबराइ कर पानि गहावति, डगमगाय धरनी धरैं पैया ।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनँद भरि लेति बलैया ॥[1]

गिर पड़े तो क्या, कृष्ण ने चलना नहीं छोड़ा। घर के आँगन में वे पूरी तरह घूमने-फिरने लगे हैं पर देहरी (दहलीज) पर आकर अटक जाते हैं। उसे लाँघने का यत्न करते हैं पर गिर-गिर जाते हैं।[2] वे और बड़े होते हैं। माँ दूध पिलाना चाहती है, चोटी बढ़ने का प्रलोभन देती हैं पर चोटी है, कि नहीं बढ़ती। वे अब माँ को उलाहना देते हैं और माँ यह सब देखकर स्वर्ग का सुख लूटती है—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वै है लाँबी मोटी ।
काढ़त गुहत न्हवावत जैहै, नागिनि सी भुई लोटी ॥
काचौ दूध पियावत पचि-पचि, देति न माखन रोटी ।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी ॥[3]

पुत्र के प्रति माँ का यह वात्सल्य वियोग में और भी अधिक उभर आता है। पुत्र की ये बाल-सुलभ क्रीड़ाएँ रह-रह कर याद आती हैं। नेत्रों के सामने रह-रह कर चित्र आते हैं और जाते हैं। जिस माखन के लिए कृष्ण इतना हठ करते थे, जिस दही के लिए वे इतने उत्सुक रहते थे, वे ही अब उसके वियोग में उस प्रेम को उभार देते हैं। अब वे दूध बिलोती हैं पर अब नेति पकड़कर परेशान करने वाला कन्हैया नहीं है, मक्खन का ढेर पड़ा है पर उसके लिए मचलने वाला अब यहाँ नहीं। सूर्य उगता है, बढ़ता है, पर अब उलाहना देनेवाली गोपी नहीं आती। आनन्द की वे घड़ियाँ बीत गयीं, अब तो उदासी-ही-उदासी है। मातृ-हृदय की इस दशा का चित्र देखिये—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसहि धर्‌यौ रहै ।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेति गहै ॥
सूने भवन जसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै ।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारनि उरहन कोउ न कहै ॥
जो ब्रज में आनन्द हुतौ मुनि मनसा हू न गहै ।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कोड़ी हू न लहै ॥

इस वियोग में रह-रह कर कृष्ण और बलराम का ध्यान आता रहता है। बार-बार टीस उठती है, चुभन होती है। माँ सोचती है कि उसके बिना उसके बालकों

१. सूरसागर, पद ७३३, पृ० ३०० (स० सं०)
२. वही, पद ७४३, पृ० ३०३
३. वही, पद ७६३, पृ० ३२०

का ध्यान कौन रखता होगा ? बालक भले ही युवा हो जायें वे चाणूर-जैसे पहलवान को पछाड़ने और कंस-जैसे आततायी को यमलोक भेजने की शक्ति रखते हों, पर माँ के लिए तो वे बालक ही हैं। वह उन्हें बुलाने को सन्देश भेजती है। वह कहती है कि मेरे रहते हुए मेरे बालक क्यों दुःखी हों—

जदपि मन कौं समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।।
प्रात काल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहै।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अंक में लैहै।।
कहियौ पथिक जाइ घर आवहु राम कृस्न दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिन के मो-सी मैया।।

मातृ-हृदय का ऐसा सरल, स्वाभाविक और हृदयग्राही चित्र क्या अन्यत्र मिल सकेगा ?

परमानन्द दास ने भी इसी तन्मयता से वात्सल्य भाव का वर्णन किया है। कोई पड़ोसिन उसके 'छगन मगन' से लाल को जब देखने आती है, आकर छाती से लगा लेती है तो यशोदा माता उसे वहाँ से भगाने के लिए सैकड़ों बातें कहती हैं। उनका मातृ-हृदय अकारण ही अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठता है और वह उसे अपने घर जाने के लिए कहती हैं। पैरों में पैंजनी बाँधकर रुन-झुन करते हुए कृष्ण जब घर के आँगन में घूमते हैं तो सारा घर आनन्द से भर उठता है। कोई गोप-वधू जब कृष्ण की शिकायत लेकर आती है तो कृष्ण का उत्तर देखने योग्य है। वे बड़े ही भोलेपन से अपनी निर्दोषिता तो सिद्ध करते ही हैं, अपने संकट में पड़ जाने और भाग्यवश उससे बच निलकने की बात इस ढंग से कहते हैं कि यशोदा मैया सब-कुछ भूलकर उन्हें छाती से लगा लेती है—

तैरी सौं, सुनि सुनि री मैया !
या के चरित तू नहीं जानैं, बोलि बूझि सकंर्सन भैया।।
व्याई ग्राम बछरुआ चाटत, हौं पीवत हौ प्रात खन धैया।
मोहि देखि धौरी बिझकानी, मारन कौं दौरी मोहि गैया।।
द्वै सींगन के बीच पर्‌यौ मैं, तहाँ रखवारौ कोउ न मैया।
तैरौ पुन्य सहाय भयौ है, अब उबर्‌यौ बाबा नंद दुहैया।।
ये जोऊ बाटि परी ही मो पै, भाजि चली कहि दैया दैया।
'परमानंद' स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि लेति बलैया।।[1]

कृष्णदास ने भी भगवान् की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। नंद के लाल कृष्ण पालने में झूल रहे हैं, उनके बाल बिखरे हैं, गोरोचन का तिलक लगा हुआ है,

---

१. अ० व० स० सि० सा०, पद ३८, पृ० १९१

पैर का अँगूठा मुँह में दिया हुआ है, बिलकारी मार रहे हैं, नेत्रों में अंजन है, गले में शेर का नख पहना है, किंकिणी बँधी हुई है—

नंद कौ लाल ब्रज पालनैं झूलै ।
अलक अलकावली, तिलक गोरोचन, चरन अंगुष्ठ मुख किलकि फूलै ।
नैन अंजन- रेख मेख अभिराम सुठि, बैठ केहरी करज किंकिनि कटि झूलै ।
'कृष्णदास' नाथ रसिक पिय गिरवर धरन, निरखि नागर देह गेह भूलै ।।[1]

चतुर्भुजदास ने भी बाल-लीला का वर्णन उत्साहपूर्वक किया है। उनके कृष्ण कंठ में कठुला पहने है, अलकें मुख पर लटक रही हैं, उनके इस सौन्दर्य को देख-देख कर माँ यशोदा वार-बार जाती हैं। बाल कृष्ण को माखन और मिश्री बहुत पसन्द है। वे अपनी माँ से अनुरोध करते हैं कि वह उसे अपने हाथ से मीठा दही खिलावें। वे यह भी पूछते हैं कि माँ ने उनका विवाह अभी तक क्यों नहीं किया है—

अजहूँ ब्याह करति नहि मेरौ, होय निसंक नींद क्यों आवै ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर की बतियाँ, लै उछंग पय-पान करावै ।।[2]

माधुर्य भाव

अभी हम सख्य भाव और वात्सल्य भाव से भगवान् के ध्यान एवं पूजा की बात कह आये हैं। आरम्भ में इस भक्ति-शाखा में बालरूप की पूजा थी, उनके इष्ट देवता बाल कृष्ण ही थे, पर धीरे-धीरे वल्लभाचार्य के जीवन के उत्तरकाल में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं का समावेश इस मत में हो जाने से माधुर्यभाव से उपासना करने की पद्धति चल पड़ी थी। उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में इस माधुर्योपासना को और अधिक प्रश्रय मिला। बालरूप और सख्यभाव की उपासना धीरे-धीरे कम होने लगी और माधुर्य भाव की उपासना बलवती हो उठी।

लोक-पक्ष का शृंगाररस या रति-भाव ही भक्ति-क्षेत्र में मधुर भाव कहलाता है, यह पीछे कहा जा चुका है। लोक में प्रेम के जितने सम्बन्ध हैं उन सब को भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है। यहाँ तक कि ऐन्द्रिय विषय में अनुरक्त लोगों को संसार के विषयों से छुड़ाने के लिए भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने ईश्वर को ही उनकी विषय-तृप्ति का साधन बना दिया है। लौकिक वस्तु अथवा व्यक्ति के संसर्ग से जो आनन्द हमारी इन्द्रियों अथवा मन को उपलब्ध होता है, उसका मूल स्रोत परमात्मा है। उससे मधुर भाव के संबन्ध की स्थापना स्वाभाविक ही है। 'रसो वै रस:'' के अनुसार वह रसरूप ही है उस रसमय के साथ यदि रसपूर्ण संबन्ध स्थापित न

---

१. अ० व० स० सि० सा०, पद १, पृ० २२६
२. वही, पद ११, पृ० २७८

न किया जा सका तो फिर किसके के साथ किया जायेगा ? अष्ट-छाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास ने इस भाव को निम्नलिखित पद द्वारा व्यक्त किया है—

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव सौं, निधरक बरनौं ताहि ।।

कर्मेन्द्रियों का जो स्वभाव है, उनका जो धर्म है, उसे छोड़ सकना उनके लिए सम्भव नहीं। जो साधक ऐसा करने का उपदेश देते हैं वे स्वाभाविकता को भुला देते हैं। कर्म में रत रहना कर्मेन्द्रियों का स्वभाव है। फिर भी केवल बाह्य कर्म न करने से ही तो नैष्कर्म्य भाव को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मन को वश में करना हवा को रोकने से भी अधिक दुष्कर कार्य है। खाली मन तो शैतान से भी अधिक शरारती होता है, इसे कहीं न कहीं तो लगाना ही होगा। गीता में भगवान् ने इसीलिए अर्जुन से कहा था कि हे अर्जुन ! सारे कर्मों को मुझे ही अर्पित कर दे। कृष्ण-भक्त कवियों ने ठीक वही कार्य किया है। आँखें अब तक लोक-सौन्दर्य पर रीझती थीं, उन्हें कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य पर रीझने के लिए कहा। श्रवण लौकिक संगीत सुन कर मुग्ध होते थे, उन्हें कृष्ण के अलौकिक वंशीनाद पर रीझने को कहा। जिह्वा सुन्दर भोजन और प्रेयसी के अधरामृत का रसपान करने में मग्न थी, उसे कृष्ण के गुणगान और अधरामृत के पान को कहा। शरीर लौकिक पदार्थों का संस्पर्श पाकर पुलकित होता था, उसे कृष्ण के शरीर का स्पर्श करने को कहा। मन जो इधर-उधर भटकता फिरता था उसे कृष्ण के साथ रमण करने को कहा। दूसरे शब्दों में इन इन्द्रियों को लौकिक धरातल से ऊपर उठाकर अलौकिक धरातल पर ला बैठाया गया।

इसी माधुर्यभाव का दूसरा नाम रागानुगा भक्ति है। एक प्रकार से यह मर्यादावादी भक्ति से ठीक उलटी है। मर्यादावादी मार्ग में वे ही सम्बन्ध जोड़े जाते हैं जो लोक-सम्मत हैं। पर माधुर्यभाव में विधि-निषेध की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। इस में अधिकांश रूप में भगवान् के साथ पति-पत्नी के सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। यह संबन्ध, स्वकीया और परकीया, दोनों ही के रूप में होता है। अधिकांश रूप में गोपियों का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। राधा का प्रेम स्वकीया का प्रेम है, यह दिखलाने के लिए सूर ने आरम्भ में राधा और कृष्ण का गान्धर्व विवाह करा दिया है—

जाको व्यास वर्णत रास, है गन्धर्व विवाह चित्त दै सुनो बिबिधि बिलासी।

सूर से ही स्वकीया के कुछ अन्य उदाहरण देखिये—

(अ) बिनती सुनो दीन की चित दै कैसै तव गुण गावै।

... ...

मेरे तो तुम ही पति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै ।।

... ...

(आ) हम अलि गोकुल नाथ अराध्यौ ।
मन बच क्रम हरि सौं धरि पतिव्रत प्रेमजोग तप साध्यौ ।

कृष्णदास का निम्नलिखित पद भी इसी भाव को व्यक्त करता है—

ज्यौं ज्यौं राखौ त्यौं त्यौं, रहूँ जु देहु सु खाउँ ।
तुमही मेरे पति गति, लेउँ तेरौ नाउँ ।।
मेरे जाने तजहु न गिरिधर तुमहि छाँड़ि प्रिय कौन पै जाऊं ।।

परकीया भाव के पद्य भी इस भक्तिशाखा में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से इस भाव की हम कितनी ही निन्दा क्यों न करें, इसका अपना विशेष आकर्षण है । विवाहित पत्नी पति को सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण यदि करती है तो बदले में बहुत-कुछ पाती भी है । उसके प्रेम के पुरस्कार-स्वरूप समाज उसे सती की पदवी से सुशोभित करता है, सन्तान के रूप में वह आत्म-प्रसाद का अवसर पाकर मुदित होती है, पति से रक्षा का आश्वासन रहता है । एक प्रकार से वह जीवन-बीमे का लाभ उठाती है । वह देती है तो लेती भी है । इसके विपरीत परकीया देती सब-कुछ है, लेती कुछ भी नहीं । उसे प्रेम का दान देने के लिए भी समाज के कटु वाक्यों की बौछार सहनी पड़ती है । वह कुलटा कहलाकर भी प्रेम के नेम की रक्षा करती है। अहर्निश उसे अपने प्रेमी का ही ध्यान रहता है । उसका समस्त समय या तो मिलन की तैयारी में बीतता है या मिलन में । प्रेम की तीव्रता और गहराई का पता इसी भाव में चलता है । इसमें खोना अधिक है, पाना कम । यही कारण है कि प्रेम की व्यंजना के लिए प्रायः सभी कवियों ने इस भाव को स्वीकार किया है । भागवतकार ने जिस रास का वर्णन किया है उसमें वेद-मर्यादा और विधि-निषेध का एकदम परित्याग किया गया है । कृष्ण गोपियों को समझाते हैं कि वे गृह-त्याग न करें, पति-धर्म का पालन करें । युवती का धर्म है कि वह घर में ही रहकर पति की ही सेवा करे। इन सब बातों के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि यदि कुल की मर्यादा छोड़ चली आयीं तो क्या हुआ ? लौकिक बंधनों और मोह को छोड़े बिना भगवान् की प्राप्ति हो ही नहीं सकती । भागवतकार के अनुकरण पर अष्टछाप के कवियों ने भी परकीया भाव का चित्रण किया है ।

यद्यपि सूर ने राधा और कृष्ण का गान्धर्व विवाह कराकर स्वकीया भाव को ही प्रधानता दी है, पर सूरसागर में परकीया भाव से प्रेम करने के उदाहरणों की कमी नहीं । एक स्थान पर वे कहते हैं कि मुरली की ध्वनि सुनते ही सब गोपियाँ घर छोड़ने के लिए इस प्रकार बावली हो गईं मानो उनके ऊपर कोई जादू हो गया हो । उन सबने लाज गँवा दी, मर्यादा को छोड़ दिया और आर्य-पथ को भूल बैठीं—

जबहिं बन मुरली स्रवन परी ।
चक्रित भईं गोप-कन्या सब, काम धाम बिसरीं ।।
कुल मर्जाद बेद की आग्या, नैकहु नहीं डरीं ।
स्याम सिंधु सरिता ललना गन, जल की ढरनि ढरीं ।।

अँग मरदन करिबे को लागीं, उबटन तेल धरीं।
जो जिहि भाँति चली सौ तैसैंहिं निसिबन कौं जु खरी ॥
सुत-पति-नेह, भवन-जन-संका, लज्जा नाहिं करी।
सूरदास प्रभु-मन हरि लीन्हौ, नागर नवल हरी ॥

एक अन्य पद में परकीया भाव से प्रेम करने वाली गोपियों की दशा का चित्रण इस प्रकार किया है—हरि के अनुराग से भरी ब्रज की नारियों ने लोक की सकुच तथा कुल की कानि बिसार दी। सुत और पति के स्नेह को तिनके के समान तुच्छ समझा। जिस प्रकार जलधार एक बार आगे बढ़ कर फिर लौटती नहीं, जैसे नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, जैसे सुभट खेत में चढ़कर पीछे नहीं मुड़ता, जैसे सती फिर लौट कर नहीं आती, इसी तरह घरबार को छोड़कर गोपियाँ जब कृष्ण के पास गयीं तो उन्हीं की हो गयीं[1]—

लोक-सकुच कुल-कानि तजी।
जैसैं नदी सिंधु कौं धावै, वैसैंहिं स्याम भजी ॥
मातु पिता बहु त्रास दिखायौ, नैंकु न डरी, लजी।
हारि मानि बैठे, नहिं लागति, बहुतै बुद्धि सजी ॥
मानति नहीं लोक-मरजादा, हरि कै रंग मजी।
सूर स्याम कौं, मिलि, चूनौ हरदी ज्यों रंग रजी ॥

परमानन्द ने भी गोपी के मुख से कहलाया है कि मेरा मन तो नन्दलाल से रँग गया है, मेरा कोई क्या करेगा? घरवाले डराते हैं, पथिक खिल्ली उड़ाते हैं पर मेरा इहलोक और परलोक भले ही चले जायँ, मैं कृष्ण के ऊपर सर्वस्व वार दूँगी—

नन्दलाल सौ मेरौ मन मान्यौ कहा करैगौ कोई री।
हौं तो चरन कमल लपटानी जो भावै सो होय री ॥
गृहपति मात पिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो जिय ऐसी बनि आई विधिना रचौ सँजोग री ॥
जो मेरौ यह लोक जायगौ और परलोक नसाय री।
नन्दनँन्दन को तौऊ न छाँड़ूँ मिलूँगी निसान बजाय री ॥
यह तन घर बहुर्‌यौ नहिं पइयै, वल्लभ वेष मुरारि री।
परमानन्द स्वामी के ऊपर सरबस ठारौ वारि री ॥

एक अन्य पद में उन्होंने कहा है कि मैंने तो कृष्ण से प्रेम किया है, कोई इसकी निन्दा करता है या प्रशंसा, मुझे इसकी रत्ती-भर भी परवाह नहीं। अगर कोई उसे व्यभिचार भी कहे तो ठीक है—

मैं तो प्रीति स्याम सौं कीनी ।
कौऊ निन्दौ कोऊ बन्दौ, अब तो यह करि दीनी ।।
जो पतिव्रत तो या ढोठा सौं, इन्हें समर्प्यौ देह ।
जो व्यभिचार नंदनंदन सौं, बाढ़्यौ अधिक सँदेह ।।
जो व्रत गह्यौ सो और न आयौ, मर्यादा कौ भंग ।
परमानन्द लाल गिरिधर कौ पायौ मोटौ संग ।।[1]

नन्ददास तो रस के उत्कर्ष की दृष्टि से परकीया भाव को ही श्रेष्ठ समझते हैं—

तजि तजि तिहि छिन गुनमय देह, जाइ मिलीं करि परम सनेह ।
जदपि जारबुद्धि अनुसरी परमानन्द कंद रसभरी ।।

'रूपमंजरी' ग्रंथ में रूपमंजरी के रूप में परकीया भाव की मधुर भक्ति को प्रकट किया गया है । नन्ददास ने गोपियों की प्रशंसा ही इसलिए की है कि उन्होंने लोक और वेद की मर्यादा को तृण के समान तोड़ डाला है ।[2] रास के समय मर्यादामार्ग का परिपालन करते हुए जो गोपियाँ घर पर ही रह गई थीं, वे सरासर घाटे में रहीं । उन्होंने पाया कुछ नहीं, खोया बहुत-कुछ । वे रस के स्वाद से सदैव के लिए वंचित रह गयीं ।[3]

पुष्टिमार्गी सेवा-विधि

हमारे साहित्य में पुष्टि-मार्गी साहित्य का विशेष स्थान है, समस्त साहित्य पर इसकी छाप है, अतः इस मार्ग की सेवा-विधि का संक्षिप्त परिचय पाठकों के लिए लाभकारी रहेगा । इस मार्ग में सेवा के दो प्रकार हैं—१. नामसेवा २. स्वरूपसेवा । स्वरूप-सेवा भी तीन प्रकार की हैं १. तनुजा, २. वित्तजा, ३. मानसी । इस मानसी के भी दो भेद हैं—१. मर्यादा-मार्गी और पुष्टि-मार्गी । पुष्टि-मार्गी सेवा का भाव साधारण उपासना अथवा पूजा नहीं है । साधारण उपासना में तो श्रुति-स्मृति विहित कर्म-काण्ड करने का प्राधान्य होता है और पुष्टिमार्गी सेवा में भावना का प्राधान्य। इस पुष्टिमार्गी सेवा-विधि के दो क्रम हैं—१. नित्य सेवा-विधि और २. वर्षोत्सव की सेवा-विधि । प्रातःकाल से शयनपर्यन्त की नित्य सेवाविधि और विशेष अवसरों पर वर्षोत्सव की विधि के उत्सव तथा अन्य अवसरों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं ।[4]

जिन आठों झाँकियों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनका विवेचन विस्तार के साथ 'वल्लभपुष्टि-प्रकाश' में हुआ है और वह निम्नलिखित है—

---

१. अ० व० स० सि० सा०, पृ० १९५
२. रासपंचाध्यायी, अ० ४
३. वही, पृ० ५५
४. सूर और उनका साहित्य, पृ० ३९६

(१) मंगला— इसमें गुरु-स्मरण तथा वन्दना आदि के पश्चात् भगवान् कृष्ण के स्वरूप को जगाया जाता है, फिर उनको कलेऊ कराया जाता है जिसे मंगल-भोग कहते हैं। इसके अनन्तर मंगला आरती होती है। यशोदाजी की वात्सल्य-भावनाओं से भावित होकर ये सब क्रियाएँ की जाती हैं। ऋतु के अनुकूल वस्त्र और सामग्री भी दिये जाने का विधान है।

(२) शृंगार —इसमें भगवान् के स्वरूप को उष्ण जल से स्नान कराया जाता है और फिर तैलादि लगाकर वस्त्राभरण आदि से स्वरूप को सुसज्जित किया जाता है जिसके अनन्तर शृंगार-भोग होता है।

(३) ग्वालभाव से धैया अरोगाई जाती है।

(४) शीतकाल में भगवान कृष्ण आनन्द आदि के साथ घर में भोजन करते हैं और उष्णकाल में यशोदा वन में भोजन-सामग्री भजती हैं, जिसे छाक भी कहते हैं। उसके अनन्तर राजभोग आरती होती है।

(५) उत्थापन—छह घड़ी दिन गए जब प्रभु को जगाया जाता है तो उसे उत्थापन कहते हैं।

(६) भोग—जगाने के अनन्तर जब फल-फूलादि का भोग आता है तब वह भोग की झाँकी होती है।

(७) सन्ध्या आरती—इसमें भगवान् वन से गौओं को लेकर आते हैं।

(८) शयन—इसमें पहले व्यास शयन-भोग होता है फिर दर्शन-आरती होती है, तदनन्तर भगवान् को पौढ़ाया जाता है।

इन कवियों ने सेवा के इन सभी अंगों का वर्णन किया है। डा० मुंशीराम शर्मा ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' नामक अपने ग्रंथ में इस प्रकार के उदाहरण सविस्तार दिये हैं।

प्रपत्ति

प्रपत्ति का अर्थ है सर्वतोभावेन प्रभु की शरण में जाना। इस भक्ति-शाखा के अनुयायियों का प्रपत्ति में अटूट विश्वास है। वल्लभाचार्य पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। इस पुष्टिमार्ग का आधार भगवान् के अनुग्रह पर अविचलित विश्वास है। आचार्यजी ने 'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः' कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है। इस मार्ग में भक्त अपने साधनों पर विश्वास न रख कर भगवदनुग्रह को ही सुदृढ़ आधार मानकर चलता है। वल्लभाचार्य का स्पष्ट कथन है—

नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण - साधनम्॥
सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः॥[1]

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ५२४

सूर ने भी यही भाव इन शब्दों में व्यक्त किया है—

करी गोपाल की होई।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत अति झूठौ है सोई ॥

मानव अल्पज्ञ है और अल्प शक्ति वाला है। वह अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के सहारे कुछ नहीं कर सकता। इह अगाध भव-सिन्धु में तरह-तरह के ग्राह हैं जो उसे पार नहीं करने देते; तरह-तरह के प्रलोभन हैं जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। माया की चकाचौंध से वह उसकी ओर खिच जाता है। इस दुस्तर भव-बन्धन को काटना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। उद्धार का यदि कोई मार्ग है तो वह है भगवान् की शरण में जाना। यह भाव इन कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। सूरदास का कहना है कि—हे प्रभु ! शरण में आये हुए की लाज रखिये, मैंने न तो धर्माचरण किया है, न तप और व्रत किया है, मैं किस मुँह से विनय करूँ ? पाप के जितने भी मार्ग थे, मैं उन सभी पर चला हूँ, मैं अवगुणों से भरा पड़ा हूँ और अब आपकी शरण में हूँ—

सरन आये की प्रभु, लाज उर धरिये !
साध्यौ नहिं धर्मशील शुचि तप व्रत कछु, कवन मुख लै तुम्हें विनय करिये।
पाप मारग जितैं तेव कीने तिते, बच्यौ नहिं कोई जहँ सुरति मेरी।
सूर अवगुन भर्‌यौ, आइ द्वारे पर्‌यौ, तकी गोपाल अब सरन तेरी ॥[१]

एक अन्य पद में वे कहते हैं कि हे प्रभु ! मेरे गुणों और अवगुणों पर विचार न करो और शरणागत की रक्षा का ध्यान करो। मेरी गति तो उस श्वान-जैसी है जो जूठन के लालच से इधर-उधर भटकता फिरता है। मैं तो कामी हूँ, कुटिल हूँ, कुदर्शन हूँ, और मतिहीन हूँ पर तुम्हारे सिवाय कोई ऐसा नहीं कि जिसका भजन करूँ।

प्रभु, मेरे गुन अवगुन न बिचारौ !
कीजै लान सरन आये की, रवि-सुत-त्रास निवारौ ॥
योग यग्य जप तप नहिं कीन्हौ, बेद बिमल नहिं भाख्यौ।
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि ज्यों कहूँ नहीं चित राख्यौ ॥

... ...

तुम सरबग्य सबै बिधि समरथ, असरन सरन मुरारि।
मोह समुद्र सूर बूड़त है, लीजै भुजा पसारि ॥[२]

अल्पशक्तिमान् जीव की बिसात ही क्या है ? वह व्यर्थ ही अपने को कर्ता

१. सू० सा०, स्कं० १, पद ११०
२. वही, स्कं० १, पद १११

समझकर इधर-उधर की बेगार में परेशान रहता है। अपने को नियामक समझनेवाला जीव भगवान् के हाथ की कठपुतली भर है, होता वही है जो वह नटवर चाहता है—

धर्मपुत्र, तू देखि बिचार, कारन करनहार करतार।
नर के किये कछू नहिं होई, करता हरता आपुहि सोई॥[1]

आदमी चाहे जितना सोचता रहे, उसके सोचने या न सोचने से होता ही क्या है? वह तो करनहार के हाथ की कठपुतली-भर है—

होत सो जो रघुनाथ ठटै।
पचि पचि रहे सिद्ध, साधक मुनि, तऊ न बढ़ै घटै॥
जोगी जोग धरत मन अपनैं, सिर पर राखि जटै।
ध्यान धरत महादेव रु ब्रह्मा, तिनई पै न छटै॥
जती सती तापस आराधैं, चारौं बेद रटै।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, करम फाँस न कटै॥[2]
... ...
सूरदास ह्वै प्रभु रचि है सु, को करि सोच मरै॥

अनन्यता

प्रेम की कसौटी है अनन्यता और इस भक्ति-शाखा के कवि इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। अपने आराध्य कृष्ण को छोड़कर इनका मन-भ्रमर अन्यत्र कहीं नहीं रमता। जिस प्रकार जहाज का पंछी उड़कर थोड़ी देर के लिए इधर-उधर भले ही उड़ता फिरे, पर अन्त में वह फिर जहाज पर ही आ जाता है, उसे कहीं अन्यत्र शरण नहीं मिलती, उसी प्रकार भक्त का मन और कहीं नहीं टिकता। जिसके घर पर गंगा की धारा बह रही है वह कूप क्यों खुदवाये? जिसे कामधेनु मिली हुई है वह बकरी को क्यों दुहता फिरे?—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै?
जैसैं उड़ि जहाज कौ पंछी, फिर जहाज पर आवै।
कमल नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौं धावै॥
परम गंग कौं छाँड़ि पियासौ, दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यौ, क्यों करील फल खावै॥
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥[3]

१. सू० सा० स्कं० १, पद २६१
२. वही, स्कं० १, पद २६३
३. वही, पद १६८, पृ० ५५

एक अन्य पद में सूर का कथन है कि हे प्रभु ! मैं अज्ञानी यह नहीं जानता कि शिव और ब्रह्मा में आदि देव कौन है—

राम भक्त बत्सल निज जानौं !
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रंक होइ कै रानौ ।।
सिब-ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु, हौं अजान नहिं जानौं ।।[१]

एक स्थान पर भक्त का कथन है कि भगवान् तुम चाहे जितने लालच दिखाओ मेरी रुचि अन्यत्र हो ही नहीं सकती। यदि तुम मुझे अपने द्वार से घसिटवाकर बाहर भी कर दोगे तो भी मैं द्वार नहीं छोड़ूँगा।[२]

जो प्रेम किसी और की अभिलाषा रखे, वह प्रेम ही क्या ? इनका सिद्धान्त तो एकदेव की उपासना है। अपने इष्टदेव के प्रेम से हृदय इतना भरा हुआ है कि उस में अन्य किसी के लिए स्थान ही नहीं। इसी भाव को गोपी के मुख से इस प्रकार कहलाया गया है—सखि ! सुन, मेरे हृदय को ऐसी बान पड़ गई है कि वह गोपाल के सिवाय और किसी को जानता ही नहीं। जब हरिरूपी अमूल्य मणि उपलब्ध है तो मुझे अन्य काँच के टुकड़ों से क्या प्रयोजन ? मैंने उनके लिए जाति तक का त्याग कर दिया है।[३]

जब भक्त अपने इष्टदेव के सिवाय किसी अन्य का ध्यान नहीं करता, तब उसकी निष्ठा परिपक्व हो जाती है। वह चाहता है कि उसका अधिक-से-अधिक समय उसके साथ बीते, वह उसके सिवाय अन्य किसी का ध्यान न करे। उसके सान्निध्य के लिए वह सब-कुछ बनने को तैयार रहता है। सूर ने एक पद में कहा है कि यदि कृष्ण का सान्निध्य मिले तो मैं ब्रज की रेणु तक बनने को तैयार हूँ। भगवान् चाहें तो मुझे लता, द्रुम, कुछ भी बना दें, चाहे वह गायों और गोपालों का भृत्य ही बना दें, पर मैं कृष्ण के समीप ही बना रहूँ—

करहु मोहि ब्रज रेणु देहु बृन्दाबन वासा।
मांगौं यहै प्रसाद और नहिं मेरे आसा ।।
जोई भावै सो करहु, लता सलिल द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृतु करौ, मनौ सत्य व्रत एहु ।।[४]

भक्त बेचारे की बिसात ही क्या ? वह चाहने के सिवाय कर ही क्या सकता है ? सब-कुछ तो उस नटवर की इच्छा पर निर्भर करता है। पर यदि उसका वश चले तो वह अपने आराध्य देव को अपलक नेत्रों से देखता ही रहे। गोपी के रूप में

---

१. सू० सा०, पद ११०
२. सू० सा०, पद ११६
३. सू० सा०, पद १४१८
४. सू० सा०, स्कन्ध १०

भक्त कहता है —यदि विधना को मैं वश कर पाऊँ तो अपने मन की साध पूरी कर लूँ। कृष्ण के लिए मैं प्रत्येक रोम को नेत्र बना लूँ, उनमें कृष्ण को बन्द कर लूँ और पलक न झपकूँ।[१] उसकी यह भी इच्छा है कि यदि मैं अपने चितचोर को पा जाऊँ तो हृदय-कपाट लगाकर उन्हें अन्दर ही बन्द कर लूँ। यदि वे ऐसे समय आवें जब गुरु-जन वहाँ न हों तो उसे भुजाओं में भरकर अपने दिल के सारे मनोरथ पूरे कर लूँ। गोपियों की तन्मयता सचमुच ही धन्य है। सूर के शब्दों में, गोपियाँ कृष्ण-सौन्दर्य के समुद्र में ऐसे मिल गयी जैसे नदी अपना नाम और रूप मिटाकर समुद्र में अपना रूप खो बैठती है। उन्होंने संसार को इस तरह छोड़ दिया जैसे सर्प केंचुली को छोड़ देता है।[२]

नदी का रूप विशाल है। उसके समुद्र में मिल जाने पर कुछ क्षणों के लिए किसी विशेष स्थान पर शायद उसकी स्वतंत्र सत्ता बनी रहती हो, उसका थोड़ा-सा अपनापन बचा रहता हो। वह थोड़ा-सा भी अपनापन भक्त के लिए गुरुतम अपराध है, यही सोचकर सूर ने एक स्थान पर कहा है—गोपियाँ इस तरह कृष्णमय हो गयीं जैसे एक बूँद जल समुद्र में गिरकर तदाकार हो जाता है।[३] विशाल समुद्र में एक बूँद का अस्तित्व ही क्या? यह तन्मयता उस समय पराकाष्ठा को पहुँच जाती है जब गोपी गोरस बेचते-बेचते गोरस का नाम भूल जाती है और गोरस की जगह गोपाल का नाम ही बार-बार उसके मुँह से निकलने लगता है—

> गोरस कौ नित नाम भुलायौ।
> लेहु लेहु कोऊ गोपालहि, गलिनि गलिनि यह सोर मचायौ॥
> ... ...

तथा—

> ग्वालिनि प्रगट्यौ पूरन नेहु।
> दधि भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहि लेहु॥[४]

कृष्ण इन भक्तों का सर्वस्व है। मन तो उनका ध्यान करता ही है, पर जीभ भी केवल उन्हीं का नाम लेना चाहती है। तभी तो सूर का कहना है कि जीभ वही है जो कृष्ण के गुण गाती है, नेत्र वही हैं जो कृष्ण को देखते हैं, ध्यान की सार्थकता मुकुन्द के ध्यान में है, निर्मल चित्त वही है जो कृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी का ध्यान नहीं करता, श्रवण की सार्थकता हरि-कथा के सुधारस से कानों को तृप्त करने में है, हाथों की सार्थकता कृष्ण की सेवा में है, पैरों की सार्थकता वृन्दावन चल कर जाने में है। सूर उनकी बलि लेते हैं जो हरि से प्रीति बढ़ाते हैं।[५]

---

१. सूरसागर, पृ० ८९३
२. वही, पृ० ८९३
३. वही, स्क० १०, पृ० ५३८ (परी जो पयनिधि अल्प बूँद जल सपनि कौन पहचानैं)
४. वही, पृ० २५७
५. वही, पद ३५०, पृ० ११७

राधा भक्तों की शिरोमणि हैं। भक्त को कैसा होना चाहिए, वे इस बात का आदर्श हैं। कृष्ण और राधा दोनों भिन्न न होकर एक हैं। भक्त और भगवान् के बीच में अन्तर कैसा ? जैसे भृंग कीट को पकड़कर अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है उसी प्रकार राधा माधव में, माधव राधा में मिलकर एक हो गए, पार्थक्य मिट गया। भक्त ने प्रभु को अपने धरातल पर खींच लिया और प्रभु ने भक्त को अपने में मिला लिया—

> राधा माधव भेंट भई।
> राधा-माधव, माधव-राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई॥
> माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
> माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई॥[1]

सूरदास के अतिरिक्त अन्य कवियों में भी अनन्यता और तन्मयता की भावना इतनी ही तीव्र मात्रा में पायी जाती है। परमानन्द का विचार है कि प्रीति तो वही भली है जो एक से हो, इष्टदेव कृष्ण के चरण-कमलों को छोड़ कर इधर-उधर दौड़ने से क्या लाभ—

> प्रीति तो एकहि ठौर भली !
> इह्व कहा मति चरन कमल तजि फिरै जु चली चली॥[2]

इन्हें भी कृष्ण के सामीप्य-लाभ की उतनी ही लालसा है जितनी सूरदास को। ये उनके लिए चेतन और अचेतन वह सभी कुछ बनने को तैयार हैं जिससे कृष्ण का सामीप्य बना रहे—

> बृन्दाबन क्यों न भये हम मोर !
> करत निवास गोवर्धन ऊपर, निरखत नन्द किसोर॥
> क्यों न भये वंशी कुल सजनी, अधर पिवत घनघोर।
> क्यों न भये गुंजावन बेली, रहत स्याम की ओर॥
> क्यों न भये मकराकत कुंडल स्याम स्रवण झकझोर।
> परमानन्द दास कै ठाकुर, गोपिन कै चितचोर॥[3]

कवि कहता है कि मैंने अपना मन हरि से जोड़ लिया है तथा और सब व्यक्तियों से नाता तोड़ लिया है। जब नाचना ही है तब घूँघट कैसा ? जब मैंने कृष्ण से प्रेम किया है तो लोक-लाज का क्या भय ? अपनी लोक-लाज की मटकी को तो मैंने सब के सामने फोड़ दिया है; अब मुझे भय नहीं जिसे जो कहना है, वह कहता रहे। मैंने तो लोक और वेद की मर्यादा को तिनके के समान तोड़ दिया है—

---

१. सू० सा०, पद ४६१०
२. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ६७६
३. वही, पृ० ८४३

मैं अपनौ मन हरि सौं जोर्‌यौ, हरि सौं जोरि सबन सौं तोर्‌यौ।
नाच नच्यौ तो घूँघट कैसौ ? लोक लाज डरु फटकि पिछोर्‌यौ ।।
आगे पाछैं सोच मिट्‌यौ सब, झाँझ बाट मटुका लै फोर्‌यौ।
परमानन्द प्रभु लोक हँसन दै, लोक बेद त्यों तिनका तोर्‌यौ ।।[१]

नन्ददास के जीवन की भी सबसे बड़ी अभिलाषा कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना है। इसके लिए वे भी वन की लता और मार्ग की धूल होने को तैयार हैं—

किधौं हौंहुँ द्रुमलता बेलि बल्ली बन माँही।
आवत जात सुभाय परैं मोपै परछाँही ।।
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होंहि प्रसन्न जो यह बर माँगौं जाय ।।
कृपा कर दीजिये !

तथा—

अब रहिहौं ब्रजभूमि में, ह्वै मारग की धूरि।
विचरत पद मोपै परै, सब सुख जीवन भूरि ।।
मुनिन हू दुर्लभ ![२]

उनका यह भी कहना है कि यदि पर्वत पर ही रहना हो तो गोवर्धन पर रहना मिले, यदि ग्राम में रहना हो तो नन्द-ग्राम में रहूँ, यदि किसी सरिता के तट रोके रहना हो तो वह यमुना हो और यदि वन का वास मिले तो वृन्दावन में रहूँ—

जो गिरि रुचै तो बसौं श्री गोवर्धन, ग्राम रुचै तो बसौं नन्द गाम।
नगर रुचै तो बसौं श्री यमुना तट, सकल मनोरथ पूरन काम।
नन्ददास काननहि रुचैं तो, बसौं भूमि बृन्दाबन धाम ।।[३]

प्रेम का आश्रय सदैव एक ही होता है, यह कोई सौदा नहीं कि जिस में हानि-लाभ का विचार किया जाय—

प्रेम एक, इक चित्त सौं, एकहि संग समाइ।
गाँधी का सौदा नहीं, जन जन हाथ विकाइ ।।[४]

कुम्भनदास भी कृष्ण को छोड़ कर अन्य किसी के गुण नहीं गाते, उसका व्रत है कि अन्य किसी के लिए हृदय में रुचि ही नहीं पैदा होती—

माई, गिरिधर के गुन गाऊँ।
मेरे तो व्रत एही है निस दिन, और न रुचि उपजाऊँ ।।[५]

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० १९५
२. वही, पृ० ८५४
३. वही, पृ० ३२२
४. वही, पृ० ६७६
५. वही, पृ० ६७६

कृष्णदास के भी इष्टदेव केवल कृष्ण ही हैं। वे चाहे जिस ढंग से रखें, भक्त को उसी ढंग से रहना चाहिए। भक्त के लिए अपने इष्टदेव को छोड़ कर अन्य कोई दूसरा स्थान नहीं—

ज्यों ज्यों राखौ त्यों रहूँ जु देहु सु खाउँ।
तुमहि मेरे पति गति, लेउँ तेरौ नाउँ ।।

मेरे जाने तजहु गिरिधरन जो तुमहि छाँड़ि पिय कौन पै जाउँ।
कृष्णदास कहै या त्रिभुवन में तेरे द्वारे, बिना हरि नहीं कहुँ ठाउँ ।।[१]

चतुर्भुजदास भी गोपाल को छोड़ कर अन्य किसी का भजन नहीं करते, उन्हें पता नहीं कि इस मार्ग के सिवाय कोई दूसरा मार्ग है भी या नहीं—

एकहि आँक जपै गोपाल।
अब यह तन जानैं नहिं सखि री, और दूसरी चाल।[२]

छीतस्वामी के जीवन की एकमात्र कामना यही है कि जन्म-जन्मान्तर तक ब्रज का वास और रास का रस मिलता रहे—

अहो बिधना ! तो पै अँचरा पसारि माँगौं,
जनम जनम दीजो मोहि याहि ब्रज बसिबौ।
अहीर की जाति समीप नन्द घर हेरि,
हेरि स्याम सुभग घरी घरी हँसिबौ।
दधि कै दान मिस ब्रज की बीथिन,
झकझोरन अंग अंग कौ परसिबौ।
छीतस्वामी गिरधरन श्री बिट्ठल,
सरदरैन रस रास बिलसिबौ ।।[३]

छीतस्वामी की अनन्यता तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि वे ब्रज को छोड़ कर वैकुण्ठ जाना भी पसन्द नहीं करते। उन्हें वैकुण्ठ से क्या प्रयोजन है जहाँ सारस, हंस और मोर नहीं बोलते और नन्द, यशोदा तथा गोपियों में से कोई भी नहीं—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाइ।
नहिं जहं कुंजलता, अलि कोकिल, मंद सुगन्ध न वायु बहाइ ।।
नहीं जहँ सुनियत स्रवनन बँसरी धुन, कृष्ण न सूरत अधर लगाइ।
सारस, हंस, मोर नहीं बोलत, तहँ को बसिबौ कौन सुहाइ ।।

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ६७७
२. वही, पृ० २८१
३. वही, पद २३, पृ० २६९

नहिं जहँ ब्रज, बृन्दाबन बीथी, गोपी नंद जसोदा माइ।
गोबिन्द प्रभु गोपी चरनन को, ब्रज रँज तजि वहाँ जाइ बलाइ ।।[1]

भक्तवत्सलता

इनके इष्टदेव उन देवों में नहीं कि जो भक्तों के कष्टों की ओर से आंखें मूँद लेते हों और कान बन्द कर लेते हों। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े का स्वयं ध्यान रखती है, ठीक समय पर उसे दूध पिलाती है और प्रत्येक कष्ट से उसकी रक्षा करती है, जिस प्रकार बन्दरी जरा सा खटका होने पर बच्चे को अपने पेट से चिपका लेती है इसी प्रकार भगवान् चारों ओर से अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। भक्त पर आयी विपत्ति को भगवान् अपनी विपत्ति समझते हैं। भक्त का अपकार करनेवाले को वे कभी क्षमा नहीं करते, सुदर्शन-चक्र से उसका सिर अलग कर देते हैं। सूर ने अपने देव की दयालुता और भक्त-वत्सलता का परिचय निम्नलिखित पद मे बड़े ही सुन्दर ढंग से दिया है—

हम भगतन के, भगत हमारे।
सुन अरजुन, परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे ।।
भगतै लाज-काज हिय धरि कै, पाँइ पयादै धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ ।।
जो मम भक्त सौं बैर करत हैं, सो निज बैरी मेरौ।
देखि बिचारि भक्त हित कारन हाँकत हौं रथ तेरौ ।।
जीते जीत भक्त अपने की, हारे हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भगत-विरोधी, चक्र सुदरसन जारौं ।।

भगवान् की भक्ति अपार है। कितनी ही विषम परिस्थितियाँ क्यों न हो, भगवान् का वरद हस्त भक्त की रक्षा किसी न किसी उपाय से करता ही है। एक पक्षी के रूप में भक्त की रक्षा का वर्णन कितना हृदयग्राही बन पड़ा है—

अबकैं राखि लेहु भगवान् !
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया, पारधि साधे बान ।।
जाके डर भाज्यो चाहत है ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारै प्रान ।।
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूटै संधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहि, जय-जय कृपा-निधान ।।

भगवान् दयालु तो हैं ही। वे छोटे-बड़े में किसी प्रकार का अन्तर नहीं करते। वह जगत-पिता अपनी सन्तान में किसे छोटा कहे और किसे बड़ा ? विदुर दासी के

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० २५७

पुत्र थे। कृष्ण भगवान् को खिलाने के लिए जो भोजन बनाया था, वह शाकपात ही था, पर भगवान ने उसे षट् रस व्यंजनों से अधिक स्वादिष्ट माना। प्रह्लाद यद्यपि दानव-कुल में जन्मा था पर उसके लिए वे खम्भा चीर कर प्रकट हुए। बात यह है कि उनका नाम ही वह पारसमणि है कि जिसके स्पर्श से भक्त का खोट दूर हो, जाता है; भक्त तो खरा सोना है, वहाँ कौन खोट हो सकता है ?

बड़ी है राम-नाम की ओट।
... ...
बैठत सभा सबै हरिजू की, कौन बड़ौ को छोट।
सूरदास पारस के परसे मिटत लोह के खोट ॥[1]

सूर की ही बात नहीं, भगवान् का यह बाना इस शाखा के सभी कवियों को समान रूप से मान्य रहा है। उनके दर्शनमात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, ताप का कहीं पता नहीं चलता। परमानन्द के शब्दों में भक्त और भगवान् में अन्तर ही नहीं—

दास अनन्य मेरौ निज रूप !
दरसन मात्र ताप त्रय नासत, छुड़वावै गृह बंधन कूप।

जिसकी भृकुटि के विलास मात्र से चराचर विकम्पित हो जाता है, जिसकी इच्छा का परिणाम ही यह विश्व है, उसके लिए असम्भव क्या है ? भक्त के ऊपर जहाँ वे एक वार रीझे नहीं कि फिर उनके लिए अदेय क्या है ? लँगड़ा उनकी कृपा से पर्वत पार कर जाता है, अन्धा देखने लगता है और दर-दर का भिखारी छत्रपति बन जाता है—

जा पर कमला कान्त ढरैं।
लकरी घास कौ बेचन हारौ, ता सिर छत्र धरैं॥
बिद्यानाथ अविद्या समरथ जो कछु चाहैं सोइ करैं।
रीते भरैं भरे पुनि रीतैं, जो चाहैं तो फेरि भरैं॥
सिद्ध पुरुष अबिनाशी समरथ, काहू ते न डरैं।
परमानन्द सदा यह सम्पति, मन में कबू ढरैं॥[2]

अहं का लोप

अहं का लोप भक्ति की अनिवार्य शर्त है। जब अपने इष्टदेव को ही सबकुछ समझना है, उसे तन-मन धन सबकुछ अर्पित करना है तो अहं के लिए गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है ? इन कवियों ने उद्धव के पराभव के रूप में अहं का पराभव दिखाया

---

१. सू० सा०, स्कन्ध १, पद २३२
२. अ० ब० सं० सि० सा, पृ० ६०८

है। उद्धव ज्ञान के प्रतीक होने के साथ-साथ अहं के भी प्रतीक हैं। उद्धव को ब्रज में आते समय ज्ञान का मद था, इस कारण वे शुद्ध भक्ति से कोसों दूर थे। प्रेम क्या है, यह वे जानते ही न थे। गोपियों से मिलने के बाद ही उनके हृदय में कुछ भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इस भक्ति के प्रकाश में उनके हृदय की दुविधा, ग्लानि, मन्दता और ज्ञान का तिरोभाव हो गया। वे गोपियों के दर्शनमात्र से अपने को कृतकृत्य समझने लगे।[1] उद्धव-जैसे ज्ञानी जब गोपियों के पास से लौटते हैं तो एकदम बदले हुए, पूरी तरह पराजित, पर विजयी से भी अधिक प्रसन्न। लगता है, उन्हें नयी विधि मिल गई हो, जन्म-जन्मान्तर के प्यासे को अमृत का अक्षय स्रोत मिल गया हो। उद्धव का जैसे काया-कल्प ही हो गया हो। जिन गोपियों को वे तुच्छ समझते थे, वे अब उनका आदर्श बन गयीं। अब तो उनकी एकमात्र कामना यही है कि मैं ब्रज की रज बन जाऊँ जिससे गोपियों के पवित्र चरण मेरे ऊपर पड़ें, अथवा मैं ब्रजवन का वृक्ष-लतादि ही हो जाऊँ जिससे इन गोपियों की परछाईं मेरे ऊपर पड़ती रहे। मेरे वश की यह बात नहीं, यदि मेरे वश में होता तो मैंने कभी का इन वस्तुओं का रूप धारण कर लिया होता। मैं अब भगवान् से यही वर माँगूँगा।[2]

एक दूसरे स्थान पर इसी भाव को एक गोपी के मुख से इन शब्दों में कहलाया गया है—श्याम मेरे दरवाजे पर आए और मैं गर्व किये रही। मेरी छोटी सी यह भूल मेरे लिए बड़ी महँगी सिद्ध हुई। अब तो मैं भूलकर भी गर्व नहीं करूँगी। जिस कर्म से अपनी हानि होती हो उसे करके व्यर्थ ही क्यों मरूँ? वे मेरे घर आये थे, उनका कोई कसूर नहीं, मैं ही अभिमानवश ऐंठ में रही। अब तो मेरे जीवन में दुःख ही दुःख हैं। लगता है कि सारा जीवन विरह में ही कट जायगा। अब यदि किसी तरह उनके दर्शन हो जायं तो उनके साथ-साथ फिरूँगी, क्षण भर के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ूंगी—[3]

मो तैं यह अपराध पर्‌यौ।
आये स्याम द्वार भए ठाढ़े, मैं जिय गरब धर्‌यौ।
जानि बूझि मैं यह कृत कीन्हौ, सो मेरे सीस पर्‌यौ॥
... ...
भूलि नहीं अब मान करौं री।
जातें होइ अकाज आपनौ, काहे बृथा मरौं री॥
... ...

१. रासपंचाध्यायी, (गोपियों से वार्तालाप के बाद)
२. भ्रमरगीत (आचार्य शुक्ल-कृत), पृ० १४०
३. सूरसागर, पृ० ६६६-६८

उनकौ यह अपराध नहीं !
वे आवत हैं नीकैं मेरे, मैं ही गर्व कियौ तिनहीं ।।
गर्व किये तैं सर्यौ कछु नहीं, एक भई तनु दसा नहीं ।
सुख मिटि गयौ, हियौ दुख पूरन, अब रह्यौ इन ही बिन हीं ।।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

हमने कृष्ण को आराध्य मान कर उपासना करनेवाले जिन कवियों की देव-भावना का परिचय दिया है वे अष्टछाप के कवि हैं । वे एक सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित थे । पर कृष्ण को आराध्य देव मानकर चलनेवाले भक्त कवियों के अनेक सम्प्रदाय हैं । उन सम्दायों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का अपना विशेष स्थान है । उसकी आराधना का स्वरूप भिन्न है अतः यहाँ उसका थोड़ा-बहुत परिचय कृष्ण-भक्ति के स्वरूप को समझने में सहायक होगा ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है । उसमें राधा के वल्लभ (प्रिय) उस कृष्ण की उपासना है जो स्वयं राधा की आराधना करते हैं । नाभादास जी ने इस सम्प्रदाय का परिचय देते हुए कहा है कि इस पन्थ में राधाचरण की भक्ति प्रधान है । राधा कृष्ण की भी आराध्या हैं । राधा को कृष्ण के नित्य विहार की सहचरी के रूप में देखना इस सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है । यद्यपि इस सम्प्रदाय में संयोग की भावना सदैव रहती है, क्षणभर को भी वियोग की स्वीकृति नहीं है, फिर भी भक्त अपने हृदय में सखी-भाव से युगल के नित्य नूतन विग्रह और क्रीड़ाओं के दर्शन में सदा अतृप्ति के भाव का अनुभव करता है । अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के समान इस सम्प्रदाय में भी नवधा भक्ति को साधन रूप में अपनाया गया है ।[१] इस मत के संस्थापक श्री हितहरिवंश जी ने अपने आराध्य तत्व को 'रास-सुधानिधि' नामक ग्रंथ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"जिनका सुन्दर मोरपंख-निर्मित मुकुट श्री राधा के चरण-कमलों में लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सव से उल्लसित हैं उन रसघन मोहन-मूर्ति श्री हरि की मैं वन्दना करता हूँ । वन्दनीय हरि राधा के कृपा-कटाक्ष की कामना करते हैं, राधा के आदेश-निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है ।[२]

इस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम व्याख्याता श्री दामोदरव्यास जी (सेवकजी) ने निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया है—

(१) इस सम्प्रदाय में 'श्यामश्यामा' का नाम स्मरण एक साथ किया जाता है । इन दोनों में श्याम आराधक हैं और श्यामा आराध्या हैं । ये दोनों निकुंज में नित्य

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, भूमिका-भाग, पृ० ७
२. वही, पृ० २१४-१५

विहार करते हैं। उपासना का लक्ष्य इनके सुख-भोग को देख कर जीवात्मा द्वारा आत्म-सुख लाभ करना है। इनके यहाँ जीवन को सहचरी कहा गया है।

(२) इनकी उपासना निर्गुण रूप की न होकर सगुण रूप की है। श्याम और श्यामा का सबसे शुद्ध रूप वह है जो वृन्दावन में नित्य रस-क्रीड़ा में मग्न है।

(३) इनके यहाँ विधि-निषेध का कोई महत्त्व नहीं। प्रेमोपासना में व्रत, संयम, नियम आदि की कोई विधि टिक नहीं पाती।

(४) भक्ति-मार्ग में जातिपाँति के लिए कोई स्थान नहीं।

एक पद में इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार है—

रसिक अनन्य हमारी जाति !
कुल देवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजवासिन सौं पाँति ।।
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंड, हरिमन्दिर भाल।
हरिगुन नाम बेद धुनि सुनियत, मूँज पर बावज, कछु करताल ।।

... ...

सेवा बिधि निषेध जड़ संगति, बृत्ति सदा बृन्दावन बास।
वंशी रिषि जजमान कल्पतरु, ब्यास न देत असीस सराप ।।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण यद्यपि इस मार्ग में उपास्य देव हैं, पर उनका स्थान यहाँ गौण है। यहाँ प्रमुख स्थान राधा का है। जिसे अन्य सम्प्रदायों ने परात्पर तत्त्व कहा है वह तत्त्व राधा ही है, ऐसा उनका कथन है। श्रुतियों में जिसे 'रसो वै सः' कहा गया है वह भी राधा ही है। अन्य सम्प्रदायों में जो आराधिका है, वह यहाँ आराध्या है।

माधुर्य भाव —इस सम्प्रदाय में आराध्यदेव की पूजा माधुर्य-भाव की है। यहाँ भगवान् के साथ सम्बंध पति-पत्नी का है। इसमें भी विशेषता यह है कि इसमें राधा अपने प्रियतम कृष्ण के सुख का ध्यान रखती है तो कृष्ण राधा के सुख को अपना लक्ष्य समझते हैं। यह भाव तत्सुखी भाव से संबोधित होता है। हितहरिवंश जी का एक पद इस भाव को कितने सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करता है—

जोई-जोई प्यारी करै सोई मोहि भावै,
भावै मोइ जोइ, सोई सोई करै प्यारै।
मोकौं तो भावतो ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारै।
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मो सौं हारै।

१. आ० व० सं० सि० सा०, पृ० १६६

हितहरिबंस हंस-हंसिनी साँवल गौर,
कहो कौन करै जल तरंगनि न्यारै ।।

विधि-निषेध को त्यागने वाला पद भी द्रष्टव्य है—

प्रीति न काहू की कानि बिचारै ।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै ।।
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै ।
ज्यों नादहि मन दिये कुरंगनि प्रकट पारधी मारै ।।
हितहरिबंस हि लग सारँग ज्यों सलभ सरीरहि जारै ।
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु, कौन अपनपौ हारै ।।

प्रेम के साम्राज्य में न कोई बड़ा होता है और न छोटा, इस भाव को व्यक्त करनेवाला पद देखिये—

प्रीति की रीति रँगीलौई जानै ।
जद्यपि सकल लोक चूरामनि, दीन अपनपौ मानै ।।
जमुना पुलिन निकुंज भवन में, मान मानिनी ठानै ।
निपट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहि न आनै ।।
नटवर नेह चपल मधुकर ज्यौं आन आन सों बानै ।
हितहरिबंस चतुर सोई लालहि छाँड़ि मेंड़ पहिचानै ।।

उन्हें अपनी अनन्यता में पूरा विश्वास है । यदि भक्त की मति और भक्ति कच्ची नहीं तो उसे किसी से भय क्यों हो ?

मोहनलाल के रँग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसों दिसि माँची ।।
कन्त अनन्त करौ जो कोऊ बात कहौं पुनि साँची ।
यह जिय जाहु, भलै सिर ऊपर, हौंव प्रगट है नाची ।।
जाग्रत सयन रहत उर ऊपर, मणि कंचन ज्यों पाँची ।
हितहरिबंस डरौ काकैं डर, हौं नाहिन मति काँची ।।

सहजिया सम्प्रदाय

इस मत का लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएँ हैं उन्हें सहज रूप से पूरा होने दिया जाय । इन साधकों ने मंत्रयान की साधनाओं की उपेक्षा कर मानसिक शक्तियों को उभारने का यत्न किया । इनके अनुसार सभी साधनाओं का लक्ष्य चित्त की शुद्धि है जिसके द्वारा सहजावस्था की प्राप्ति होती है । सहज ही सब का आदर्श है— सहज का परित्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है, उसकी कोई भी परमार्थ की साधना सफल नहीं हो सकती ।[१] अन्य सभी साधनाओं

के समान इनका लक्ष्य भी चित्त की शुद्धि है पर इनकी दृष्टि में इस लक्ष्य की प्राप्ति चित्त को शून्य बना देने से होती है।[1] चित्त ही सबका बीज है और निर्वाण की प्राप्ति भी इसीसे सम्भव है। इस सर्वरूप चित्त को खसम (ख-आकाश, सम-समान) अर्थात् शून्य बना देना चाहिए और मन को शून्य स्वभाव का रूप दे देना चाहिए जिससे यह वस्तुत: अमन, अर्थात् अपना चंचल स्वभाव छोड़कर मन के विपरीत स्वभाव का, हो जाय और तब सहज रूप का अनुभव होने लगता है।[2] श्री बलदेवप्रसाद उपाध्याय के अनुसार, "सहजिया पंथ साधना की दृष्टि से तांत्रिक पंथ है। ये लोग दक्षिण मार्ग की अपेक्षा वाम मार्ग के पक्षपाती हैं।"[3]

इनका विश्वास है कि प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक अपने अन्दर निहित प्रेम को धीरे-धीरे लौकिक स्तर से अलौकिक स्तर तक ले जा सकता है। इन लोगों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान हैं जिसको स्वरूप कह सकते हैं और इसके साथ ही साथ उसमें एक निम्न स्तर का भौतिक तत्त्व भी विद्यमान है जिसे 'रूप' कह सकते हैं। इन साधकों के अनुसार प्रत्येक पुरुष व स्त्री को अपने रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप में परिणत कर देना चाहिए।[4]

श्री राधाकृष्ण ही इन वैष्णवों के परमाराध्य देवता हैं। इसमें श्री कृष्ण हैं पुरुष और राधा हैं प्रकृति। इन दोनों में सम्बन्ध आश्रयाश्रयी भाव का है। कृष्ण हैं आश्रयी तथा राधा हैं आश्रय।[5] इस सम्प्रदाय में केवल एक ही मार्ग की साधना मान्य है और वह है माधुर्यभाव की। इस उपासना में साधक भगवान् को पुरुष मानता है और अपने को स्त्री। इसमें भी विशेषता यह है कि प्रेम के क्षेत्र में इसमें परकीया की स्वीकृति है। राधा और कृष्ण में परिणय का सम्बन्ध न दिखाये जाने से चैतन्य सम्प्रदाय में भी यद्यपि परकीया भाव की स्वीकृति थी पर उसका स्तर अध्यात्मिक था। यहाँ परकीया का ग्रहण एकदम लौकिक स्तर पर है। यहाँ सामान्य नारियों के परकीया प्रेम का वर्णन इतने विशद रूप में हुआ है कि उसकी स्थूलता और ऐन्द्रियता में किसी तरह का सन्देह नहीं रह जाता। इन्होंने परकीया को साधना के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया है। जो स्थान किसी समय गुरु को मिला हुआ था वही अब प्रकृति या मंजरी (परकीया स्त्री का वाचक शब्द) को मिल गया। इस मंजरी की सहायता से साधक को काम पर विजय पाने का परामर्श दिया गया।

---

१. उ० भा० सं० प०, पृ० ४१
२. वही, पृ० ४३
३. भागवत सम्प्रदाय, पृ० ४८५
४. वही, पृ० ४८१
५. वही, पृ० ४८४

परवर्ती काल में जिस परकीया भाव का इतना प्रचार हुआ, उसका आरम्भ इसी मत में हुआ था। परकीया का प्रेम सब प्रकार के बन्धनों को लाँघ कर प्रकट होता है, उसमें पर्वतीय नदी की सी द्रुतता रहती है, उसका वेग उद्दाम होता है अतः प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए वहाँ राधा को परकीया रूप में प्रदर्शित किया गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार, "इस मत में चंडीदास के अनुकरण पर श्रीकृष्ण और राधा से सम्बन्ध रखने वाले पदों की रचना की जाती थी। इस प्रेम की तुलना में उन्होंने अनेक प्रकार के प्रेम को तुच्छ ठहराया है। उनके इस प्रेम का स्वरूप उस स्वच्छन्द किन्तु स्वाभाविक अनुराग की ओर संकेत करता है जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र या प्रेमी के प्रति हुआ करता है। प्रेम की इस स्वाभाविकता के कारण ही उसे 'सहजभाव' का नाम दिया गया और सहज के ही महत्त्व से उसका नाम 'सहजिया-सम्प्रदाय' पड़ा।"[1]

यह सहज बौद्धों का सहज था। उसी बौद्ध प्रभाव के अनुकरण पर 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के स्थान पर इसमें राधा और कृष्ण का समावेश हुआ। उक्त 'सहज' वस्तुतः वही सहजतत्त्व था जो कभी बौद्ध धर्म के अनुसार परम-तत्त्व समझे जानेवाले शून्य के स्थान पर क्रमशः महासुख के रूप में प्रविष्ट हुआ था और जो बौद्ध सहजिया लोगों की साधना में परमध्येय बना हुआ था। अत एव जिस प्रकार बौद्ध सहजिया लोगों ने इसे 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का युगनद्ध रूप मान रखा था, उसी प्रकार वैष्णव सहजिया लोगों ने भी इसे राधा एवं कृष्ण के नित्य प्रेम का रूप दे डाला और इसी को सारे विश्व का मूलाधार मानकर इन्होंने सृष्टि-क्रम की भी कल्पना की।[2]

युगनद्धता के इस सिद्धान्त और इस प्रकार सहज मार्ग को ही मनोवैज्ञानिक आधार पर अवस्थित किया गया है। श्री एच० वी० गुन्थरे के अनुसार, पुरुष साधक अपने व्यक्तिगत अन्तर्विरोध का समाधान दो तरह से कर सकता है—(१) अप्राकृतिक ढंग से स्त्री-महत्त्व का निरोध करके; (२) प्राकृतिक ढंग से दोनों का साहचर्य करके। हठयोगी ब्रह्मचारी पहले प्रकार का उपयोग करते हैं अतएव उनमें एक तरह का खिंचाव या तनाव का आभास मिलता है। युगनद्धता का सिद्धान्त साहचर्य की पद्धति को अपनाकर मानव-जीवन में अन्तर्निहित वैषम्य अथवा तनाव को उन्मुक्त करता है।[3]

स्पष्ट है कि इस मत में नारी का महत्त्व बहुत अधिक था। इनकी दृष्टि में नारी घिनौना पदार्थ है ही नहीं, वह सिद्धि की मार्ग के सहायिका है। सिद्धि के लिए वे जो धार्मिक कृत्य करते हैं उनमें नारी का सहयोग आवश्यक है। ऐसी साधना में वे किसी एक सुन्दरी को चुनते हैं। उसके चरणों में चार मास पड़े रहते हैं और उसका

---

१. उ० भा० सं० प, पृ० ९२

२. वही, पृ० ९२

३. सं० सा० सं०, पृ० ४०

स्पर्श नहीं करते। फिर इतनी ही अवधि तक उसके आलिंगन में रहते हैं और कामातुरता को पास नहीं फटकने देते। उनका विश्वास है कि इस प्रकार काम शांत हो जाता है और सिद्धि भी मिलती है। अपने मत की पुष्टि के लिए इनका कहना है कि सभी वैष्णव गोस्वामी किसी-न-किसी मंजरी को अपने पास रखते थे और उससे वे सिद्धि-पथ पर बढ़ने की प्रेरणा पाते थे।...गोस्वामी मीरा से प्रेम करते थे, रघुनाथ भट्ट बाई से, सनातन लखहीरा से, लोकनाथ एक चाण्डाल लड़की से, कृष्णदास कविराज एक ग्वालिनी से और जीव गोस्वामी एक नाई की स्त्री से प्रेम करते थे, गोपाल भट्ट गौरी प्रिया और राव रामानन्द देवदासियों से। चण्डीदास रामी से और विद्यापति राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमा देवी से प्रेम करते थे। जयदेव और पद्मावती का सम्बन्ध यद्यापि विवाह से स्थापित हुआ था तब भी वह परकीया प्रेम के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता था।[1]

साधना में नारी की इस अनिवार्यता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इसमें भोग-विलास की प्रधानता आ गई। पर इसे मार्ग की कमी मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। इस प्रकार के आक्षेपों का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि सभी मार्गों में कुछ कच्चे साधक आ जाते हैं। यह दोष व्यक्तियों का है, साधना के मार्ग का नहीं।

चैतन्य मत

इनका बचपन का नाम विश्वम्भर मिश्र था। पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का शचीदेवी था। इनका जन्म १४०७ शक के फागुन महीने में पूर्णिमा के दिन हुआ था। ये बंगाल के रहने वाले थे और वल्लभाचार्य के समकालीन थे। इन्होंने बाह्य अनुष्ठानों की अपेक्षा आन्तरिक भावना पर अधिक बल दिया। इनके विचार बड़े उदार थे, मुसलमान भी इनके शिष्य थे। ये कृष्ण के अवतार माने जाते थे और इसी कारण बाद में इन्हें 'कृष्ण चैतन्य' के नाम से पुकारा जाने लगा था। इनका एक नाम 'गौराङ्ग महाप्रभु' भी था।

निम्बार्क के समान चैतन्य भी परमात्मा और जीव में, भेद और अभेद, दोनों ही मानते हैं। कृष्ण माया के स्वामी हैं, जीव उसका दास है, जब वह इस जंजीर को काट लेता है तो अपने स्वरूप को पहचान लेता है। भगवान् की प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है।[2]

इनके मत में कृष्ण शरीरधारी होते हुए भी अनन्त, सर्वव्यापक, पूर्ण, शाश्वत और सदैव युवा है। सत्-चित् उनके विशेषण-भर हैं। उनका वास्तविक रूप आनन्द-

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० २०१

२. वै० शै० मा० रि० से०, पृ० ८५

मय है। सभी प्रकार के आनन्द और माधुर्य उनमें हैं। वे अपनी लीला का आनन्द उठाते हैं। कृष्ण-रूप में और नारायण तथा विष्णु के रूप में भी उनके साथी हैं। विश्व की प्रत्येक आत्मा को वे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कृष्ण तथा उनके अन्य रूप अलग-अलग निवास-स्थानों में रहते हैं। कृष्ण वृन्दावन, ब्रज या गोकुल और नारायण वैकुण्ठ में निवास करते हैं। ये निवास-स्थान शाश्वत हैं तथा आनन्द से परिपूर्ण हैं। उनके सभी साथी विभिन्न अवसरों पर पवित्र प्रेम के स्वरूप को प्रकट करते हैं।

प्रेम की गहराई के अनुसार कृष्ण के ब्रज-निवासी सभी साथी चार भागों में विभक्त किये जाते हैं—(१) दास्य भक्त, (२) सत्य भक्त, (३) वत्स्य भक्त, (४) कण्ठाभट-प्रेमास्पद युवतियाँ।

कृष्ण-साहित्य पर चैतन्य मत का भारी प्रभाव है। कहा जाता है, इस मत में ही प्रथम बार युगल सरकार की पूजा का विधान हुआ था। आचार्य वल्लभ के अष्ट-छाप में आरम्भ में भगवान् कृष्ण के बाल-रूप की पूजा होती थी। बाद में उसमें जो माधुर्य-भाव की पूजा प्रचलित हुई उसमें चैतन्यमत का प्रभाव प्रधान रूप से काम कर रहा है, ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। यह भी कहा जाता है कि महाप्रभु चैतन्य की द्वितीय पत्नी जब वृन्दावन गयीं और वहाँ उन्होंने राधा की मूर्ति की पूजा होते हुए नहीं देखी तो उन्हें बहुत बुरा लगा और उन्होंने नयन भास्कर नामक व्यक्ति द्वारा राधा की मूर्ति बनवा कर भेजी। वह मूर्ति बाद में कृष्ण के साथ स्थापित की गयो और फिर युगल की पूजा का प्रचलन हो गया। जो भी हो, अनेक बंगाली साधु वृन्दा-वन में रहते थे, महाप्रभु भी वृन्दावन पधारे थे, इन सब बातों से स्पष्ट है कि अष्ट-छाप-साहित्य पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

परवर्ती काल में जिस परकीयाभाव का साहित्य में इतना प्रचार हुआ उसका आरम्भ भी इसी मत में हुआ था। हाँ, यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस सम्प्रदाय में परकीयाभाव की स्वीकृति प्रतीक रूप से ही की गयी है। परकीया का प्रेम सब प्रकार के बन्धनों को लाँघकर प्रकट होता है। उसमें पर्वतीय नदी की सी द्रुतता रहती है, उसका वेग उद्दाम होता है अतः प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए यहाँ राधा को परकीया रूप में प्रदर्शित किया जाता है। यह ग्रहण लौकिक धरातल पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक स्तर पर हुआ था। इसका उद्देश्य इतना ही भर प्रदर्शित करना था कि लौकिक सम्बन्धों की पूरी तरह अवहेलना किये बिना जीव के लिए ईश्वर-प्राप्ति असंभव है।

यद्यपि इस सम्प्रदाय में युगल-उपासना है पर फिर भी यहाँ प्रधानता श्रीकृष्ण की ही है। इनके इष्टदेव कृष्ण ही हैं। इनके यहाँ कृष्ण को ही सृष्टि का प्रधान कारण माना गया है। वे सच्चिदानन्द हैं, सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण और सर्वशक्ति-मान हैं। वहाँ शक्ति और शक्तिमान् का भेद भी स्वीकृत है। राधा कृष्ण की नित्य रहनेवाली शक्ति हैं, वे उनकी अंश-मात्र हैं और उनके भी इष्टदेव कृष्ण ही हैं।

निम्बार्क मत

इस मत के प्रवर्तक का असली नाम नियमानन्द था और वे तैलंग ब्राह्मण थे। निम्ब के वृक्ष पर रात्रि के समय अर्क (सूर्य) के दर्शन करा देने से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा। इसमें राधा और कृष्ण के युगल रूप की उपासना है। 'दश-श्लोकी' में बार-बार "कृष्ण एव गतिर्मम" कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ में इसमें कृष्ण ही आराध्य थे। बाद में शनैः शनैः राधा की प्रधानता हो गयी और उसे ही आराध्य माना जाने लगा। इसका दूसरा नाम 'सनक सम्प्रदाय' भी है।

नियमानन्द जी का जन्म निम्ब नामक ग्राम में हुआ था जो आजकल बेलारी जिले में निम्बपुर से पृथक् नहीं जान पड़ता। इनकी जन्म-तिथि वैशाख मास के शुक्ल पक्ष तृतीया मानी जाती है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का सरस्वती। इनके मतानुयायियों के अनुसार ये विष्णु के सुदर्शन चक्र के अवतार थे। इनका काल रामानुचार्य के बाद का है।[1]

सिद्धान्त रूप से ये द्वैतवादी भी हैं और अद्वैतवादी भी—प्रकृति, आत्मा और ईश्वर एक भी हैं और पृथक् भी। इस मत के मामनवाले साधु-संन्यासी भी हैं और गृहस्थी भी।

अन्य कवियों की देव-भावना

पीछे हमने जिन कवियों की देव-भावना का उल्लेख किया है वे सम्प्रदायों में विधिवत् दीक्षित थे। यद्यपि काव्य-जगत् में सम्प्रदाय की बँधी हुई लकीर पर चलना सम्भव नहीं होता पर फिर भी इन कवियों पर उन सम्प्रदायों का प्रभाव अवश्य ही था। पर इन कवियों के अतिरिक्त अन्य कितने ही ऐसे कवि थे जिन्हें कृष्ण की मोहनी ने अपनी ओर आकृष्ट किया था। इनके हृदय में भी कृष्ण के प्रति वही अनुराग था। इनके श्रद्धा-विगलित हृदय से जो सुन्दर उक्तियाँ निकलती हैं वे उतनी ही हृदयग्राहिणी हैं। क्या भावनात्मक और क्या साहित्यिक, किसी भी दृष्टि से इन रचनाओं का महत्त्व कम नहीं ठहरता। यों तो इन कवियों की संख्या अनेक है पर अनेक कारणों में से इनमें से रसखान और रहीम का महत्त्व अधिक है। ये मुसलमान होते हुए भी कृष्ण के प्रेम में सराबोर थे। साहित्यिकता की दृष्टि से भी इनका निजी महत्त्व है। सच्चे हृदय की अभिव्यक्ति और भावातिशयता के द्वारा इन्होंने जिस काव्य-सरिता को जन्म दिया है, उसमें अवगाहन कर न जाने कितने क्लान्त मनों को अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है। रसखान के अनुसार कृष्ण साधारण पुरुष नहीं, देवाधिदेव साक्षात् पर-ब्रह्म हैं, पर वे प्रेम के वश में होकर अहीर छोहरियों की छाछ पर नाच करते दीख पड़ते हैं—

---

१. वैष्ण० शैव०, अ० मा० रि० क०, पृ० ६२

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु ताहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं ।।
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं ।।[१]

प्रेम की अनन्यता में ये किसी से पीछे नहीं। इनके एकमात्र आराध्य श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिए यदि अन्य कोई किसी अन्य देवता का भजन या आराधन करता है तो करे, इन्हें किसी से कोई प्रयोजन नहीं—

सेस, सुरेस, दिनेस गनेस, प्रजेस, धनेस, महेस मनावौं।
कोऊ भवानी भजौ, मन की सब आस सबै बिधि बाइ पुरावौं ।।
कोऊ रमा भजि लेहु, महाधन, कोऊ कहूँ मनवांछित फलु पावौं।
पै रसखानि वही मेरौ साधन, और त्रिलोक रहौ कि नसावौं ।।[२]

अनन्यता की यह भावना इतनी अधिक है कि अहर्निश उन्हें कृष्ण का ही ध्यान है। उनके जीवन की एकमात्र कामना यह है कि चाहे जिस प्रकार हो, कृष्ण का सान्निध्य बना रहे। उसके लिए यदि इन्हें पशु, पक्षी और यहाँ तक कि पाषाण भी बनना पड़े तो स्वीकार है—

मानुस हौं तो वही रसखनि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरौ चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तो वही गिरि कौ जो कियौ हरि छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरौ करौं मिलि कालिंदी कूल कंदब की डारन ।।[३]

केवल मुँह से प्रेम कर देने से प्रेम नहीं हो जाता। अपनी अनन्यता के लिए कुछ त्याग करना पड़ता है और भौतिक ऐश्वर्यों की बलि देनी पड़ती है। उसे प्रेमास्पद से ही नहीं, उसकी प्रत्येक वस्तु से भी प्रेम करना पड़ता है। अनन्यता की यही कसौटी है और रसखान इस पर पूरे उतारते। है देखिए कि वे क्या-क्या छोड़ने को तैयार हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि कौ सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं ।।
नैंनन सौं रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर बारौं ।।[४]

रसखान के अनुसार भगवान् को पाने के लिए वेदों का अध्ययन करना और

१. सुजान रसखान, पद १४, पृ० ७
२. वही, पद ५, पृ० २
३. वही, पृ० १
४. वही, कवित्त १७, पृ० ८

उनमें निष्णात होना आवश्यक नहीं, पुराणों का गान भी व्यर्थ ही है, उसकी प्राप्ति के लिए तो सच्चे प्रेम का होना अनिवार्य है। प्रेम के वश होकर भगवान् छाछ पर तो नाचते ही हैं, वे पैर दबाने में भी संकोच नहीं करते—

टेरत टेरत हारि पर्‌यौ, रसखान बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठौ पलोटत राधिका पाँयन।।[1]

यदि नन्दकुमार में दिल नहीं लगा तो इनके अनुसार बार-बार जप करना, तप करना, संयम करना और तीर्थ-यात्रा सभी व्यर्थं हैं।

अब्दुर्रहीम खानखाना का हृदय भी कृष्ण की भक्ति-भावना से भरपूर है। वे भी मोहनलाल की छवि का वर्णन करते-करते अघाते नहीं। वे कमर में पीली धोती पहने, हाथ में मुरली लिये, माथे पर केसर का तिलक लगाये कृष्ण के स्वरूप पर अत्यधिक मुग्ध हैं। कृष्ण के विशाल नेत्र और मधुर मुस्कान उनके हृदय से दूर नहीं होती। रहीम के शब्दों में इनके आकर्षण को वही जानता है जिसने एक बार इनका अनुभव कर लिया है—

छवि आवन मोहन लाल की।
काछे काछनि कलित मुरलि कर, पीत पिछौरे साल की।।
बंक तिलक केसरि को कीन्हे धुनि मानो बिधु बाल की।
बिसरत नाहिं सखी मो मन सौं चितवनि नैन बिसाल की।।
नीकी हँसनि अधर सुघरनि छवि छीनी सुमन गुलाब की।
यह सरूप निरखै सोई जानैं यहि रहीम के हाल की।।[2]

एक अन्य पद में रहीम का कहना है कि कृष्ण के विशाल नेत्र कमल के समान विशाल हैं। उनके दाँतों की चमक बिजली की चमक से भी अधिक चमकीली है, उनकी बात मानो अमृत में डूबी हुई है, रास के समय उनके पीले वस्त्रों का इधर-उधर फहराना, ये सब ऐसे दृश्य हैं कि जिनसे रहीम का मन अपने वश में नहीं रहा। संस्कृत के एक श्लोक में उन्होंने भगवान से कहा है कि आपका घर-रत्नाकर रत्नों का खजाना है, साक्षात् लक्ष्मी आपकी अर्धांगिनी है, आपको किस बात की कमी है ? मैं अकिंचन आपको क्या दे सकता हूँ ? मैं अपना मन ही आपको अर्पित करता हूँ—

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागृहीतमनसे मनसे च तुभ्यम्
दत्तं मया निज मनस्तदिदं गृहाण।।[3]

---

१. रहीम कवितावली, पद १, पृ० ६४
२. वही, प० १, पृ० ६४
३. वही, श्लोक २ पृ० ६५

मीरा

कृष्ण-काव्य में मीरा का विशेष स्थान है। किसी सम्प्रदाय-विशेष में दीक्षित न होने पर भी अपने हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में वह अनुपम हैं। उनके रोम-रोम में उनका आराध्य देव बसा हुआ है। यों तो "हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरौ दरद न जाने कोय। सूली ऊपर सेज पिया की किस बिधि मिलना होय" तथा अन्य पदों में उनका आराध्य निराकार प्रतीत होता है पर कुल मिलाकर वह आराध्यदेव साकार है। उनके आराध्य देव पुराणों में वर्णित श्रीकृष्ण ही हैं। उन्होंने उन्हीं भगवान् के चरणों में मन लगाने को कहा है जो सुन्दर और शीतल होने के साथ-साथ त्रिविध ज्वालाओं के दूर करनेवाले हैं। इन्हीं कारणों के प्रताप से इन्द्र अपने आसन पर स्थित है, ध्रुव को अमरता भी उन्हीं के प्रताप से मिली है और, किं बहुना, असाध्य के साध्य करनेवाले वे ही हैं। एक अन्य पद में उन्होंने साँवरी सूरत वाले नन्द लाल से अपने मन में बसने की प्रार्थना की है—

> बसौ मोरे नैनन में नँदलाल !
> मोहनी मूरति साँवरी सूरति, नैना बने बिसाल ।।
> अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल ।
> छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल ।।
> मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल ।।[1]

तन्मयता

अपने आराध्य के प्रति उनकी तन्मयता पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। जो सम्बन्ध एक बार स्थापित कर लिया उसे अब बनाये रखने की उनकी अभिलाषा बड़ी तीव्र है। यदि भगवान् तरुवर हैं तो वह उस पर बैठने वाला पक्षी है, यदि वे सरोवर हैं तो वह मछली है, वे चन्द्र हैं तो वह चकोर है, यदि वे मोती हैं तो वह धागा है। उन्हें जो भी सम्बन्ध अच्छा लगे उसी को वे स्वीकार कर लें, वह तो जैसे-तैसे दासी बन कर उनके द्वार पर पड़ी रहना चाहती हैं। उन्होंने तो सारे संसार से सम्बन्ध तोड़ कर एक से ही स्थापित कर लिये हैं। जिस प्रकार कछुआ अपनी समस्त इन्द्रियों को समेट कर अपने में ही केन्द्रित कर लेता है और फिर बाहर से फेंके गए ढेलों-पत्थरों का उस पर कोई असर नहीं होता, उसी प्रकार मीरा की समस्त वृत्तियाँ कृष्णोन्मुखी हो गयी हैं। कोई कुछ कहता रहे, उसे इन सब बातों से क्या प्रयोजन—

> मेरे तो गिरिधर गुपाल, दूसरो न कोई !
> जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई !
> तात मात भ्रात बन्धु, आपनौ न कोई ।।

---

१. मीराबृहत् पद-संग्रह, पद ३५४, पृ० २१७

छाँड़ि दई कुल की कानि, क्या करेगा कोई,
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
चुनरी के किये टूक, ओढ़ि लीन्हीं लोई,
मोती मूँगे उतारि, बन माला पोई।
अँसुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेलि बोई,
अब तो बेलि फैलि गई, आनँद फल होई।
दूध की मथनियाँ, बड़े प्रेम से बिलोई,
माखन सब काढ़ि लियौ, छाछ पियै कोई।
भगत देखि राजी भई, जगत देखि रोई।
दासि मीरा, लाल गिरिधर, तारौ अब मोही ॥[१]

मीरा के अनुसार भगवान् असुरों (दुष्टों) का तो विनाश करते ही हैं भक्तों की सहायता के लिए भी अवतरित होते हैं---

(१) हम कौं वपु हरि देत सहार्‌यौ साध्यौ देवन के काज ।[२]
... ...

(२) मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल ।[३]
.. ..

(३) सब भक्तन के भाग ही प्रकटे, नाम धर्‌यौ रनछोर ।[४]

भगवान् जब इतने प्यारे हैं तो जिन-जिन वस्तुओं से उनका सम्बन्ध है वे भी भक्त को उतनी ही प्यारी लगती हैं। प्रेम के संबन्ध से उनमें भी प्रेमी के दर्शन होने लगते हैं। वहाँ घर-घर तुलसी की पूजा है, दूध-दही का भोजन है, रत्नों के सिंहासन पर स्वयं भगवान् विराजते हैं, मुरली के शब्द से पागल-सी हुई मीरा कुंजों में चक्कर काटती फिरती है।[५]

विरह

विरह प्रेम की कसौटी है। इसके बिना प्रेम परिपूर्ण नहीं होता। भगवान् भी बड़े कौतुकी हैं। कभी-कभी वे बड़ी कठोर परीक्षा लेते हैं। वे दर्शन देते हैं, भक्त के मन में अभिलाषा जाग्रत होती है और वे तिरोहित हो जाते हैं। भक्त के हृदय में विरहजन्य शोक की उत्पत्ति होती है। वह रसहीन पत्ते के समान पीला पड़ता जाता

१. मीराबृहत् पद संग्रह, पद ३१६, पृ० १६५
२. वही, पृ० ६५
३. वही, पृ० १४५
४. वही, पृ० २११
५. वही, पद ४६७, पृ० २७६

है, खाने-पीने से उसे अरुचि हो जाती है, शरीर सूख कर काँटा होने लगता है, मिलन की आशा में कभी इधर जाता है और कभी उधर, लोग समझते हैं कि उसे कोई रोग लग गया है, वैद्य आकर नाड़ी देखता है, कोई रोग हो तो उसे पता चले, वह बेचारा मूर्ख-सा समझ नहीं पाता। मीरा की भी यही दशा है। उसके हृदय में कृष्ण की जो मधुर मूर्ति आकर बस गयी है वह बाहर नहीं निकलती, वह एकटक उसे ही देखती है और लोग कुछ-का-कुछ देखते हैं—

आली री मोरे नैनन बान पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसैं प्रान पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥[1]

आँखों को आदत पड़ गयी है उन्हें देखने की—और उनके दर्शन होने आसान नहीं। अभी तो परीक्षा चल रही है। परिणाम यह हुआ कि आँखों की नींद भाग गयी और वह बुरी तरह उनकी रट लगाये है—

ज्यों चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा ब्याकुल बिरहणी, सुध बुध बिसरानी हो॥[2]

इस विरह में भी वह खरी उतरती है। भगवान् के प्रति उनकी अनन्यता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। उसे तो उसी समय सुख मिलता है जब वह पूरी तरह आत्म समर्पण कर देती है। उसकी इच्छा तो गिरिधर से मिलने की है—

मैं गिरिधर के घर जाऊँ!
गिरिधर म्हाँरो साचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ॥
रैन पड़े तबही उठि धाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना बाके सँग खेलूँ, ज्यों त्यों ताहि लुभाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावै तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ।
मीरा के प्रभुर गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥[3]

घनानन्द भगवान् से कहते हैं कि वे (भगवान्) किसी भी कारण निर्मोही न हों। उनकी आँखों को भगवान् के रूप के सिवा किसी दूसरे का रूप जँचता ही नहीं। उनका सारा जीवन तो भगवान् की कृपा पर ही निर्भर है—

---

१. मीरा बृहत् पद संग्रह, पद ११७, पृ० ७४
२. वही, पद १३२, पृ० ७७
३. वही, पद २४७, पृ० १५७

मीत सुजान अनीति करो जिन हाहा न हूजिये मोहि अमोही ।
दीठि कौ और कहूँ नहि ठौर फिरी दृग रावरे रूप की दोही ।।
एक बिलास की टेक गहें लगि आस रहे बसि प्रान बटोही ।
हो घन आनँद जीवनमूल दई कत प्यासनि मारत मोही ।।[१]

कहना न होगा कि यहाँ मति सुजान भगवान् की ही प्रतीक है। उन्होंने अपनी कविता में अपनी प्रेमिका सुजान का नाम तो ज्यों-का-त्यों रखा है पर वह भगवान् का ही प्रतीक है।

ठाकुर कवि का मन भी भगवान् के प्रेम में लीन है। गोपी के रूप में उनका कहना है कि मैंने तो गोपाल से प्रीति की है। मैं इसे छिपाता नहीं, मैं तो ऊँचे स्वर से चिल्लाकर कहता हूँ कि जो मुझे अच्छा लगा वह मैंने कर लिया, औरों को अच्छा लगे या न लगे, मुझे इससे प्रयोजन नहीं —

हम एक कुराह चलीं तो चलीं हटकौ इन्हें ये न कुराह चलें ।
यह तो बलि आपनौ सूझतौ है प्रन पालियै सोइ जो पाले पलैं ।।
कहि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सौं टेरि कहौं सुनौ ऊँचे गलैं ।
हम नीकी लगी सो करी हमनैं, तुम्हें नीकी लगै न लगै तो भलैं ।।[२]

जीवन का लक्ष्य

साधारणतया सभी भारतीय मतों में सांसारिक दुःख से निवृत्ति पाकर आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना गया है। इसे ही मुक्ति या मोक्ष के नाम से पुकारा गया है। पर इस भक्ति-शाखा में जीवन का लक्ष्य भगवल्लीला का गान माना गया है। इसमें जीव और भगवान् मिलकर एक नहीं हो जाते। वल्लभाचार्य के अनुसार पुष्टिमार्गीय फल यह है कि मनुष्य स्थूल लिंग-शरीर को छोड़कर तथा भगवल्लीलोपयोगी देह पाने के बाद ब्रह्म के साथ आनन्द रस ले।[३] डा० दीनदयाल गुप्त ने इस विषय की विवेचना करते हुए कहा है कि पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर लीला का आनन्द-लाभ प्राप्त करना ही इस मार्गवालों के जीवन का उद्देश्य है—सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य, और सायुज्य इन चार मुक्तावस्थाओं को स्वीकार करते हुए वल्लभ सम्प्रदाय ने एक ओर सायुज्य-अनुरूपा मुक्ति अवस्था मानी है और उसको सब अवस्थाओं से श्रेष्ठतम बताया है। यह मुक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट होकर लीला का आनन्द लाभ करना है। जीवन्मुक्त अवस्था में भी जीव भजनानंद में मग्न रहता है और फिर प्रभु-कृपा के सहारे वह भगवान् की लीला का अनुभव करता है। इस मुक्ति को इस सम्प्रदाय में स्वरूपानन्द कहा है।[४] लीला के

१. री० का० सं०, पृ० ३४५
२. री० का० सं०, पृ० ३६३
३. अ० व० सं० सि० सा०, पृष्ठ ४६६
४. वही, पृ० ६७

इस महत्त्व के कारण ही वल्लभाचार्य ने वैकुण्ठ से गोकुल को प्रधानता दी है।

अष्टछाप के इन सभी कवियों ने मुक्ति और वैकुण्ठ का निरादर किया है। इन के लिए सुख का हेतु गोपाल के गुणों का गान ही है—

जो सुख होत गुपालहि गाये,
सो न होत जप-तप के कीन्हे कोटिक तीरथ न्हाये।

... ...

बंसी-बट बृन्दाबन जमुना तजि बैकुण्ठ को जाय।
सूरदास हरि कौं सुमिरत कब, बहुरि न भव चलि आय ॥[1]

कृष्ण-लीला में क्या आनन्द है, इसे तो विरले ही जानते हैं। इसकी तो चाट ही विचित्र है। जिसे इसकी चाट लग गयी; उसे फिर अन्य सब आनन्द फीके लगते हैं। जिसे ब्रह्मानन्द के लिए ऋषि-मुनि तरसते हैं वह इसके सामने हेय है—

भजनानन्द अली हमें प्यारौ, ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारौ।[2]

सबकी अपनी-अपनी पसन्द है। ज्ञानियों को ज्ञान प्यारा है और योगियों को योग। रही भक्त की बात, उसे तो मुक्ति की अपेक्षा गोकुल और मथुरा ही अधिक प्यारे हैं—

माई, हौं अपने गोपालहिं गाऊँ,
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन, देखि-देखि सुख पाऊँ।

... ...

अपने अंस की मुकति तजी है, माँगि लियौ संसार।
परमानन्द गोकुल मथुरा में, उपज्यौ यहै बिचार ॥[3]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में वैकुण्ठ की तुच्छता प्रकट की है—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाइ?
जहाँ नहिं नन्द जहाँ नहिं गोपी, जहाँ नहीं ग्वाल बाल नहिं गाय।
जहाँ नहीं जमुना जल निर्मल और नाहिं कदम्ब की छाँह।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजरज तजि मेरी जाइ बलाय ॥[4]

नन्ददास ने भी न तो वैकुण्ठ की माँग की है और अपवर्ग या मोक्ष की, उनका

---

१. सू० सा०, पृ० २५ (वै० प्रे०)
२. वही, पृ० ५६१
३. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ४८१
४. वही, पृ० ४९१

कथन है कि यदि पर्वत पर बसने की इच्छा हो तो गोवर्धन पर बसूँ, ग्राम में ही रहना हो तो नन्दग्राम में रहूँ और यदि बन में ही रहना हो तो फिर वृन्दावन में ही वास मिले। उनका यह भी कहना है कि ब्रज की रेणु में जो पुण्य है वह वैकुण्ठ आदि लोकों में नहीं, पर इसके दर्शन और प्राप्ति किसी अधिकारी को ही होती है, सबको नहीं—

जो रज ब्रज बृन्दाबन माहीं, बैकुण्ठादि लोक में नाहीं।
जो अधिकारी होय तो पावै, बिन अधिकारी भये न आवै॥[1]

कृष्ण का ऐतिहासिक रूप

भारत में वेदों का महत्त्व है, वे आज भी लक्ष-लक्ष व्यक्तियों के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं। यदि हम किसी बात को वेदों द्वारा सिद्ध कर सकें तो उसकी प्राचीनता में किसी को सन्देह नहीं रहता और उसका महत्त्व भी अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। इसी कारण श्रीकृष्ण के रूप को प्राचीन सिद्ध करने के लिए बहुत से व्यक्तियों ने उन से संबन्धित व्यक्तियों के नामों को वेदों में खोज निकाला है। डा० मुंशीराम शर्मा ने ऐसे मन्त्रों को एकत्र कर दिया है और साथ ही उनके अर्थ देकर यह सिद्ध किया है कि केवल नामों के आधार पर वेदों में कृष्ण के अस्तित्व को ढूँढ़ने का प्रयास व्यर्थ है। एक मन्त्र में अनेक सींगोंवाली गायों का उल्लेख है।[2] इसमें 'कृष्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका अर्थ बहुत से विद्वानों द्वारा वृष्णि-वंशोद्भव कृष्ण किया गया है। पुराणों में कृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया है और वहाँ उनके वामनावतार की भी चर्चा है। इन अवतारों को भी वेदानुमोदित सिद्ध करने के लिए—'त्रीणि पदा विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' जैसे वेद-मन्त्रों में इन विद्वानों ने विष्णु द्वारा तीन पगों से ब्रह्माण्ड को नापने की बात का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस संबन्ध में नीचे लिखे मन्त्र भी ध्यान देने योग्य हैं—

स्तोत्रं राधानां पते।—ऋक् १।१३०।२९
गवामप ब्रजं कृधि।—वही, १।१०।१७
दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत।—वही, १।३२।११
त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वी कृष्णस्वाम्ने। अरुषो विभाहि॥ अथर्व० ३।१५।३
तमेतदाधारः यः कृष्णासु रोहिणीषु।—ऋक् ८।९३।१३
कृष्णा रूपाणि अर्जुन विमोमदे। वही, १०।२१।३

इन मन्त्रों में कृष्ण की लीला से सम्बन्धित सभी नाम आ गये हैं—राधा, गौ, ब्रज, गोप, अहि, कालियनाग, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन।

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ४९२
२. ऋक्, १।१५४।६

पर वास्तविकता यह है कि यह सब दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न है। वेदों के अधिकृत विद्वानों द्वारा इन शब्दों के इन मन्त्रों में कुछ और ही अर्थ किये गये हैं। राधा धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है। गौ किरणें हैं, व्रज का अर्थ किरणों के स्थान द्यौ से है, कृष्ण का अर्थ रात्रि है और अर्जुन का दिन।[1]

वेदों में कृष्ण वेद-द्रष्टा ऋषि के नाम के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अनुक्रमणिका में इसे अंगिरा ऋषि का वंशज कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण का उल्लेख है, वह घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य था और उसकी माता का नाम देवकी था। परवर्ती काल में इस कृष्ण का परवर्ती क्षत्रिय-कुलोत्पन्न कृष्ण से एकीकरण हो गया। इस एकीकरण की प्रक्रिया दिखाते हुए श्री आर० जी० भण्डारकर ने कहा है कि क्षत्रिय अपने पुरोहित के गोत्र के प्रयोग से अपनी भिन्नता और विशिष्टता प्रदर्शित करते थे। वासुदेव क्षत्रिय कृष्णायन गोत्र के पुरोहितों के यजमान रहे होंगे। वे धीरे-धीरे कृष्ण कहलाने लगे। एक बार कृष्ण नाम से पुकारे जाने पर वे देवकी-पुत्र भी बन गये। यही कारण है कि महाभारत के सभापर्व में कृष्ण को सबसे ऊँचा स्थान दिये जाने का एक हेतु यह दिया गया है कि वे वेदों के ज्ञाता हैं और ऋत्विज भी हैं।[2]

स्पष्ट है कि महाभारत-काल तक वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण की एकता स्थापित हो चुकी थी। वन-पर्व में जनार्दन ने अर्जुन से कहा है—तू नर है और मैं नारायण। हम तुम दोनों अभिन्न हैं। इसी पर्व में शिव अर्जुन से कहते हैं कि पिछले जन्म में तुम नर थे और नारायण के साथ तुमने बदरिकाश्रम में सहस्रों वर्षों तक तपस्या की थी।[3] आगे चलकर कहा गया है कि वासुदेव और अर्जुन पिछले जन्म में नर और नारायण थे।[4] पंतजलि ने पाणिनि के सूत्र (४।३।९८) की टीका करते हुए कहा है कि यहाँ सूत्र में जिस वासुदेव का उल्लेख है, वह पूज्य है, ईश्वर है। स्पष्ट है कि पाणिनि के समय तक वृष्णिगोत्रोत्पन्न वासुदेव पूज्य समझे जाते थे।

ऐसे भी विद्वान् हैं जो महाभारत के कृष्ण को अवतार न मानकर एक महान् पुरुष और चतुर राजनीतिज्ञ ही मानते हैं। डा० हरवंशलाल का मत है उन्हें अवतार मानने की धारणा महाभारत के बाद के काल की है। उनका कथन है कि वैदिक साहित्य में जिस रूप में कृष्ण का उल्लेख मिलता है, उसमें उन्हें न तो अवतार की संज्ञा दे सकते हैं और न देवता की ही। महाभारत में कृष्ण के अवतार सम्बन्धी जितने अंश आते हैं उन्हें अधिकांश विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं परन्तु महाभारत के अनन्तर तो उनका रूप बदल गया, उनकी गणना पूर्णावतारों में होने लगी।[5]

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य पृष्ठ १६७
२. वैष्णविज्म शैवि०, पृष्ठ १६
३. म० भा०, अ० ३०, श्लोक १ (वनपर्व)
४. वही, ४९।१९ उद्योग-पर्व
५. सूर और उनका साहित्य, पृ० १७६

यदि इन अंशों को प्रक्षिप्त न भी माना जाय तो भी बाल गोपाल या गोपाल कृष्ण का आगमन कब हुआ, यह प्रश्न बचा ही रहता है। महाभारत में गोपाल कृष्ण का कोई उल्लेख नहीं। महाभारत के नारायणीय मत में गोपाल कृष्ण ने राक्षसों का वध कभी किया हो, इस बात का उल्लेख वहाँ नहीं है। शान्ति पर्व में भीष्म के मुख से जो कृष्ण की स्तुति करायी गयी है उसमें गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है। इन सब तर्कों के आधार पर श्री भण्डारकर ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में कृष्ण के बाल्य-काल में गोकुल-वास की कथा प्रचलित नहीं रही होगी। उनके अनुसार कृष्ण आभीर नामक एक घुमक्कड़ जाति के बाल देवता हैं।

पर भास के नाटकों में कृष्ण की बाल-लीलाओं का उल्लेख है। भास कालिदास से पूर्व के हैं और उनका काल ईसवी-पूर्व ५३-७१ का माना जाता है। भास के वर्णन से पता चलता है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व ही कृष्ण की बाल-लीलाएँ उसी प्रकार अविकल रूप में विद्यमान थीं जिस रूप में भागवत आदि पुराणों में पा जाती हैं। आभीर जाति विदेशी नहीं है, वे यहीं के निवासी क्षत्रिय हैं, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है और इस विषय की सविस्तार चर्चा पहले हो चुकी हैं। इन परस्पर-विरोधी मतों के कारण ही किसी सुनिश्चित निर्णय पर पहुँचा सकना कठिन है। यह पृथक् रूप से शोध का विषय बन सकता है। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि महाभारत और भागवतपुराण के बीच के काल में कृष्ण के बाल रूप की पूजा प्रबल हो उठी थी।

पौराणिक पक्ष

कृष्ण के साथ, और विशेषतः उसके पौराणिक रूप के साथ, रास का अत्यधिक घनिष्ठ संबन्ध है। सही बात तो यह है कि रास के बिना उनके पौराणिक पक्ष का पूर्ण स्वरूप सामने नहीं आता। अतः पहले रास के विषय में कुछ विचार कर लेना समीचीन है। इसके कुछ लक्षण और अर्थ इस प्रकार हैं—रस्यते इति रसः, जो आस्वादित हो वह रस है। रस और आनन्द दोनों शब्द समानार्थी हैं। रसानां समूहः रासः, रस समूह का नाम रास है। रस अथवा आनन्द तीन प्रकार का है—(१) लौकिक विषयानन्द, (२) अलौकिक ब्रह्मानन्द, (३) काव्यानन्द। लौकिक विषयानन्द और काव्य-रस से इतर रस-स्वरूप श्रीकृष्ण के संसर्ग की लीलाओं से रस-समूह मिले वह रास है और यह रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरद-रात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप में स्थित बताया गया है।

(२) रास शब्द का संसर्ग रहस-शब्द से भी है जो एकान्त आनन्द का सूचक है। श्रीधर गोस्वामी ने भागवत की टीका में रास का परिचय इस प्रकार दिया है—बहुनर्तकियुक्तो नृत्यविशेषो रासः—अर्थात् बहुत सी नर्तकियों सहित विशेष नृत्य का नाम रास है।[१]

---

१. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० ४८७

(३) श्रीवल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में इस विषय पर लिखा है कि जिस में बहुत सी नर्तकियाँ नाच करें उसमें रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी रसयुक्त नाच का नाम रास है। रास-प्रकरण में वे कहते हैं कि रास क्रीड़ा के मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है, देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नहीं।[1]

(४) रास के लक्षण की स्थापना करते हुए कहा जाता है कि सर्वशक्तिमान् परिपूर्ण परमतत्त्व की पराख्या की शक्ति के साथ अनादि सिद्ध रिरिंसा की जो उत्कण्ठा है और उस उत्कंठा के साथ जो चिद्विलास है, उसीको रास कहते हैं। इस लीला में अपूर्व नृत्य-गीत-वाद्य आदि का आयोजन तथा विविध भावों का योग रहता है।[2]

इस रासलीला को दो रहस्यों में विभाजित किया जाता है—अन्तरंग और बहिरंग। अन्तरंग रहस्य का अभिप्राय आनन्द रस का आस्वादन करना है और बहिरंग का अभिप्राय काम को पराजित करना है। इसलिए जब तक काम को पूर्णरूप से विजय न कर ले, तब तक रासलीला देखने का अधिकारी नहीं होता। कृष्ण-भक्तों में रास का बड़ा महत्त्व है। भागवत में कहा गया है कि जो व्यक्ति श्रद्धान्वित होकर ब्रज-बालाओं के साथ की गयी भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्तन करेगा वह पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोग से मुक्त हो जायेगा। भक्तजनों में इस रास के तीन रूप माने जाते हैं—

१. नित्यरास, २. अवतरित रास या नैमित्तिक रास, ३. अनुकरणात्मक रास।

यह अनुकरणात्मक रास भी दो प्रकार का है—भावात्मक या मानसिक और देहात्मक। गोलोक में अथवा निज धाम ब्रज वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्द-विग्रह से अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्य रस-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि और अनन्त है। यही भगवान् का नित्य रास है।[3] यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस पौराणिक पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दानुभूति की पूर्ण अभिव्यक्ति हैं और यह रास परम उज्ज्वल रस का एक प्रकार है। यह सत्य है, रूपक नहीं।

कृष्ण के पौराणिक पक्ष का-सीधा सा अर्थ उस रूप से है जिसमें उन्हें साधारण मानव न मान कर ईश्वर के रूप में माना गया है। उनका यह रूप अतिमानव का रूप है। इस में वे शरीरधारी होते हुए भी ऐसे कार्य करते हैं जो देहधारियों के लिए सम्भव नहीं। जब वे छोटे ही थे तो बच्चों को मारने वाली पूतना को उन्होंने स्तन-पान करते समय मार डाला था। यद्यपि वह पापीयसी थी, पर भगवान् को स्तन्य पिलाने केकारण वह सद्गति को प्राप्त हुई। अभी वे शिशु ही थे, मिट्टी खाते समय माँ द्वारा

१. अ० व० सं सि० सा०, पृ० ४९७-९८
२. वही, पृ० २६६
३. वही, पृ० ४९८

पकड़ लिये जाने और मुँह खोल कर दिखाने का अनुरोध किये जाने पर उन्होंने माँ को अपने मुँह में ही तीनों भुवनों के दर्शन करा दिये थे। कालिय नाग का विनाश, धेनुक का वध, ब्रजवासियों को निगलने के लिए बढ़ने वाली दावाग्नि का निगल जाना, क्रुद्ध इन्द्र से ब्रज को बचाने के लिए गोवर्धन को अंगुली पर धारण करना, नन्द को वरुण लोक से छुड़ाना, एक ही समय में सब गोपियों के साथ दीख पड़ना, उत्तरा-पुत्र परीक्षित को जीवित करना आदि ऐसे अतिमानवीय कार्य हैं जो अन्य किसी व्यक्ति द्वारा संभव नहीं। पुराणों में और तदनन्तर हिन्दी-साहित्य में उनके इसी रूप का वर्णन हुआ है। उनके पौराणिक पक्ष से इसी रूप से तात्पर्य है।

प्रतीकात्मक पक्ष

भगवान् श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं—१. ऐतिहासिक २. पौराणिक और ३. प्रतीकात्मक या आध्यात्मिक। उनके तीनों ही रूपों के मानने वाले व्यक्ति हमारे देश में विद्यमान हैं। प्रतीकात्मक पक्ष में कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं और गोपियाँ इन्द्रियों की रक्षा करने वाली। डा० मुन्शीराम शर्मा ने इस सारे अर्थ को इस प्रकार व्यक्त किया है—गो का अर्थ है इन्द्रिय अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ—इन्द्रियों की रक्षा करने वाला। कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं, जो वंशी-ध्वनि के संगीत-युक्त स्वरों से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एकमन, एकप्राण हो कर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं वैसे ही गोपियाँ वंशीध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रास लीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों को कृष्णसामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है अतः पूर्णमग्नता की दशा नहीं आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्ण-रूपी आत्म-ज्योति अन्तर्हित होती है, आत्ममग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु इसी लिए आवश्यक मानी जाती है। अहंकार के विलीन होते ही पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं, गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं—यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन होना। भारतीय संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।[1]

कृष्ण से सम्बन्धित रास का अर्थ भी प्रतीक पक्ष में आत्मा और परमात्मा का मिलन है। श्री करपात्री जी के मत को उद्धृत करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है कि रास का अर्थ है 'तत्वमसि'; तत्:—भगवान् श्रीकृष्ण; त्वम्—गोपियाँ; इन दोनों का परस्पर संश्लेष होने पर वह काम-लीला होगी। यथार्थ में अन्तरंग

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० २०८

दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म का संयोग ही है।[१] एक दूसरे विद्वान् श्री बलदेवप्रसाद मिश्र के अनुसार राधा कुण्डलिनी की प्रतीक है और अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं। अनहत नाद भगवान् की वंशी-ध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं, कुल कुण्डलिनी ही श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह सुरम्य वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य करती हैं।[२] भगवान् कृष्ण से सम्बन्धित इस रासलीला का यह भी अर्थ किया जाता है कि भगवान् की यह अपनी लीला अपने ही लिए है। श्री रामलाल मजूमदार के अनुसार, रासलीला का एक आध्यात्मिक अर्थ यह भी किया जाता है, कि भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। भागवतपुराण में कहा है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब को दर्पण, मणि आदि में देख कर क्रीड़ा करता है वैसे ही भगवान् रमापति ने हास्य-आलिंगनादि द्वारा ब्रज-सुन्दरियों के साथ खेल किया। भगवान् ने आत्माराम होकर भी अपने अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक्-पृथक् रहकर क्रीड़ा की। इसलिए कुछ लोग इस लीला के अभिनय या अनुकरण के पक्ष में नहीं हैं।[४]

इस प्रतीक-पक्ष में गोपी का अर्थ है जीवात्मा और कृष्ण का अर्थ है परम कारण भगवान्। इस प्रकार रास में यह मिलन दो शरीरों का नहीं, आत्माओं का था। इसमें प्रवेश का अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलता है जिन्होंने नानात्व भाव का परित्याग कर अपने को सर्वतोभावेन भगवान् के अर्पित कर दिया है। गोपीभाव का अर्थ समर्पण है। यह एक प्रकार का बाह्य अभिनय है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार कृष्ण गोपियों का हाथ पकड़ कर नाचते हैं उसी प्रकार भगवान् भक्तों का हाथ अपने हाथ में लेकर उसकी समस्त क्रियाओं का स्वयं संचालन करते हैं। इस प्रतीक पक्ष में भगवान् सभी कार्यों के परम केन्द्र हैं। जीवात्मा नाना रेखाएँ हैं जो उनसे निकल कर बाहर की ओर जाती हैं और फिर वहाँ से परम केन्द्र की ओर लौट आती हैं। गोपियों का कृष्ण की ओर लौटकर आना इसी का सूचक है। विश्व रूप वृत्त में भगवान् श्रीकृष्ण परम केन्द्र हैं, प्रकृति इनकी परिधि है और जीवात्मागण नाना रेखाएँ हैं जो केन्द्र से निकल कर प्रकृति की ओर गयी हैं। इन जीवात्माओं का प्रकृति की ओर जाना प्राकृत लीला है। जीवात्माएँ इस प्राकृत लीला में पड़कर अपने परमकेन्द्र को भूल गयी हैं। पीछे ज्ञान द्वारा उनकी आत्म-विस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मा-रूपी सरल रेखाएँ परिधि

---

१. अ० व० सं० सि० सा० (वल्लभ सम्प्रदाय), पृ० २६७

२. 'कल्याण', रासलीला में आध्यात्मिक तत्त्व' नामक लेख, वर्ष ६, अगस्त १९२१

३. वही, ,, ,,

को त्याग कर अपने केन्द्र के आकर्षण से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर जाती हैं। इसी नित्य रासलीला का अभिनय ब्रज में किया गया।

योग की दृष्टि से भी रास की व्याख्या की जाती है। इस व्याख्या के अनुसार अनाहत नाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि है, अनेक नाड़ियाँ ही गोपिकाएँ हैं, राधा का अर्थ कुण्डलिनी है, वृन्दावन का अर्थ मस्तिष्क का वह सहस्रदल है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रसती हुईं नृत्य क्रियाएँ करती हैं।

श्रीकृष्ण से सम्बन्धित वेणु और वृन्दावन के भी अनेक अर्थ किये हैं। वेणु शब्द व-इ-अणु को मिलाकर बनता है। व का अर्थ है ब्रह्म का सुख, इ का अर्थ काम का सुख और अणु का अर्थ है तुच्छ। जिस सुख के सामने सांसारिक तथा आध्यात्मिक सुख अणु अर्थात् तुच्छ हो जाते हैं, उसे वेणु कहते हैं। वेणु में सात छेद हैं। छै तो भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री और वैराग्य के द्योतक हैं एवं सातवाँ उपर्युक्त छै धर्मों से युक्त अप्राकृत देहधारी स्वयं भगवान् का बोध कराता है। श्री वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका में वेणुगीत का बड़े विस्तार के साथ अर्थ किया है और सारे ही गीत को प्रभु में आसक्ति द्वारा निरोध सिद्ध करने के लिए बताया है।

वृन्दा का अर्थ है भक्ति और वन का अर्थ है प्रदेश। वृन्दावन का अर्थ हुआ भक्ति का प्रदेश। अपने स्वरूप के प्रति गोपियों की आसक्ति कराने के लिए भगवान् भी ज्ञान और कर्म को छोड़कर भक्ति के प्रदेश में प्रवेश करते हैं।

वंशी के प्रसंग में एक और स्थल के एक अन्य प्रतीकात्मक अर्थ की ओर संकेत कर देना आवश्यक है और वह प्रसंग है वंशी की ध्वनि सुनकर गोपिकाओं का अपने घरों से बाहर निकल आना। यहाँ श्रीकृष्ण की मुरली योगमाया है। रास-वर्णन में इसी मुरली की ध्वनि से गोपिका रूपी आत्माओं का आह्वान होता है जिससे समस्त आडम्बरों का विनाश और लौकिक सम्बन्धों का परित्याग कर दिया जाता है। गोपियों की परीक्षा, उसमें उत्तीर्ण होने पर उनके साथ रास-क्रीड़ा, सोलह सहस्र गोपिकाओं के बीच में श्रीकृष्ण, इस प्रकार असंख्य गोपिकाओं के बीच में परमात्मा हैं। लौकिक चित्रण के पीछे सूरदास की यही अलौकिक भावना छिपी है।[१]

विष्णु और कृष्ण

विष्णु और कृष्ण में अभिन्नत्व है, दोनों एक ही हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाण एकत्र करने की आवश्यकता नहीं। विष्णु और राम के प्रकरण में भी गत अध्याय में कहा जा चुका है कि जो विष्णु हैं वे ही दाशरथि

१. हि० सा० आ० इ०, पृष्ठ ७६३

राम हैं। राम और कृष्ण भी अभिन्न हैं। सभी वैष्णव विष्णु, राम और कृष्ण को एक ही मानते हैं। महाभारत और पुराणों में शतशः स्थानों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। दोनों (कृष्ण और विष्णु) श्याम वर्ण है, दोनों का वाहन गरुड़ है, शंख, चक्र, गदा, पद्म, आयुध, दोनों ही के समान हैं। विष्णु अपने अवतारों की चर्चा करते हुए स्वयं कहते हैं कि मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह वामन, परशुराम, राम (दाशरथि), कृष्ण और कल्कि, ये उन्हीं के रूप हैं।[१] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो विष्णु हैं, वे ही दाशरथि राम हैं और वे ही कृष्ण हैं।[२] भगवान् के नामों की व्युत्पत्ति दिखाते हुए कहा गया है कि बृहत्व तथा विक्रमशीलता के कारण जो विष्णु कहलाते हैं वे ही भू-वाचक शब्द कृष्ण द्वारा अभिहित होते हैं।[३] कृष्ण जब जन्म लेते हैं उसी समय इन्द्र उनकी सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं कि वे शीघ्र ही अपना कार्य समाप्त कर स्वर्ग लौटने की कृपा करें।[४] भौमासुर देवमाता अदिति के कुण्डल छीन ले जाता है, इन्द्र कुछ नहीं कर पाते, असहाय होकर कृष्ण की शरण में आते हैं।[५] इन्द्र उन्हें साक्षात् विष्णु ही मानते हैं, यह पूर्वापर-प्रसंग से एकदम स्पष्ट हो जाता है। एक अन्य स्थान पर कृष्ण को ही सृष्टि का निर्माता कहा गया है।[६] स्पष्ट है कि यह भी उन्हें और विष्णु को अभिन्न मानकर ही कहा जा सकता है।

पुराणों में कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता के लिए प्रमाण ढूँढ़ने का प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो स्थल-स्थल पर इस बात का उल्लेख है। साहित्य समाज का दर्पण है अतः स्वाभाविक रूप से ही उसमें विष्णु और कृष्ण का अभिन्नत्व स्वीकार किया गया है। माघ कवि में इस बात के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण के महल में नारद मुनि अपने विमान से उतर रहे हैं। यहाँ कवि ने कृष्ण को 'श्रियः पतिः' कह कर संबोधित किया है।[७] इसी प्रसंग में उन्हें दूसरे स्थान पर चक्री नाम से अभिहित किया गया है।[८] कहना न होगा कि श्रीपति और चक्री दोनों ही विशेषण विष्णु के हैं। आगे चलकर कहा गया है कि अच्युत अपने

---

१. म० भा०, पृ० ५३५० (श्री गीताप्रेस-संस्करण)
२. वही, पृ० ६०४८
३. वही, पृ० २२५६
४. वही, सभापर्व, ३८ वाँ अ०, भाग ५
५. वही, पृ० ८०८
६. वही, पृ० ४६४८
७. शिशुपालवध, सर्ग १, श्लोक १ (श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।)
८. वही, सर्ग १, श्लोक ११

स्थान से ऐसे वेग से खड़े हुए जैसे पर्वत से मेघ उठ खड़ा होता है। इसी सर्ग में आगे चलकर कृष्ण को हरि और कैटभद्विट् विशेषणों से याद किया गया है। नारदमुनि का कथन है कि हे कृष्ण ! योगी जिनका साक्षात्कार करना चाहते हैं, वे तुम्हीं हो, तुम्हीं पुरातन पुरुष हो, तुम्हीं 'जगत्-त्रयैकस्थपति' हो, 'पुराणमूर्ति' हो और मनुष्य-जन्म धारण करके भी संसार के बन्धनों को काटने वाले हो।[१] आगे चल कर नारदमुनि ने कृष्ण से कहा है कि नृसिहरूप धारण करके हिरण्यकशिपु का नाश तुम्हीं ने किया था, वही हिरण्यकशिपु जब रावण बना तो तुमने रामरूप में उसका नाश किया।[२]

जहाँ तक मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का प्रश्न है, उसमें तो सभी स्थानों पर इन दोनों के अभिन्नत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। यहाँ तो किसी को इनके दो होने की शंका तक नहीं है। हाँ, कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं कि जहाँ कृष्ण को विष्णु से पृथक् मान कर उनकी वंशी के माधुर्य की प्रशंसा की गयी है। सूरदास का कथन है कि जब मुरली की ध्वनि वैकुण्ठ में पहुँची तो नारायण वृन्दावन की लीला का ध्यान करने लगे और लक्ष्मीजी से बोले कि हे प्रिये ! वह वृन्दावन, जहाँ कृष्ण रास-विलास करते हैं, हमसे बहुत दूर है। उस धाम को धन्य है, वहाँ का सा आनन्द तीनों लोकों में नहीं है।[३] परमानन्द विष्णु के निवास-स्थान वैकुण्ठ को तुच्छ समझ कर वृन्दावन-रमण को श्रेष्ठ मानते हैं—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाइ।
जहाँ नहिं नन्द जहाँ नहिं गोपी, जहाँ नहिं ग्वाल बाल, नहिं गाइ॥
जहाँ नहीं जल जमुना कौ निर्मल और नहीं कदमन की छाँह।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाइ॥

पर इस प्रकार के पदों का वास्तविक अभिप्राय कृष्ण और विष्णु के पृथक्त्व को प्रकट करना न होकर कृष्ण रूप की प्रियता को प्रगट करना है। कितने ही स्थानों पर द्वारका-वासी कृष्ण के स्थान पर ब्रजवासी कन्हैया के रूप को जो श्रेष्ठ बताया गया है, उसका भी भाव एक विशेष रूप की ओर झुकाव प्रदर्शित करना है। चित्र अनेक हैं पर व्यक्ति एक ही है। किसी को उसका कोई चित्र पसन्द है और किसी को कोई। रामभक्ति शाखा के अध्याय में हम कह आये हैं कि वहाँ विष्णु और राम को एक स्वीकार करते हुए भी यदि कितने ही स्थलों पर राम को श्रेष्ठ कहा गया है तो केवल राम-रूप की ओर अपने झुकाव को दिखाने के लिए। इस प्रकार की उक्तियों का अर्थ अन्यथा समझना भ्रामक ही होगा।

---

१. शिशुपालवध, सर्ग १, श्लोक ३१, ३३, ३४, ३५
२. वही, सर्ग १, श्लोक ४७
३. सूर-सागर, स्कं० १०, पृ० १४७

राधा का समावेश : धारणाओं का आधार

सभी वैष्णव मतों में राधा का अत्यधिक महत्त्व है। वह आराध्या हैं, परात्पर शक्ति हैं, भगवान् कृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध शाश्वत है। भारतीय जीवन और साहित्य, दोनों ही को उन्होंने अत्यधिक प्रभावित किया है। कोटि-कोटि भक्त-मानसों की वह मरालिनी हैं, उनकी पूजा और अर्चना का विषय हैं, ललित कलाओं की वह आधार हैं, न जाने कितने शिल्पियों ने पत्थरों को तराश-तराश कर उनमें राधा की प्रतिमाओं को अंकित किया है, न जाने कितने चित्रकारों ने दिन-रात जाग कर अपनी तूलिका से उनके सौन्दर्य को चित्रित करने का प्रयास किया है और न जाने कितने गायकों और कवियों ने उन्हें आधार बना कर हृदय के समस्त सौन्दर्य को उंडेल देने की चेष्टा की है। मध्यकालीन साहित्य का वह संभवतः सर्वाधिक प्रधान विषय रही हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो उनका स्थान भगवान् कृष्ण से भी अधिक है। उनके इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उनके भक्ति-साहित्य के आगमन के विषय में ठीक-ठीक रूप से कुछ कह सकना कठिन है। इस विषय में अद्यावधि जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनमें परस्पर इतना अधिक विरोध है कि उनके आधार पर किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकना असंभव-सा ही है।

श्रद्धालु जन-साधारण राधा को अनादि और अनन्त मानते हैं। इस प्रकार के बहुत से विद्वानों ने वेदों में राधा के अस्तित्व को खोज निकालने की चेष्टा की है। ऋग्वेद में कृष्ण और कृष्ण-लीला से सम्बन्धित सभी नाम खोज निकाले गए हैं। डा० मुन्शीराम शर्मा ने 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' नामक अपने ग्रन्थ में पृष्ठ १६७ पर इस प्रकार के सभी मन्त्र प्रस्तुत कर दिये हैं। एक मन्त्र में "स्तोत्रं राधानां पते" (ऋक् १।३०।२९) में राधा का नाम भी स्पष्ट रूप में आता है। पर साथ ही डा० शर्मा ने वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन शब्दों के अर्थ भिन्न हैं और उनसे कृष्ण, राधा और ब्रजलीला का सम्बन्ध जोड़ना अर्थ का अनर्थ करना है। यहाँ राधा व्यक्ति का नाम न होकर धन, अन्न और नक्षत्र का नाम है। ऋग्वेद का एक अन्य मन्त्र, जिसमें राधा का नाम आता है, इस प्रकार है :

अतारिषुमेरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिर्नदीनाम् ।
प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा आवक्षमाणाः पृणध्वं पातशीमम् ।।३।३३।१२

इसके अर्थ में भी व्यर्थ की खींचातानी कर बहुत से व्यक्तियों ने राधा और कृष्ण का अस्तित्व खोजने का प्रयास किया है। इनके मत में यहाँ सुराधा का अर्थ गोपियाँ हैं और शीमं का अर्थ कृष्ण है।[1] पर यह मन्त्र नदी-सूक्त में है और यहाँ इन शब्दों के अर्थ कुछ और हैं। इस प्रकार के अर्थों में केवल शब्दसाम्य के आधार पर ही मनमानी करने का प्रयास है। यही कारण है कि विद्वानों ने इस प्रकार के

---

१. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ० २२

प्रयासों को कभी गम्भीरता से नहीं लिया है। शोध के क्षेत्र में केवल भावुकता से काम नहीं चलता।

कुछ लोगों ने नक्षत्रों द्वारा राधा की उत्पत्ति मानी है। श्री जगदीशचन्द्र राय विद्यानिधि इस मत के मुख्य प्रतिपादक हैं। उन्होंने विशाखा को राधा माना है, कृष्ण सूर्य हैं जो अपनी किरणों (Firmanents) रूपी गोपियों से घिरे हैं। श्री अशोककुमार मजूमदार ने अनेक तर्क देकर इस मत को अमान्य ठहराया है।[१]

एक अन्य मत के अनुसार सांख्य दर्शन की प्रकृति ही राधा है। इन लोगों के अनुसार वैष्णव मत में प्राचीन काल से जो शक्तिवाद चला आ रहा था, वही राम-भक्ति शाखा में सीता के रूप में आता है और कृष्ण-भक्ति शाखा में राधा के रूप में। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसी मत का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है— "राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है, वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न-भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। इसी क्रम-परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति राधावाद है। जो थी शुद्ध-रूपिणी, क्रम-परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्हीं ने आकर रूप-परिग्रह किया है परम प्रेमरूपिणी मूर्ति में।[२] आगे चलकर इसी भाव की उन्होंने इस प्रकार पुष्टि की है—"हमारा विश्वास है कि वैष्णव धर्म और दर्शन में प्रसार हुआ। यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल में पूर्ण विकसित राधावाद में परिणत हुआ।"[३] डा० विजयेन्द्र स्नातक का भी मत कुछ इसी प्रकार का है। उन्होंने अनुमान किया है कि कृष्ण के माधुर्यभाव की उपासना प्रचलित हो जाने पर उनकी इस अभिव्यक्ति को पूर्ण रूप प्रदान करने के लिए वैष्णव मत में राधा की सृष्टि की गयी। उनका कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"राधा को कृष्ण की वामांगभूता कहा जाता है और साथ ही उनकी ह्लादिनी शक्ति भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओं की संचालिका हैं तो दूसरी ओर कृष्ण की आराध्या भी हैं। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि कृष्ण के विष्णुरूप की माधुर्यभाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वर्यमण्डित ही न मानकर माधुर्यभाव-मंडित भी माना गया है और इस भाव की परिकल्पना ने राधाभाव को पूर्ण विकास पर पहुँचाया।"[४] पर यह सब कब और कैसे हुआ, इस पर विद्वान् लेखक ने कुछ नहीं कहा।

पुराणों में राधा—पुराणों में सर्वप्रमुख पुराण श्रीमद्भागवत है पर इसमें

१. ए० भ० ओ० रि इंस्टि० पूना, अंक ३६ (सन् १९५५), पृ० २३१-३२
२. राधा का क्रमिक विकास, पृ० ३
३. वही, पृ० ४
४. अ० व० सं० सि० सा०, पृ० १९६

कहीं भी स्पष्टरूप से राधा का उल्लेख नहीं है। हाँ, एक ऐसी अज्ञातनामा गोपी का उल्लेख अवश्य है कि जिस पर कृष्ण सर्वाधिक रूप से अनुरक्त हैं—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः ।। १०।३०।३८

इसमें 'अनयाराधितः' के दो विग्रह किये जाते हैं—'अनया आराधितः' तथा 'अनया राधितः'। अर्थ दोनों का वही है : प्रसन्न किया गया, आराधना किया गया। बहुत से विद्वानों ने इस अज्ञातनामा गोपी को ही राधा माना है। उनका स्पष्ट मत है कि यहाँ भागवतकार का भाव राधा से ही है और यहाँ जानबूझकर उसके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है।[1] पर स्पष्ट बात यह है कि यहाँ राधा को ढूँढ़ना क्लिष्ट और दूरारूढ़ कल्पना के सिवाय कुछ नहीं। भक्ति के इस सर्वप्रमुख ग्रन्थ में राधा का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण समस्या और भी जटिल हो जाती है। श्री अशोककुमार मजूमदार के अनुसार भी राधा का उल्लेख परवर्ती है। उनका कहना है कि भागवत में राधा का नाम है ही नहीं, उसके टीकाकार श्रीधर स्वामी ने भी राधा का नाम नहीं लिखा है जगन्नाथ दास ने उड़िया भाषा में भागवत की जो टीका (१५ वीं शताब्दी में) की है, उसमें उसने गोपी-विशेष का नाम वृन्दावती लिखा है, राधा नहीं। स्पष्ट है कि उस समय तक राधा का नाम इस रूप में इतना प्रचलित नहीं था।[2]

पुराण में एक श्लोक में राधा का उल्लेख है। वहाँ वृन्दावन में उसका वही स्थान है जो द्वारका में रुक्मिणी का।

हरिवंशपुराण में श्रीकृष्ण की श्रृंगारपूर्ण वृन्दावन-लीलाओं का वर्णन अवश्य है पर उसमें युगल-भाव का वर्णन नहीं है। विष्णुपुराण में भी संक्षेप में रासलीला का वर्णन है पर वहाँ भी राधा का नाम कहीं नहीं। मत्स्य पुराण (६।१३।३८) के श्लोकार्ध में राधा का उल्लेख है। कहा गया है कि रुक्मिणी द्वारावती में है और राधा है वृन्दावन में। ध्यान रहे कि इस पुराण में विष्णु के कृष्णावतार में ब्रज-लीला का वर्णन कहीं भी नहीं है अतः यह श्लोक निश्चित रूप से प्रक्षिप्त है। वायुपुराण, वराहपुराण, नारदीय पुराण और आदिपुराण में यदि एकाध श्लोक में कहीं राधा का नाम भी मिलता है तो उसके आधार पर कोई विवेचन प्रस्तुत करना उचित नहीं। विद्वानों की धारणा के अनुसार ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा का उल्लेख ही नहीं, सविस्तर चर्चा है। यहाँ राधा शब्द की व्युत्पत्ति दिखाते हुए उसका माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। कहा

---

१. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, पृ० १११
२. ए० भा० ओ० रि० इं० पूना, अंक ३६ (सन् १९५५), पृ० २३५-३६

गया है कि 'रा' शब्द के उच्चारण से भक्त को उस मुक्ति की प्राप्ति होती है जो अन्यों को दुर्लभ है। इनमें 'रा' शब्द दान-वाचक है और 'धा' निर्वाण का द्योतक है—

(क) रा शब्दोच्चारणाद् भक्तो याति मुक्तिं सुदुर्लभाम् ।
धा शब्दोच्चारणाद् दुर्गे धावत्येव हरेः पदम् ।।

(ख) रा इत्यादानवचनो धा च निर्वाणवाचकः ।
ततोऽवाप्नोति मुक्तिं च सा च राधा प्रकीर्तिता ।।

(ग) राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः ।
स्वयं निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्तिता ।।[१]

इस पुराण में राधा की उत्पत्ति का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, यदि इसे उत्पत्ति न कहकर देवी का प्राकट्य होना कहा जाय तो अधिक उचित होगा। उत्पत्ति के इस अतिप्राकृतिक ढंग के विषय में विवेचन के लिए बहुत गुंजाइश नहीं। या तो श्रद्धावश इसे आँख मींचकर स्वीकार कर लिया जाय या तर्क-संगत न होने के कारण इसे अविश्वसनीय कहकर छोड़ दिया जाय। इसके ये अतिरंजित वर्णन ही इसकी प्रामाणिकता में सन्देह उपस्थित करते हैं। यदि यह वर्णन प्राचीन होता तो भक्त वैष्णवों द्वारा इसका कहीं न कहीं उल्लेख अवश्य होता। ये वर्णन अर्वाचीन हैं अतः शोध के लिए मान्य नहीं। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसके विषय में लिखा है—"राधा का अवलम्बन करके ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृष्णलीला बाकायदा भड़कीली हो उठी है। लेकिन दुःख की बात है कि आजकल प्रायः प्रचलित ब्रह्म-वैवर्त पुराण के बारे में ही हमारा संशय और अविश्वास सबसे अधिक है। बहुतेरे पंडितों ने आजकल प्रचलित इस पुराण की प्रामाणिकता के बारे में अविश्वास प्रकट किया है। संदेह का पहला कारण यह है कि मत्स्यपुराण के दो श्लोकों में ब्रह्म-वैवर्त पुराण का जो परिचय है, उससे आजकल प्रचलित ब्रह्मवैवर्त पुराण के आकार या प्रकार का किसी भी दृष्टि से मेल नहीं। दूसरी बात यह है कि सारे ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला की भरमार है लेकिन वैष्णव गोस्वामियों ने इस पुराण की राधालीला का कोई उल्लेख क्यों नहीं किया ? इस पुराण में एक और अभिनवत्व है। इसमें बड़ी धूमधाम से राधा-कृष्ण का ब्याह भी कराया गया है। स्वयं ब्रह्मा इस ब्याह में कन्या-दान-कर्ता हैं। राधा का अवलम्बन करके इस प्रकार के बहुतेरे उपाख्यान और वर्णन बहुधा ऐसे निम्न स्तर पर उतर आये हैं कि प्राचीन पुराणकारों के लिए भी हमेशा शोभन या स्वाभाविक नहीं लगता।[२] इसी विषय की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया है —"इन कारणों से ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा-उपाख्यान का प्राचुर्य और राधा-माहात्म्य-ख्यापन

१. ब्र०वै०पु०, कृष्णजन्म खण्ड, १७।२२३
२. राधा का क्रमिक विकास, पृ० ११२

के सारे अतिशयों के बावजूद ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित राधा के तथ्य या तत्त्व, किसी का भी अवलम्बन करने का विशेष उत्साह हमारे अन्दर नहीं दिखायी पड़ता।[1]

पद्मपुराण में भी राधा का सविस्तर वर्णन है। उसके पाताल-खण्ड के अनेक अध्यायों में श्रीकृष्ण के रूप, लीला, धाम तथा राधा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। उत्तराखण्ड में राधाष्टमी व्रत का वर्णन और राधा-पूजन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस पुराण का यह अंश प्रक्षिप्त है। पद्मपुराण के राधा-विषयक एक श्लोक को रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उद्धृत किया है। यदि उनके समय में राधा का इतना विशद वर्णन था तो उन्होंने उसकी उपेक्षा क्यों की ? फर्कुहर इस पुराण के अधिकांश भाग को १६ वीं शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं।

आभीरों की देन—बहुत से विद्वानों का मत है कि राधा आर्य जाति की देवी न होकर आभीर जाति की देवी थी। इनका कहना है कि सीरिया से जब घुमक्कड़ आभीर जाति इस देश में आयी तब उनमें बाल देवता की पूजा होती थी और 'राही' उनकी प्रेम देवी थी। बाद में जब आर्यों का इस जाति के साथ घनिष्ठ परिचय हुआ तो इस देवी को आर्यों ने अपनी देवी के रूप में अपना लिया। सर आर० जी० भण्डारकर इस मत के मानने वालों में प्रमुख हैं।[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत भी डॉ० भण्डारकर के मत से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने आभीरों को स्पष्ट रूप से विदेशी नहीं कहा है। उनका मत उनके शब्दों में इस प्रकार है—"राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी, जिसका सम्बन्ध बाल कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बाल कृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसलिए आर्यग्रन्थों में राधा का उल्लेख नहीं है। पीछे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर बालक देवता की सारी बातें आभीरों से ले ली गयी होंगी और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गयी होगी।"[3] यह मत पर्याप्त सीमा तक विवादास्पद है। आभीर इसी देश के निवासी हैं अब यही मत अधिकांश में प्रचलित है। डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णुपुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायु-पुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशानों के पूर्व १० पीढ़ियों तक राज्य किया था। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित थी। वह युद्ध में

---

१. राधा का क्रमिक विकास, पृ० ११३

२. वैष्णविज्म, पृ० ३८

३. सूर-साहित्य (संशोधित संस्करण), पृ० १६-७

दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।[1] चतुर्थ अध्याय में हम यह सविस्तर दिखा चुके हैं कि आभीर यहीं के निवासी हैं, उनका निवास-स्थान राजपूताना है और उन्हें बाहर से आया हुआ मानना तर्कसंगत नहीं। पर यदि किसी प्रकार डा० भण्डारकार का मत स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी 'काही' के कृष्ण और 'राही' के राधा बनने की यह प्रक्रिया कब समाप्त हुई और भक्ति-साहित्य में उसका प्रवेश कब हुआ, इस प्रश्न का कोई उत्तर हमें नहीं मिलता।

साहित्य में राधा—किसी समय यह समझा जाता था कि जयदेव के पहले उत्तर भारत में राधा शब्द अपरिचित था, पर अब यह धारणा एकदम निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। साहित्य में राधा का उल्लेख स्पष्ट रूप में हुआ है और वह भी अनेक स्थलों पर। विद्वान् अन्वेषकों ने ऐसे पर्याप्त स्थल ढूँढ़ निकाले हैं पर उनमें भी कुछ अंशों को प्रक्षिप्त माने जाने से समस्या वहीं-की-वहीं रुकी रह जाती है। साहित्य-जगत् में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख हाल की रचना 'गाहा-सत्तसई' (गाथा-सप्तशती) में हुआ है। हाल का संस्कृत नाम शालिवाहन था और ये ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। बाणभट्ट ने अपने 'हर्ष-चरित' में कई प्राचीन ग्रन्थकारों के साथ शालिवाहन का उल्लेख प्रशंसापूर्ण शब्दों में किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी है, उससे पूर्व 'गाथा-सप्तशती' की रचना पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। इस सप्तशती में राधा का उल्लेख इस प्रकार है—

मुहुमारुएण तं क हण गोर अं राहि आएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अण्णाणापि गोरग्रं हरसि॥

हे कृष्ण! तुम अपने मुख की हवा से, मुँह से फूँक मार कर, राधिका के मुख पर लगी हुई धूलि को हटा रहे थे। इस व्यापार से तुमने अन्य गोपिकाओं के गौरव को कम कर दिया है।

बहुत-से विद्वान् इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। पं० गौरीशंकर ओझा के अनुसार यह अंश प्रामाणिक है।

दूसरा उल्लेख पंचतन्त्र में है। यह रचना ५ वीं शती की है। एक राजकुमारी से प्रेम करने वाला कृष्ण नामक तन्तुवाय-पुत्र लकड़ी के बने हुए गरुड़ यन्त्र पर बैठ कर उस राजकुमारी के अन्तःपुर में पहुँचकर उससे कहता है कि पिछले जन्म में गोपकुल में उत्पन्न जो राधा तुम मेरी भार्या थीं, वह अब यहाँ उत्पन्न हुई हो:

राधा नाम मे भार्या गोपकुल-प्रसूता प्रथमासीत्। सा त्वमत्र अवतीर्णा तेनाहमत्रागतः॥"

नारायणभट्ट की रचना 'वेणीसंहार' का काल आठवीं शती माना जाता है। उसने मंगलाचरण में जिस राधा का उल्लेख किया गया है वह वही राधा है जिसका वर्णन परवर्ती काल में भी हुआ है:

---

१. भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० १६४

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं ।
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु वः ।।

कालिन्दी के किनारे पर खेल-खेल में राधा क्रुद्ध हो गयी और रास के रस को छोड़कर चल पड़ी। आँसू बहाती हुई राधा जिधर को गयी थी, उधर को ही कृष्ण भी चल पड़े। जह-जहाँ राधा के पैर पड़े थे, वहीं-वहीं कृष्ण पैर रख रहे थे जिससे उन्हें रोमांच हो गया है। अन्ततः बहुत मनाने पर राधा खुश हुईं और उन्होंने प्रेम-भरी दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा।

काश्मीरी कवि वल्लभदेव ने, जो १० वीं शती में विद्यमान थे, 'शिशुपाल-वध' (सर्ग ४, श्लोक ३५) की टीका में लोचक शब्द को समझाते हुए जो श्लोक उद्धृत किया है, उसमें राधा का स्पष्ट उल्लेख है—

यो गोपीजनवल्लभः कुचतटव्याभोगलब्धास्पदं
छायावस्त्रविरक्तको बहुगुणश्चासश्चतुर्हस्तकः।
कृष्णः सोऽपि हृताशयाप्यपहृतः सत्यं कयाऽप्यद्य मे
किं राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणप्रियो लोचकः ।।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन अपने ग्रन्थ में प्राचीन काव्यों से अनेक उदाहरण दिये हैं। इनमें दो श्लोकों में राधा का स्पष्ट उल्लेख है। आनन्दवर्धन काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८८ ई०) का सभा-पण्डित था। श्लोक इस प्रकार है—

(क) तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्द शैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ।।

(ख) दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत—
स्तवैतत् प्रायेणाजघनवसने नाश पतितम्।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरमहे
क्रियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेस्वेव मुदितः ।।

धनंजय द्वारा प्रणीत 'दशरूपक' में श्री राधा के प्रणय-कोप का संकेत है—
"केनालीकमिदं तवाद्यकथितं राधेमुधा ताम्यसि।"

'गीतागोविन्द' में तो राधा का विशद वर्णन है ही। स्पष्ट है कि इस काव्य की रचना के काल (१२ वीं शती) तक राधा का पर्याप्त मात्रा में साहित्य में उल्लेख हो चुका था।

संस्कृत-साहित्य में राधा के इस उल्लेख के बाद भी यह तो प्रश्न बचा ही

रहता है कि भक्ति-साहित्य में राधा का समावेश कहाँ से हुआ ? जहाँ तक मध्य-कालीन हिन्दी-साहित्य का प्रश्न है उसे हम पौराणिक देन मान कर काम चला सकते हैं। पर यह मूल प्रश्न कि पुराण-साहित्य में राधा का समावेश कहाँ से हुआ, बचा ही रहता है। सब बातों पर विचार करने से यही लगता है कि धार्मिक क्षेत्र में राधा का समावेश लोक-साहित्य द्वारा ही हुआ। ब्रज के गोपाल कृष्ण की गोपियों के साथ प्रेम-लीला पहले आभीर जाति में चरवाहों के गीतों के तौर पर बिखरी हुई थी। वह धीरे-धीरे सब स्थानों पर फैल गयी। राग मार्ग के अनुसार भजन करने वाले आलवार भक्तों ने कृष्ण की वृन्दावन-लीला का जो उल्लेख किया है वह भी संभवतः आभीरों से लिया गया है। वहाँ नाम में अन्तर है। हिन्दी में इसी का नाम राधा बन गया। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।[1]

अन्य देवी-देवता

वैष्णव धर्म का दृष्टिकोण उदार ही रही है। सर्वग्राहिता और समन्वयवादिता उसकी प्रमुख विशेषता रही है। राम और कृष्ण, दोनों विष्णु के ही रूप हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार रामभक्ति शाखा में राम के साथ अन्य देवी-देवताओं को भी मान्यता प्राप्त रही है, उसी प्रकार कृष्ण-भक्ति शाखा में भी कृष्ण के साथ-साथ अन्य देवी-देवताओं की पूजा का सादर उल्लेख हुआ है। सूरदास की यशोदा राधा और श्याम की सुन्दर जोटी देखकर दोनों की कुशलता और स्थायी सम्बन्ध में बँधने की कामना के लिए सविता से प्रार्थना करती है—

> देखि, महरि मनही जु सिहानी।
> सूर महरि सविता सौ विनवति, अली स्याम की जोटी ।। (सूरसागर ७०२)

राधा ने यशोदा द्वारा सूर्य की पूजा का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

> मो तन चिते चिते ढोठातन, कछु सविता सों गोद पसारी ।। (सू०सा० ७०८)

सूरसागर से यह भी पता चलता है कि पुत्र-प्राप्ति की कामना से शिव-पार्वती की पूजा भी की जाती थी। यशोदा स्वयं स्वीकार करती है कि कृष्ण को गोद खिलाने का सौभाग्य शिव और गौरी की ही कृपा का फल है—

> पाऊँ कहा खिलावन कौ सुख, मैं दुखिया दुख कोखि जरी।
> जा सुख कौं सिव गौरि मनाई, तिय-व्रत नेम अनेक करी ।।
> सूर स्याम पाये पैंड़े में, ज्यौं पावै निधि रंक परी ।।[2]

गोपियों की भी इच्छा नन्द कुमार को पति-रूप में प्राप्त करने की है और इसके लिए वे भी शिव-पार्वती की पूजा करती हैं—

---

१. राधा का क्रमिक विकास, पृ० ११५-१६

२. सूर-सागर, पृ० १०८०

गौरी पति पूजति ब्रजनारि।
नेम धर्म सौं रहति क्रिया जुत, बहुत करहिं मनुहारि।
यहै कहति, पति देहु उमापति, गिरिधर नन्दकुमार ॥[1]

इस बात का भी उल्लेख है कि गोपियों की मनोकामना महादेव की कृपा से ही पूरी हुई—

सिव संकर हमकौं फल दीन्हौ।
पुहुपपाल, नाना फल मेवा, पट्रस अर्पन कीन्हौ ॥
पाइ परी जुवतीं सज यह कहि, धन्य-धन्य त्रिपुरारि।
तुरतहि फल पूरन हम पायौ, नन्द सुवन गिरिधारि ॥[2]

रुक्मिणी भी गौरी की विधिवत् पूजा करती है और अम्बिका का प्रसाद पाकर ही अम्बिका-मन्दिर से बाहर आती है—

कुँवरि पूजि गौरी विनति करी वर देउ जादवराइ ॥
मैं पूजा कीन्हीं इहि कारन, गौरी सुनि मुसुकाइ।
पाइ पसाद अम्बिका मन्दिर, रुकमिनि बाहर आइ ॥[3]

नन्ददास ने भी अन्य देवी-देवताओं का सादर स्मरण किया है। उनकी रुक्मिणी विवाह के पूर्व कुलरीति का पालन करने के लिए अम्बिका-पूजन करने के हेतु जाती है और श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाने की कामना की पूर्ति के लिए प्रार्थना करती है तथा मनोवांछित फल प्राप्त करती है—

है प्रसन्न अंबिका कहति, सुनि रुक्मिनि सुन्दरि।
पैहे अब गोविन्दचन्द, जिय जनि बिसाद करि ॥[4]

कात्यायनी अर्थात् दुर्गादेवी की पूजा का वर्णन भी नन्ददास ने किया है। कृष्ण को पतिरूप में पाने की कामना करनेवाली गोपियाँ हिमऋतु के प्रथम मास में ही कामायनी की पूजा का संकल्प करती हैं। व्रज बालाओं की पूजा से संतुष्ट होकर महामाया उनको सफलमनोरथ होने का वर देती हैं—

बोली बचन देवि रसभारे, पूर्न मनोरथ होंइ तुम्हारे।
कात्यायनि तैं यौं वर पाइ, बहुरि धँसीं जमुना जल जाइ ॥[5]

---

१. सूरसागर, पृ० ७६६
२. वही, पृ० ७६८
३. वही, पृ० ४१८१
४. रुक्मिणी-मंगल, पृ० १५६
५. अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्य, पृ० ५४३

नवम अध्याय

उपसंहार

उत्तरमध्यकाल या रीतिकाल में देव-भावना

उपयुक्त अवसर पाकर भक्ति का जो स्रोत उत्तरी भारत में तीव्र गति से प्रवाहित हो चला था, रीतिकाल के आते ही सहसा उसकी गति अवरुद्ध हो गयी हो, ऐसी बात नहीं। इस धारा की उत्पत्ति न एक दिन में हुई थी और न किसी एक निश्चित दिन के बाद उसके प्रवाह पर रोक लगायी जा सकती थी। इस प्रकार की सब धाराओं के बीज जन-मानस में होते हैं। अनुकूल परिस्थिति आ जाने पर उनका स्वर उभर-सा जाता है। प्रवृत्ति की अधिकता से साहित्य के कालों को विभिन्न नाम अवश्य दिये जाते हैं पर उसका भाव यह कदापि नहीं होता कि उस प्रवृत्ति से भिन्न प्रवृत्तियों की रचनाएँ एकदम लुप्त हो जाती हों। उदाहरण के लिए, वीरगाथा-काल का अन्त होने पर भी भक्तिकाल में वीररस की रचनाएँ होती ही रहीं। भक्ति-काल में भक्ति से भिन्न प्रकार की रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा में होती रही हैं। भारतीय आकाश में भक्ति का आगमन बिजली की चकाचौंध के समान कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। देश के विभिन्न भागों में उसके बीज पहले से विद्यमान थे, यह पीछे सविस्तर दिखाया जा चुका है। किसी मानवोत्तर शक्ति में विश्वास देव-भावना का मूल है और इस विश्वास का सम्बन्ध हृदय से है। भक्ति-काल के समाप्त हो जाने पर परोक्ष सत्ता और उसके अवतारी रूप के प्रति भारतीय जनता का विश्वास उसी प्रकार बना हुआ था। इसीलिए इस उत्तर मध्यकाल में भी देव-भावना की सरिता शान्त गति से आगे को बहती दीख पड़ती है; हाँ, शृंगार के कोलाहल में उसकी ध्वनि कुछ मन्द अवश्य पड़ गयी है।

जैसा हम पहले कह आये हैं, हिन्दी-साहित्य में देव-भावना का लगभग वही रूप है जो पौराणिक काल में था। उत्तरमध्यकाल की देव-भावना पूर्व मध्यकाल की देव-भावना से मिलती-जुलती है। इस काल में किन्हीं नये देवी-देवताओं की सृष्टि नहीं हुई। निर्गुणवाद की जो दो धाराएँ चल रही थीं वे अब भी चलती दीख पड़ रही हैं। अन्तर केवल इतना है कि पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) के कवि साधक पहले थे और कवि बाद में। उनके लिए कविता साधन-भर थी, साध्य अपने देव को रिझाना था।

इसके विपरीत रीतिकाल के कवियों के लिए कविता साध्य थी और देव-भावना साधन मात्र। जहाँ वे अन्य विषयों का वर्णन करते थे, वहीं यदा-कदा देव-भावना का भी चित्रण कर देते थे। हमारा यह कथन उन्हीं कवियों पर लागू होता है जो दरबारों में रहकर कविता करते थे और अपने आश्रयदाताओं को रिझाना जिनका प्रथम कर्तव्य था। स्वतन्त्र साधक भी अपनी मनःतृप्ति और लोक-सुधार के लिए काव्य-रचना करते रहे।

उत्तर मध्यकाल में देव-भावना दो प्रकार के कवियों में पायी जाती है। पहले प्रकार के वे कवि हैं जो स्वतन्त्र रीति से जीवन-यापन करते थे। प्रभु-भजन में लीन रहते थे, धन और यश से कोई सरोकार न था। और दूसरे वे कवि हैं जो अपनी जीविका के लिए राजाओं या जागीरदारों के आश्रित थे। पहले प्रकार के कवियों पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव नहीं के बराबर है। उनकी रचनाएँ प्रायः उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की भक्ति-काल में थीं। हम पहले इसी वर्ग कि रचनाओं में प्राप्त देव-भावना का उल्लेख करेंगे। हम यह भी स्पष्ट कर दें कि इस प्रकार के ज्ञात और अज्ञात बहुत से कवि हैं, उन सबका उल्लेख यहाँ न तो संभव ही है और न वांछनीय ही। इनका वर्ण्य विषय एक-सा ही है अबः थोड़े-से कवियों के उल्लेख से हमारा कार्य पूरा हो जायगा।

दूलनदास (जन्म सं० १७१७ वि०)—इनका राम-नाम में अटूट विश्वास है। इनका कहना है कि राम-नाम के बिना समस्त जीवन व्यर्थ है। राम का नाम ज्ञान का प्रकाशक है और मन में प्रतीति उत्पन्न करने वाला है—

दूलन यहि जग जनमि कै, हरदम रटना नाम।
केवल नाम सनेह बिनु, जन्म समूह हराम॥

... ...

रामनाम दुइ अच्छरै, रटे निरन्तर कोइ।
दूलन दीपक बरि उठै, मन परतीति जो होइ॥[1]

दूलनदास की यह इच्छा है कि उनके हृदय में उनके देव की ही धुन लगी रहे, नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की झड़ी लगी रहे और वे उसके नाम की माला जपते रहें, मन उनमें मस्त रहे और विरह में वे निरन्तर जलते रहें—

साईं, तेरे कारन नैना भये वैरागी।
तेरा सत दरसन चहौं कछु और न माँगी॥
निसिबासर तेरे नाम की अंतरधुनि जागी।
फेरत हों माला मनों, अँसुअन झरि लागी॥

---

१. संत-सुधा-सार, पृ० ८१

... ...

मदमाते राते मनों राधे विरह आगी।
मिलु प्रभु दूलनदास के, करु परम सुभागी ।।[1]

यारी साहब(जन्म सं० १७२५ वि०)—इनका देव निर्गुण और निराकार है, ज्योति-स्वरूप है और घट-घट में समाया हुआ है। करोड़ों सूर्यों के समान उसका प्रकाश है और उसे ढूँढ़ने के लिए घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं—

ज्योतिसरूपी आतमा, घट-घट रही समाय।
परमतत्त मनभावनौ, नैंक न इत उत जाय ।।
... ...
आठ पहर निरखत रहौं, सम्मुख सदा हजूर।[1]
कह यारी घर हीं मिलैं, काहे जाते दूर ।।

इसके अलावा सोलह कलाओं से परिपूर्ण भगवान् हरि के सर्वात्मना चिन्तन को अपना लक्ष्य मानकर उन्होंने बड़े सुन्दर पद कहे हैं। 'कल्याण' (सन्त-वाणी अंक, पृष्ठ २२३) में इस प्रकार के अनेक पद उद्धृत किये गये हैं।

दरिया साहब (बिहारवाले, जन्म सं० १७३१ वि०)—इनकी रचनाएँ भी देव-भावना से ओत-प्रोत हैं। इनके देव भी निराकार हैं, वे कभी अवतार नहीं लेते, लेने की आवश्यकता ही नहीं होती। यही कारण है कि इन्होंने प्रतिमा पूजने वालों को पसन्द नहीं किया—

परमातम के पूजते, निर्मल नाम अधार।
पंडित पत्थर पूजते, भटके जम के द्वार ।।[2]

पर फिर भी भावावेश में उन्होंने अपने को पत्नी और भगवान् को पति मानकर थाल भरकर ले जाने और शैया बिछाने का वर्णन किया है—

मैं कुलवंती खसम 'पियारी। जाँचत तू लै दीपक बारी ।।
गंध सुगंध थार भरि लीन्हा। चंदन चर्चित आरति कीन्हा ।।
फूलन सेज सुगन्ध बिछायौ। आपन पिया पलँग पौढ़ायौ ।।
संतत चरन रैनि गई बीती। प्रेम प्रीति तुम ही सौं रीती ।।
कह दरिया ऐसौ चित लागा। भइ सुलछनि प्रेम अनुरागा ।।[3]

सहजोबाई (१७४०-१८२० तक)—इनकी अपने देव के प्रति पूरी आस्था है। उनका देव साकार है या निराकार, इस चक्कर में वह नहीं पड़तीं। वास्तविकता तो यह है कि वह साकार और निराकार, दोनों से ऊपर है, वह अनिर्वचनीय है, अस्ति और नास्ति की सीमा से बाहर है—

१. संत-सुधा-सार, पृ० ७६
२. वही, पृ० ६७
३. वही, पृ० ६२

निराकार आकार सब, निर्गुन अरु गुनवन्त ।
है नाहीं सूरहित है, सहजो यों भगवन्त ॥[१]

इसका अपना कोई नाम नहीं और फिर भी सब नाम उसी के हैं। गुप्त भी वही है और प्रगट भी वही है—

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप ।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, हरि परगट हरि गूप ॥[२]

जैसा कि स्वाभाविक है, उनका देव भी भावावेश में ही साकार हो उठा है। उनका विश्वास है कि भक्तों के उद्धार के लिए निराकार भी साकार बन जाता है—

निर्गुन तैं तू सगुन भये, भक्त उधारनहार ।
सहजौ की दंडौत है, ताकूँ बारम्बार ॥

... ...

धन्य जसोदा, नन्द धन, धन ब्रजमंडल देस ।
आदि निरंजन सहजिया, भयौ ग्वाल के भेस ॥[३]

दयाबाई (१८५०-से १८३० तक)—यह सहजोबाई की गुरु-बहिन थीं। इनका देव मन, वाणी और नेत्रों से अगम्य है—

मन बानी दृग तू अगम, ऐसौ तत्व अनूप ॥[४]

उनकी मनोकामना है कि जिस किसी ढंग से हो, प्रभु रीझ जायं। उनका विश्वास है कि वे सनाथ तभी होंगी जब प्रभु की दया उन पर हो जाय। उनके नाम में ऐसी शक्ति है कि उससे सारे कलुष इसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से सारा वन। यही कारण है कि वह उनकी ओर ऐसे देखती हैं जैसे चन्द्र चकोर की ओर—

तुम ही सूँ टेका लगौ, जैसे चन्द्र चकोर ।
अब कासूँ झंखा करौं, मोहन नन्द किसोर ॥[५]

इनका भी यही विश्वास है कि जब तक भगवान् की दया की लहर नहीं आती, तब तक उद्धार संभव नहीं। इस भव-जलनिधि को पार करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने के सिवाय अन्य कोई मार्ग है ही कौन-सा? यदि भक्त अपने कर्मों के ही भरोसे बैठा रहे तो उसका उद्धार नहीं हो सकता—

---

१. संत-सुधा-सार, पृ० १६१
४. वही, पृ० १६१
३. वही, पृ० १६१
४. वही, पृ० २०६
५. वही, पृ० २०६

जो मेरे करमन लखौ, तौ नहिं होत उबार ।
दयादास पर दया करि, दीजै चूक बिसार ।।

गुलाल साहब (जन्म १७५० वि०)—इनके लिए भी सबसे बड़ी संपत्ति राम ही हैं। उनकी इच्छा है कि मेरा मन अहर्निशि उन राम में ही लगा रहे। जिस प्रकार माँ बच्चे का पालन करती है उसी तरह भगवान् भक्त का पालन करते हैं। इनके भी देव निराकार हैं पर भावावेश में इन्होंने भी प्रेमी और प्रेयसी का सम्बन्ध जोड़ा है। यह भी अपने पिय के लिए सेज बिछाते हैं और उनकी प्रतीक्षा करते है—

लागति नेह हमारी, पिया मोर ।
चुनि-चुनि कलियाँ सेज बिछावौं, करौं मैं मंगलाचार ।
एकौ घरी पिया नहीं अइलै, होइया मोहि धिरकार ।।
आठौ जाम रैन दिन जोहौं, नैंक न हृदय बिसार ।
तीन लोक के साहब अपने, फरलहिं मोर लिलार ।।
सत्तरूप सदा ही निरखौं, संतन प्रान अधार ।
कहै गुलाल पावौं परिपूरन, मौजै मौज हमार ।।[१]

भीखा साहब (जन्म सं० १७७० वि०)—इनके देव दीनों पर दया करने वाले हैं, उनकी कृपा से न जाने कितने अधम भव-सागर से पार हो गए—

ए साईं तुम दीनदयाला । आयहु करत सदा प्रतिपाला ।
कैतिक अधम तरे तुम चरनन । करम तुम्हार कहा कहि जाला ।।[२]

वह उस घड़ी की प्रतीक्षा में हैं जब भगवान् की उन पर कृपा होगी। मोह-निशा में पड़े हुए प्राणियों को जगाना उन्हीं की शक्ति में है—

अस करिये साहब, दाया !
कृपा कटाच्छ होइ जेहितै प्रभु, छूटि जाय सब माया ।
सोवत मोह निसा निसि वासर, तुम हीं मोहि जगाया ।।
... ...
भीखा केवल एक रूप हरि, व्यापक त्रिभुवन राया ।।[३]

इसी कारण भीखा साहब का परामर्श है कि सब प्राणियों को मनसा-वाचा-कर्मणा उसी भगवान् की शरण में जाना चाहिए—

ब्यापक पूरन ब्रह्म हैं, भीखा रहनि अनन्य ।
मन क्रम बचन बिचारि कै, राम भजै सो धन्य ।।

---

१. संत-सुध-सार, भाग २, पृ० १२४
२. वही, पृ० १४१
३. वही, पृ० १४१

चरणदास (जन्म-संवत् १७६०)—यह भी किसी मानवोत्तर शक्ति में विश्वास रखते हैं। इनका कहना है कि हे भगवान् ! हमारा रोम-रोम अपराधी है और हम तुम से क्षमा-याचना करते हैं। उनके देव दीन-वत्सल हैं और उनकी दया के बिना भक्त का कोई काम नहीं चल सकता। वे अपने देव को छोड़ कर अन्य किसी की शरण में जाना पसन्द नहीं करते। पतित-उद्धारक अपने देव से उन्हें पूरी-पूरी आशा है—

राखो जी लाज, गरीब-निवाज !
तुम बिन हमरे कौन सँवारे, सब ही बिगरे काज ।।
भक्त बछल हरि नाम कहावौ, पतितउधारन हार।
करौ मनोरथ पूरौ जन कौ, सीतल दृस्टि निहार ।।
तुम जहाज मैं काग तिहारौ, तुम तजि अनत न जाउँ।
जो तुम हरि जू मारि निकासौ, और ठौर नहिं पाउँ ।।
चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
मेरी हँसी सो हँसी तुम्हारी, तुमहूँ देखु बिचार ।।[1]

उन्हें अपने देव के बिना संसार अच्छा नहीं लगता, कोई भी वस्तु उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। जब तक प्रिय नहीं मिलते, तब तक जीवन बोझ-ही-बोझ है, उनके विरही हृदय में अग्नि-ही-अग्नि है—

पीव बिना तो जीवन, जग में भारी जान।
पिया मिलै तो जीवन, नहीं तो छूटै प्रान ।।
वह बिरहिनि बौरी भई, जानत ना कोई भेद।
अग्नि बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद ।।[2]

अपने आराध्य के प्रति उनका ऐसा लगाव है कि उसे छोड़कर वे मुक्ति की भी कामना नहीं करते—

आगे पीछे ही फिरै, प्रभु छोड़ि न जाये।
चारि मुक्ति बाँदी, भवै सिधि चरनन माहि ।।[3]

तुलसी साहब (जन्म-संवत् १८१७)—इनकी आस्था भी देव-भावना में उसी प्रकार की है। जिस प्रकार पति के बिना श्रृंगार करने वाली और सेज बिछाने वाली नारी निंद्य है उसी तरह भगवान् के बिना जीवन भी व्यर्थ है। उनका प्रिय उनसे दूर है, इस बात का उन्हें हार्दिक खेद है। उसके वियोग में उन्हें नींद नहीं आती, आँखो में आँसुओं की धारा अविरल रूप से बहती रहती है, बिजली चमक-चमक कर हृदय

---

१. सं० सु० सा० भाग २, पृ० ४४६
२. वही, पृ० १७५
३. वही, भाग २, पृ० १२६

की धड़कन को और अधिक बढ़ा देती है, धुआँ चाहे बाहर न दीखता हो, पर विरह की अग्नि हृदय में निरन्तर जलती रहती है। अपने देव के बिना उसका जो जीवन कट रहा है यह उसके पूर्व जन्म का पाप ही है। एक अन्य पद में उनका कहना है कि प्रिय परदेश गये हुए हैं, मैं किसके द्वारा उन्हें संदेश भेजूं, यह मेरी समझ में नहीं आता। उसे ढूंढ़ने के लिए मैं जोगिन बनकर वन-वन फिरने को तैयार हूँ—

प्यारे पिया परदेसा, हो गुइयाँ री।
सइयाँ देस बिदेस बिरानी, कासे कहौं री सँदेसा।।
कौन उपाय करौं मोरी सजनी, करिहौं मैं जोगिन भेसा।
हिये नहिं चैन, रैन नहिं निद्रा, बिरह बिथा लव लेसा।।
भेजौं भौन कौन बिधि पाती, ग्यानी-गुन उपदेसा।
तुलसी निरखि जात नर देही, जोवन गयौ अली ऐसा।।[१]

रीतिबद्ध कवियों की देव-भावना

इन रीतिकालीन कवियों को दो भागों में बाँटा गया है : १. ऐसे कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी लक्षण-ग्रंथों पर काव्य रचे, जैसे केशव, मतिराम भूषण आदि। २. वे कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में लक्षण-ग्रन्थों को दृष्टि-पथ में रख कर अपने स्वतंत्र काव्य रचे, जैसे बिहारी। जो कवि इन दोनों वर्गों से बाहर हैं उन पर भी रतिकाल की घोर श्रृंगारिकता का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। समाज और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है। रीतिकाल का आरम्भ बादशाह शाहजहाँ के समय से हुआ था। यह काल भौतिक समृद्धि की दृष्टि से भारत के इतिहास में स्वर्ण-काल कहा जाता है। बादशाह के अनुकरण पर राजाओं और नवाबों में भी विलास-प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। ऐहिक चिन्ताओं से मुक्त उच्च वर्ग स्वर्ण, सुरा और सुन्दरी के सेवन में मस्त था। दरबारों में श्रृंगारपरक साहित्य अधिकाधिक प्रिय होता जा रहा था। मुगल-दरबार में फारसी का जिस प्रकार का साहित्य प्रचलित एवं समादृत था उसकी देखादेखी हिन्दी में भी श्रृंगार रस की कविता का होना स्वाभाविक ही था। गजल की श्रृंगारिकता, गुलोबुलबुल, शीरींफरहाद और लैलामजनूँ के साहसिक प्रेम के अनुकरण पर जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसमें सीता और राधा की गरिमा के लिए अवकाश नहीं था। स्वाभावतः इस साहित्य में मांसलता, ऐहिकता और चंचलता मुखर हो उठी।

जिस साहित्य की पृष्ठभूमि इस प्रकार की हो, उसका स्वरूप अपनी पवित्रता को बनाकर नहीं रह सकता। इधर भक्ति की जो धारा अपने सम्पूर्ण वेग से जन-मानस को आप्लावित कर चुकी थी, उसकी एकदम उपेक्षा भी इन कवियों के लिए

---

१. सं० सु० सा०, पृ० २८५

संभव न थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भक्ति और श्रृंगार की दो धाराएँ आपस में मिल गईं। युग-धर्मानुसार इसमें श्रृंगार प्रधान रहा और भक्ति गौण हो गयी। इसका अनिवार्य रूप से यह परिणाम हआ कि इन कवियों की रचनाओं में श्रीकृष्ण और राधा का वह रूप नहीं रह गया जो सूरदास-आदि की कविताओं में दीख पड़ता है। यहाँ से दोनों रीति-काल के विलासप्रिय नागरिकों और कभी-कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी में उतर आते हैं। इनमें न तो भक्तिकाल की वह हार्दिकता है और न वह पौराणिकता ही जो विद्यापति में उपलब्ध होती है।

बिहारी श्रृंगार रस की मादकता के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं पर देव-भावना के दर्शन उनके काव्य में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बिहारी-सतसई का प्रथम दोहा ही राधा की स्तुति में कहा गया है, जो इस प्रकार है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परे, स्याम हरित दुति होय॥[१]

एक अन्य दोहे में उन्होंने कहा है कि सिर पर मुकुट, कमर में काछनी, हाथ में मुरली और गले में माला धारण करने वाले श्रीकृष्ण सदैव मेरे हृदय में निवास करते रहें—

मोर मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारीलाल॥[२]

उनकी दृष्टि में लोग अपने-अपने मत के प्रचार के लिए व्यर्थ के झगड़ों में पड़े हैं, वे वास्तविकता को नहीं पहचानते। पानी कहीं भी बहे, अन्ततः वह समुद्र में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार कोई किसी भी देवता की सेवा क्यों न करे, अन्ततोगत्वा वह सेवा सबके सेव्य श्रीकृष्ण तक पहुँच जाती है—

अपने अपने मतन कौ, बादि मचावत सोर।
जैसे तैसे सेवियै, सबको नन्द किसोर॥[३]

उनका यह भी कथन है कि भले ही कोई करोड़ों रुपया इकट्ठा करे, पर मेरी सम्पत्ति तो विपत्ति-विदारक कृष्ण ही हैं—

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारनहार॥[४]

देव भी श्रृंगार रस के कवि हैं पर उनके काव्य में भी देव-भावना पर्याप्त रूप

---

१. बिहारीरत्नाकर, दोहा १
२. वही, दो० ४१६
३. वही, दो० ५८१
४. वही, दो० ६१

में मिलती है। इनके आराध्य देव कृष्ण हैं। उनके मस्तक पर मुकुट है, गले में गुंजा के हार हैं, कपोलों पर कुंडलों की झलक पड़ रही है, कमर में पीले वस्त्र पहने हुए हैं, वे धीमे-धीमे मुस्करा रहे हैं। देव कवि उनके इस सौन्दर्य पर करोड़ों कामदेवों को न्यौछावर करने को तैयार हैं—

माथे मनोहर मौर लसै, पहिरे हिय में गहिरे गुँजहारनि,
कुंडल मंडत गोल कपोल, सुधा सम बोल विलोल निहारनि,
सोहत त्यों कटि पीत पटी मन मोहित नंद महापग धारनि।
सुन्दर नंद कुमार के ऊपर वारिए कोटिकुमार-कुमारनि ।।[1]

एक अन्य पद में भी यही भाव इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

पाँयन नूपुर मंजु बजैं कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसैं बन माल सुहाई।।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मंद हँसी मुख चंद जुन्हाई,
जौ जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्री ब्रज दूलह देव सहाई ।।[2]

कृष्ण ब्रज से चले गये तो क्या हुआ? क्या इतने से रिश्ता टूट जाता है? जिनके नेत्रों से कृष्ण का ही रूप समाया हुआ है, जिनके मुख से कृष्ण की ही बातें निकलती हैं, उनसे कृष्ण दूर भी कैसे हो सकते हैं? दूरी तो मन की है—

रावरौ रूप रह्यौ भरि नैनन, बैननि के रस सौं सुति सानौ।
गात में देखत गात तुम्हारौई, बात तुम्हारिये बात बखानौ।।
ऊधौ हहा हरि सौं कहियौ, तुम हौ न इहाँ यह हौं नहिं मानौं।
या तन तैं बिछुरे तो कहा, मनतैं अनते जु बसौ तब जानौं ।।[3]

जिसकी किसी से प्रीति लगी हो उसे दूसरों से सैकड़ों बातें सुननी पड़ती हैं। कोई अकुलीन कहता है, कोई कुलटा कहता है, लोग उसे लोक और परलोक बिगड़ने का भी भय दिखाते हैं; पर कृष्ण पर जिसका मन चला गया, उसे किसी की भी परवा क्या है?

कोऊ कहो कुलटा, कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकनि कलंकनि कुभारी हौं।
कैसो परलोक, तरलोक बरलोकन में,
लीन्हौ मैं अलोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाहि, मन जाहि, देव गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं।

---

१. देव-दर्शन, पृ० ८७
२. वही, पृ० १११
३. वही, पृ० १५३

वृन्दावन वारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं ।।[१]

इन सबके साथ-साथ उनके यहाँ शिव की भी स्तुति है। कहा गया है कि शरीर पर भस्म है, सर्प हैं, हाथों में डमरू है, अर्धांग में पार्वती है, गले में मुंडों की माला है, हाथी की खाल पहने हैं, सिर पर चन्द्रमा है और गंगा है।

भूषण का हृदय वीररस में अधिक रमता था, तथापि देव-भावना से वे भी खाली नहीं थे। उन्होंने भव-पंथ-जन्य परिश्रम को दूर करने वाले ब्रह्म तथा पाप-तरु-भंजन, विघन-गढ़ गंजन, जगत-मन-रंजन गणेशजी की स्तुति की है। गुरु गोविन्द सिंह वीर योद्धा होने के साथ-साथ उच्च कोटि के भक्त कवि भी थे। उन्होंने विष्णु और ब्रह्म आदि देवों की चर्चा तो की ही है, चंडी देवी की स्तुति के लिए 'चंडी-चरित्र' नामक एक काव्य-ग्रन्थ की रचना भी की है। शुम्भ और निशुम्भ को मारने वाली चंडी की विविध प्रकार से स्तुति कर उन्होंने अन्त में उनसे यह वर माँगा है कि देवी ! मैं शुभ कर्मों से कभी पीछे न हटूँ, जब कभी शत्रु से लड़ूँ तो मेरे मन में डर न आये और मैं विजयी बनूँ।

घनानन्द उस देवी राधा के सामने विनयावनत हैं जिनकी कृपा के लिए भगवान् कृष्ण चकोर की चरह अपलक ताकते हैं। एक अन्य पद में उन्होंने कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि उन्होंने लाल पगड़ी बाँधी हुई है, कन्धे पर छोटा सा डंडा है, अंग-अंग से यौवन टपक रहा है, उनके कुटिल अलक मन को उलझाने वाले हैं, गले में गुंजों की माला है, नख से शिख तक सुन्दरता-ही-सुन्दरता छायी हुई है, यमुना के किनारे पर उस नंदराय ने कोई टोना-सा कर दिया है, सभी उस पर मुग्ध हैं।[१] यही कारण है कि वे गोपाल के ही गुण गाना पसन्द करते हैं और उनके हृदय से वह मूर्ति टाले नहीं टलती—

गोपाल, तुम्हारेई गुन गाऊँ !
करहु निरन्तर कृपा कृपानिधि बिनति करौं सिर नाऊँ।।
टरत न मोहन मूरति हिय तैं, देखि देखि सुख पाऊँ।
आनँदघन हो बरसौ सरसौ, प्रान पपीहा ज्याऊँ।।[२]

उनमें कितने ही स्थलों पर दैन्य भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। वे अपनी कमियों से परिचित हैं और भगवान् की कृपा पर उन्हें पूरा-पूरा भरोसा है—

आयौ सरन बिकार-भर्यौ।
तुम सरवज्ञ हौ बहुबिधि जु कछु न करिबै सु कछु कर्यौ ।।

---

१. देव-दर्शन, पृ० ११६

२. घनानन्द—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० २३९

३. वही, पृ० १६३

सदा दयाल दीन दुख मोचन, यही सुमिरि सबही बिसर्‌यौ ॥
कृपा कंद आनंद कंद हौ, पतित पपीहा द्वार पर्‌यौ ॥

... ...

भूल-भरे की सुरति करौ !
अपनी गुननिधानता उर धरि, मो अनेक औगुन बिसरौ ॥
या असौच कौं सौच कीजिये, हा हा हो हरि सुढर ढरौ।
कृपा कंद आनन्द कंद हौ, पतित पपीहा तपनि हरौ ॥[१]

पद्‌माकर भट्ट में भी हमें देव-भावना के उसी रूप में दर्शन होते हैं। उन्होंने कहा है कि मैंने पेट की चपेट सही, स्वार्थ के लिए परमार्थ को बिगाड़ लिया, हे दशरथ के बेटे ! तुम मेरी सुध क्यों नहीं लेते ? एक अन्य पद में दशरथ-तनय राम के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि वे चाहें तो दिन को रात और रात को दिन कर सकते हैं। उनमें ऐसी शक्ति है कि उनके चाहने पर चींटी हाथी को पछाड़ सकती है। वे राई को सुमेरु बना सकते हैं और सुमेरु को राई। एक अन्य पद में उन्होंने राम की पतितपावनता और दीनबन्धुता तथा अपनी अपावनता एवं अन्य अवगुणों की चर्चा करते हुए उनसे अनुग्रह की प्रार्थना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि सब प्रपंचों को छोड़कर राम का भजन करना चाहिए, क्योंकि अन्त में वे ही काम आयेंगे। इसी प्रकार उन्होंने कितने ही पदों में ब्रजचन्द कृष्ण से अपने हृदय में बसने की प्रार्थना की है। कृष्ण के बालरूप का वर्णन करते हुए उन्होंने एक पद में कहा है कि गोविन्द के अपार सौन्दर्य को देखकर शंकर और ब्रह्मा आनन्द से फूले नहीं समाते। वे (कृष्ण) दोनों हाथों से माँ के अंचल के छोर को पकड़े हुए प्रसन्न-वदन इधर-उधर घूम रहे हैं। तीनों लोकों के ठाकुर कृष्ण भगवान नन्द-रानी के सामने खड़े ठिनुक रहे हैं। एक अन्य पद में वे कहते हैं कि ओ माखन-चोर ! तुम छिपने के लिए दूर क्यों भागे जाते हो ! आओ, मेरे हृदय में ही छिप जाओ, यहाँ पर्याप्त स्थान है।

इस प्रकार देव-भावना का अनवच्छिन्न प्रवाह एकदम स्पष्ट है। असली बात तो यह है कि देव-भावना के उदाहरण ढूँढ़ने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं, वे तो प्रायः सभी कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप में और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। जो देवी-देवता पूर्वमध्यकाल में समादृत थे, वे इस काल में भी समादृत हैं। कविगण उनकी स्तुति अब भी वैसे ही सुन्दर विशेषणों से करते हैं। पर जैसा हम इस प्रकरण के आरम्भ में ही कह आये हैं कि इस ऊपरी सादृश्य के रहते भी दोनों में आन्तरिक वैषम्य अवश्य है। देव-भावना की आरम्भिक धारा एकदम स्वच्छ है; उसमें वासना, विलासिता और कामुकता का दर्शन कहीं नहीं होते। उपमा के लिए उसे

१. घनानन्द—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १६३

भवगती भागीरथी की उस गंगोत्री की धारा के समान कह सकते हैं जो एकदम स्वच्छ है पर उत्तर मध्यकाल तक आते-आते उसमें गन्दे नाले मिल जाते हैं, स्थान-स्थान पर उसमें सड़न है, प्रबाह की कमी है और उसकी प्रेरणाप्रद शक्ति समाप्त-सी हो चली है। आरम्भ में हृदय से निकले सच्चे उद्‌गार थे, तप्त आत्मा को शान्ति देने वाली शीतल जल-धारा थी, पर बाद में वह लकीर का पीटना भर रह गया।

रीतिकालोत्तर देव-भावना का रूप

यद्यपि यह ठीक है कि सं० १९०० वि० के पश्चात् एक नवीन युग का आरम्भ हुआ, पर रीतिकाल की धारा एकदम बन्द हो गयी हो, ऐसी बात नहीं। साहित्यिक काल-विभाजन में किसी निश्चित काल-विभाजक रेखा का खींच सकना संभव नहीं। कोई भी विचारधारा सहसा ही लुप्त नहीं हो जाती। फिर आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समन्वयवादी थे और प्राचीन परम्परा से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद करना उन्हें अभीष्ट नहीं था। वास्तविकता तो यह है कि उनका नवीन प्राचीन का ही संवर्धित रूप है। वे अपने काव्य में सूर-साहित्य से अत्यधिक प्रभावित हैं। क्या भाव और क्या भाषा, सभी स्थलों पर सूर की छाप स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। वैष्णव मार्ग के अनुयायी होने के कारण आपने बाल-लीला, राधा-कृष्ण प्रेम-विलास, मान, रूप-वर्णन, वंशी, दान, विरह, मिलन और भ्रमरगीत इन सभी विषयों पर उसी भाव के साथ लिखा है जिस भाव के साथ सूर ने लिखा है। राधा-जन्म का वर्णन आपने विशद रूप में किया है। राधा का जन्म होते ही चारों ओर प्रसन्नता की लहर छा जाती है, देवताओं में एक नवीन उल्लास के भाव पाये जाते हैं, नभ में विमानों की भीड़ लग जाती है। कृष्ण के अलावा आपने राम की भी प्रशंसा की है। आपके राम छवि-धाम, पूर्णकाम, सीता-विहारी, दनुज-दल-संहारी, अवध-भूषण राम हैं।[१]

बाबा सुमेरसिंह जिला आजमगढ़ में निजामाबाद (उत्तरप्रदेश) के रहनेवाले थे और भारतेन्दु के समकालीन थे। आपने भी भगवान् विष्णु और उनके अवतार, राम तथा कृष्ण, दोनों की स्तुति की है। आपने सदना कसाई, गणिका, शबरी और कुब्जा के उद्धारक भगवान् का स्मरण किया है—

> सदना कसाई कौन सुकृत कमाई नाथ,
> मालन के मनके सु फेरे गनिका ने कौन ?
> कौन तप साधना से सवरी ने तुष्ट कियौ,
> सौचाचार कुबरी ने किये कौन सुख भौन ?
> त्यों हरि सुमेर जाप जप्यौ कौन अजामेल,
> गज कौं उबार्‌यौ बार-बार कवि भार्‌यौ तौन।

---

१. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० १४३

एते तुम तारे सुनौ साहब हमारे,
मेरी बार बिरद बिचारै कौन गहि मौन ॥[1]

चौधरी प्रेमनारायण 'प्रेमघन' भी भारतेन्दु के सहयोगी थे। आपने भी मोर-पंख वाले कृष्ण का बड़े भावमय ढंग से स्मरण किया है—

लहरैं मुख पै घनस्याम से केस, इतै सिर मोर पखा फहरैं,
उत गोल कपोलन पै अतिलोल अमोल लली मुक्ता थहरैं।
एहि भाँति सु बद्रीनारायण जु दोऊ देखि रहै जमुना लहरैं,
नित ऐसे सनेह सौं राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं ॥[2]

एक अन्य पद में इन्होंने ही घन के समान द्युतिवाले कृष्ण और दामिनी सी दमकवाली राधारानी, दोनों का ही संग-संग वर्णन किया है।[3] प्रतापनारायण मिश्र ने दुर्गा की स्तुति की है। आपके अनुसार दुर्गा तीनों भुवनों की महारानी है, देवताओं द्वारा सुपूजित है, समस्त जगत् की जननी है। वह एक दुर्गा ही नवीन-नवीन रूप धारण करती है और उसके इस रूप से बड़े-बड़े ज्ञानी मोहित हो जाते हैं।[4] श्री बालमुकुन्द गुप्त ने उन सूर्य-कुल-शिरोमणि राम का स्तवन किया है जो पृथ्वी के दूषणों का नाश करने वाले हैं और जो लीला के लिए नववपु धारण कर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने न केवल ब्रज भाषा में कविता ही की है अपितु उन्होंने भक्तिकाल और रीतिकाल की परम्पराओं को जीवित भी रखा है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'उद्धव-शतक' में कृष्ण और गोपियों का उसी रूप में चित्रण किया है जो भक्ति-काल में मान्य था। श्री मैथिलीशरण गुप्त में भी देव-भावना किसी-न-किसी सीमा तक उसी रूप में विद्यमान है। द्वापर के मंगलाचरण में राम और कृष्ण को भगवान् मानते हुए वे दोनों की एकता का प्रतिपादन भी अपने अनूठे ढंग से करते हैं—

धनुर्बाण वा वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम, दूसरा रंग ॥

उनके अन्य ग्रंथों में भी यह देव-भावना विद्यमान है। अपने ग्रन्थारम्भ में वे राम को ईश्वर रूप में ही स्वीकार करते हैं—

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?

१. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ३५४
२. वही, पृ० ३६५
३. आधुनिक काव्यधारा, पृ० ८४५
४. भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ० ३८८

तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ॥[१]

उनकी यह देव-भावना आगे चल कर मुखरित हो उठी है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि राम के रूप में परमब्रह्म पुरुष का ही अवतार हुआ है और अब पापियों का अन्त एकदम निकट आ गया है—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
... ...
भक्त-वत्सलता इसी का नाम है,
और वह लोकेश लीला-धाम है।
पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को।
... ...
पापियों का जान लो, अब अन्त है,
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है!

गुप्त जी के श्रद्धालु हृदय में नवीन काल का कोई प्रभाव न हो, ऐसी बात नहीं। इस प्रभाव को उनकी रचनाओं में आसानी से ढूँढ़ा जा सकता है। उन्होंने 'पंचवटी' में राम, सीता और लक्ष्मण का चित्रण उदात्त मानवों के रूप में ही किया है। उनके सुखद परिवार की झाँकी दिखलाने का उद्देश्य आदर्श मानव के जीवन का ही चित्रण है। एक स्थान पर तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में देवत्व की अपेक्षा नरत्व को श्रेष्ठतर कहा है—

"मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।"[२]

स्पष्ट है कि देव-भावना की धारा कुछ उसी रूप में और कुछ परिवर्तित रूप में ज्यों की त्यों चलती रही है। विविध आन्दोलनों ने उस भावना को प्रभावित न किया हो, ऐसी बात नहीं। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण को लोकनायक के रूप में चित्रित किया है और राधा को ऐसी सहचरी के रूप में, जो सबके दुःख के लिए अपने सुख की बलि देने को तैयार है। गोवर्धन-धारण की जो उन्होंने नवीन व्याख्या की है उसमें भी आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलक रहा है। उनका कहना है कि उस भयंकर वर्षा के समय ब्रज की रक्षा के लिए कृष्ण जो अहर्निशि सब स्थानों पर घूमते रहे, इससे यह कहा जाने लगा कि मानो उन्होंने ब्रज को अंगुली पर रख लिया है, बचा लिया है—

---

१. साकेत का मंगलचारण-भाग
२. पंचवटी, पृ० १२

भ्रमण ही करते सबने उन्हें,
सकल काल लखा सप्रसन्नता।
रजनि भी उनकी कटती रही,
सविधि रक्षण में ब्रज-लोक के।
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

ईश्वर को मानने वाले अन्य कवियों ने भी उसे अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। उनका ईश्वर उन्हें थके-माँदे मजदूरों और किसानों के रूप में दीख पड़ा है। श्री मुकटधर पाण्डेय के शब्दों में यह परिवर्तित स्वर इस प्रकार सुन पड़ा है—

खोज में हुआ वृथा हैरान, यहाँ ही था तू हे भगवान।
दीन हीन के अश्रुनीर में, पतितों की परिताप-पीर में॥
सरल स्वभाव कृषक के हल में, श्रम-सीकर से सिंचित धन में।
तेरा मिला प्रमाण![1]

कहने का भाव यह है कि इस संघर्षपूर्ण आधुनिक काल में भी देव-भावना का स्वर एकदम दब नहीं गया है। आधुनिक युग के प्रभाव और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण इस युग के कवियों ने राम और कृष्ण के जीवन की सब घटनाओं को उसी पौराणिक रूप में स्वीकार करते हुए भी उनकी व्याख्या कुछ नवीन ढंग से की है। श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय में इस नवीन दृष्टिकोण को आसानी से देखा जा सकता है।

मध्यकालीन हिंदी-साहित्य में चित्रित कुछ अन्य प्रमुख देवी-देवता

राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा में हम इन आराध्य देवी-देवताओं के स्वरूप का चित्रण कर आये हैं। वहीं पर 'अन्य देवी-देवता' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ ऐसे देवों का भी उल्लेख किया गया है जिनका उन शाखाओं में किसी-न-किसी ढंग से चित्रण हुआ है। यहाँ हम उन देवों और देवियों के स्वरूप का चित्रण कर रहे हैं जो हिन्दी-साहित्य में आराध्य के रूप में स्वीकृत हैं। इस प्रकार के देवों की संख्या बहुत है। जिस देश में बीमारी की भी देवियाँ हों, वहाँ संख्या का बढ़ जाना स्वाभाविक ही है। स्थानाभाव के कारण सभी का चित्रण हमारे लिए संभव नहीं। हमने यहाँ उन्हीं देवों के स्वरूप का उल्लेख किया है जो अत्यधिक लोक-प्रसिद्ध रहे हैं और जिनका उल्लेख अधिकांश कवियों की रचनाओं में मिलता है।

---

१. आधुनिक काव्य-धारा, पृ० १५२

इन्द्र

पौराणिक काल तक आते-आते इन्द्र अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा खो चुके थे, इसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। यों कहने भर को तो देवताओं के राजा हैं पर संभवतः कोई भी ऐसी मानवीय दुर्बलता नहीं है कि जिसके वे शिकार न हों। उनमें पर-स्त्री-गामिता एक ऐसा दोष है कि जिसका उल्लेख हिन्दी-साहित्य के बहुत से कवियों ने किया है। कहा गया है कि वे सुरपति गौतम की नारी को देखते ही कामातुर हो गये और अपना विवेक खो बैठे। प्रातःकाल जब गौतम स्नानार्थ नदी पर जाते हैं तो इन्द्र गौतम का रूप धारण कर अहल्या (गौतम-पत्नी) के पास जाते हैं। वे अपनी इस कुचेष्टा में सफल भी नहीं हुए थे कि गौतम नदी से लौट आते हैं, सारी बातें जानकर उन्हें सहस्रभग होने का शाप देते हैं। इस शाप को पाकर इन्द्र बहुत दिनों तक तो कमल की नाल में छिपे रहते हैं फिर सुरगुरु की कृपा से प्रयाग में स्नान कर 'सहस्र-भग' के स्थान पर 'सहस्रनेत्र' का रूप पाते हैं।[1]

गोवर्धन-पूजा के प्रसंग में भी इन्द्र की पराजय का उल्लेख मिलता है। किसी समय ब्रज में इन्द्र की पूजा होती थी। यशोदा का विश्वास था कि ब्रज की समस्त सिद्धि का श्रेय इन्द्र को ही है और पुत्र-प्राप्ति भी उसी की कृपा का फल है। वह और नन्द, दोनों इस उत्सव को मनाने की तैयारी करते हैं। वर्ष-भर में एक बार आने वाले इस दिवस पर वे धूमधाम चाहते हैं, पर कृष्ण इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन की पूजा का आयोजन करते हैं। इन्द्र की ठकुराई मिटाकर गोवर्धन के सिर पर तिलक चढ़ाया जाता है। इन्द्र क्रुद्ध हो उठते हैं। वे संकल्प करते हैं कि वे इस गोवर्धन पर्वत का समूल विनाश कर देंगे और ब्रज को पानी में बहा देंगे। फिर क्या था, बादल पूरे वेग से बरसने लगते हैं, ब्रजवासी डरते हैं। ब्रज के उद्धार के लिए कृष्ण गोवर्धन को उठा लेते हैं, उसे बायीं उंगली पर टिका लेते हैं और अन्त में इन्द्र अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं।[2] जो इन्द्र किसी समय देवों में सर्वोत्तम थे, वे ही अब अपनी पराजय स्वीकार कर कृष्ण के चरणों में सिर नवाते हैं।

> सुरपति चरन पर्‌यौ गहि धाइ।
> जुग गुन छोड़ सेस-गुन जान्यौ, आयौ सरन राखि सुरनाइ।
> तुम बिसरे तुम्हरी ही माया, तुम बिनु नाहीं और सहाइ॥
> सरन सरन पुनि पुनि कहि कहि मोहि, राखि राखि त्रिभुवन के राइ॥[3]

तुलसी के यहाँ भी इन्द्र का स्थान सम्मान-योग्य नहीं है। उन्होंने यद्यपि उनकी परस्त्री-गामिता का वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं किया, फिर भी राम द्वारा अहल्या के

---

१. सू० सा०, भाग १, (स० सं०), पृ० १६१
२. वही, भाग १, पृ० ५४२-६६
३. वही, भाग १, पृ० ५९६

उद्धार के प्रसंग पर उसकी ओर संकेत अवश्य कर दिया है।[1] राम के राज्याभिषेक के समय सब प्रसन्न हैं पर देवता मन-ही-मन कुछ और मना रहे हैं। उन्हें ये बाजे उसी तरह अच्छे नहीं लगते जैसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती। वे चाहते हैं कि किसी तरह राम वन को जायँ और उनका कार्य सिद्ध हो—

तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चाँदिनि राति न भावा॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं॥
बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुरकाजु॥[2]

स्पष्ट है कि देवताओं का सरस्वती से यह अनुरोध इन्द्र की प्रेरणा पर ही है।

इन्द्र का यह घोर स्वार्थी रूप एक बार फिर सामने आता है। राम और भरत के स्नेह को देखकर इन्द्र फिर सोच में पड़ जाते हैं। उनके मन में शंका होती है कि कहीं भरत के अनुरोध पर राम अयोध्या न लौट आवें और उनका बना-बनाया काम फिर बिगड़ जाय। इस बार वे सरस्वती की शरण में न जाकर अपने गुरु बृहस्पति की शरण में जाते हैं। उनकी बात सुन कर बृहस्पति उन्हें (इन्द्र को) महामूर्ख समझने लगते हैं। जो मायापति के साथ माया का प्रयोग करे, उसे महामूर्ख न कहा जाय तो क्या कहा जाय? बृहस्पति जैसे-तैसे अपने इस मूर्ख शिष्य को समझाते हैं तब कहीं जाकर उसे कुछ समझ में आता है।[3] इसी प्रसंग में आगे चलकर तुलसी ने देवताओं को स्वार्थी और मैले मन वाला कहा है। इन्द्र भी कुचाल करते हैं और सोच में पड़ते हैं—

सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाटु॥
करि कुचालि सोचत सुर राजू। भरत हाथ सबु काजु अकाजू॥[4]

लंका-युद्ध समाप्त होने पर इन्द्र राम के पास आते हैं जैसे कोई विनयावनत सामन्त आता है। वे आकर राम से कुछ करने के लिए इन शब्दों में आज्ञा माँगते हैं—

अब करि कृपा बिलोक मोहि, आयसु देहु कृपाल।[5]

अन्य कवियों की रचनाओं में भी इन्द्र का उल्लेख है पर आराध्य देव के रूप

---

१. रा० च० मा०, पृ० २१९-२० (गीता प्रेस)
२. वही, पृ० ३२२
३. वही, पृ० ५७७-७८
४. वही, पृ० ६५३
५. वही, पृ० १००२

में नहीं। यह उल्लेख प्रसंगवश ही हुआ है, कहीं किसी से उपमा देने के लिए और कहीं किसी अन्य उद्देश्य से। पर फिर भी इनसे इतना तो पता लग ही जाता है कि उनका पुराना पौराणिक रूप लुप्त नहीं हो गया है। भूषण ने भी कहा है कि जिस प्रकार पर्वतों पर इन्द्र का दावा है उसी प्रकार सारी बादशाही पर शिवराज का दावा है—

दावा पुरहूत कौ पहारन के कुल पर।[१]

एक अन्य स्थान पर शिवाजी के यश की धवलिमा की उपमा इन्द्र लोक के ऐरावत गज से दी गयी है—

ऐरावत गज सौ तो इन्द्र लोक सुनिए।

गणेश

गणेश इस काल के प्रमुख देवताओं में से एक हैं। किसी शुभ कार्य के आरम्भ में उनकी पूजा आवश्यक मानी जाती है। भूषण का विश्वास है कि गणेश पाप-तरु के भंजन करनेवाले और विघ्नों के गढ़ के नाशक और जगत् के मन का रंजन करने वाले हैं—

पाप तरु भंजन, विघन गढ़गंजन
जगत मन रंजन द्विरद-मुख गाइये ॥[२]

मतिराम का भी विचार है कि गजमुख गणेश साधु जनों को सुख देने वाले हैं, दानी हैं, उदार हैं और सबके द्वारा सेव्य हैं—

सुखद साधुगन को सदा गज मुख दानि उदार।
सेवनीय सब जगत को, जग मा बाप कुमार ॥[३]

कवि दास द्वारा की गयी गणेश की यह स्तुति दर्शनीय है—

एक दन्त द्वै मातु त्रिचख चौ बाहु पंच कर,
षट आननवर बन्धु सेव्य सप्ताचि भलंधर।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि, दानि दस दिसि जस बिस्तर,
रुद्र गियारह सुभद, द्वादशादित्य ओजवर ॥[४]

वीर कवि ने 'सुदामा-चरित्र' नामक अपने ग्रन्थ में गणेश को संकटहरण, विघ्न-नाशन, संतों के सुखदाता, जगत् के मंगल-कर्ता और अशरण को शरण देनेवाले कहा है—

---

१. शिवा-बावनी, पद ३३
२. शिवराजभूषण, पद १ (मंगलाचरण)
३. मतिराम की विचारधार पृ० १५३
४. रीतिकाव्य-संग्रह, पृ० २२१

सुमुख एकरद कपिल ईश गज करण दानिपति
लम्बोदर अस विकट विघ्न नाशन गणाधिपति,
धूम्रकेतु गणनाथ गौरिसुत भाल चंद्रवर
बारण बदन प्रसिद्ध करण, सिद्धिदायक संकटहरण,
कहे 'वीर' जगत मंगलकरण वक्र तुंड कलिमल-हरण,
द्वार संतसंतनि सुखद सुजै जै अशरण शरण ।।[१]

छत्र कवि विजयमुक्तावली नामक ग्रन्थ में विघ्नहरण गणपति से सहायक होने की प्रार्थना करते हैं—

विघन हरण तुम हो सदा, गणपति होउ सहाइ ।
विनती कर जोरे करौं, दीजै ग्रन्थ बनाइ ।।[२]

शक्ति

सन्त-मत और वैष्णव-मत पर तान्त्रिक प्रभाव की चर्चा करते हुए हम चतुर्थ अध्याय में शक्ति और शक्तिमान् के अभेद की चर्चा कर चुके हैं। हम यह भी कह आये हैं कि वैष्णव काव्य में सीता और राधा आद्य शक्ति रूप में गृहीत हुई हैं और इस प्रकार शक्ति के स्वतंत्र सत्ता के रूप में वर्णनों की कमी का आ जाना एकदम स्वाभाविक ही था। फिर भी कितने ही कवियों ने शक्ति की आराधना में बहुत सुन्दर पद कहे हैं। भूषण मधु-कैटभ को छलनेवाली, महिषासुर का विमर्दन करने वाली, चंड और मुंड जैसे राक्षसों की विनाशिका, शुंभ-निशुंभ का हनन करनेवाली चंडी या शक्तिदेवी की आराधना इन शब्दों में करते हैं—

जै जयति आदि सकति जै कालि कपर्दिनि,
जै मधु कैटभदलनि देवि जै जै महिष-विमर्दिनि ।
जै चमुंड जै चंड मुंड भंडासुर-खंडिनि,
जै सुखद जै रक्त बीज बिडाल-बिहंडिनि ।
जै जै निसुंभ सुंभदलनि, भनि भूषन जै जै भननि,
सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि, विजै जै जग-जननि ।।[३]

मतिराम अपने लंपट और लुब्ध मन को इधर-उधर से रोक कर भवानी की आराधना में लगने को कहते हैं—

पियुष पयोधि महँ मननि सों बद्ध भूमि,
रोध सौं रुचिर रुचि रोचक सो खनन में ।

---

१. सुदामा-चरित्र, १
२. विजय-ग्रन्थावली, पद १
३. शिवराज-भूषण, पद २

कामतरु बिपिन कदम्ब उपवन सीरी,
सुरभि पवन डोलै मृदु सी गवन में।
चिंतामनि मंडप बिराजै जगदम्ब सदा,
सावधान 'मतिराम' सेवक सबन में।
लंपट लुबुध मन भव में भवंत कहाँ,
करि भूरि भावना भवानी के भवन में ।।[१]

गुरु गोविंदसिंह-कृत 'चंडी-स्तुति' तो हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध ही है। उन्होंने विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय देवी से ही विजय की याचना की है। उन का एक ही पद पर्याप्त होगा—

आदि अपार अलेख अनन्त अकाल अभेख अलंकृत नासा,
कै सिवसक्ति दुए स्रुतिचार रजोतम सत्त तिहूँ पुर वासा।
द्यौस निसा ससि सूर कै दीप सु सृष्टि रची पँच तत्त प्रकासा,
बैर बढ़ाइ लराइ सुरासुर आपहि देखत बैठि तमासा ।।

गंगा

ऋग्वेद के नदी-सूक्त में इसका नाम केवल एक बार आया है, अन्य वेदों में इसका नाम नहीं। शतपथ ब्राह्मण में दुष्यन्त के पुत्र भरत की विजय के सम्बन्ध में इसका उल्लेख है। कात्यायन श्रौतसूत्र में परिगमन मन्त्रों के सम्बन्ध में 'गवा-गमन निरूपण' प्रकरण में इसका उल्लेख है।[२] एक गृह्यसूत्र में सीमन्त-प्रकरण में जो मंत्र पढ़ा जाता है उसमें इसकी चर्चा है। पुराणों में इसकी पावनता की स्थान-स्थान पर चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि उसे स्वर्ग से लाने के लिए भगीरथ कठोर तप करते हैं, उनकी प्रार्थना पर शिवजी इसे अपने सिर पर धारण करते हैं, इसके जल का शरीर की राख के साथ स्पर्श होते ही सगर के पुत्र जीवित हो उठते हैं और उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[३]

इसी पुराण में गंगा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब राजा बलि की यज्ञशाला में साक्षत् यज्ञमूर्ति भगवान् विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के लिए अपना पैर उठाया, तब उनके बायें पैर के अँगुठे के नख से ब्रह्माण्ड-कटह का ऊपर का भाग फट गया। उस छिद्र में से होकर जो ब्रह्माण्ड से बाहर जल की धारा आयी वह उस चरण-कमल को धोने से उसमें लगी केसर के मिलने से लाल हो गई। इसी से उसका पहला नाम भागवत पदी है। पहले यह धारा स्वर्ग के शिरो-भाग में स्थित

---

१. मतिराम की विचारधारा, पृ० १५३
२. कायाकल्प, अ० १३, कं० ४, सूत्र २६
३. भागवत, ६।६।१-१२

हैं ध्रुवलोक में उतरी जिसे विष्णु-पद भी कहते हैं । वहाँ से आकाश में होती हुई मेरु के शिखर पर ब्रह्मपुरी में गिरती है ।[1]

सूरदास का कहना है कि ब्रह्म के तप के फलस्वरूप गंगा का पृथ्वी पर आगमन सन्तों को सुख देने के लिए हुआ है—

परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथहि भव्य वरदेन ।
सूरजदास विधाता के तप प्रगट भई संतन सुख देन ।[2]

जो किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सके, उन्हें मुक्त करना ही इनका उद्देश्य है—

जा हित प्रगट करी करुनामय, भगतिन कौ गति देनी ।[3]

तुलसीदास ने भी इसी पूज्य भाव के साथ इसकी स्तुति की है । उनके अनुसार यह मुनियों के समूह-रूपी चकोरों के लिए चन्द्रिका-रूप है । मनुष्य, नाग और देवता इसकी वन्दना करते हैं । यह जह्नु की पुत्री है और विष्णु के चरण-कमल से उत्पन्न हुई है । शिवजी के मस्तक की शोभा बढ़ाने वाली है और स्वर्ग, पृथ्वीलोक तथा पाताल, इन तीनों लोकों में बहने वाली है । इसका अगाध निर्मल जल शीतल तो है ही, तीनों पापों को हरने वाला भी है, भंजन-भव-भार है ।[4] अगले पद में उनका कहना है कि जो यक्ष, गन्धर्व, मुनि, किन्नर, नाग, दैत्य और मनुष्य अपनी पत्नियों-सहित इसमें स्नान करते हैं वे अनन्त पुण्य के भागी बनते हैं । यह स्वर्ग की सीढ़ी है और ज्ञान-विज्ञान प्रदान करने वाली है ।[5] कवि का यह भी कहना है कि घोर कलियुग में गंगा ही भवसागर से पार करानेवाली है । यदि यह गंगा न होती तो घोर कलियुग न जाने क्या-क्या अनर्थ करता ?

तो बिनु जगदंब गंग, कलि जुग का करित ?
घोर भव अपार सिन्धु तुलसी किमि तरित ।[6]

रसखान का कहना है कि जो लाभ वैद्य की औषधि खाने और संयम से नहीं होता, वही लाभ केवल गंगा के जल-पान से हो जाता है । शिव की जो भी महिमा है वह गंगा के कारण ही है—

बैद की औसधि खाइ कछू, न करै वह संजम री सुनि मोसें ।
तो जल पानि कियौ रसखानि, सँजीवन जानि लियौ सुख तो सें ।।

---

१. भागवत, ५।१७।१-४
२. सूरसागर, भाग, १ पद, ४५६ पृ० १६० (म०मं०)
३. वही, पृ० १६६
४. विनयपत्रिका, पद १७
५. वही, पद १८,
६. वही, पद १९

ए री सुधामयी भागीरथी, सब पथ्य कुपथ्य बनें तोहि पोसें।
आक धतूरौ चबात फिरैं, विष खात फिरैं, सिव तोहि भरोसें ॥[१]

सेनापति के हृदय में गंगा के प्रति अपार श्रद्धा है। उसकी दृष्टि में सुर-सरि का नीर जिह्वा की पवित्रता के लिए अवलेह का काम करता है और देह को पवित्र करता है—

लेह देह करि कै, पुनीति करि लेह देह,
जीभै अवलेह देह सुरसरि नीर कौ।[२]

उनका कहना है कि कलिकाल में बढ़ते हुए पाप को रोकने का एकमात्र उपाय गंगा की शरण में जाना है। यदि शिवजी कालकूट-जैसे भयंकर विष को पचा गए तो यह गंगा का ही प्रताप है। इसी कारण कवि चाहता है कि जैसे भी हो कि उससे गंगा के चरण कभी न छूटें, वह उन्हीं में पड़ा रहे—

यह कलिकाल बढ्यौ दुरित कराल, देखि,
आइ दुचिताई, सुचिताई सब लूटहीं।
हम तप हीन, जाइ तरैं कत दीन, तोसी,
दूसरी नदी न, देखि फिरै चहुँ खूटहीं।
सेनापति सिव-सिर-संगिनी, तरंगिनी तू,
तोहि अचवत पचवत कालकूट हीं।
तजि कै अपाई, नीर बसैं सुखपाई, गंगा,
कीजे सो उपाइ, तेरे पाइ ज्यों न छूटहीं ॥[३]

गंगा की महिमा अपरम्पार है। उसके दो-एक कण पी लेने भर से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं और ओक भर पी लेने से यमराज के लोक पर विजय मिल जाती है—

थोक नसें पापन के, दोक जल-कन चाखें,
ओक भरि पियें लोक जीतैं जमराज के।[४]

पद्माकर कवि ने तो गंगा की स्तुति में अपना पूरा हृदय ही खोल कर रख दिया है। उनकी दृष्टि में गंगा चारों फलों को देने वाली है। उनका कहना है कि कर्म का मूल शरीर है—शरीर का मूल जीवन और आनन्द है। आनन्द का मूल राजा की कृपा है, राजा की मूल प्रजा है, प्रजा का अन्न, अन्न का मेघ और धर्म का

१. रसखान-सुधा, पृ० ५०
२. क० र०, पद १२, तरंग ५
३. क० र०, पद ५१, तरंग ५
४. वही, पद ५४ तरंग ५

मूल गंगा है।[१] गंगा की महिमा ही कुछ ऐसी है, कि उससे बड़े-बड़े पातकियों के पाप धुल जाते हैं। गंगा के कारण नरक में पापियों का आना बन्द हो गया है। कोई काम न रहने से यमराज खाली बैठे हैं और वे चित्रगुप्त को नरक बन्द कर देने का आदेश देते हैं। अब उन्हें किसी पापी का हिसाब-किताब रहने की जरूरत नहीं—

देखु यह देव नदी कीन्हे सब देव, या तें
दूतन बुलाइ के बिदा के बेगी पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान दै, बही को बहि जान दै।[२]

उनका विश्वास है कि जो एक बार इसकी धारा में स्नान कर लेता है उसके सारे पाप स्वत: ही दूर हो जाते हैं। जो अपने मुख से एक बार भी गंगा का नाम ले लेता है उसके मुख में अमृत का वास हो जाता है। जहाँ-जहाँ गंगा की धूल पड़ जाती है वहाँ पापों का नाश हो जाता है, वे धूल में मिल जाते हैं—

जहाँ-जहाँ मैया तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है।[३]

गंगा ने असंख्य पापियों को पार उतार दिया है। जितने पापियों को गंगा ने पार उतारा है, उतने पापियों को किसी ने भी नहीं उतारा—

काहू ने न तारे तिन्हें गंगा तुम तारे, और
जैते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं।

कवि गदाधर का विश्वास है कि पृथ्वी पर गंगा के आगमन का उद्देश्य विश्व की मुक्ति है—

श्री गंगा जगतारन को आई।
पापी दुष्ट अजामिल गणिका पतित परम गति पाई।[४]

यमुना

तैत्तिरीय आरण्यक में उन लोगों को विशेष महत्त्व दिया गया है जो गंगा और यमुना के बीच में रहते है। इसमें यमुना में पावनता की भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। पुराणों में इस नदी को पवित्र माना गया है।[५] इसकी उत्पत्ति हिमालय की गोद

१. पद्माकर-पराग पद ४, पृ० २ (सं० : दुर्गाप्रसाद गुप्त एम० ए०) ; गया प्रसाद एण्ड संस, आगरा (४ थं संस्करण)
२. प० प०, २ पद ६, (पद्मपराग)
३. वही, पद ६, पृ० ४
४. म० का० सा० अब०, पृ० ६१५
५. भागवत, ५।१९।१८

से हुई है। इसे महानदी भी कहा है। वैवस्वत मनु ने सन्तान के लिए इसी के किनारे तपस्या की थी, भरत ने अश्वमेध यज्ञ भी इसी के किनारे किया था। वह मधुवन, भी, जहाँ कृष्ण बलराम तथा अन्य सखाओं के साथ खेला करते थे, वृन्दावन के निकट इसी के किनारे पर है। कात्यायनी-व्रत के समय गोपियाँ (गोप-बालाएँ) इसी में स्नान करती थीं। अक्रूर जब कृष्ण और बलराम को लिवा लाने के लिए आये थे, तब उन्होंने यहीं स्नान किया था और स्नान करते समय उन्होंने शेष भगवान् के दर्शन किये थे। श्राद्ध के लिए यह पवित्र मानी जाती है। प्रयाग का प्रसिद्ध तीर्थ इसी के तट पर स्थित है।[1]

इसका जैसा वर्णन पुराणों में है लगभग वैसा ही मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में भी है। सभी कवियों ने इसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इसे भक्तों की उद्धारिका कहा गया है। नन्ददास का कहना है कि निज धाम को छोड़ कर यमुना का इस भूतल पर आना भक्तों पर कृपा के लिए है—

भक्त पर करी कृपा श्री जमुना जू ऐसी।
छाँड़ि निज धाम विश्राम भूतल कियौ प्रगट लीला दिखाई हो तैसी।
परम परमारथ करत है सबन को, देति अद्‌भुत रूप माप जैसी।।[2]

एक अन्य पद में कहा गया है कि यमुनाजी का वर्णन कौन कर सकता है? वह ब्रज-चन्द कृष्ण के मन को आनन्द देने वाली है। इसके अवतार का हेतु भक्तों पर कृपा करना है—

कौन पै जात जमुना जी वरणी।
सब दिन को मन मोहन हरत सो प्रिय को मन ए जो हरणी।
इन बिन एक क्षण रहे न जीवन धन्य ब्रज चन्द मन आनँद करणी।।
श्री विठ्ठल गिरिधरण सहित आप भक्त के हेत अवतार धरणी।।[3]

तुलसीदास का कहना है कि यमुना ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों पुण्य रूपी योद्धागण कलियुग रूपी राजा का निरादर करते हुए उसे बाहर निकालने लगे हैं। वर्षा-ऋतु में जल बढ़कर ज्यों-ज्यों कृष्णवर्ण होता गया, त्यों-त्यों यमदूतों का मुख भी काला होता गया। उनका कहना है कि यमुना के बढ़ते ही पुण्य रूपी मेघ ने संसार के पाप-रूपी जवासे को जलाकर भस्म कर डाला—

जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।
त्यों-त्यों सुकृत-सुभट कलि भूपनि, निदरि लग बहु काढ़न।।

---

१. पुराण इंडेक्स, पृ० १६-१७
२. नन्ददास-ग्रन्थावली, पद १४, (ना० प्र० स० काशी), पृ० २२८
३. राग-कल्पद्रुम, जि० २, पद ३३, पृ० १०६

ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों-त्यों जमगन मुख मलीन लहैं आढ़न ।
तुलसी दास जग अघ जवास ज्यों अनघमेघ लगे डाढ़न ।।[१]

घनानन्द का विचार है कि यमुना का यश इतना अधिक है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता । उसका जल करुणा से परिपूर्ण है । उसके दर्शन और स्पर्श से पूर्ण पद की प्राप्ति होती है। जो यमुना को देख लेता है उसे फिर यम को देखने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता, उसकी मुक्ति हो जाती है—

जमुना-महिमा बेद बखानै । सप्त सिन्धु मेदिनि जग जानै ।
जमुना जल करुना रस रैनी । दरस परस पूरन पद दैनी ।।
जमुना देखि न देखै जम कौ । भानकुँवरि मेटति दुखतम को ।
जमुना जलहि सहज जू पियै । भव दव ताप न व्यापति हियै ।।[२]

उनके अनुसार यमुना मंगलकारिणी है, विविध फंदों को दूर करने वाली है, तम और ताप को दूर करने वाली है । कि बहुना, वह जग-जननी है, और जग से पार उतारने वाली है—

जै जमुना मंगल कारिनी ।
जमानुजा तमतापहारिनी, विविध फंद निखारिनी ।
... ...
... ...
देखी कहौं सुनी आगे हूँ जग जननी जग तारिनी ।
देखै बनै कहत क्यों भावै, महिमा अमित अपारिनी ।
आनंद रस-रस रासि-रसीली, नीरसता-अघ-हारिनी ।।[३]

सरस्वती

नदी के रूप में ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में इसका उल्लेख है । श्रौतसूत्रों—कात्यायन, लाटायन, आश्वलायन, सांख्यायन—में इसके तट पर दी जाने वाली बलि का बहुत महत्त्व बताया गया है । तैत्तिरीय संहिता, पंचविंश ब्राह्मण, कौशीतकी ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसका उल्लेख है ।[४] पुराणों में विश्वरूपा, ब्रह्मा की मानस पुत्री और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप में इसका चित्रण किया गया है ।[५] परवर्ती हिन्दी-साहित्य में भी इसे समस्त कलाओं तथा विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित किया गया है ।

---

१. विनय-पत्रिका, पद २१
२. घन आनन्द, पद ३१-४, पृ० १८३
३. घन आनन्द, पद ४७०, पृ० ४३९
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ४३४
५. पुराण इण्डेक्स, भाग ३, पृ० ५५३

तुलसीदास ने इसका चित्रण इसी रूप में किया है। भरत को राम-भक्ति से आपूरित और राम को भरत के स्नेह के वश में देखकर देवता स्वार्थवश सोच में पड़ जाते हैं। वे चाहते हैं कि किसी प्रकार कुछ प्रपंच रचा जाय और इस उद्देश्य से वे विद्या की अधिष्ठात्री शारदा (सरस्वती) का स्मरण करते हैं और उसकी स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं कि किसी प्रकार वे भरतजी की बुद्धि को फेर दें—

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देविदेव सरनागत पाही॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुध कुल करि छल छाया॥[१]

रहीमका कहना है कि सरस्वती देवी की वन्दना करने से कोई दोष नहीं लगता। वे इसीलिए ग्रन्थारम्भ में उसकी वन्दना करते हैं—

बन्दौं देवि सरदवा, पद कर जोरि,
बरनत काव्य बरववा, लगइ न खोरि।[२]

वीर कवि के अनुसार सरस्वती जगत् की माता तो है ही, मोद और बुद्धि को देनेवाली भी है—

सो जगमाता बंदि है बुद्धि अरु मोद कर।
मेटी स्वई पर पीर दानव सकल संहार कर॥
... ...
लसत ललित आभावली, उपजावत आनन्द।
सुन्दर लसत सरोज से, चरण बंदि जग चंद॥
तहाँ तहाँ मारावरी जहँ पढ़ि गाये संत।
बुधिदायक तब होहु जो, जहाँ नहिं बुधिवंत॥[३]

मान कवि ने अनेक पदों में सरस्वती की स्तुति की है और उन पदों की टेक है—अद्भुत अनूप मराल भासनि, जयति जय जगतारनी।[४]

हिंदी-साहित्य की देव-भावना की सामान्य विशेषताएँ

प्रतिमा-पूजन—पौराणिक काल के समान प्रतिमा-पूजन इस काल में भी खूब प्रचलित था। उसमें कुछ वृद्धि ही हुई थी, कमी नहीं। अधिकांश कवियों को देव का साकार रूप ही मान्य था। निराकार और निर्गुण में उनकी वृत्ति ही नहीं रमती थी। प्रतिमा को स्नान कराना, पुष्प, चन्दन और अक्षत आदि द्वारा उसकी अर्चा करना, शृंगार के विविध उपकरणों से उसे सजाना, सुलाना, जगाना, भोग लगाना और चरणा-

---

१. रा० च० मा०, अयो० कां०, पृ० ६५२ (गीताप्रेस)
२. री० का० सं०, पृ० १५८, (रीति-काव्य-संग्रह)
३. सुदामा-चरित्र, पद ३, ४
४. राजविलास, छन्द ११ से ३१

मृत लेना, इन बातों की ओर भक्तों का ध्यान रहता है। इस काल में राम और कृष्ण को लेकर जितनी शाखाएँ प्रचलित हुईं उन सब में बाह्य विधान की प्रतिष्ठा अधिक रही। छापा और तिलक तक के विविध भेदों के आधार पर पृथक् मतों की स्थापना हुई। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बाह्य विधान ही सब कुछ रह गये। अब भक्त ने घट-घट में व्यापक भगवान् का अपने ही अन्दर दर्शन बन्द कर दिया था। अब उनके भगवान् मन्दिरों तक सीमित रह गये हैं।

भक्ति का महत्त्व—इस काल में भक्ति की प्रबलता के सामने ज्ञान का पक्ष तो निर्बल पड़ ही गया था, अपितु भक्ति ही जीवन के लक्ष्य रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। किसी समय भक्ति साधन थी, पर अब वह साध्य बन गई थी। इनके जीवन का लक्ष्य न मुक्ति है और न भुक्ति। तुलसीदास के शब्दों में भक्त तो केवल भक्ति माँगता है—

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

... ...

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन॥

यही स्थिति कृष्ण-भक्त कवियों की भी है। उन्हें भी भक्ति के सामने सब-कुछ हेय प्रतीत होता है—

भजनानन्द अली हमें प्यारौ। ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारौ॥

'जीवन का लक्ष्य' नामक शीर्षक के अन्तर्गत हमने राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा के अध्यायों में इस विषयक बहुत से उदाहरण दिये हैं।

प्रपत्ति की भावना—किसी-न-किसी रूप में यह भावना सभी कवियों में पायी जाती है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राम की नगरी में अभय-ही-अभय है। यदि कोई राखनहारा है तो वह राम ही है—

मेरे राम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा।

... ...

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई।

तुलसी में प्रपत्ति के शतशः उदाहरण आसानी से ढूँढ़े जा सकते हैं। उनके लिए भगवान् ही शरण्य हैं। जो कुछ वे कर सकते हैं वह यज्ञ, तप और व्रत किसी से भी से भी संभव नहीं।

जहाँ तक सूर और अन्य पुष्टिमार्गीय कवियों की देव-भावना का प्रश्न है उनके यहाँ तो प्रपत्ति का महत्त्व सर्व-विदित है। अष्टम अध्याय में इस विषय के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके हैं।

माधुर्यभाव की प्रचुरता—यद्यपि इस काल में आत्म-निवेदन में कवियों ने

अपनी दीनता, हीनता और अन्य अवगुणों को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है पर कुल मिलाकर माधुर्यभाव की प्रधानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वल्लभाचार्य के अनुयायियों में आरम्भ में यद्यपि बाल-भाव की पूजा का विधान था, सख्य-भाव का चित्रण भी वहाँ विद्यमान है, पर धीरे-धीरे अनेक कारणों से माधुर्यभाव या कान्तासक्ति-भाव की प्रबलता हो गयी। राम-भक्ति शाखा में रसिक भाव से पूजा करने वालों की संख्या किसी भी तरह नगण्य नहीं रही। राधा को सर्वस्व मानकर चलनेवालों में तो इस भाव का होना स्वाभाविक ही है। किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति निराग्रही बिहारी-जैसे कवि ने मंगलाचरण में राधा से ही भव-बाधा-हरण की प्रार्थना की है। ईश्वर को निर्गुण मान कर चलने वाले कबीर और जायसी में भी जो इतनी पीर है उसका कारण भी यही है।

निवृत्ति का भावना—इस समय के सभी कवियों ने संसार को अनित्य कहा है। उनकी दृष्टि में यह संसार माया-जाल है। इस माया-जाल के प्रतीक हैं धन और नारी, और इन कवियों ने इन दोनों ही से वितृष्णा का उपदेश दिया है। नारी की जो इतनी अधिक निन्दा की गयी है, उसे सर्पिणी से भी अधिक विषकारिणी कहा गया है, उसका कारण जन-मानस में वैराग्य-भावना की सृष्टि करना है।

पौराणिक काल से तुलना—इस देव-भावना का पौराणिक काल से इतना अधिक साम्य है कि उसमें अन्तर कर सकना कठिन है। सभी कवियों पर यह पौराणिक प्रभाव एकदम स्पष्ट है। निर्गुण कवियों ने भी भगवान् के उन नामों का उल्लेख किया है जिनके साथ पौराणिक कथाओं का सम्बन्ध है। ऊपर हमने जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे सब भी पौराणिक काल की ही विशेषताएँ हैं।

वैषम्य—वेदों का निषेध—आर्यों में वेदों का बड़ा महत्त्व है। श्रद्धालु जनों के के लिए यह ज्ञान अपौरुषेय है अतः इसका स्वतःप्रामाण्य है। इस ज्ञान को परमेश्वर ने चार ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकट किया था और आज भी वह अपने उसी दिव्य रूप में आर्यजन का पथ-प्रदर्शक माना जाता है। पर इस युग में स्थान-स्थान पर उसका खण्डन है। कबीर स्वानुभूति में विश्वास रखते थे, पुस्तकीय ज्ञान में फँसना उन्हें पसन्द नहीं था। वे जिस परम्परा में पोषित हुए थे उसमें वेद-प्रामाण्य की अस्वीकृति आश्चर्य का विषय नहीं। पर सूरदास और उनके समकालीन वैष्णवों ने भी वेद-मार्ग का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में गोपियाँ केवल इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि वे वेद-मार्ग और आर्य-पंथ को छोड़कर कृष्ण-प्रेम-मत्त हो गईं। तुलसी ने यद्यपि वेदों का खण्डन नहीं किया, तथापि उनके काव्य पर उसका प्रभाव कम ही है।

नाम में अन्तर—राम और कृष्ण, विष्णु के ही रूप हैं। वे अलग-अलग न होकर एक ही हैं यह पीछे दिखाया चुका है। यह भी स्पष्ट है कि राम और कृष्ण को लेकर चलनेवाले सभी मत अपने को वैष्णव कहते हैं। ये वैष्णव अपने मत का उद्‌गम वेदों से मानते हैं। वेदों में विष्णु के नाम का उल्लेख भी है चाहे वह सूर्य का ही वाचक है। पर हिन्दी-साहित्य में विष्णु के नाम का उल्लेख बहुत कम है। रामानुजा-

चार्य ने नारायण नाम से विष्णु की पूजा का प्रचलन किया था सही, पर वह नाम साधुओं तक ही सीमित रह गया। इस समय जो नाम प्रचलित हुए, वे राम और कृष्ण के ही हैं। तुलसी ने तो राम नाम की महत्ता इन शब्दों में व्यक्त की है—

जदपि प्रभू के नाम अनेका। स्रुति कह अधिक एक ते एका।।
राम सकल नामहु ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका।।

सूर में यद्यपि कृष्ण के उन नामों का भी कहीं-कहीं उल्लेख है जो पहले विष्णु के वाचक थे पर फिर भी कवि ने उनका प्रयोग कृष्ण के सम्बन्ध के कारण ही किया है इसमें सन्देह नहीं। सूर और उनके सहयोगियों की चित्तवृत्ति जिस रूप में रमी है वह गोकुलवासी माखन-चोर कन्हैया काही रूप है। उन्हें जो नाम पसन्द है वह कृष्ण का ही है।

वैदिक काल से तुलना—पौराणिक काल के प्रकरण में हम वैदिक काल और पौराणिक काल में जो अन्तर दिखा आये हैं लगभग वही अन्तर काल में भी है। जहाँ तक साम्य का प्रश्न है हम उसे आसानी से ढूँढ़ सकते हैं। इस काल की भावानुभूति और वैदिक काल की अनुभूति में अन्तर नहीं के बराबर है। जो भावोद्‌गार वैदिक ऋषियों के कंठ से निकले थे वे ही इस काल में भी उपलब्ध होते हैं। आत्मनिवेदन, विनय, दैन्य, भगवान् की उदारता, शक्तिशालिता, शरणागत-वत्सलता आदि जो भाव वहाँ व्यक्त किये गये हैं वे ही इस काल में भी व्यक्त हुए हैं। साधना का मार्ग वही है अतः भावात्मक एकता भी बनी हुई है।

वैषम्य—पर इतना होते हुए भी इसे वैदिक काल की अनुकृति-मात्र नहीं कहा जा सकता। इस दीर्घ काल में परिवर्तन का होना स्वाभाविक ही था। निराकार से साकार और प्रतिमा की अर्चना, कर्म के स्थान पर प्रपत्ति की भावना, प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति की प्रधानता, ये सब बातें इस काल काल की देव-भावना को वैदिक काल की देव-भावना से पृथक् करती हैं। माधुर्य-भाव या कान्तासक्ति को सर्वस्व मानना भी इस काल की ही विशेषता है। इसका अन्तःस्वरूप तो वही है पर बाह्य स्वरूप एकदम भिन्न है।

मध्यकालीन हिंदी-सहित्य की देव-भावना की देन

चतुर्थ अध्याय में हमने भारतीय देव-भावना की कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है। इन विशेषताओं के साथ हिन्दी की देव-भावना ने जन-जीवन को जो कुछ दिया है उसी का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

प्रेम की प्रधानता—किसी मानवोत्तर परोक्ष अथवा अपरोक्ष सत्ता या सत्ताओं में विश्वास देव-भावना का मूल कारण है। उसके मूल में आरम्भ में भय और विस्मय की भावना रही थी यह ठीक है, पर धीरे-धीरे उस सत्ता के प्रति अनुराग की भावना अधिकाधिक बढ़ती गयी। मानव ने उस सत्ता के साथ विविध संबन्धों की स्थापना का

जो यत्न किया उसके पीछे तादात्म्य भाव की अभिलाषा का ही हाथ है। कहना न होगा कि तादात्म्य का मूल भी अनुराग ही है। यही कारण है कि देव-भावना को लेकर ज्यों-ज्यों भक्ति की धारा प्रवाहित होती गयी, उसमें प्रेम को अधिकाधिक प्रश्रय मिलता गया। "परानुरक्तिरीश्वरे" कहकर जो भक्ति का लक्षण किया गया है उस में भी प्रेम को ही सब-कुछ माना गया है। कालान्तर में देव-भावना और भक्ति का सम्बन्ध अधिकाधिक घनिष्ठ हो जाने पर दोनों के बीच का भेद मिट-सा गया। दोनों समानार्थक-से हो गये। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य इस तत्त्व से इतना ओतप्रोत है कि इसके लिए उदाहरणों को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। भक्तिकाल की निर्गुण और सगुण दोनों ही धाराओं में जितने कवि हुए हैं उन सभी ने समान रूप से प्रेम की अनिवार्यता पर बल दिया है। अपने आराध्य देवों के प्रति इन कवियों की अनन्यता पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

अहिंसा

प्रेम को जीवन का मूल मान लेने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि इस साहित्य में कहीं भी हिंसा को प्रश्रय नहीं मिला। घट-घट में उस ईश्वर को देखने वाले कवि हिंसा के प्रयोग का समर्थन कर ही नहीं सकते थे। 'वैष्णों की छपरी भली न साकत बड़ गाउँ' तथा 'साकत बाँमन ना मिलै वैष्णों मिलै चंडाल' कहने वाले कबीर का भाव भी यही था कि हिंसा करनेवाला मानव, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, हेय है। दिन भर रोजा रखकर रात को गाय को मारने वाले मुसलमान को जो उन्होंने बुरी तरह फटकारा है उसके पीछे भी हिंसक के प्रति उनका तीव्र क्रोधानल जल रहा है।

जायसी भी इसी मार्ग के पथिक हैं। उन्होंने जो सिद्धों की महत्ता का वर्णन किया है, वह उन सिद्धों का नहीं जो चमत्कार-प्रदर्शन में विश्वास करते थे, अपितु उनके सिद्ध एक प्रकार से अहिंसा के पुजारी वे व्यक्ति हैं, जो प्राण देकर भी हिंसा की भावना को मन में नहीं आने देते। उनके अनुसार सिद्ध निर्भय होकर रात्रि में भ्रमण करते है। उनकी दृष्टि जिधर उठ जाती है उधर ही चल देते हैं। प्राणों का कुछ भी भय नहीं रहता। खड्ग देखकर वे ग्रीवा झुका देते हैं। सिद्ध वहाँ पहुँचते हैं जहाँ प्राणों का वध होता है। सिद्धों के अतिरिक्त अन्य ऐसा कौन है जिसने मृत्यु के पंखों को धारण किया हो।"[1]

तुलसी ने अहिंसा को अधिक व्यापक अर्थ में लिया है। किसी को मानसिक कष्ट पहुँचाना भी हिंसा ही है। कार्य और अकार्य के बिना दूसरों की निन्दा करने वाले दुर्जनों को प्रणाम करके (व्यंग्यात्मक ढंग से) उन्होंने अहिंसा का समर्थन किया है। तुलसी ने राम के शक्तिशाली रूप के वर्णन में जिस आत्मीयता का परिचय दिया

१. पदमावत, दोहा खण्ड २४०

है वह भी हिंसा के दमन के लिए ही। अकारण ही ऋषियों को कष्ट देनेवाले राक्षसों का वध अहिंसा ही है।

जैसा तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है, वैष्णव धर्म में अहिंसा को धर्म के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दी के मध्यकाल तक वैष्णवों की यह अहिंसा की भावना धर्म का अविभाज्य अंग बन चुकी थी। जैनों और बौद्धों के अहिंसा-प्रचार का भी समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। परिणामस्वरूप इस काल के अधिकांश साधक और कवि अहिंसा के समर्थक हो गये थे।

संत-संगति संगति का जीवन में बड़ा महत्त्व है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसके लिए किन्हीं शास्त्रीय प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। अपने चारों ओर के वातावरण से बच सकना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। हम जैसा सुनते हैं, औरों को जैसा करते हुए देखते हैं, उससे प्रभावित होते ही हैं। यही कारण है कि इन सभी कवियों ने समान रूप से सत्-संगति पर बल दिया है। कबीर के अनुसार विनाशशील शरीर को उपयोगी बनाने के लिए दो ही मार्ग हैं— सत्-संगति और हरि-भजन —

कबीर इहु तनु जाइगा, कवने मारगि लाइ।
कै संगति करि साध की, कै हरि के गुन गाइ॥

हरि-भजन करना तो सब चाहते हैं पर कर नहीं पाते। उधर ध्यान लग पाए तब ही तो कुछ किया जाय। संसार के आकर्षण और संसारी जीव बराबर उधर से ध्यान खींचते हैं। भगवान् के मार्ग पर तो तभी चला जा सकता है जब हम उधर जाने वालों का साथ करें। इसीलिए तो कबीर का कहना है कि घड़ी-एकाध घड़ी जो भी सज्जनों की संगति में बितायी जा सके, वही फलवती है—

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हू ते आध।
भगतन सेती गोस्टे, जो कीने सो लाभ॥

सूरदास का कथन है कि जिस दिन कोई संत घर में अतिथि बनकर आ जाता है उस दिन संत के दर्शन से करोड़ों तीर्थों में स्नान करने का फल उपलब्ध हो जाता है। संतों की विशेषता यह है कि वे भगवान् के चरणों में प्रेम उत्पन्न कराते हैं। वे भगवान् के यश का गान करते हैं, उससे वातावरण शुद्ध होता है और अन्यों को भी उससे इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। यही कारण है कि सूरदास ने हरि-विमुख (दुष्ट, असज्जन) व्यक्तियों का संग छोड़ देने का परामर्श दिया है। उनके अनुसार जिस प्रकार भुजंग से विष-परित्याग की आशा व्यर्थ है, कौए से शुद्धि की आशा निरर्थक है, उसी तरह हरि-विमुख से किसी अच्छे काम की आशा व्यर्थ ही है।

तुलसीदास के अनुसार सत्-संगति मुद और मंगल का मूल है और सब सिद्धियों का साधन है। सत्-संगति गंगा की वह धारा है जो औरों को भी शुद्ध करके अपने में मिलाने की शक्ति रखती है। किं बहुना, सन्त और भगवान् दोनों समान हैं, इनमें

कोई अन्तर नहीं। सांसारिक व्यक्तियों को समझाते हुए तुलसी कहते हैं कि सुत, दारा और लक्ष्मी तो पापी के भी घर हो जाती हैं, पर संत-समागम और हरि-कथा, ये दो दुर्लभ बातें विरलों को ही मिलती हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है कि यदि स्वर्ग और अपवर्ग को तराजू के एक पलड़े पर रखा जाय और सत्-संग को दूसरे पलड़े पर, तो सत्-संग का ही पलड़ा भारी रहेगा —

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक संग।
तुले न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत संग।।

अधिक क्या कहा जाय, जिसे हरि तक पहुँचना है उसके लिए सत्संग के अलावा अन्य कोई मार्ग नहीं—

बिनु सत-संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग।।

जायसी के यहाँ भी सत्-संगति का ऐसा ही महत्त्व है। उनके अनुसार सत्संग का अर्थ है उच्च बनना, उच्च पुरुषों के पास बैठना—

सदा ऊँच सेइ पै बारु। ऊँचे सों कीजै बवहारु।
ऊँचै चढ़े चऊँ खंड सूझा। ऊँचै पास चऊँ बुधि बूझा।
ऊँचै संग संग नित कीजै। ऊँचै काज जीव बलि दीजै।।

मध्यम मार्ग या सहज मार्ग

हमने अभी जिस वैराग्य-भावना की चर्चा की है उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि ये संसार से विरक्ति उत्पन्न कराकर वनों में भटकने वाले साधुओं की श्रेणी पैदा कर रहे थे। इनमें भी अधिकांश व्यक्ति जीवन भर किसी-न-किसी व्यवसाय में लगे रहे, अपनी जीविका के लिए दूसरों पर बोझ नहीं बने। इस संसार में रहकर राम-भजन करते हुए जीवन-यापन करना ही इनका लक्ष्य था। न इन्होंने कहीं शरीर को सुखाने का उपदेश दिया, न वन में जाकर रहने की बात कही, अपितु सारे कर्मों को कृष्णार्पण करते हुए कर्म करते रहने का ही परामर्श दिया। असल में घर और वन में रहते हुए स्वाभाविक ढंग से जीवन-यापन ही इनका मंतव्य है। कबीर ने तो सहज शब्द का प्रयोग किया ही है, पर जिन्होंने नहीं भी किया, उनका भी भाव इससे भिन्न नहीं।

गुरु-भक्ति

उपनिषदों में गुरु को साक्षात् परमेश्वर कहा गया है, यह हम पीछे कह आये हैं। गुरु के प्रति श्रद्धा की यह भावना कभी कम नहीं हुई। कबीर तार्किक थे, अन्ध-श्रद्धालु नहीं, पर उनकी उक्तियों में गुरु का महत्त्व भगवान् के महत्त्व के बराबर है। यदि गुरु और गोबिन्द, दोनों एक स्थान पर खड़े हों तो पहले किसके चरणों में सिर

झुकाया जाय, कबीर इस असमंजस में पड़ जाते हैं। दोनों ही समान रूप से मान्य हैं। किसका स्थान प्रथम हो और किसका दूसरा, यह चुनाव कठिन है पर यह असमंजस थोड़ी ही देर रहता है; कबीर गुरु को चुन लेते हैं क्योंकि ईश्वर-दर्शन कराने वाले गुरु ही हैं। एक अन्य दोहे में अपने इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हरि रूठ जायं तो गुरु सम्हाल लेते हैं, पर अगर गुरु ही रूठ जायँ तो कौन सा ठिकाना है ?

हरि रुठे गुरु ठौर है, गुरु रुठे नहिं ठौ र।

जायसी की दृष्टि में भी भवसागर से पार करानेवाला प्राणी गुरु ही है। ईश्वर घट-घट में व्यापक भले ही हो पर उसे पाना क्या आसान है ? जो एकदम सूक्ष्म है उसे बतानेवाला उसकी पहचान करानेवाला गुरु ही है।

एक अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि योगी सिद्ध तभी हो सकता है जब गोरख (गुरु) से भेंट हो--

बिन गुरु पन्थ न पाइयँ, भूले होइ जो भेंट।
जोगी सिद्ध हइ तब, जब गोरख सों भेंट॥

सूरदास भी इसी भाव से गुरु के सामने श्रद्धावनत होते हैं। सूर-सारावली में उन्होंने अपने ६७ वर्ष होने को गुरु की कृपा का ही फल बताया है—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

कवि हरि-लीला का वर्णन करने को उत्सुक है, पर वाणी में इतनी सामर्थ्य कहाँ है ? उनका कहना है कि यह दु:साध्य कार्य गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं—

हरि लीनौ अवतार कहत सारद नहिं पावै।
सद्गुरु कृपा-प्रसाद कछुक ताते कहि आवै॥

तुलसीदास ने तो गुरु को शंकर का ही रूप माना है---

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।

उनके अनुसार गुरु साधारण मानव नहीं, वे तो नर-रूप में साक्षात् हरि है—

बन्दौं गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि॥

मानवतावादी दृष्टिकोण

इस काल के कवियों ने मानवमात्र को बराबर समझने का यत्न किया है। जहाँ तक निर्गुण धारा के कवियों का प्रश्न है उन्होंने जातिपाँति का खण्डन ऐसे ओज-पूर्ण और निर्भीक शब्दों में किया है कि कितने ही आलोचकों को उन पर विदेशी प्रभाव होने तक की आशंका हो गयी है। रही बात सगुण धारा के कवियों की, उन्होंने

यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध खुल कर बहुत कुछ नहीं कहा, पर भक्ति के क्षेत्र में इन्होंने जाति-पाँति के बन्धन को कभी नहीं माना। तुलसी के राम भील, किरात और शबरी को आत्मीय समझते हैं, उनसे गले मिलते हैं, हिन्दू और मुसलमान का भेद भी इनके उदार दृष्टिकोण से कम हो गया था। धार्मिक सहिष्णुता बराबर बढ़ रही थी, राम और रहीम का अन्तर कम हो रहा था और इन में सभी कवियों का सहयोग समान रूप से मिल रहा था।

देव-भावना में ऊपर जिन तत्वों पर जोर दिया गया है वे सभी सत्-साहित्य के लिए शुभ हैं। साहित्य की अन्तरात्मा उसके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले भाव ही हैं। अपनी सरसता को बनाये हुए जो साहित्य जीवन के उदात्त भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, चिरन्तन एवं शाश्वत मानवीय मान्यताओं को प्रस्तुत करता है तथा जीवन के लिए सन्देश देता है, वही सत्-साहित्य के उच्च पद का अधिकारी बनता है। भक्तिकाल के साहित्य में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इन्हीं कारणों से उसे हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल कहा जाता है। इस साहित्य ने आत्मिक वेदना से कराहती हुई भारतीय जनता को शान्ति प्रदान की थी, अपने अमृतमय स्पर्श से उसकी सारी पीड़ा को हर लिया था, नैराश्य-जनित अन्धकार को दूर कर आशा का संचार किया था और अवसाद को दूर कर उल्लास की नवीन लहर प्रवाहित की थी।

क्या देव-भावना साहित्य में अपकर्ष भी ला सकती है ?

प्रत्येक चित्र के दो पहलू होते हैं : एक वह जो उसी समय दिखायी दे जाता है और दूसरा वह जो कालान्तर में दिखायी देता है। जो वस्तु या भाव आज शुभ दिखायी देता है कालान्तर में वह अशुभ भी हो सकता है। जो आज अमृत है वही कल विष भी हो सकता है। यही बात देव-भावना के विषय में लागू हो सकती है। जो देव-भावना या भक्ति किसी समय जीवन की प्रेरणा थी, वही विधि-वशात् उसकी प्रगति में बाधक बन गयी। भक्ति का अत्यधिक महत्त्व ही धीरे-धीरे उसका शत्रु बन गया।

भक्ति के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए योग मार्ग और तप आदि को अशक्त रूप में चित्रित किया गया। कहा गया है कि यह दारुण कलियुग है, इसी से सदाचार, योग मार्ग, और तप आदि सभी लुप्त हो गए हैं। लोग शठता और दुष्कर्म में लग कर अघासुर बन रहे हैं। सत् पुरुष म्लान हैं और दुष्ट सुखी हो रहे हैं। यह पृथ्वी अब देखने योग्य नहीं रह गई है। ज्ञान और वैराग्य को कोई भी नहीं पूछता, अब इनका बुढ़ापा नहीं टूटा।"[१]

भागवत् पुराण के दूसरे अध्याय में भक्ति का माहात्म्य बताते हुए कहा गया

१. भागवत-माहात्म्य, २१४

है कि सतयुग, त्रैता और द्वापर में जिस मोक्ष की प्राप्ति यज्ञ, तप, दान और धर्म करने से होती थी, वही मोक्ष कलियुग में केवल भक्ति से मिल जाता है।

सत्यादित्रियुगे बोधवैराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्म सायुज्यकारिणी ॥[1]

... ...

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ॥[2]

उसी में आगे चल कर कहा गया है कि भक्ति के दो पुत्र ज्ञान और वैराग्य कलियुग में सोये पड़े हैं। दूसरे शब्दों में अर्थ यह है कि कलियुग में ज्ञान और वैराग्य दोनों का अस्तित्व समाप्त हो गया है। कलियुग ऊसर भूमि है और इसमें ये दोनों सुन्दर पौधे पनप नहीं सकते। तीसरे अध्याय में भागवतपुराण के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब तक संसारी लोग इस कथा का श्रवण नहीं करते तब तक उनके अनेक जन्मों के पापों का नाश नहीं होता······जो मनुष्य प्रतिदिन एक या आधा ही श्लोक पढ़ता है उसकी मुक्ति हो जाती है। ये सब बातें भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिए कही गयी थी, पर अनावश्यक दूर तक घसीटी जाने के बाद मार्ग की रुकावट बन गयीं।

अपने कथन को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अतिशयोक्ति का प्रयोग करना साहित्य की सुदीर्घ परम्परा है और एक निश्चित सीमा तक इसका उपयोग सभी को मान्य है। पर धीरे-धीरे इन उक्तियों का अर्थ यह लगाया जाने लगा कि धर्म गौण है और भागवत-पाठ मुख्य है। यह विश्वास भी धीरे-धीरे घर करता गया कि सतयुग आदि में मनुष्य जन्मतः श्रेष्ठ थे और अब जन्मतः निकृष्ट हैं। इन सब का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ज्ञान और वैराग्य जन-सामान्य की पहुँच से बाहर की वस्तु बन गये। धीरे-धीरे आत्म-विश्वास की कमी होती गयी। कलियुग को सारे पापों को घर मान लिया गया। मनुष्य के ऊपर उठने या अपनी परिस्थितियों पर काबू पाने के प्रयास को छोटी सी नाव द्वारा समुद्र लाँघने या वामन द्वारा आकाश छूने के प्रयास के समान हास्यास्पद समझा गया। परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते जो मानव अपनी विजय-यात्रा कर यहाँ तक आ चुका था, वह अपने को परिस्थितियों का दास समझ बैठा। स्वामी से वह धीरे-धीरे ऐसा विनयावनत दासानुदास हुआ कि उसके सभी हौसले पस्त हो गए, उसके अस्त्र-शस्त्र कुंठित हो गए, वह नियति-नटी के हाथ की कठपुतली बन गया। गणेशजी का पूजक ऐसा गोबर-गणेश बन गया कि अब उससे कुछ करते-धरते न बनता था।

---

१. भागवत भागवतमाहात्म्य

२. वही, २।१८

ईश्वर में परा अनुरक्ति का नाम भक्ति है, यह हम पहले कह आये हैं। किसी परम सत्ता की स्वीकृति और उसमें प्रगाढ़ विश्वास अपने-आप में बुरी वस्तु नहीं। यह जीवन-पथ पर बढ़ने वाले का संबल बन सकती है, निराशा के क्षणों में सहारा दे सकती है और जीवन की भारी-से-भारी उलझनों को सुलझाने में सहायक हो सकती हैं। भारतीय मनीषियों ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। उससे सांसारिक लिप्साएँ दबी रहती हैं, लौकिक भोग पर त्याग का अंकुश बना रहता है। अपने से अधिक बलवती सत्ता को मानने से मानव औद्धत्य से बचा रहता है। पर अपने पुरुषार्थ को एकदम नगण्य समझने लगना किसी भी तरह श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता है। यह जीवन से भागना है, पलायनवाद है। भारतीय जीवन में ईश्वर पर अटूट विश्वास रखते हुए भी कर्मवाद का महत्त्व कभी कम नहीं हुआ। ईश्वर से भी फल हमें हमारे कर्मों के अनुसार ही मिलता है। ईश्वर कोई स्वेच्छाचारी या निरंकुश शासक नहीं जो रात को दिन और दिन को रात करने की शक्ति रखता हो। उसके सर्वशक्तिमान होने का अर्थ केवल इतना ही है, कि उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं। सर्वशक्तिमान् का अर्थ स्वेच्छाचारी कदापि नहीं। यह जगत् कुछ निश्चित नियमों से परिचालित है। इन्हीं नियमों का नाम 'ऋतु' कहा गया है। पौराणिक काल की भक्ति में इस कर्मवाद का एक प्रकार से प्रत्याख्यान ही है। भक्त-प्रवर सूरदास ने—"करी सब राम के होई, जो अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठो है सोई" जो कहा था, वह बहुत से आलसियों के लिए गुरुमंत्र ही बन गया। एक दूसरे भक्त कवि मलूकदास का—"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कह गये सब के दाता राम"...यह कथन कर्म से बचने के लिए कितनों ही का सहारा बन गया।

भक्ति की महिमा बढ़ाने के लिए श्रीमद्भागवत में अजामिल की जो कथा कही गयी है, उसे बहुत दूर तक खींचा जाने लगा। वहाँ कहा गया है कि यद्यपि इसने कोटिशः पाप किये हैं पर अन्तिम समय में इसने नारायण (जो उसके छोटे पुत्र का नाम भी था) का जो नाम लिया है, उससे उसके सारे पापों का नाश हो गया है—

> अयं हि कृतनिर्वेशो जन्म कोट्यहंसामपि।
> यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्यनं हरेः॥
> एतेनैव ह्यधो नोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
> यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥[1]

विष्णु की महत्ता को बढ़ती देख कर शैव चुपचाप कैसे बैठते ? वैष्णव भक्तों ने जिस प्रकार अजामिल की कहानी गढ़ी थी उसी प्रकार शैव मत के भक्तों ने एक डाकू की कहानी बना डाली। मरने पर जब यम के सामने उस डाकू की पेशी हुई तो यम उसे सजा न दे सके। सभी बुरे कामों में या लूटते समय वह प्रहर—"आहर" कहता था। इन दोनों ही में शिव का नाम आने से उसे सभी पापों से छुटकारा मिल

१. भागवत, ६।२।७-८

गया। दूसरी कहानी कुबेर की है। कहा जाता है कि वह पहले जन्म में डाकू था, शिव-मन्दिर को लूटते समय उसकी बत्ती बुझ गई। लूटने की सुविधा के लिए उसने उसे दस बार जलाया। शिवजी उसकी इस भक्ति से प्रसन्न हुए और उसे कुबेर का पद दे दिया। इस प्रकार की कहानियों का सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि जीवन-भर अनर्थ करते रहने के बाद भी अन्तिम समय में भूल से भगवान् का नाम लेने वाले व्यक्ति स्वर्ग या वैकुण्ठ पहुँचने की आशा करने लगे। इस प्रकार की धारणा ने समाज का महान् अनर्थ किया। विष्णु का तिलक एक बार यदि सिर चढ़ गया तो वैकुण्ठ का दरवाजा खुल गया, तुलसी की माला यदि गले में आ गई तो गोलोक में सीट रिजर्व हो गई। श्री हजारी-प्रसाद के शब्दों में योग ने गृहस्थ को जरूरत से ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्ति ने पूरा आशावादी; एक ने मुक्ति को महँगा सौदा बना दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता।"

जैसा हमने इस प्रकरण के आरम्भ में कहा है, भक्ति का अधिक महत्त्व ही इसका शत्रु बन गया। भक्ति के माहात्म्य का वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवत (५।१।१७) में कहा गया है कि अपने धर्म का परित्याग कर भी भगवान् का भजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ कर्म करने वाला व्यक्ति भी यदि भजन नहीं करता तो उससे क्या लाभ? इसी पुराण में आगे चल कर भगवान् के मुख से कहलाया गया है कि योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान आदि इतने शक्तिशाली नहीं, जितनी भक्ति।[१] मेरी भक्ति से रहित व्यक्ति को धर्म और तपस्या-युक्त विद्या भी पवित्र नहीं कर पाती।

यह भी कहा गया है कि चोर, शराबी, ब्राह्मण की हत्या करने वाला, गुरु की पत्नी के साथ समागम करने वाला, पत्नी, राजा, पिता और गौ का घातक तथा अन्य सब प्रकार के पातकी विष्णु का नाम भर लेने से निष्कृति पा जाते हैं—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नाम व्यावहरणं विष्णोर्यतस्तद् विषया मतिः॥[२]

प्रपत्ति के सिद्धान्त को समझाते हुए स्थान-स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार बन्दरी अपने बच्चे को पेट से चिपकाकर इधर-उधर ले जाती है या बिल्ली जिस प्रकार अपने बच्चों को अपने मुँह में दबाकर उन्हें सुरक्षित स्थान पर ले जाती है, उसी प्रकार भगवान् भक्तों की सुरक्षा का ध्यान स्वयं रखते हैं। भक्त को स्वयं कुछ करने की आवश्यकता नहीं, उसके लिए तो अपने को सर्वात्मना भगवान् के भरोसे पर छोड़ देना ही काफी है। जैसा कि स्वाभाविक था, जनसाधारण जागतिक द्वन्द्व और कर्तव्य

१. भागवत, ११।१४।१९-२२
२. वही, ६।२।९-१०

गत संघर्ष से हटकर भगवान् के सामने हाथ जोड़ कर बैठे रहने में ही कल्याण समझने लगे। जीवन पुष्पों की शय्या ही नहीं, काँटों का ताज भी है, इसमें सब-कुछ मीठा ही नहीं, कड़वा भी है, वे इस तथ्य को भूल गए। परिणाम यह हुआ ये भक्त कवि भी लोक से पराङ्मुख हो बैठे। यही कारण है कि रागानुगा भक्ति में विश्वास रखने वाले भक्तजन भगवान् को घुँघुरुओं की झनकार से तो रिझाते रहे, पर शस्त्रों की झनकार एकदम भूल गए। समाज के प्रति भी उनका कोई कर्तव्य है, इस बात का उन्हें स्मरण ही नहीं रहा। राज्यों में अनेक परिवर्तन हुए, जन-साधारण अत्याचार के जुए के बोझ से सिसकता रहा, धर्म-मन्दिर भ्रष्ट किये, गए, मूर्तियाँ तोड़ी गईं मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ, पर ये धर्मभीरु भक्त कवि न तो तलवार लेकर शत्रु पर स्वयं टूट पड़े और न ऐसा करने के लिए उन्होंने जनता को ही उत्साहित किया। शत्रुओं कीं सेनाएँ देश को रौंदती रहीं, परन्तु उनके कानों पर जूँ तक न रेंगी। देश की इस दुर्दशा की कोई स्पष्ट गूँज हमें इनके साहित्य में नहीं मिलती।

रही बात साहित्य पर प्रभाव की, उस दृष्टि से भी भक्ति-भावना साहित्य के अपकर्ष का कारण बनी। भक्ति-मार्ग में वैधी भक्ति की अपेक्षा रागानुगा भक्ति की प्रधानता अधिक रही है। तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व के कारण राम-भक्ति शाखा में वैधी भक्ति का प्रचार अवश्य है पर उसमें भी रागानुगा भक्तिपरक रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाती हैं। रागानुगा भक्ति में भगवान् का भजन पति और पत्नी या प्रेमी और प्रेयसी के रूप में होता है। आरम्भ में यह माधुर्य रस की अभिव्यक्ति के प्रतीक रूप में गृहीत हुआ था। आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता दिखाना कवि का लक्ष्य था। पर भक्ति-काव्य के उत्तरकाल में राधा और कृष्ण आत्मा और परमात्मा के पर्यायवाची न रहकर सामान्य नायिकाओं और नायकों के पर्यायवाची रह गये। राधा और कृष्ण के नाम पर सामान्य नागरिकों के श्रृंगार का चित्रण खुलकर होने लगा। विरह-सेज पर तड़पती हुई प्रत्येक नारी राधा बन बैठी और प्रत्येक पुरुष कृष्ण। पद्माकर और घनानन्द आदि ने राधा और कृष्ण को इसी रूप में लिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी मत ऐसा ही है। उनका कथन है कि उत्तर मध्यकाल के राधा और कृष्ण उस काल के विलासप्रिय नागरिकों अथवा कभी-कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी में उतर आते हैं। नीचे देव का पद देखिये जिसमें कृष्ण का नाम हटा दिये जाने पर एक साधारण नायक के वर्णन से कुछ अधिक नहीं बनता—

> रीझि रीझि रहसि रहसि हसि हसि उठै,
> साँसें भरि आँसू भरि कहत दई दई।
> चौंकि-चौंकि चकि-चकि उचकि-उचकि देव,
> जाकि-जाकि बकि-बकि परत दई-दई।

दुहुन के रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
घर न घिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि-मोहि मोहन कौ मन भयौ राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई भई॥

इसी प्रकार एक पद घनानन्द का भी देखिये—

अंतर हौं किधौं अन्त रहौं,
दृग फारि फिरौं कि अभागिनी भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं,
अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जो घन आनँद ऐसी रुकी तो,
कहा बस है अह प्रानिन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि, हाय तुम्हें,
धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

असली बात यह है कि भक्ति का नाम लेकर ये कवि सब-कुछ लिखने लगे थे। किसी प्रकार के दमन, गोपन, संकोच और झिझक की जरूरत उन्हें नहीं थी; और-तो-और, नायक कृष्ण द्वारा नायिका की छाती के दलन तक का वर्णन करने में इन लोगों को संकोच नहीं हुआ। यह भक्ति नहीं थी, यह तो परदे की आड़ थी या अपने को सान्त्वना देने का तरीका था। डा० नगेन्द्र ने रीतिकालीन भक्ति को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता कहा है। उनके ही शब्दों में, "इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये लोग किसी-न-किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति से हीन नहीं। हो भी नहीं सकता, क्योंकि उनके लिए भक्ति मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते। इस लिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः विद्यमान है।" नायक-नायिका के लिए बराबर हरि और राधिका शब्दों का प्रयोग किया गया है।

बिहारी के काव्य में भी इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि विपरीत रति तक में साधारण नायक और नायिकाओं के लिए राधा और कृष्ण का प्रयोग किया जाने लगा था। देखिये—

राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये संकेत।
दंपति रति विपरीत सुख, सहज सुरतहूँ लेत॥

एक और दोहे में हरि और हर रूप की चर्चा किस प्रकार में हुई है, यह भी देखिये—

प्रान प्रिया हिय मैं बसै, नख रेखा ससि भाल ।
भलौ दिखायौ आइ यह, हरिहर रूप रसाल ।।

यही बात मतिराम की है । उन्होंने भी श्रृंगार के वर्णन में नायक और नायिका के लिए कृष्ण और राधा के नामों का नि:संकोच रूप से प्रयोग किया है । कवि ग्वाल ने भी इसी पथ का अनुसरण किया है । तथ्य तो यह है कि शायद ही कोई कवि इस का अपवाद हो । श्रृंगार-जनित अपच को पचाने के लिए किसी पाचक गोली का होना आवश्यक था । राधा और कृष्ण का नाम लेने से श्रृंगार की नग्नता पर पर्दा पड़ जाता है । इन सभी कवियों के हाथ में पड़कर प्रेम विलासिता का चिह्न बन चुका था और काम कामुकता का । इस साहित्य ने तत्कालीन समाज को स्त्रैण और निर्वीर्य बनाने का कार्य किया, ऊर्जस्विनी शक्ति का ह्रास हो जाने से समाज जिस अधोगति को पहुँच गया था, उसके चिह्न समाज में आज भी विद्यमान हैं । साहित्य में भी एकरूपता आ जाने के कारण नीरसता आ गयी । जो वैविध्य साहित्य का प्राण है, वह इस काल में कहीं नहीं बचा । इस साहित्य में प्रवाह नहीं, सड़ाँध है ।

सहायक पुस्तकों की सूची

१. ऋग्वेद
२. यजुर्वेद
३. सामवेद
४. अथर्ववेद
५. जैमिनीय ब्राहृण
६. गोपथ ब्राह्मण
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण
८. शतपथ ब्राह्मण
९. ऐतरेय ब्राह्मण
१०. गोभिल गृह्यसूत्र — सं० चिन्तामणि भट्टाचार्य, प्र० मैट्रोपालिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, कलकत्ता, सन् १९३६
११. कात्यायन श्रौतसूत्र — अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी
१२. आश्वलायन गृह्य-सूत्र — जीवानन्द भट्टाचार्य (टीकाकार) प्र० सरस्वती यन्त्र कलकत्ता, १८९३
१३. पारस्कर गृह्यसूत्र
१४. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
१५. बोधायन गृह्यसूत्र — सं० आर० शर्मा शास्त्री, ओरियंटल लायब्रेरी प्रकाशन, मैसूर यूनिवर्सिटी
१६. ईशोपनिषद् — प्र० विद्याविहार, बलवीर एवेन्यू, देहरादून
१७. केनोपनिषद् — ,,
१८. कठोपनिषद् — ,,
१९. प्रश्नोपनिषद् — ,,
२०. मुण्डकोपनिषद् — ,,
२१. तैत्तिरीयोपनिषद् — ,,

२२. ऐतरेयोपनिषद् — प्र० विद्याविहार, बलवीर एवेन्यु, देहरादून ।
२३. छान्दोग्योपनिषद् — ,,
२४. बृहदारण्यकोपनिषद् — ,,
२५. माण्डूक्योपनिषद् — ,,
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद् — ,,
२७. निरुक्त (यास्क-कृत) — ,,
२८. बृहद्देवता (शौनक-कृत) — सं० रामकुमार राय, प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
२९. ब्रह्म पुराण
३०. पद्म पुराण
३१. विष्णु पुराण
३२. वायु पुराण
३३. भागवत पुराण
३४. नारद पुराण
३५. मार्कण्डेय पुराण
३६. अग्नि पुराण
३७. ब्रह्मवैवर्त पुराण
३८. भविष्य पुराण
३९. लिंग पुराण
४०. वराह पुराण
४१. वामन पुराण
४२. स्कन्द पुराण
४३. कूर्म पुराण
४४. मत्स्य पुराण
४५. गरुड़ पुराण
४६. ब्रह्माण्ड पुराण
४७. वाल्मीकीय रामायण — पंडित पुस्तकालय, काशी
४८ महाभारत — गीता प्रेस, गोरखपुर
४९. अध्यात्मरामायण — ,,
५०. दुर्गासप्तशती
५१. रघुवंश
५२. उत्तररामचरित
५३. शिशुपालवध

५४. हनुमन्नाटक
५५. कौटिलीय अर्थशास्त्र

हिन्दी-पुस्तकें

१.	अखरावट	मलिक मुहम्मद जायसी
२.	अपभ्रंश-साहित्य	डा० हरिवंश कोछड़
३.	अनुराग-बाँसुरी	सं० चन्द्रबली पाँडे
४.	अयोध्या का इतिहास	श्री सीताराम
५.	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय और सिद्धांत	डा० दीनदयालु गुप्त
६.	अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्य	डा० मायारानी टण्डन
७.	आर्यों का आदिदेश	डा० सम्पूर्णानन्द
८.	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
९.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१०.	आधुनिक काव्यधारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
११.	आचार्य केशवदास	श्री हीरालाल दीक्षित
१२.	आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व	श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
१३.	औरंगजेब (हिन्दी-संस्करण)	सर यदुनाथ सरकार
१४.	आधुनिक काव्य-धारा	राहुल सांकृत्यायन
१५.	इस्लाम के सूफी साधक	रेनाल्ट ए निकल्सन
१६.	उत्तरी भारत की सन्त परम्परा	श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग
१७.	उद्धव-शतक	श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
१८.	उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास	डा० नलिनाक्ष दत्त
१९.	ऋग्वैदिक आर्य	श्री राहुल सांकृत्यायन
२०.	कबीर	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२१.	कबीर : एक विवेचन	डा० सरनामसिंह
२२.	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
२३.	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
२४.	कबीर-ग्रन्थवाली	डा० श्यामसुन्दर दास
२५.	कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
२६.	कवित्त-रत्नाकर	सेनापति
२७.	गणेश	डा० सम्पूर्णानन्द
२८.	गुरुग्रन्थसाहब (देवनागरी लिपि)	शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी

२९. गोरख-बानी — सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
३०. घनानन्द — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३१. चण्डी-चरित्र — गुरु गोविन्दसिंह, ना०प्र०स०, काशी
३२. चित्रावली (उसमान-कृत)
३३. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और उनका काव्य — डा० सरला शुक्ल
३४. तुलसीदास — डा० माताप्रसाद गुप्त
३५. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य — नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
३६. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि — डा० गोपीनाथ कविराज
३७. तसव्वुफ और सूफीमत — श्री चन्द्रबली पाण्डेय
३८. दोहावली — गोस्वामी तुलसीदास
३९. देव-दर्शन — सं० हरदयालसिंह
४० धर्म और समाज — डा० राधाकृष्णन
४१. धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ
४२. नन्ददास-ग्रंथावली — सं० श्री ब्रह्मरतनदास
४३. नानक-वाणी — सं० जयराम मिश्र
४४. नाथ सम्प्रदाय — आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४५. निर्गुण काव्य-दर्शन — श्री सिद्धिनाथ तिवारी
४६. पंतजलिकालीन भारतवर्ष — डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
४७. पद्मावत — मलिक मुहम्मद जायसी
४८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष — डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
४९. पृथ्वीराज-रासो — प्र० साहित्य संस्थान, जयपुर
५०. प्राचीन परम्परा और भारतीय इतिहास — श्री रांगेय राघव
५१. प्रिय-प्रवास — श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
५२. बिहारी-रत्नाकर — सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
५३. बौद्ध दर्शन — श्री राहुल सांकृत्यायन
५४. बौद्ध धर्म-दर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव
५५. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन — श्री भरतसिंह उपाध्याय
५६. बौद्ध दर्शन-मीमांसा — श्री बलदेव उपाध्याय
५७. भक्ति का विकास — डा० मुंशीराम शर्मा
५८. भागवत सम्प्रदाय — श्री बलदेव उपाध्याय
५९. भारतीय दर्शन — ,, ,,
६०. भारतीय दर्शन — डा० उमेश मिश्र
६१. भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा — श्री बलदेव उपाध्याय

६२.	भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)	डा० मंगलदेव शास्त्री
६३.	भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डा० मुंशीराम शर्मा
६४.	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	सं० श्री किशोरीलाल गुप्त
६५.	भूषण-ग्रन्थावली	सं० राजनारायण शर्मा
६६.	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	आ० हरिदत्त वेदालंकार
६७.	मतिराम : कवि और आचार्य	डा० महेन्द्र कुमार
६८.	मधुमालती (मंझनकवि-कृत)	सं० डा० माताप्रसाद गुप्त
६९.	मध्यदेश	डा० धीरेन्द्र वर्मा
७०.	मध्यकालीन धर्म-साधना	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७१.	मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ	श्री परशुराम चतुर्वेदी
७२.	मध्ययुगीन प्रेमाख्यान	डा० श्यामनारायण पाण्डेय
७३.	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद	डा० कपिलदेव पाण्डेय
७४.	मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
७५.	महाकवि सूरदास	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
७६.	मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
७७.	रहीम-कवितावली	प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
७८.	राजस्थान का इतिहास	कर्नल टाड
७९.	राधा का क्रमिक विकास	डा० शशिभूषण गुप्त
८०.	राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक
८१.	राम-कथा	फादर कामिल बुल्के
८२.	रामचन्द्रिका (केशवदास)	सं० भगवानदीन
८३.	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास
८४.	राम-भक्ति में मधुर भावना	श्री भुवनेश्वरप्रसाद
८५.	राम-भक्ति में रसिक भावना	डा० भगवतीसिंह
८६.	रामभक्ति शाखा	रामनिरंजन पाण्डेय
८७.	रामानन्द की हिन्दी-रचनाएँ	सं० आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
८८.	रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव
८९.	रास-पंचाध्यायी	कवि नन्ददास-कृत
९०.	रास और रासान्वयी काव्य	डा० दशरथ शर्मा

९१. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन — श्री ज्ञानेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
९२. रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र
९३. रीति-काव्य-संग्रह — डा० जगदीश गुप्त
९४. विनय-पत्रिका — गोस्वामी तुलसीदास
९५. विश्व-धर्म-दर्शन — श्री साँवलियाबिहारीलाल शर्मा
९६. वैष्णव धर्म — श्री परशुराम चतुर्वेदी
९७. वैदिक देवशास्त्र — डा० सूर्यकान्त
९८. वैदिक सम्पत्ति — श्री रघुनन्दन शर्मा
९९. वैदिक साहित्य और संस्कृति — श्री बलदेव उपाध्याय
१००. सन्त-सुधा-सार — श्री वियोगी हरि
१०१. सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय — डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१०२. सन्त कवि दरिया — सं० डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१०३. सर्व-दर्शन-संग्रह — अनु० उमाशंकर शर्मा
१०४. साकेत — श्री मैथिलीशरण गुप्त
१०५. सिद्ध-साहित्य — डा० धर्मवीर भारती
१०६. सुजान रसखान — सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१०७. सुन्दर-दर्शन — सं० डा० त्रिलोकीनारायण
१०८. सूर और उनका साहित्य — डा० हरवंशलाल शर्मा
१०९. सूरसागर, भाग १ — सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
११०. सूफीमत : साधना और साहित्य — श्री रामपूजन तिवारी
१११. सूरसागर, भाग २ — सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
११२. हरिवंशपुराण — श्रीमती विद्यापाणि
११३. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल — आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११४. हिन्दी-साहित्य की भूमिका — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११६. हिन्दी काव्य-धारा — राहुल सांकृत्यायन
११७. हिन्द-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय — डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
११८. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (आदिकाल, रीतिकाल) — ना० प्र० सभा, काशी
११९. हिन्दी-साहित्य — आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१२०. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य — डा० कमल कुलश्रेष्ठ
१२१. हिन्दी की निर्गुण काव्य-धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा० गोविन्द त्रिगुणायत

१२२. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता — डा० बेनीप्रसाद
१२३. हिन्दुत्व — रामदास गौड़
१२४. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
१२५. हिन्दू देव-कथाओं के भौतिक अर्थ — श्री त्रिवेणीप्रसाद
१२६. हिन्दू सभ्यता (हिन्दी-संस्करण) — डा० राधाकुमुद मुकर्जी
१२७. हिन्दी-साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
१२८. हिन्दी-कविता की पृष्ठभूमि — डा० रामरतन भटनागर
१२९. हिन्दू देव-परिवार का विकास — डा० सम्पूर्णानन्द
१३०. हिन्दी-साहित्य — सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा
१३१. हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा — सरला शुक्ल, एम० ए०

अंग्रेजी पुस्तकें

132. Ancient India and Indian Civilization — Paul Manson Qureel
133. Ancient India — R.C. Mazumdar
134. An introduction to Tantric Budhism — S. D. Dasgupta
135. An Historican's approach to the Religion — Arnold Toynbea
136. Aspects of early Vaishnuism — G. Gonda
137. Basis of Islamic culture — Syed Abdul Latif
138. Brahmnical Gods in Burma — Nikil Ranjan Roy M.A.
139. Cassar and christ — Will Durant
140. Development of Religion in South India — K.A. Nilkanth Shastri
141. Epic, Mythis and Legends of India — P. Thompson
142. Epic—Mythology — E. Vashbun. Nopkins
143. Hinduism — A.C. Boquet
144. Hinduism and Budhism, Part I & II — Sir Charles Eliat
145. History of Indian Literature — Winternitz
146. History of India — Rama Shankar Tripathi
147. Indian Mythology, Vol. VI (Indian & Iranian) — A.B. Keith
148. Indian inheritance — K. M. Munshi

149. Influance of Islam on Indian culture Dr. Tarachand
150. Man and Deity A.C. Bonquet, D.D.
151. Man, God and Music Ivar Lissner
152. Mohammedanism—An Historical survey. H.A.R. Gribb
153. Our Heritage Humayun Kabir
154. Our Orient Heritage Will Duront
155. Outlines of Islamic culture A.M.A. Shushtery
156. Pre-Budhist India Rati Lal Mehta
157. Secience and Religion Herold K. Schilling
158. Sacrifices in Regveda K.R. Poddar
159. Shakti and Shaktas (2nd Edition) Sir John Woodroff
160. Studies in the Philosophy of Religion A Seth Pringle pattiso
161. Social and Religious life in Grihya Sutras V.M. Apte
162. Totem and Taboo Sigmund freud
163. The Religion and Philosophy of Vedas and Upnishadas A.B. Keith, D. Litt
164. The Religion of the Veda Bloomfield
165. The Gurjar Pratihars Dr. Baij Nath Puri
166. The Cambridge History of India (The Indian Civilization) Sir Martimo wheeter
167. The Philosophy of Religion George Galloway, D. Phil
168. The History of Civilization Will Durant
169. Origin and growth of the Religion Max Muller
170. The Cultureal Heritage of India
171. The Religious quest of India
172. The Religion of the Rigveda H.D. Griswold
173. The Development of Hindu inography Jitendra Nath Banarjee
174. The Religion of Rigveda H.D. Griswold
175. The Chinese : Their History and culture Keneth Scott Latoureth

176. The Out-lines of History — H.G. Wells
177. The life of greece — Will Durant
178. The Masks of God, Vol. I) Primitive Mythology — Joseph Campbell
179. The Masks of God, Vol II (Oriental Mythology) — Joseph Campbell
180. The South Indian Gods and Goddeses — H. Krishna Shastri
181. The Concept of Deity — E.O. James, D. Litt., D.D., Ph.D.
182. The Living Past — Ivar Lissner
183. The Silene Past — ,,
184. The Brahmanas of the Vedas (Second Edition) — K.S. Macdonald
185. The Horse Sacrifiecs in Taittiriya Brahmna — Paul Imile Dumo
186. The Puran Index, Vol. II & III — V.R. Ramchandra
187. The Vedic Age — R.C. Mazoomdar
188. Vaishnavism, Shaivism and other minor religious Sects. — R.G. Bhandarkar.
189. What is Jainism — C.R. Jain
190. The Premitive Culture of India — Colonel T.C. Hodson
191. Encyclopaedia of Religion and Ethics

कोष-ग्रन्थ

192. Encyclopaedia of Britainica
193. The Concise Oxford Dictionary
१९४. अमर कोष
१९५. बृहत् हिन्दी कोष — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी

पत्र और पत्रिकाएँ

196. Journal of Royal Asiatic Society, London
197. Journal of Royal Asiatic Society, Calcutta

198. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute. Poona
199. The Indian Antiquary. Education Society, Bombay, London
200. Vishveshwaran and Indologicai Journal, Vedic Research Institute, Sadhu Ashram, Hoshiarpur (Punjab).

१. साहित्य-सन्देश (मासिक) आगरा
२. आजकल (मासिक) दिल्ली
३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान दिल्ली
४. कल्पना (मासिक) हैदराबाद (दक्षिण)
५. कल्याण (मासिक) गोरखपुर

संक्षेप और संकेत

ब्राह्मण एण्ड वेदाज	...	ब्रा० वेदाज
कन्सेप्ट आफ डीटि	...	क० डीटि
डेवलेपमेंट आफ हिन्दू इकोनोग्राफी	...	डेव० हि०इ०
इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स	...	इन० रि० ए० माइ०
इण्डियन माइथोलोजी	...	इंडि० माइ०
इण्ट्रोडक्शन टू तान्त्रिक बुद्धिज्म	...	इण्ट्रो० तां० बुद्धि०
फिलासफी आफ रिलीजन	...	फि० रिलि०
ऑरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलीजन	...	ओ० ग्रो० रि०
लाइफ आफ ग्रीस	...	ला० ग्री०
मैन एण्ड डीटि	...	मै० डीटि
मुहम्मडनिज्म ए : हिस्टोरिकल सर्वे	...	मुह० हिस्टा० सर्वे०
हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म	...	हिं० बु०
प्रिमिटिव कल्चर	...	प्रि० क०
रिलीजन आफ वेदाज	...	रिलि० वे०
रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ वेदाज एण्ड उपनिषदाज्	...	रि० फि० वेद० उप०
रिलीजन आफ ऋग्वेद	...	रिली० ऋग्०
रिलीजन आफ इण्डिया		रि० इ०
शक्ति एण्ड शाक्ताज	...	श० शा०
स्टोरी आफ सिविलाइजेशन	...	स्टो० सि०
सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ आफ गृह्यसूत्राज	...	सो० रि० ला० गृ० सू०
टोटेम एण्ड टेबू	...	टो० टे०
वैदिक एज	...	वै० एज
वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सैक्टस	...	वैष्ण०शैवि०अ०मा०रि०सै०
आश्वलायन गृह्यसूत्र	...	आ० गृ० सू०
उत्तरकालीन बौद्ध धर्म का विकास	...	उत्त० बौ० ध० वि०

उत्तरभारत में सन्त-परम्परा	...	उ० भा० सं० प०
कबीर-ग्रन्थावली	...	क० ग्रं०
कवित्त-रत्नाकर	...	क० रत्ना०
तसव्वुफ और सूफीमत	...	तस० सूफी०
तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि	...	तां० वा० शा० दृ०
पद्माकर-पराग	...	प० प०
पाणिनिकालीन भारतवर्ष	...	पा० का० भा०
भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना	...	भ० सा० म०
महाभारत	...	म० भा०
मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद	...	म० का० सा० अ०
रामानन्द की हिन्दी-रचनाएँ	...	रा० हि० र०
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य	...	रा० व० स०·सि० सा०
रामचन्द्रिका	...	रा०चं०
रामचरितमानस	...	रा० च० मा०
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव	...	रा०स०हि०सा० उ० प्र०
रीतिकाव्यसंग्रह	...	री० का० सं०
वायुपुराण	...	वा० पु०
वैदिक देवशास्त्र	...	वै० दे० शा०
वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	...	वै० वि० भा० सं०
विनय-पत्रिका	...	वि० प०
विश्व-धर्मदर्शन	...	वि० ध० द०
वाल्मीकीय रामायण	...	वा० रा०
सन्तसुधासार	...	सं० सु० सा०
सन्त-साहित्य	...	सं० सा०
संस्कृति के चार अध्याय	...	सं० चा० अ०
सन्त वैष्णव काव्य पर तन्त्रिक प्रभाव	...	सं० वै० का० ता० प्र०
सांख्यायन गृह्यसूत्र	...	सा० गृ० सू०
सुन्दरदास-ग्रंथावली	...	सु० दा० ग्र०
सूरसागर	...	सू० सा०
हिन्दी निर्गुण-काव्य और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	...	हि० नि० का० दा० पृ०
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल	...	हि० सा० आ० का०